|| श्रीः ||

काशी संस्कृत ग्रन्थमाला

९३

|| श्रीः ||

आपस्तम्ब-धर्मसूत्रम्

श्रीमद्धरदत्तमिश्रविरचितया उज्ज्वलाख्यया वृत्त्या संवलितम्

महामहोपाध्यायश्रीचिन्नस्वामिशास्त्रिणा

मीमांसाशिरोमणि पं० अ० रामनाथशास्त्रिणा च

टिप्पण्यादिभिः संयोज्य संशोधितम् ।

हिन्दी-व्याख्याकारः

डॉ० उमेशचन्द्रपाण्डेयः

एम० ए०, पी-एच० डी०,

चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी-१

१९६९

प्रकाशक : चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी-१

मुद्रक : विद्याविलास प्रेस, वाराणसी-१

संस्करण : द्वितीय, वि० सं० २०२६

मूल्य : २०-००

Gopal Mandir Lane

P. O. Chowkhamba, Post Box 8

Varanasi-1 (India)

1969

Phone : 3145

प्रधान शाखा

चौखम्बा विद्याभवन

चौक, पो० बा० ६९, वाराणसी-१

फोन : ३०७६

THE

KASHI SANSKRIT SERIES

93

*****

THE

ĀPASTAMBA-DHARMA-SŪTRA

WITH THE 'UJJVALĀ' COMMENTARY

OF

ŚRĪ HARADATTA MIŚRA

AND

Notes by Śri A. Chinnaswāmī Śāstrī
and Pandit A. Rāmanātha Śāstrī

Edited with

Hindi Translation, Explanatory Notes, Critical Introduction & Index

by

DR. UMEŚA CHANDRA PĀṆḌEYA, M. A., Ph. D.,

THE
CHOWKHAMBA SANSKRIT SERIES OFFICE
VARANASI-1
1969

Second Edition
1969
Price : Rs. 20-00

Also can be had of
THE CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN
Publishers and Oriental Book-Sellers
Chowk, Post Box 69, Varanasi-1 (India)
Phone : 3076

भूमिका

इदमिदानीं श्रीमदापस्तम्बमहर्षिप्रणीतं धर्मसूत्रं श्रीमिश्रहरदत्तप्रणीतया उज्ज्वलाख्यया वृत्त्या समुज्ज्वलितं मुद्रयित्वा प्रकाशं प्रापय्य प्रेक्षावतां चक्षुर्गोचरतामापाद्यते। ग्रन्थोऽयं बहुत्र बहुधा मुद्रितोऽपि एतर्हि दौर्लभ्यमेवासाद्य एतदधीतिबोधाचरणप्रचारकाणां छात्राणामध्यापयितॄणां च कामपि कष्टामेव दशामापादयन्नवर्तत। तदिदं दुःखं दूरीकर्तुकामेन चौखम्बासंस्कृतपुस्तकालयाधिपतिना सुरभारतीसेवनैकफलमात्मजीवितमापादयता श्रेष्ठिवर्येण श्रीजयकृष्णदासगुप्तमहोदयेन ग्रन्थस्यास्य पुनस्संस्करणे कृतमतीभूय एतत्संशोधनार्थमावामभ्यर्थितौ। आवाभ्यामपि तच्चिन्तितं साधु मन्वानाभ्यां कार्यमेतत् स्वीकृत्य, अध्ययनाध्यापनाद्यवशिष्टेऽल्पीयसि काले यथामति परिशोध्य प्रकाशं नीतोऽयं ग्रन्थः।

एतद्ग्रन्थसंशोधनार्थं अधोऽङ्कितान्यादर्शपुस्तकानि समुपयोजितानि—

(१) कुम्भघोणे नागराक्षरेषु मुद्रितं मदीयं पुस्तकमेकम्।

(२) मुम्बय्यां Dr. बूलर् महाशयेन मुद्रितं विश्वविद्यालयीयं पुस्तकं द्वितीयम्।

(३) अस्मन्मातुलगृहादानीतं ग्रन्थाक्षरैस्तालपत्रेषु लिखितं तृतीयम्।

(४) पण्डितप्रवरश्रीविद्याधरशर्ममहोदयानां हस्तलिखितं पुस्तकं चतुर्थम्।

(५) मैसूरपुरे देवनागराक्षरेषु मुद्रितं सरस्वतीभवनाल्लब्धं पुस्तकं पञ्चमम्।

(६) महीशूरपुर एव तैलङ्गाक्षरेषु मुद्रितं षष्ठम्।

(७) दक्षिणदेशस्थसुन्दरगिरिसमाख्यग्राम(नल्लूर्)वास्तव्यानां श्रीमतां पं० कल्याणसुन्दरशास्त्रिणां ग्रन्थाक्षरैस्तालपत्रेषु लिखितं सप्तमम्।

(८) श्रीमतामाचार्यध्रुवमहोदयानां पुस्तकमांग्लभाषानुवादरूपमष्टमम्।

एतत्पुस्तकाष्टकमवलम्ब्य संशोध्य मुद्रितमपीदं पुस्तकमन्ततः पुरुषस्वभावसुलभया कयाचिदशुद्धिसन्तत्याऽपरित्यक्तमेव वर्वर्तीति तदपनुत्तयेऽशुद्धसंशोधनं ग्रन्थान्ते सन्नियोजितम्। प्रथमप्रश्नीयस्याष्टमपटला-

त्मकस्याऽध्यात्मपटलस्यापरा काचिद्व्याख्या श्रीमच्छङ्करभगवत्पादाचार्यप्रणीता अनन्तशयनग्रन्थमालायां पूर्वं मुद्रिताऽपि अध्येतृसौकर्यार्थमत्रैवोज्ज्वलया साकं पुनर्मुद्रिता। यद्यपि व्याख्याया अस्याः शङ्करभगवत्पादीयत्वेऽत्रैत्र तथोल्लेखनमृते नान्यत्किञ्चन प्रमाणमुपलभ्यते, नापि तदीयव्याख्याशैल्याऽन्यत्र स्थितया सहेयं संवदति, तथाऽपि यावत्तदनुरोधि विरोधि वा प्रमाणमुपलभामहे तावदस्मिन्विषये जोषंभावमेव शरणं समुचितं मन्वानौ तूष्णीमास्वहे।

सूत्रप्रणेतुः श्रीमदापस्तम्बमहर्षेः श्रीमिश्रहरदत्ताचार्यस्य चेतिवृत्तविषये यदुक्तमस्माभिरापस्तम्बगृह्यसूत्रभूमिकायां न ततोऽधिकं विशेषं वक्तुं पार्यतेऽस्मद्धस्तगतामैतिहासिकसामग्रीमवलम्ब्य, परन्तु—हरदत्ताचार्योः मद्रदेशान्तर्गतचोलदेशनिवासिनः द्राविडभाषाभाषिणश्चेत्यवगम्यते तदीयैरेव वचनैः। ते हि—'यथावर्षं प्रजा दानं दूरेदर्शनं मनोजवता' (आप. धर्म. २–२३–७) इति सूत्रव्याख्यानावसरे दूरदर्शनोदाहरणार्थं यस्य कस्यचिद्देशस्योपादाने प्रसक्ते, 'चोलेष्ववस्थितास्तदैव हिमवन्तं दिदृक्षेरन्' इति चोलदेशमेवोपाददते। एवं 'स्त्रीभ्यस्सर्ववर्णेभ्यः' (आप. धर्म. २–२९–१६) इति सूत्रे 'द्राविडाः कन्या-मेषस्थे सवितर्यादित्यपूजामाचरन्ती'ति द्राविडाचारमेव प्रमाणयन्ति। एवमेव गौतमधर्मसूत्रव्याख्यायां मिताक्षरायामपि[1] 'बालदेशान्तरितप्रव्रजितानामसपिण्डानां सद्यश्शौचम्' (गौ. ध. १४–४४) इत्याशौचप्रकरणस्थं सूत्रं व्याचक्षाणाः 'अनुष्ठानमपि चोलदेशे प्रायेणैवम्'[2] इति चोलदेशाचारमेव प्रमाणयन्ति। एवं तत्रैव 'मौञ्जी ज्या मौर्वी मेखला क्रमेण' (गौ. ध. १–१५) ति सूत्रे[3] 'मूर्वा आरण्य ओषधिविशेषः, यस्यारत्निप्रमाणानि पत्राणि त्र्यङ्गुलविस्ताराणि मरल् इति द्राविडभाषायां प्रसिद्धि'रिति,[4] 'कुण्डाशी' (गौ. ध. १५–१८) इति सूत्रे, 'किलासः त्वग्दोषः तेमल् इति द्राविडभाषायां प्रसिद्धः' इति च द्राविडीमेव प्रसिद्धिमुपाददाना इमे आत्मनो द्राविडदेशनिवासित्वं द्राविडभाषाभाषित्वञ्च स्पष्टमेवावगमयन्ति।

---

१. इमे एव हरदत्ताचार्याः गौतमधर्मसूत्रव्याख्यातार इति निरूपितमापस्तम्बगृह्यसूत्रभूमिकायाम्। तत् ततोऽवगन्तव्यम्।

२. गौतमधर्मसूत्रव्याख्यायां मिताक्षरायां मद्रपुरे तैलङ्गाक्षरमुद्रितायां ११९ पृष्ठे २३ पङ्क्तौ द्रष्टव्यम्।

३. ४. तैलङ्गाक्षरमुद्रितमिताक्षरापुस्तके यथाक्रमं ४, १६, १२५, २३, पृष्ठे द्रष्टव्यम्।

उज्ज्वलानाकुलयोः पौर्वापर्यालोचनायां प्रथममनाकुला तत उज्ज्वलेत्यवगम्यते, यत उज्ज्वलायां बहुत्र "तस्यापि प्रयोगो गृह्य एवोक्तः।" 'प्रपञ्चितमेतत् गृह्ये' "वयं तु न तथेति गृह्य एवाऽवोचाम" 'एतत् गृह्ये व्याख्यातम्' (आप. ध. पृ. ५१, ७२, २०८) इति व्यपदिष्टं तैः। अतो यथा मूलभूतयोर्गृह्यधर्मसूत्रग्रन्थयोः पौर्वापर्यं, एवमेव तद्वृत्त्योरनाकुलोज्ज्वलयोरपीति प्रतीयते—इत्येतावदधिकमत्र विवक्षितम्।

एतन्मुद्रणविषये पुस्तकप्रदानेन, पुस्तकालयीयं नियममप्यविगणय्य यावन्मुद्रणमस्मद्धस्त एव पुस्तकस्यावस्थापनेन चास्मान् सुदूरमनुगृहीतवतां श्रीमतामाचार्यध्रुवमहोदयानां, श्रीमतां पण्डितप्रकाण्डगोपीनाथकविराजमहोदयानां, अन्येषाञ्च विबुधवरेण्यानां विषयेऽत्यन्तमधमर्णावावां तान् प्रति कार्तज्ञमतितरामाविष्कुर्वहे।

एवं सुरभारतीसमुज्जीवनबद्धपरिकरं श्रीजयकृष्णदासहरिदासगुप्तमहोदयं श्रेष्ठिवर्यं प्रति बह्वीराशिषः प्रयुञ्ज्वहे।

इतः पूर्वतनान्यदसीयानि संस्करणान्यपेक्ष्य संस्करणेऽस्मिन् केनचनापि वैजात्येन तादृश्या च छात्रोपकृत्या भाव्यमिति संकल्पेनावाभ्यामत्र यतितम्। तत्रावां प्राप्तसाफल्यौ न वेति निर्णये मनीषिमनीषैव निकषोपलः।

॥ इति सर्वं शिवम् ॥

वाराणसी
चैत्रकृष्णनवमी सं० १९८८
३०—३—१९३२

सुधीजनवशंवदौ
अ. चिन्नस्वामिशास्त्री
अ. रामनाथशास्त्री च

दो शब्द

'गौतमधर्मसूत्र' के हिन्दी अनुवाद के बाद 'आपस्तम्बधर्मसूत्र' को हिन्दी अनुवाद तथा टिप्पणियों के साथ प्रस्तुत करते हुए मेरा लक्ष्य यही है कि धर्मशास्त्रीय विचारों के व्यापक बोध में कुछ योगदान कर सकूँ। प्राचीन मान्यताओं का अध्ययन कर उनकी युगसापेक्ष व्याख्या करने से ही हमारी अनेक सामाजिक समस्याओं का समाधान हो सकता है। अतीत के ऐतिहासिक अध्ययन का यह अर्थ कदापि नहीं है कि परिवर्तन के पहिए को पीछे घुमाने का निष्फल प्रयास किया जाय। परम्परागत धर्मशास्त्रीय सिद्धान्तों की उपयोगिता उनके उत्तम पहलू एवं नैतिकता के जीवनदर्शन को समझने एवं व्यवहार में अनूदित करने में ही निहित है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में सूत्रों का सरल हिन्दी अनुवाद देने का प्रयास किया गया है और जहाँ सूत्र के अर्थ के विषय में स्पष्टीकरण आवश्यक है, वहाँ टिप्पणियाँ भी दी गयी हैं। प्रस्तावना में धर्मसूत्र साहित्य एवं भारतीय धर्म के स्वरूप पर विचार किया गया है और विशेषतः 'आपस्तम्बधर्मसूत्र' का समालोचनात्मक एवं सामाजिक अध्ययन भी संक्षेप में प्रस्तुत किया गया है। अन्त में सूत्रों में आए हुए विषयों एवं नामों की अनुक्रमणिका दी गयी है, जिससे अनुसन्धाताओं को सुविधा होगी।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन और मुद्रण का सारा श्रेय चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ आफिस के अनुभवी संचालकों को है अतः उन्हें अपनी ओर से धन्यवाद देना मेरा कर्त्तव्य है। अन्त में जिनके विश्वासपूर्ण सहयोग एवं प्रेरणा से मैं भारतीय साहित्य की यत्किंचित् सेवा करने में संलग्न हूँ, उन स्वजन एवं प्रियजन के प्रति भी हृदय से कृतज्ञ हूँ। गुरुजनों के आशीर्वाद से यह मेरा परिश्रम सफल होगा, यही आशा है।

'विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव।
यद् भद्रं तन्न आ सुव॥'

विनीत
उमेशचन्द्र पाण्डेय

प्रस्तावना

सूत्र साहित्य—

सूत्र साहित्य भारतीय वाङ्मय का एक अनूठा वर्ग है और इसकी अनोखी शैली ही इसकी विशेषता है। वैदिक साहित्य में सूत्रों का काल अध्ययन और चिन्तन की एक परम्परा का प्रतिनिधि है और भारतीय साहित्य में इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है। सूत्र साहित्य एक ऐसी शृङ्खला है जो वैदिक साहित्य को परवर्ती संस्कृत साहित्य से जोड़ती है। जैसा कि माक्स म्युल्लेर ने कहा है। इन सूत्रों की शैली का परिचय उसी व्यक्ति को मिल सकता है जिसने इन्हें समझने का प्रयत्न किया है और इनका शाब्दिक अनुवाद तो सम्भव हो ही नहीं सकता। सूत्र का अर्थ है धागा और सूत्रों में छोटे, चुस्त, अर्थगर्भित वाक्यों को मानों एक धागे में पिरोकर रखा जाता है। संक्षिप्तता इनकी विशेषता है। पश्चिमी विद्वानों ने इन सूत्रों की शैली पर बहुत आलोचनात्मक ढङ्ग से विचार किया है। प्रो० माक्स म्युल्लेर ने प्राचीन संस्कृत साहित्य का इतिहास नामक ग्रन्थ में सूत्र साहित्य के सन्दर्भ में लिखा है—

"Every doctrine thus propounded, whether Grammar, metre, law or philosophy, is reduced to a mere skeleton. All the important points and joints of a system are laid open with the greatest precision and clearness, but there is nothing in these works like connection or development of ideas."
(Page 37).

कोलेब्रूक ने भी इसी प्रकार का विचार व्यक्त किया है—

"Every apparent simplicity of design vanishes in the perplexity of the structure. The endless pursuit of exceptions and limitations so disjoins the general precepts, that the reader cannot keep in view their intended connection and mutual relation. He wonders in an intricate maze, and the clue to the labyrinth is continually slipping from his hands."

सूत्र रचनाओं में अनेक शताब्दियों के ज्ञान का भण्डार एकत्र किया गया है। वे शताब्दियों के चिन्तन, मनन और अध्ययन के परिणाम हैं और उन्हें जो रूप प्राप्त हुआ है वह भी अनेक शताब्दियों की अनवरत परम्परा का परिणाम है। धर्मसूत्रों को श्रुति के अन्तर्गत नहीं माना जाता है, जैसा कि इसके पूर्ववर्ती साहित्य—संहिता और ब्राह्मण—को माना जाता है। इस प्रकार

धर्मसूत्र अपौरुषेय न होकर पौरुषेय रचनाएँ हैं। यदि ब्राह्मणों और परवर्ती काल के मन्त्रों के साथ तुलना करें, तो हमें सूत्रों में ऐसी कोई बात नहीं मिलती जिसके कारण उन्हें श्रुति में सम्मिलित न किया जाय। हाँ, इसका एक ठोस कारण हो सकता है उनकी बाद के समय की रचना। इनके मनुष्यों द्वारा लिखित होने का स्पष्ट ज्ञान है, यथा—

"यथैव हि कल्पसूत्रग्रन्थानितरांगस्मृति-निबन्धनानि चाध्येत्रध्यापयितारः स्मरन्ति तथाश्वलायन-बौधायनापस्तम्बकात्यायनप्रभृतीन् ग्रंथकारत्वेन।"

श्रुति के विपरीत स्मृति में न केवल सूत्र रचनायें आती हैं, अपितु मनु, याज्ञवल्क्य, पाराशर आदि के श्लोक में निबद्ध ग्रंथ भी आते हैं, जिन्हें स्पष्टतः स्मृति कहा गया है।

स्मृति का आधार भी श्रुति ही है। श्रुति से स्वतन्त्र रूप में स्मृति की प्रामाणिकता नहीं होती। जैसा कि कुमारिल ने कहा है इसके नाम से ही यह तथ्य स्पष्ट है—

पूर्वविज्ञानविषयज्ञानं स्मृतिरिहोच्यते।
पूर्वज्ञानाद्विना तस्याः प्रामाण्यं नावधार्यते॥

इस प्रकार सूत्रों के दो विस्तृत वर्ग किये जाते हैं—श्रौतसूत्र और स्मार्तसूत्र। इनमें श्रौतसूत्र तो वे हैं जिनके स्रोत श्रुति में मिलते हैं और स्मार्त वे हैं जिनका कोई इस प्रकार का स्रोत नहीं है। यह स्मरणीय है कि जिन विषयों का विवेचन सूत्रों—श्रौत, गृह्य और सामयाचारिक सूत्रों—में किया गया है, उन्हीं का प्रतिपादन श्लोकबद्ध स्मृतियों में भी किया गया है। जैसा कि आगे बताया जायगा, इनका अन्तर विषय-वस्तु का नहीं, अपितु उनके काल और उनकी शैली का है।

वैदिक साहित्य में सूत्र साहित्य को वेदाङ्ग के अन्तर्गत कल्प शीर्षक में रखा गया है। चरणव्यूह के अनुसार—"शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषम्' ये वेदाङ्ग हैं। आपस्तम्ब ने भी इन्हें इस क्रम में गिनाया है २.४.८ 'षडङ्गो वेदः कल्पो व्याकरणं ज्योतिषं निरुक्तं शिक्षा"। कल्प सबसे पूर्ण वेदाङ्ग है, इसके अन्तर्गत सूत्रों का विशाल भण्डार समाहित है। ये सूत्र यज्ञ के नियमों के विषय में हैं। इनके महत्त्व के विषय में माक्स म्युल्लेर ने ठीक ही कहा है :—कल्पसूत्रों का वैदिक साहित्य के इतिहास में अनेक कारणों से महत्त्व है। वे न केवल साहित्य के एक नये युग के द्योतक हैं और भारत के साहित्यिक एवं धार्मिक जीवन के एक नये प्रयोजन के सूचक हैं, अपितु उन्होंने अनेक ब्राह्मणों के लोप में योग दिया, जिनका अब केवल नाम ही ज्ञात है। यज्ञ का सम्पादन केवल वेद द्वारा, केवल कल्पसूत्र द्वारा ही हो

सकता था, किन्तु बिना सूत्रों की सहायता के ब्राह्मण या वेद के याज्ञिक विधान का ज्ञान पाना कठिन ही नहीं, असम्भव था। कुमारिल ने कल्पसूत्र के महत्त्व के विषय में कहा है—

वेदादृतेऽपि कुर्वन्ति कल्पैः कर्माणि याज्ञिकाः।
न तु कल्पैर्विना केचिन्मन्त्रब्राह्मणमात्रकात् ॥

कल्पसूत्रों के महत्त्व के कारण ही इनके रचयिता स्वयं नयी शाखाओं के संस्थापक बन गये और उनकी शाखा में उनके सूत्र का ही प्रधान स्थान हो गया तथा ब्राह्मण और वेद का महत्त्व कुछ सीमा तक कम हो गया। यद्यपि सूत्र स्मृति थे, श्रुति नहीं, तथापि उन्हें स्वाध्याय के अन्तर्गत सम्मिलित किया गया। विभिन्न चरणों एवं शाखाओं में सूत्र साहित्य के विकास के सम्बंध में यह उल्लेखनीय है कि कभी-कभी कल्पसूत्र शाखाओं के अन्तर्गत भिन्न होते हैं और कभी भिन्न नहीं होते हैं। शाखाओं के भेद का एक कारण उनके स्वाध्याय का भेद है। कुछ कारण सूत्रों की भिन्नता भी है। अतः कई स्थानों पर जहाँ शाखा का भेद है वहाँ सूत्र का भी भेद है। यही बात महादेव ने हिरण्यकेशिसूत्र की टीका में कही है—

'तत्र कल्पसूत्रं प्रतिशाखं भिन्नमभिन्नमपि क्वचित् शाखाभेदेऽध्ययनभेदाद्वा सूत्रभेदाद्वा। आश्वलायनीयं कात्यायनीयं च सूत्रं हि भिन्नाध्ययनयोर्द्वयोर्द्वयोः शाखयोरकैकमेव। तैत्तिरीयके च समाम्नाये समानाध्ययने नाना सूत्राणि। अनेन च सूत्रभेदे शाखाभेदः शाखाभेदे च सूत्रभेद इति परम्पराश्रय इति वाच्यम् ॥'

इसी आचार्य ने अर्वाचीन कहे जाने वाले सूत्रों की प्राचीनता के विषय में भी एक नवीन बात कही है कि वे सूत्र भी जिनके रचयिता अर्वाचीन मालूम पड़ते हैं, वस्तुतः शाश्वत हैं और प्राचीन ऋषियों से निःसृत हैं।

'न हि सूत्राणां कर्तृसम्बन्धिसंज्ञाद्यतनी किन्तु नानाकल्पगतासु तत्तन्नामकर्षिव्यक्तिषु नित्या तत्प्रणीतसूत्रेषु च नित्यां जातिमवलंब्य तिष्ठति यथा पुरुषनामाङ्कितशाखासु संज्ञा।'

कल्पसूत्र मुख्यतः चार प्रकार के हैं—

१. श्रौतसूत्र—श्रौत अग्नि से होने वाले बड़े यज्ञों का विवेचन करने वाले सूत्र।

२. गृह्यसूत्र—गृह्य अग्नि में होने वाले घरेलू यज्ञ का, उपनयन, विवाह आदि संस्कारों का विवेचन करने वाले सूत्र।

३. धर्मसूत्र—चारों आश्रमों, चारों वर्णों तथा उनके धार्मिक आचारों का तथा राजा के कर्तव्यों का वर्णन करने वाले सूत्र।

४. शुल्वसूत्र—यज्ञ में वेदि आदि के निर्माण की विधि का वर्णन करने वाले सूत्र ।

धर्म सूत्र

वैदिक साहित्य के एक महत्त्वपूर्ण अंग हैं—धर्मसूत्र । सामान्यतः, वैदिक साहित्य के अन्य ग्रन्थों के समान धर्मसूत्र भी प्रत्येक शाखा में अलग-अलग होते हैं, किन्तु अनेक शाखाओं के विशिष्ट धर्मसूत्र उपलब्ध नहीं हैं । धर्मसूत्र कल्प की परम्परा में आते हैं और कल्प का अर्थ है "वेद में विहित कर्मों का क्रमपूर्वक व्यवस्थित कल्पना करने वाला शास्त्र ।" "कल्पो वेदविहितानां कर्मणामानुपूर्व्येण कल्पनाशास्त्रम्"—विष्णुमित्र, ऋग्वेद प्रातिशाख्य की वर्गद्वयवृत्ति, पृ० १३ । इस प्रकार धर्मसूत्रों का अटूट सम्बन्ध यज्ञ-यागादि बड़े कर्मों, विवाह इत्यादि गृह्य कर्मों का प्रतिपादन करने वाले साहित्य के साथ है और इस कल्प साहित्य के सन्दर्भ में हमें श्रौतसूत्रों, गृह्यसूत्रों और धर्मसूत्रों का पारस्परिक सम्बन्ध ध्यान में रखना चाहिए । अनेक शाखाओं के विशिष्ट सूत्र साथ-साथ मिलते हैं । आश्वलायन, शांखायन तथा मानव शाखा के श्रौतसूत्र उपलब्ध हैं, किन्तु इनके धर्मसूत्र का अभाव है । जिन शाखाओं के सभी कल्पसूत्र उपलब्ध हैं उनमें प्रमुख हैं—बौधायन, आपस्तम्ब और हिरण्यकेशि । सभी शाखाओं के धर्मसूत्र उपलब्ध न होने का मुख्य कारण यह है कि कई शाखाओं ने पृथक् धर्मसूत्र रचने की आवश्यकता नहीं समझी और उन्होंने अन्य प्रमुख शाखा के धर्मसूत्र को ही अपना लिया । इसी बात का स्पष्ट निर्देश 'पूर्वमीमांसासूत्र' १, ३, ११ की तन्त्रवार्त्तिक व्याख्या में किया गया है, जिसके अनुसार सभी धर्मसूत्र और सभी गृह्यसूत्र सभी आर्यों के लिए प्रामाणिक और मान्य हैं । कल्पसूत्रों के रचयिता अपनी शाखा के नियमों का विधान करते हैं, किन्तु दूसरी शाखाओं के विकल्प-नियमों का भी अनुसरण करते हैं :—

"स्वशाखाविहितैश्चापि शाखान्तरगतान्विधीन् ।
कल्पकारा निबध्नन्ति सर्व एव विकल्पितान् ॥
सर्वशाखोपसंहारो जैमिनेश्चापि संमतः ॥"

किन्तु यह भी स्पष्ट रूप से कहा गया है कि कोई भी सूत्रकार अपनी ही शाखा से सन्तुष्ट न था ।

"न च सूत्रकाराणामपि कश्चित् स्वशाखोपसंहारमात्रेणावस्थितः ।"

धर्मसूत्रों के निर्माण का काल—

धर्मसूत्रों का विशेष महत्त्व इसलिए भी है कि वे सामाजिक जीवन की

रोचक झाँकी प्रस्तुत करते हैं। इन ग्रन्थों के टीकाकारों के उल्लेखों से परिलक्षित होता है कि धर्मसूत्र श्रौत और गृह्यसूत्रों से पहले विद्यमान थे। उदाहरण के लिए, श्रौतसूत्र में कहा गया है कि यज्ञोपवीत धारण करने के उपरान्त ही विशिष्ट यज्ञों का सम्पादन किया जा सकता है, किन्तु यज्ञोपवीत धारण करने अथवा उपनयन संस्कार की विधि नहीं बतायी गयी है और संकेत दिया गया है कि इसकी विधि धर्मसूत्रों से ज्ञात है। इसी प्रकार मुख, मुखशुद्धि (आचान्त) और सन्ध्यावन्दन के नियमों के ज्ञात होने का संकेत है, किन्तु इस तर्क को निर्णयात्मक नहीं माना जा सकता। इसके विपरीत धर्मसूत्रों को बाद के समय का सिद्ध करने वाले प्रमाण अधिक पुष्ट हैं जिनके अनुसार धर्मसूत्र, श्रौतसूत्र और गृह्यसूत्र के बाद के रचित ठहरते हैं। धर्मसूत्र के अतिरिक्त किसी अन्य सूत्र में शूद्र की स्थिति का स्पष्ट निर्देश नहीं है। धर्मसूत्रों में शूद्र की सामाजिक स्थिति पतित होकर उस अवस्था में पहुँची हुई है, जिस अवस्था में वह स्मृतियों में दिखायी पड़ती है।

अनेक स्थलों पर धर्मसूत्र गृह्यसूत्रों के विषय का ही प्रतिपादन करते हैं, किन्तु वे स्वतन्त्र रचनाओं के वर्ग में हैं और प्रामाणिकता में गृह्यसूत्रों के समकक्ष हैं। धर्मसूत्रों का रचनाकाल निश्चित करने के लिए जब हम इनके पूर्ववर्ती साहित्य पर दृष्टिपात करते हैं तो देखते हैं कि निरुक्त ३-४-५ में रिक्थाधिकार के प्रश्न पर अनेक मतों का उल्लेख किया गया है—

'अथैतां जाम्या रिक्थप्रतिषेध उदाहरन्ति ज्येष्ठं पुत्रिकाया इत्येके।'

यास्क ने इस विषय में वैदिक अंशों का संकेत तो किया ही है, साथ ही उन्होंने एक श्लोक का भी निर्देश किया है, जिससे ज्ञात होता है कि यास्क के समय में धर्मसम्बन्धी ग्रन्थ विद्यमान थे—

"तदेतादृक् श्लोकाभ्यामभ्युक्तम्। अङ्गादङ्गात्सम्भवसि······स जीव शरदः शतम्।"

अविशेषेण पुत्राणां दायो भवति धर्मतः।
मिथुनानां विसर्गादौ मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत्॥

इस प्रकार यदि यह स्वीकार कर लें कि यास्क के पहले धर्मशास्त्र के ग्रन्थ विद्यमान थे, तो धर्मसूत्रों की तिथि काफी पहले माननी पड़ेगी। इतना तो निश्चित है कि धर्मसूत्रों में प्राचीनतम—गौतम, बौधायन और आपस्तम्ब के धर्मसूत्र—ई० पू० ३०० और ६०० के बीच के हैं। इन सूत्रकारों ने धर्मशास्त्रों के स्पष्ट उल्लेख किये हैं। विशेषतः, गौतमधर्मसूत्र में, जो प्रातीनतम धर्मसूत्र है, धर्मशास्त्र और धर्मशास्त्रकारों का निर्देश बहुशः हुआ है—

'तस्य च व्यवहारो वेदो धर्मशास्त्राण्यङ्गानि उपवेदाः पुराणम् ॥'

१-९-२१ ।

'चत्वारश्चतुर्णां पारगा वेदानां प्रागुत्तमास्त्रय आश्रमिणः
पृथग्धर्मविदस्त्रय एतान्दशावरान्परिषदित्याचक्षते ।' ३-१०-४७

'त्रीणि प्रथमान्यनिर्देश्यान्मनुः' ३,३,७ ।

इसी प्रकार कई धर्मशास्त्रकारों के मतों के उल्लेख गौतम ने '३ लोक' कहकर किया है, जैसे प्रथम प्रश्न में २-१५ में, २-५८, ३-१, ४-२१, ७-२३ में। मनु तथा आचार्यों का भी निर्देश है—

"ऐकाश्रम्यं त्वाचार्याः प्रत्यक्षविधानाद् गार्हस्थ्यस्य" १,३,३५ ।

"वर्णान्तरगमनमुत्कर्षाभ्यां सप्तमे पञ्चमे वाऽऽचार्याः" १.४.१८ ।

अन्य सूत्रकारों ने भी दूसरे धर्मशास्त्रकारों का सामान्य अभिधान से या नामतः उल्लेख किया है। पतंजलि ने भी 'धर्मशास्त्रं च तथा' एवं जैमिनि ने भी 'शूद्रश्च धर्मशास्त्रत्वात्'—पूर्वमीमांसा ६.७.६ वाक्यों द्वारा धर्मसूत्रों का निर्देश किया है और जैसा कि डॉ० काणे ने इन प्रमाणों से निष्कर्ष निकाला है 'धर्मशास्त्र यास्क के पूर्व उपस्थित थे, कम से कम ६००-३०० के पूर्व तो वे थे ही और ईसा की द्वितीय शताब्दी में वे मानव आचार के लिए सबसे बड़े प्रमाण माने जाते थे।'

—धर्मशास्त्र का इतिहास, प्रथम खण्ड, अनु० आचार्य काश्यप, पृ० ८ ।

सूत्र ग्रन्थों और श्लोकबद्ध धर्मग्रन्थों के आपेक्षिक काल के विषय में विद्वानों में मतभेद और विवाद है। प्रो० माक्स म्युल्लेर एवं दूसरे विद्वान् यथा डॉ० भण्डारकर यह मानते हैं कि सूत्रों की रचना के बाद अनुष्टुभ् छन्द वाले धर्मग्रन्थों की रचना हुई। डॉ० काणे को यह मत स्वीकार नहीं है, क्योंकि प्राचीन ग्रन्थों के विषय में हमारा ज्ञान अल्प है तथा श्लोक छन्द वाले कुछ ग्रन्थ, जैसे मनुस्मृति, कुछ धर्मसूत्रों यथा-विष्णुधर्मसूत्र से प्राचीन है और वशिष्ठधर्मसूत्र के समय का है। इसी प्रकार कुछ पुराने सूत्रों यथा बौधायन-धर्मसूत्र में भी श्लोक उद्धृत है। 'इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि श्लोकबद्ध ग्रन्थ धर्मसूत्रों से पूर्व भी विद्यमान थे'—काणे, वही, पृ० ९ ।

गौतमधर्मसूत्र—

धर्मसूत्रों में प्राचीनतम गौतम धर्मसूत्र है। यह केवल गद्य में है तथा इसमें श्लोक का कोई उद्धरण नहीं दिया गया है, जबकि दूसरे धर्मसूत्रों में श्लोक का उद्धरण आ जाता है। इसकी प्राचीनता के कई प्रमाण हैं—इसका उल्लेख बौधायन धर्मसूत्र में किया गया है। यह तीन प्रश्नों में विभक्त है,

जिनमें क्रमशः नौ, नौ, दस अध्याय हैं। विस्तृत समालोचना के लिए चौखम्बा से प्रकाशित मेरे अनुवाद से युक्त संस्करण देखें।

बौधायन धर्मसूत्र—

बौधायन का धर्मसूत्र चार प्रश्नों में विभक्त है, इनमें अन्तिम प्रश्न परिशिष्ट माना जाता है और उसे बाद के समय की रचना मानते हैं। यह आपस्तम्ब धर्मसूत्र से पहले के समय का है। इसमें दो बार गौतम के नाम का तथा एक बार उनके धर्मसूत्र का उल्लेख आता है। बौधायन ने अनेक आचार्यों के नाम गिनाये हैं तथा उपनिषदों के उद्धरण दिये हैं। कुमारिल ने बौधायन को आपस्तम्ब के बाद के समय का माना है। बौधायन का काल ई० पू० २००–५०० के बीच माना जाता है। मेरे हिन्दी अनुवाद सहित चौखम्बा से प्रकाशित संस्करण में इसके अनेक पहलुओं पर समीक्षात्मक दृष्टि डाली गयी है।

आपस्तम्ब धर्मसूत्र—

इस धर्मसूत्र में दो प्रश्न हैं, जिनमें प्रत्येक में ११ पटल हैं। सभी सूत्रों में यह छोटा है और इसकी शैली बड़ी चुस्त है। भाषा भी पाणिनि से बहुत पहले की है। अधिकांश सूत्र गद्य में हैं, किन्तु यत्र-तत्र श्लोक भी हैं। इसका सम्बन्ध पूर्वमीमांसा से दिखायी पड़ता है। यह बहुत प्रामाणिक माना जाता रहा है। इसका समय ६००–३०० ई० पू० स्वीकार किया गया है।

हिरण्यकेशि धर्मसूत्र—

हिरण्यकेशि कल्प का २६ वाँ और २७ वाँ प्रश्न है। प्रायः इसे स्वतन्त्र धर्मसूत्र नहीं माना जाता, क्योंकि इसमें आपस्तम्ब धर्मसूत्र से सैकड़ों सूत्र लिये गये हैं।

वसिष्ठ धर्मसूत्र—

इसके कई संस्करण हैं। जीवानन्द के संस्करण में २० अध्याय हैं तथा ३१ वें अध्याय का कुछ अंश है। इसके अतिरिक्त इसके ३० अध्यायों, ६ अध्यायों एवं २१ अध्यायों के अलग-अलग संस्करण भी हैं। इससे पता चलता है कि यह कालान्तर में परिबृंहित, परिवर्द्धित और परिवर्तित होता रहा है। इसका समय ३००–२०० ई० पू० है।

विष्णु धर्मसूत्र—

इस सूत्र में १०० अध्याय हैं, किन्तु सूत्र छोटे हैं। पहला अध्याय और अन्त के दो अध्याय पद्य में हैं। शेष में गद्य है या गद्य और पद्य का मिश्रण।

इसका सम्बन्ध यजुर्वेद की कठ शाखा से बताया गया है। इसमें भिन्न-भिन्न कालों के अंश दृष्टिगोचर होते हैं, जिससे इसका काल निश्चित करना कठिन होता है। इसके आरम्भ के अंशों का समय ३००—१०० ई० पू० के बीच माना जा सकता है। इसमें भगवद्गीता, मनुस्मृति तथा याज्ञवल्क्यस्मृति से बहुत-सी बातें ली गयी हैं।

हारीत धर्मसूत्र—

इस सूत्र का ज्ञान उद्धरणों से मिलता है। अनेक धर्मशास्त्रकारों ने इनका उल्लेख किया है। इसमें गद्य के साथ अनुष्टुप् एवं त्रिष्टुप् छन्द का प्रयोग है। हारीत का सम्बन्ध कृष्णयजुर्वेद से है, किन्तु उन्होंने सभी वेदों से उद्धरण लिये हैं। इससे यह भी ज्ञात होता है कि वे किसी एक वेद से सम्बद्ध नहीं थे।

शङ्खलिखित-धर्मसूत्र—

यह शुक्लयजुर्वेद की वाजसनेयि शाखा का धर्मसूत्र था। 'तन्त्रवार्तिक' में इस सूत्र के अनुष्टुप् श्लोकों का उद्धरण है। याज्ञवल्क्य और पाराशर ने इनका उल्लेख किया है। जीवानन्द के स्मृति-संग्रह में इस धर्मसूत्र के १८ अध्याय एवं शङ्खस्मृति के ३३० तथा लिखित स्मृति के ९३ श्लोक पाये जाते हैं। यह धर्मसूत्र गौतम एवं आपस्तम्ब के बाद के काल का है और इसकी रचना का समय ई० पू० ३०० से १०० ई० के बीच है।

अन्य सूत्र ग्रन्थ—

अनेक धर्मसूत्र धर्मविषयक ग्रन्थों में विकीर्ण हैं। उनमें इन आचार्यों के सूत्र-ग्रन्थ गिनाये जाते हैं—अत्रि, उशना, कण्व एवं काण्व, कश्यप एवं काश्यप, गार्ग्य, च्यवन, जातूकर्ण्य, देवल, पैठीनसि, बुध, बृहस्पति, भरद्वाज एवं भारद्वाज, शातातप, सुमन्तु आदि।

धर्मसूत्रों का वर्ण्यविषय—

धर्मसूत्रों का मुख्य वर्ण्यविषय है 'आचार, विधि-नियम एवं क्रियासंस्कार।' ये इन्हीं का विधिवत् विवेचन करते हैं। निश्चय ही, धर्मसूत्र कभी-कभी गृह्यसूत्रों के प्रतिपाद्य विषयों के भी क्षेत्र में पहुँच जाते हैं, किन्तु ऐसा कम स्थलों पर हुआ है। गृह्यसूत्रों का ध्येय गृह्ययज्ञ, प्रातः-सायं पूजन, पके हुए भोजन की वलि, वार्षिक यज्ञ, विवाह, पुंसवन, जातकर्म, उपनयन एवं दूसरे संस्कार, छात्रों एवं स्नातकों के नियम, मधुपर्क और श्राद्धकर्म का वर्णन करना तथा इनकी विधियों को स्पष्ट करना है। इस प्रकार गृह्यसूत्रों का स्पष्ट सम्बन्ध घरेलू जीवन तथा व्यक्तिगत जीवन से है। ये कर्त्तव्यों (Duties) और कानून

(Laws) को अपना विषय नहीं बनाते। इनके विपरीत, धर्मसूत्र मनुष्य को समाज में लाकर खड़ा कर देता है, जहाँ उसे व्यावहारिक जगत् में दूसरों के साथ रहते हुए अपने आचार-व्यवहार को नियमित और संयमित करना है, उसे कुछ कर्त्तव्यों एवं दायित्वों का पालन करना होता है, कुछ अधिकार प्राप्त करने होते हैं और अपने अपराधों के लिए दण्ड भोगने होते हैं। इस प्रकार धर्मसूत्रों का वातावरण अधिक सामाजिक और नैतिक है। जैसा हम कह आये हैं धर्मसूत्रों में गृह्यसूत्रों के कुछ विषयों पर भी विचार किया गया है जैसे विवाह, संस्कार, मधुपर्क, स्नातक का जीवन, श्राद्धकर्म आदि। संक्षेप में धर्मसूत्रों के वर्ण्यविषय की सूची इस प्रकार दी जा सकती है :—धर्म और उसके उपादान, चारों वर्णों के आचार और कर्त्तव्य एवं जीवनवृत्तियाँ, ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यास आश्रमों के आचार, उपजातियाँ एवं मिश्रित जातियाँ, सपिण्ड और सगोत्र, पाप और उनके प्रायश्चित्त एवं व्रत, अशौच और उससे शुद्धि, ऋण, ब्याज, साक्षी और न्यायव्यवहार, अपराध और उनके दण्ड, राजा और राजा के कर्त्तव्य, स्त्री के कर्त्तव्य, पुत्र और दत्तक पुत्र, उत्तराधिकार, स्त्रीधन और सम्पत्ति का विभाजन।

धर्मसूत्र और स्मृतियाँ—

'स्मृति' शब्द का प्रयोग श्रुति अर्थात् वेद के ईश्वर प्रकाशित एवं ऋषिदृष्ट वाङ्मय से भिन्न साहित्य के लिये हुआ है। श्रुति और स्मृति के विषय में आगे धर्म के स्वरूप का विवेचन करते समय विचार किया गया है। उपर्युक्त अर्थ के अनुसार धर्मसूत्र भी स्मृति ग्रन्थ है :

"श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः।" मनु० २.१०

किन्तु संकुचित अर्थ में स्मृति से धर्मशास्त्र की उन रचनाओं का तात्पर्य है जो प्रायः श्लोकों में हैं और उन्हीं विषयों का विवेचन करती हैं, जिनका प्रतिपादन धर्मसूत्रों में किया गया है। इन स्मृतियों में अग्रणी हैं—मनु और याज्ञवल्क्य की स्मृतियाँ। 'मनुस्मृति' सबसे प्राचीन है और ईसा से कई सौ वर्ष पहले रची गयी थी। अन्य स्मृतियाँ ४०० और १००० के बीच की हैं। स्मृतिकारों की संख्या विस्तृत है, मुख्य स्मृतिकार १८ हैं, इनके अतिरिक्त २१ अन्य स्मृतिकार हैं, जिनके नाम वीरमित्रोदय ने गिनाये हैं।

डॉ० काणे ने अपने धर्मशास्त्र के इतिहास में धर्मसूत्रों एवं स्मृतियों के प्रमुख लक्षण स्पष्टतः निर्दिष्ट किये हैं, जिन्हें यहाँ साभार उल्लिखित करना असंगत नहीं होगा।

१. अनेक धर्मसूत्र किसी चरण के, कल्प के अंग हैं, अथवा उनका गहरा सम्बन्ध गृह्यसूत्रों से है।

२. धर्मसूत्रों में कभी-कभी अपने चरण तथा अपने वेद के उद्धरण विशेषतः दिये गये हैं।

३. प्राचीन धर्मसूत्रों के रचयिताओं को ऋषियों का ओहदा प्राप्त नहीं है और न वे अपने को मानवीय धरातल से ऊपर उठे हुए अलौकिक बताते हैं, इसके विपरीत मनु और याज्ञवल्क्य जैसे स्मृतिकारों को मानव से ऊपर दैवी शक्ति से संपन्न दर्शाया गया है।

४. धर्मसूत्र प्रायः गद्य में हैं या कहीं-कहीं मिश्रित गद्य और पद्य में हैं, किन्तु स्मृतियाँ श्लोकों में या पद्यबद्ध हैं।

५. भाषा की दृष्टि से धर्मसूत्र स्मृतियों के पहले के हैं, और स्मृतियों की भाषा अपेक्षाकृत अर्वाचीन है।

६. विषयवस्तु के विन्यास की दृष्टि से भी उनमें भेद हैं। धर्मसूत्रों में विषय की व्यवस्था, क्रम या तारतम्य का अनुसरण नहीं करती, किन्तु स्मृतियाँ अधिक व्यवस्थित और सुगठित हैं, उनमें विषयवस्तु मुख्यतः तीन शीर्षकों में विभक्त हैं—आचार, व्यवहार और प्रायश्चित्त।

७. बहुत बड़ी संख्या में धर्मसूत्र अधिकतम स्मृतियों से प्राचीन हैं।

धर्म

धर्म शब्द का वास्तविक अर्थ जानने के लिये जब हम अपने प्राचीनतम साहित्य 'ऋग्वेद' का अवलोकन करते हैं तो हम देखते हैं कि इस शब्द का प्रयोग विशेषण या संज्ञा शब्द के रूप में हुआ है। प्रायः यह शब्द 'धर्मन्' है और इसका प्रयोग नपुंसकलिंग में हुआ है। 'धर्मन्' शब्द का प्रयोग निम्नलिखित स्थलों पर हुआ है—ऋग्वेद–१.२२.१८; १.१६४. ४३, ५०; ३.३.१; ३.१७.१; ३.६०.६; ५.२६.६; ५.६३.७; ५.७२.२। अथर्ववेद में १४.१.५१ वाजसनेयि-संहिता में १०.२९ और धर्म शब्द का प्रयोग अथर्ववेद में ११.७.१७ और १२.५.७, १.३.१ तैत्तिरीयसंहिता ३.५.२.२ वाजसनेयिसंहिता १५.६, २०.९.३०.६। अधिकतर वैदिक साहित्य में धर्म का अर्थ है 'धार्मिक विधि' 'धार्मिक क्रिया', 'निश्चित नियम', 'आचरण नियम', जैसा कि इन प्रयोगों से स्पष्ट है:

'पितुं न स्तोषं महो धर्माणं तविषीम्' १.१८७. १

'इममञ्जस्पामुभये अकृण्वत धर्माणमग्निं विदथस्य साधनम्'

'आ प्र रजांसि दिव्यानि पार्थिवा श्लोकं देवः कृणुते स्वाय धर्मणे'

'धर्मणा मित्रावरुणा विपश्चिता व्रता रक्षेथे असुरस्य मायया।' ५.६३.७

'द्यावापृथिवी वरुणस्य धर्मणा विष्कभिते अजरे भूरिरेतसा।' ६.७०.१

'अचित्ती यत्तव धर्मा युयोपिम मा नस्तस्मादेनसो देव रीरिषः। ७.८९.५

'सनता धर्माणि' ३.३.१

'प्रथमा धर्मा' ३.१७.१

'तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्' १०.९०.१६

अथर्ववेद के निम्नलिखित मन्त्र में धर्म का अर्थ 'पुण्यफल' प्रतीत होता है।

ऋतं सत्यं तपो राष्ट्रं श्रमो धर्मश्च कर्म च।

भूतं भविष्यदुच्छिष्टे वीर्यं लक्ष्मीर्बलं जले ॥ ९.९.१७

किन्तु आगे चलकर धर्म वर्णाश्रम की विधियों के समीप आ जाता है। उपनिषद् काल में धर्म द्वारा वर्ण और आश्रमों के आचारों एवं संस्कारों का स्पष्ट बोध होता था यह तथ्य छान्दोग्योपनिषद् २.२३ से सिद्ध होता है—

'त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथमस्तप एवेति द्वितीयो ब्रह्मचार्यकुलवासी तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्यकुले अवसादयन्। सर्व एते पुण्यश्लोका भवन्ति ब्रह्म संस्थोऽमृतत्वमेति।'

धर्म को जिस रूप में धर्मशास्त्रों में—धर्मसूत्रों और स्मृतियों में वर्णित किया गया है उसके अन्तर्गत चार प्रकार के धार्मिक नियमों का निर्देश किया जा सकता है: १. वर्णधर्म २. आश्रमधर्म ३. नैमित्तिकधर्म जैसे प्रायश्चित्त, ४. गुणधर्म, राजा के कर्त्तव्य।

धर्म की कुछ परिभाषाएँ बहुत प्रचलित हैं, जिनका उल्लेख करना उचित होगा।

'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' अर्थात् वेद में बताये गये प्रेरक नियम और लक्षण धर्म हैं, उन नियमों का आचरण ही धर्म का आचरण है।

—जैमिनि, पूर्वमीमांसासूत्र १.१.२

वैशेषिकसूत्र में धर्म उसे माना गया है जिससे अभ्युदय और निःश्रेयस की सिद्धि होती है—'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।

'श्रुतिप्रमाणको धर्मः' हारीत, कुल्लूक, मनु० २-१ की टीका।

'श्रुतिस्मृतिविहितो धर्मः'—श्रुति और स्मृति द्वारा विहित आचरण धर्म है।—वसिष्ठधर्मसूत्र १.४.६।

इन कतिपय परिभाषाओं से यही ज्ञात होता है कि भारतीय धर्म का मूल है वेद और स्मृति, और इनको प्रमाण मानकर विहित नियम या आचार ही धर्म हैं। धर्म के इन उपादानों और आधारों पर विचार करना आवश्यक है।

धर्म के उपादान—

धर्म के उपादानों या स्रोतों का उल्लेख प्रायः नियमपूर्वक [प्रत्येक धर्मसूत्र और स्मृति में किया गया है। गौतमधर्मसूत्र में यह स्पष्टतः कहा गया है कि

वेद धर्म का मूल है—'वेदो धर्ममूलम् । तद्विदां च स्मृतिशीले ।' आपस्तम्ब-धर्मसूत्र—'धर्मसमयः प्रमाणं वेदाश्च' १.१.१.२ । धर्म को जानने वाले वेद का मर्म समझने वाले व्यक्तियों का मत ही वेद का प्रमाण है । इसी प्रकार वशिष्ठधर्मसूत्र में भी, जिसकी धर्म की परिभाषा का ऊपर उल्लेख किया गया है, श्रुति और स्मृतिद्वारा विहित आचरण नियमों को धर्म माना गया है । तथा उसके अभाव में शिष्टजनों के आचार को प्रमाण माना गया है ।

"श्रुतिस्मृतिविहितो धर्मः । तदलाभे शिष्टाचारः प्रमाणम् । शिष्टः पुनरकामात्मा ।"

इसी प्रकार मनुस्मृति में वेद, स्मृति, वेदज्ञों के आचरण के अलावा आत्मा की तुष्टि को भी धर्म का मूल कहा गया है—

'वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम् ।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च ॥' २.६

'याज्ञवल्क्यस्मृति' में उपर्युक्त के साथ-साथ उचित संकल्प से उत्पन्न अभिलाषा या इच्छा को भी धर्म का मूल स्वीकारा गया है :—

'श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः ।
सम्यक् संकल्पजः कामो धर्ममूलमिदं स्मृतम् ॥ १.७

इस प्रकार धर्म के उपादान, स्रोत, मूल या प्रमाण स्वयं धर्मशास्त्रों की दृष्टि में ये हैं : १—वेद, २—वेद से भिन्न परम्परागत ज्ञान अर्थात् स्मृति, ३—श्रेष्ठ लोगों के आचार विचार ४—अपनी विवेक बुद्धि से स्वयं को रुचिकर लगने वाला आचरण और उचित संकल्प से उत्पन्न इच्छा ।

वेद और धर्मशास्त्रों पर दृष्टिपात करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि धर्मशास्त्रों में जो कुछ भी कहा गया है उसका आधार वेद ही है और वेद की मान्यताओं के अनुसार ही धर्मसूत्रों के नियमों की रचना हुई । वेद की संहिताओं में और ब्राह्मण ग्रन्थों में धर्मसूत्रों के विषयों का प्रसंगतः उल्लेख प्रचुर मात्रा में मिलता है, जैसे विवाह, उत्तराधिकार, श्राद्ध, स्त्री की स्थिति आदि । संहिताओं और ब्राह्मणों में जिस समाज और सभ्यता का दर्शन होता है वह धर्मशास्त्र की व्यवस्थाओं की व्यावहारिक पृष्ठभूमि है । आख्यानों में भी नियमों का पोषण हुआ दिखायी पड़ता है जिनका उपदेश धर्मशास्त्रों ने दिया है । ब्रह्मचर्य का महत्व, उत्तराधिकार और सम्पत्ति का विभाजन, यज्ञ और अतिथि-सत्कार ऐसे ही विषय हैं, जिन पर धर्मसूत्रों से पूर्ववर्ती वैदिक साहित्य में भी अनेक स्थलों पर विचार हुआ है । जैसा कि म० म० काणे ने कहा है : 'कालान्तर में धर्मशास्त्रों में जो विधियाँ बतलायी गयीं, उनका मूल वैदिक साहित्य में अक्षुण्ण रूप में पाया जाता है । धर्मशास्त्रों

ने वेद को जो धर्म का मूल कहा है वह उचित ही है।'—धर्मशास्त्र का इतिहास पृ० ७, अनु० अ० काश्यप।

भारतीय धर्म का स्वरूप—

भारतीय संस्कृति और विशेषतः धर्म पर भिन्न-भिन्न विचारकों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से दृष्टिपात किया है। कुछ ने इसके मर्म को समझा है तो कुछ ने इसके वास्तविक तत्व को जाने बिना अपनी आलोचनात्मक प्रतिभा का दुरुपयोग मात्र किया है। वस्तुतः, भारतीय धर्म या हिन्दू धर्म को किसी एक विशेष शब्द द्वारा नहीं व्यक्त किया जा सकता। जान मेकेंजी ने यह परामर्श ठीक ही दिया है कि धर्म में 'रिलीजन', 'वर्च्यू', 'ला' और 'ड्यूटी,' अंग्रेजी के इन चारों पदों का अर्थ समाहित समझना चाहिये। 'हिन्दू एथिक्स' नामक पुस्तक के पृ० ३८ पर वे कहते हैं:—

"In India in those days no clear distinction was drawn between moral and religious duty, usage, customary observance and law and dharma was the term which was applied to the whole complex forms of conduct that were settled or established."

परन्तु मेकेंजी साहब का यह कथन भ्रमपूर्ण है कि हिन्दू ने धर्म को अन्य सभी व्यवस्थित नियमों से पृथक नहीं किया, मानो ऐसा अज्ञानवश किया गया हो। वस्तुस्थिति तो यह है कि हिन्दू धर्म में धर्म बहुत व्यापक रहा है। वह जीवन के विविध पक्षों के पार्थक्य को ज्ञानपूर्वक समाप्त करता है। समन्वय उसका मूलमन्त्र है। मानवजीवन के चार पुरुषार्थ समन्वित होकर ही उपयोगी बनते हैं अलग-अलग नहीं। हिन्दू धर्म कोरा आदर्शवादी नहीं है। अपितु वह व्यावहारिक जीवन में वास्तविक और आदर्श का समन्वय करता है। यह धर्म मनुष्य से भिन्न नहीं है, अलग नहीं है। यह उसकी मौलिक अर्हता है, जिसके अभाव में मनुष्य मनुष्य नहीं रह जाता। पशु में और धर्महीन मनुष्य में कोई भेद नहीं रह जाता, अतः भारतीय धर्म मनुष्य के समूचे व्यक्तित्व से सम्बद्ध है। वह उसके छोटे-छोटे कार्यों पर भी दृष्टिपात करता है और उनका नियमन करता है। मनुष्य को प्रत्येक स्थिति और अवस्था के परिप्रेक्ष्य में देखता है—सुख में, दुःख में, समृद्धि में और विपत्ति में भी। उसके सामाजिक, पारिवारिक, वैयक्तिक और पारलौकिक जीवन पर विचार करता है। भारतीय धर्म मनुष्य से सम्बद्ध सभी बातों पर इस प्रकार दृष्टिपात करता है और उन्हें इस प्रकार व्याप्त करता है कि सम्पूर्ण जीवन धर्ममय प्रतीत होता है। संस्कारों की श्रृङ्खला रेलगाड़ी की पटरी की तरह

बनायी गयी है, जिससे जीवन की गाड़ी उतरने पर अनर्थ ही होता है। मानव जीवन की अवधि में भिन्न-भिन्न अवस्था में उस अवस्था के उपयुक्त आश्रमों का विधान संस्कारों की व्यवस्था को और भी पुष्टि प्रदान करता है।

धर्म के जीवन के साथ तादात्म्य इतना स्पष्ट है कि पाश्चात्य विद्वान भी भारतीय धर्म के इस अनूठे स्वरूप से प्रभावित होते हैं। प्रो० माक्स म्युल्लेर ने इस रूप को सही ढंग से समझा है और अपना विचार व्यक्त करते हुये लिखा है: 'प्राचीन भारतवासियों के लिये सबसे पहले धर्म अनेक विषयों के बीच एक रुचि का विषय नहीं था, यह सबका आत्मार्पण करने वाली रुचि थी। इसके अन्तर्गत न केवल पूजा और प्रार्थना आती थी, परन्तु वह सब भी आता था जिसे हम दर्शन, नैतिकता, कानून और शासन कहते हैं—सभी धर्म से व्याप्त थे। उनका सम्पूर्ण जीवन उनके लिए एक धर्म था और दूसरी चीजें मानो इस जीवन की भौतिक आवश्यकताओं के लिये निर्मित मात्र थीं।'

ह्वाट कैन इण्डिया टीच अस, पृ० १०७।

'धर्मो रक्षति रक्षितः' धर्म की रक्षा करने पर धर्म मनुष्य की रक्षा करता है, धर्महीन उच्छृङ्खल जीवन विनाश की ओर ले जाता है। जीवन को एक उद्देश्य प्रदान करता है, उसे एक सुनिश्चित मार्ग प्रदान करता है, जिस पर चलकर आदमी अपना विकास कर सकता है, जीवन के कर्तव्यों का पालन कर सकता है। साथ ही इस जीवन से परे दूसरे जीवन की स्पृहा से प्रेरित होता है। परलोक की यह स्पृहा कल्पना की तरंग में बहते हुए कवि की कृति नहीं, वास्तविक जीवन की अनुभूति की अभिव्यक्ति है। इसी पारलौकिक स्पृहा को कवि वर्डस्वर्थ ने इन शब्दों में व्यक्त किया है—

"Those obstinate questionings of sense and outward things, falling from us, vanishings, blank misgivings of a creature moving about in worlds not realised."

माक्स म्युल्लेर ने भारतीय चरित्र की विशेषता यह बतायी है कि वह पारलौकिक होता है: 'यदि मुझसे एक शब्द में भारतीय चरित्र की विशेषता बताने को कहा जाय तो मैं यही कहूँगा कि वह पारलौकिक था।'—'भारतीय चरित्र में इस पारलौकिक मनोवृत्ति ने अन्य किसी देश की अपेक्षा अधिक प्राधान्य प्राप्त किया।'

—ह्वाट कैन इण्डिया टीच अस, पृ० १०४, १०५।

भारतीय धर्म और दर्शन एक दूसरे से पृथक् नहीं हैं, अपितु एक ही वस्तु के दो पहलू हैं। यद्यपि इन दोनों में इतना अन्तर अवश्य है कि धर्म में विश्वास और भावना मुख्य होती है, जबकि दर्शन में विचार और तर्क प्रमुख

होते हैं। भारतीय धर्म का दर्शन एवं नीति से कितना अनोखा सम्बन्ध है, इसे हम आचार की महत्ता पर विचार करते समय देखेंगे। धर्म के साथ अर्थ, काम, मोक्ष का सम्बन्ध भारतीय जीवन का उद्देश्य है, और इस कारण यह धर्म सन्तुलित रूप में आदर्शवादी है और यथार्थवादी भी। लौकिक है और पारलौकिक भी, आध्यात्मिक है और भौतिक भी। वह आचरण की वस्तु है। आचार उसका मूलाधार है। उसकी नींव गहरी है और उसके कुछ मौलिक तत्व हैं, जो उसे स्थायित्व प्रदान करते हैं। एक पाश्चात्य आलोचक ने इसी बात का संकेत इन वाक्यों में किया है :—"भारत का आध्यात्मिक इतिहास उसके अत्यन्त मौलिक विचार से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध है और यह बात सोची भी नहीं जा सकती कि इस प्रकार की संस्कृति जो हजारों वर्षों से भारत में फूलती-फलती रही है, इतनी गहरी जड़ों पर आधारित होती और स्वयं को इतनी दृढ़ता से बनाये रखती अगर इसमें महान् एवं चिरस्थायी मूल्य वाले तत्व निहित न होते।"

भारतीय धर्म में मानवीय प्रतिभा के विकिसित रूप का उपयोग दिखायी देता है, उसमें मानवजीवन की अनेक समस्याओं पर भलीभाँति विचार करके व्यवस्था दी गयी है। माक्स म्युल्लेर ने भारतीय धर्म और संस्कृति की उपलब्धियों का इन शब्दों में उल्लेख किया है :—

"If I were asked under what sky the human mind has fully developed some of its choicest gifts, has most deeply pondered on the greatest problems of life, and has found solutions of some of them which well deserve the attention even of those who have studied Plato and Kant—I should point to India.

—What can India Teach Us, p. 6

आचार इस धर्म का मूल है और धर्म के ज्ञान के साथ उसका अनुष्ठान और व्यवहार ही उसके वास्तविक प्रयोजन को सिद्ध करते हैं। गौतम धर्मसूत्र के शब्दों में—

"धर्मिणां विशेषेण स्वर्गं लोकं धर्मविदाप्नोति ज्ञानाभिनिवेशाभ्याम्"। इस धर्म का शाश्वत सन्देश है :—

"धर्मं चरत माधर्मं सत्यम् वदत मानृतम्।
दीर्घं पश्यत मा ह्रस्वं परं पश्यत मापरम्॥" वसिष्ठ ध० सू०

"धर्म का आचरण करो, अधर्म का नहीं। सत्य बोलो, झूठ मत बोलो। दूर तक देखो, संकुचित दृष्टि मत रखो, हीन वस्तु देखकर अपना विचार हीन मत बनाओ, श्रेष्ठ वस्तु को देखो और जीवन का लक्ष्य सदा ऊँचा से ऊँचा बनाये रखो।"

आचार और नैतिक भावना

भारतीय संस्कृति का मूल आधार आचार है। आचार के आधार पर ही हिन्दू समाज का निर्माण हुआ था और जब तक व्यावहारिक जीवन में इस आधार को प्राधान्य मिला, तब तक समुन्नति तथा समृद्धि का समय बना रहा। धर्म का व्यावहारिक पहलू है आचार और इसी कारण इसे परम धर्म भी कहा गया है, धर्म की आधार शिला कहा गया है :

"आचारः परमो धर्मः सर्वेषामिति निश्चयः।
हीनाचारपरीतात्मा प्रेत्य चेह च नश्यति॥" वसिष्ठधर्मसूत्र ६।१

आचार से हीन व्यक्ति के लिए लोक में कोई सुख नहीं है और उसे दूसरे लोक में भी सुख की प्राप्ति नहीं होती। कोई व्यक्ति वेद और शास्त्रों के ज्ञान में भले ही पारंगत हो यदि आचार से भ्रष्ट है तो सम्पूर्ण धर्मज्ञान उसे कोई लाभ नहीं पहुँचाते और न आनन्द ही देते हैं जैसे अन्धे के हृदय में उसकी सुन्दर प्रियतमा भी कोई, सौन्दर्यानुभूति का सुख उत्पन्न नहीं करती।

"आचारहीनस्य तु ब्राह्मणस्य वेदाः षडङ्गास्त्वखिलाः सयज्ञाः।
कां प्रीतिमुत्पादयितुं समर्था अन्धस्य दारा इव दर्शनीयाः" ॥ वही, ६।४

इस प्रकार धर्मशास्त्रों का आग्रह आचार के प्रति बराबर रहा है और वे आचार को सम्मान, दीर्घ जीवन और सुख का कारण मानते हैं।

आचारो भूतिजनन आचारः कीर्तिवर्धनः।
आचाराद् वर्धते ह्यायुराचारो हन्त्यलक्षणम्॥

और आचार की इसी महिमा के कारण ही सदाचार को धर्म का साधन माना गया है, जैसे वेद और स्मृति को। "वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।" सम्पूर्ण ज्ञान का उपयोग है उस ज्ञान को आचार में परिणत करना। इसी कारण भारत का दार्शनिक कोरे चिन्तन में समय नहीं गँवाता। वह अपने जीवन को अपने दर्शन के अनुरूप ढालता है और आदर्श प्रस्तुत करता है। दर्शन और आचारशास्त्र या नीतिशास्त्र का परस्पर अन्योन्याश्रय सम्बन्ध रहा है और यह सम्बन्ध वैसा ही रहा है जैसा कि "विज्ञान और प्रयोग का, ज्ञान और योग का।" एक ओर धर्म का मूल आधार नीति है, और दूसरी ओर नीति दर्शन का व्यावहारिक पक्ष है, इस प्रकार धर्म दर्शन और नीति एक दूसरे से अपृथक् हैं, वे एक दूसरे पर निर्भर हैं और एक दूसरे के पूरक भी हैं। इसी बात का उल्लेख जान केअर्ड ने "एन इण्ट्रोडक्शन टू द फिलास्फी आफ रिलीजन' पुस्तक में किया है :—

"Indian philosophers and thinkers have been declared that the philosophy and ethics both are interdependent. There can

be no intellectual growth without a morally elevated life. To be a good philosopher a man should be religious, moral and of good conduct."

भारतीय धर्म या दर्शन में केवल नैतिक भावनाओं का प्रतिपादन ही नहीं किया गया है, अपितु वास्तविक जीवन में उनकी अभिव्यक्ति प्रस्तुत की गयी है और इस अभिव्यक्ति का मनोवैज्ञानिक आधार भी प्रतिष्ठापित किया गया है। इन्हीं नैतिक भावनाओं के सन्दर्भ में मेकेंजी जैसे आलोचनात्मक दृष्टि वाले लेखक ने भी यह स्वीकारा है कि इनमें ऐसे तत्व निहित हैं, जो स्वतः इतने मूल्य के हैं कि वे विश्व के विचार और संस्कृति को समृद्ध कर सकते हैं।

"We may claim for them that they contain elements which are of great value in themselves, and which may serve to enrich the thought and culture of the world."

—Hindu Ethics, p. 241.

वस्तुतः आचार वह कसौटी है जिस पर व्यक्ति की योग्यता का आकलन होता है। चरित्रहीन विद्वान् की विद्वत्ता फीकी होती है, और शीलहीना सुन्दरी का सौन्दर्य केवल निम्नकोटि के विचारों को उत्तेजित करता है, आत्मिक सन्तोष का बोध नहीं कराता। ऊँचे पद पर आसीन और परोपदेश में कुशल व्यक्ति का छद्मव्यापार एवं अनैतिक आचरण जब प्रकाश में आता है, तो दुनिया की आँखों में धूल झोंकने की उसकी सारी चालों पर पानी फिर जाता है। आचार और ज्ञान का समन्वय तथा परस्पर समायोजन ही हमारी नैतिक भावना का पहला सूत्र है जिसने महान् दार्शनिकों एवं अलौकिक प्रतिभा और प्रभाव वाले पुरुषों को जन्म दिया है। भारतीय नीतिशास्त्री जब किसी नियम का विधान करता है, तब वह उसे मानव के यथार्थ जीवन के सन्दर्भ में परख लेता है और मानव की स्वाभाविक कमजोरियों को भी ध्यान में रखता है। हरेक अवसर पर वह मनोविज्ञान के अनुसार मनुष्य के आचरण में उत्कर्ष लाने की व्यवस्था करता है। वह जानता है कि गलती मनुष्य से होती है, मनुष्य पतनोन्मुख होता है, यह सर्वथा स्वाभाविक है। किन्तु इन प्रवृत्तियों से दूर होने में ही वह मानवकल्याण की सम्भावना देखता है और इसीलिए धर्म की व्यवस्था करता है, जिसके अभाव में मनुष्य और पशु में कोई भेद नहीं रह जाता। मनु ने इसी का संकेत किया है :—

"न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने।
प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला॥"

यही नहीं भारतीय धर्म में न केवल मनुष्यों को अपितु देवताओं तक को अनैतिक आचरण की ओर उन्मुख दिखाया गया है और उनके लिए भी आचार की पवित्रता को सर्वोपरि बताया गया है। भारतीय आख्यानों में इस बात को सर्वत्र प्रमाणित किया गया है कि सारी बातें एक ओर हैं और मनुष्य का आचार एक ओर। इसी आचार के कारण निम्नकोटि का व्यक्ति भी ईश्वर के तत्त्व का दर्शन कर सकता है और उच्चवर्ण के व्यक्ति को शिक्षा दे सकता है। इसी आचार के अभाव में महर्षि की तपस्या भी व्यर्थ हो जाती है और वह सामान्य व्यक्ति की तरह पाप का भागी होता है।

जिस वर्ण-व्यवस्था की सम्प्रति मुक्तकण्ठ से निन्दा करना हमारा कर्तव्य है और जो निश्चय अच्छी नहीं है, वह भी मूल रूप में आचार के आधार पर ही थी। जिस समय उसने आचार का विवेक छोड़कर केवल पद और कुल को आधार बनाया तब से वह अपनी अच्छाइयों से वियुक्त हो गयी। जब पद के अनुसार सम्मान प्राप्त होने लगता है, आचरण और योग्यता के अनुसार नहीं, तब स्वाभाविक है कि उस पद पर पहुँचने के लिए न तो योग्यता की कोई इच्छा या प्रयत्न करेगा और न उस पद को प्राप्त कर लेने पर अयोग्य या आचारहीन व्यक्ति योग्यता की चर्चा होने देगा, उल्टे वह ऐसी व्यवस्था करेगा कि उसका पद सदैव सुरक्षित रहे। इसके लिए वह धर्म के नाम पर चारों ओर कटीले तारों की दीवार खड़ी करेगा। ऐसी ही व्यवस्था का रूप वर्णव्यवस्था ने ले लिया है।

धर्मशास्त्र की दृष्टि में आचार का इतना महत्त्व है कि आचारहीन पिता तक का परित्याग करने का आदेश दिया गया है :—

"त्यजेत्पितरं राजघातकं शूद्रयाजकं शूद्रार्थयाजकं वेदविप्लावकं भ्रूणहनं यश्चान्त्यावसायिभिः सह संवसेदन्त्यावसायिन्यां वा।"

गौतमधर्मसूत्र ३,२,१, पृ० २०७

ऐसे व्यक्ति के सामाजिक अपमान का विधान भी इसी बात का संकेत करता है कि आचार से च्युत व्यक्ति को समाज में सामाजिक जीवन व्यतीत करने का अधिकार नहीं है। उससे भाषण या सम्बन्ध करने वाले व्यक्ति को भी दुराचार में प्रोत्साहन देने के लिए दण्ड की व्यवस्था की गई है, किन्तु उसके प्रायश्चित्त कर लेने पर तथा अपना आचरण सुधार लेने पर पुनः समाज में प्रवेश करने का द्वार खोल दिया गया है।

पाप और प्रायश्चित्त की धारणा के पीछे भी आचार के अतिरिक्त और क्या हो सकता है? समाज में जीने और दूसरों को जीने देने का मन्त्र ही इस लोक में कल्याण का मार्ग प्रशस्त कर सकता है। हमारे धर्मसूत्र में

व्यक्ति को पर्याप्त महत्त्व मिला है। किन्तु इस महत्त्व की शर्त है कि वह आचार या धर्म का पालन करे। यदि वह आचार का उल्लंघन करता है तो उसे जीने का अधिकार नहीं, उसे पाप से तभी मुक्ति हो सकती है जब वह प्रायश्चित्त करे, अर्थात् पाप गम्भीर हो तो जीवन का अन्त कर दे, क्योंकि ऐसा व्यक्ति समाज के अन्य लोगों के लिए एक बुरा उदाहरण प्रस्तुत करेगा। हमारा धर्मसूत्र कहता है कि इस संसार में मनुष्य बुरे कर्मों से पाप से सन जाता है: 'अथ खल्वयं पुरुषो याप्येन कर्मणा लिप्यते' ३, १, २। और तब मनुष्य के ये कर्म स्थायी फल उत्पन्न करते हैं। पाप और प्रायश्चित्त का विचार धर्मसूत्र में नितान्त भौतिक या व्यावहारिक है। इनका सीधा सम्बन्ध शरीर की यातना से है, किन्तु पाप करने वाला साधन भी तो शरीर ही है। साथ ही साथ प्रायश्चित्त की मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि यह है कि जप और दान तो साक्षात् उत्तम विचार और परोपकार की प्रेरणा देते हैं। पाप का प्रकाशन और पश्चात्ताप भी हो जाता है। तप, उपवास और होम धर्म में आस्था उत्पन्न कर पुनः उत्तम आचरण की प्रेरणा देते हैं। किन्तु यह मानना पड़ेगा कि धर्मसूत्रकार का प्रायश्चित्त का विधान करते समय साक्षात् प्रयोजन है लोक और परलोक की प्राप्ति। वह लोक की अपेक्षा परलोक की अधिक परवाह करता है और सभी लौकिक कर्मों को करने का आदेश देता है, क्योंकि उनसे परलोक मिलने की आशा है। यह धर्मभीरुता और ईश्वर या परलोक का भय मनुष्य के आचरण को निरन्तर सही दिशा की ओर प्रेरित करता है।

आपस्तम्बधर्मसूत्र

आपस्तम्ब-धर्म-सूत्र का सम्बन्ध कृष्णयजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा से है। यह अध्वर्यु नाम के ऋत्विजों के प्रमुख कल्प का अंग है। आपस्तम्बीय कल्पसूत्रों के समग्र संकलन में कुल तीस प्रश्न हैं। सत्ताइसवें प्रश्न में आपस्तम्बगृह्य आता है और उसके बाद धर्मसूत्र। शुक्ल यजुर्वेद से सम्बद्ध 'चरणव्यूह' के अनुसार आपस्तम्बशाखा खाण्डिकीयशाखा की पाँच शाखाओं में एक थी। खाण्डिकीयशाखा तैत्तिरीयशाखा की एक उपशाखा थी। कालक्रम की दृष्टि से आपस्तम्बीयशाखा बौधायनशाखा के बाद की है, किन्तु यह सत्याषाढ हिरण्यकेशीशाखा से पहले की है।

प्रो० माक्सम्युल्लेर के अनुसार आपस्तम्बशाखा एक 'सूत्रचरण' है। आपस्तम्बीयशाखा की रचनाओं से ही यह प्रकट हो जाता है कि आपस्तम्बशाखा एक ओर तो बौधायनशाखा से परवर्ती है, किन्तु हिरण्यकेशी-शाखा से पूर्ववर्ती है। बौधायन तथा आपस्तम्ब के धर्मसूत्रों के तुलनात्मक अध्ययन द्वारा उपर्युक्त तथ्य की पुष्टि करने से पूर्व ही एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न

और है : क्या आपस्तम्बधर्मसूत्र और आपस्तम्बगृह्यसूत्र का रचयिता एक ही व्यक्ति है ? इस प्रश्न का उत्तर कुछ कठिन है। ब्यूह्लेर को इस विषय में कोई शङ्का नहीं है, किन्तु ओल्डेनबेर्ग दोनों को भिन्न मानते हैं। उनके अनुसार आपस्तम्बशाखा के ही बाद के समय के किसी आचार्य ने आपस्तम्ब-श्रौतसूत्र की शैली की नकल पर आपस्तम्बधर्मसूत्र की रचना की है। जहाँ तक आपस्तम्ब के गृह्य और धर्मसूत्र का प्रश्न है, दोनों में इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि इन्हें एक ही व्यक्ति की रचना मानना उचित प्रतीत होता है। ध्यान देने योग्य है कि आपस्तम्बगृह्यसूत्र विस्तार की दृष्टि से अन्य गृह्यसूत्रों से छोटा और संक्षिप्त है। इसमें ऐसे अनेक विषयों को छोड़ दिया गया है जो सामान्यतः गृह्यसूत्र में होते हैं, उदाहरण के लिए विवाह के विभिन्न भेद, ब्रह्मचारी के कर्त्तव्य, विवाह योग्या कन्या के गुण-दोष। वस्तुतः इन विषयों का विवेचन आपस्तम्बधर्मसूत्र में हुआ है। स्वाभाविक है कि धर्मसूत्र में इन विषयों का विवेचन कर देने के बाद पुनः अपने ही गृह्यसूत्र में उनका विवेचन रचयिता को पुनरुक्ति मात्र प्रतीत हुआ हो और इससे यह स्पष्ट संकेत मिलता है कि आपस्तम्बधर्मसूत्र तथा गृह्यसूत्र दोनों एक ही आचार्य की रचनाएँ हैं। स्वयं आपस्तम्बधर्मसूत्र में गृह्यसूत्र के अनेक सन्दर्भों का निर्देश किया गया है, जिससे यह निश्चित रूप से ज्ञात होता है कि धर्मसूत्र से पहले गृह्यसूत्र विद्यमान है। इसी प्रकार गृह्यसूत्र में भी कतिपय स्थलों पर धर्मसूत्र के नियमों की ओर संकेत किया गया है। इन तथ्यों से भी यही सम्भावना अधिक प्रतीत होती है कि आपस्तम्बगृह्यसूत्र और आपस्तम्बधर्मसूत्र की रचना एक ही व्यक्ति ने की है।

आपस्तम्बधर्मसूत्र का सम्बन्ध दक्षिण भारत से है। इस शाखा का संस्थापक सम्भवतः आन्ध्रदेशीय था। 'चरणव्यूह' में 'महार्णव' नाम की रचना से उद्धृत पद्यों के अनुसार आपस्तम्बशाखा नर्मदा के दक्षिण में प्रचलित थी—

"नर्मदादक्षिणे भागे आपस्तम्ब्याश्वलायनी।
राणायणी पिप्पला च यज्ञकन्याविभागिनः॥
माध्यन्दिनी शाङ्खायनी कौथुमी शौनकी तथा।"

महार्णव में आपस्तम्बीयशाखा को स्पष्टतः आन्ध्रदेशीय बताया गया है—

"आन्ध्रादिदक्षिणाग्नेयीगोदासागर आवधि।
यजुर्वेदस्तु तैत्तिर्या आपस्तम्बी प्रतिष्ठिता॥"

स्वयं आपस्तम्ब ने धर्मसूत्र में श्राद्ध के प्रकरण में ब्राह्मणों के हाथ में जल गिराने की प्रथा 'उत्तर के लोगों में' ('उदीच्याः') प्रचलित है, ऐसा कहकर

अपने दक्षिण भारतीय होने का संकेत कर दिया है। सबसे अधिक उल्लेखनीय तथ्य यह है कि आपस्तम्बधर्मसूत्र में तैत्तिरीय आरण्यक के जिन मन्त्रों का निर्देश है वे आन्ध्रपाठ से ही गृहीत हैं। इस आधार पर ब्यूहेर आपस्तम्ब को निश्चित रूप से आन्ध्रदेशीय मानते हैं—

"It would therefore follow, from the adoption of an Andhra text by Apastamba, that he was born in that country, or at least, had resided there so long as to have become naturalised in it."

से० बु० इ० भाग भूमिका, पृ० ३४

उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला है कि आपस्तम्ब का जन्म आन्ध्रदेश में हुआ था, अथवा उन्होंने वहाँ इतने दीर्घकाल तक निवास किया था कि वे वहीं के हो गये थे।

गौतमधर्मसूत्र तथा आपस्तम्बधर्मसूत्र

गौतमधर्मसूत्र उपलब्ध धर्मसूत्रों में प्राचीनतम है। यद्यपि आपस्तम्ब ने अपने धर्मसूत्र में गौतम का नामतः उल्लेख नहीं किया है, तथापि गौतम के मत की ओर संकेत कई स्थानों पर किया है, उदाहरण के लिए गौतमधर्मसूत्र १. २. १ में कहा गया है—"प्रागुपनयनात्कामचारः कामवादः कामभक्षः" किन्तु आपस्तम्ब इसका विरोध करते हुए कहते हैं—"श्रुतिर्हि बलीयस्यानुमानिकादाचारात्"। यद्यपि गौतम के नाम का उल्लेख उन्होंने नहीं किया है तथापि वे उन्हीं के मत को ध्यान में रखकर अपने नियम का निर्णय करते हैं। इसके अतिरिक्त आपस्तम्बधर्मसूत्र में ऐसे कई सूत्र हैं जो गौतमधर्मसूत्र के सूत्रों से मिलते-जुलते हैं—

आपस्तम्ब०	गौतम०
काषायं चैके वस्त्रमुपदिशन्ति १. १. २. ४१	काषायमप्येके १. २. १९
दृष्टो धर्मव्यतिक्रमस्साहसं च पूर्वेषाम् २. ६. १३. ७	दृष्टो धर्मव्यतिक्रमः साहसं च महताम् १. १. ३
वत्सतन्तीं च नोपरि गच्छेत् १. ११. ३१. १५	नोपरि वत्सतन्तीं गच्छेत् १. ९. ५२
ज्वलितां वा सूर्मिं परिष्वज्य समाप्नुयात् १. ९. २४. २	सूर्मीं वा श्लिष्येज्ज्वलन्तीम् २. ५. ९

इसी प्रकार अनेक दूसरे सूत्रों में भी समानता देखी जा सकती है। प्रो० काणे के अनुसार जहाँ आपस्तम्ब ने 'एके' कहकर दूसरे आचार्य के मत का निर्देश किया है वहाँ प्रायः गौतम के मत से ही अभिप्राय प्रतीत होती है।

बौधायनधर्मसूत्र एवं आपस्तम्बधर्मसूत्र

आपस्तम्बधर्मसूत्र बौधायनधर्मसूत्र के बाद की रचना है। यह तथ्य दोनों की तुलना से स्पष्ट है। प्रथमतः, आपस्तम्ब और बौधायन के अनेक सूत्रों में समानता है। आपस्तम्ब १. १०. २९. ८–१४ में आये हुए सूत्र बौधायनधर्मसूत्र में भी दिखायी पड़ते हैं। इसी प्रकार आप० १. १. २. ३०, १. १. ३. ६, १. २. ६. ८–९ बौधायनधर्मसूत्र प्रश्न १ अध्याय २ में भी आते हैं। जहाँ तक इन दोनों के दृष्टिकोण का प्रश्न है आपस्तम्ब बाद के सिद्धान्त का समर्थन करते हैं और उनका विचार अधिक विकसित दिखायी पड़ता है। पुत्र के उत्तराधिकार के विषय में बौधायन ने जो विचार व्यक्त किए हैं आपस्तम्ब ने उनकी आलोचना की है। इसी प्रकार नियोग के विषय में भी आपस्तम्ब अपने पूर्ववर्ती बौधायन के विचारों से सहमत नहीं हैं। विवाह प्रकरण में बौधायन ने सभी प्रमुख भेदों का उल्लेख किया है, किन्तु आपस्तम्ब ने पैशाच विवाह को उल्लेख के योग्य नहीं समझा है। यही नहीं ज्येष्ठपुत्र के उत्तराधिकार के सम्बन्ध में बौधायन ने जिन दो वैदिक अंशों को प्रमाणस्वरूप उद्धृत किया है, उनमें से एक की आलोचना आपस्तम्ब ने (२. ६. १४. ६–१३) की है—

इन तथ्यों के आलोक में यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि आपस्तम्ब बौधायन से बाद के हैं। ब्यूह्लर के शब्दों में—

"The three points which have been just discussed, viz. the identity of a number of Sutras in the works of the two authors, the fact that Apastamba advocates on some points more refined or puritan opinions, and that he labours to controvert doctrine contained in Baudhayana's Sutras, give a powerful support to the traditional statement that he is younger than that teacher."

—वही, पृ० २२

ब्यूह्लेर का विचार यह है कि बौधायन और आपस्तम्ब में कई शताब्दियों का अन्तर होना चाहिए।

आपस्तम्बधर्मसूत्र में उद्धृत एवं उल्लिखित साहित्य

आपस्तम्बधर्मसूत्र में पूर्ववर्ती व्यापक साहित्य के उल्लेख या उद्धरण मिलते हैं। यद्यपि ऋग्वेद और सामवेद से उद्धृत मन्त्रों की संख्या अत्यल्प है तथापि सभी वेदों के मन्त्र इस धर्मसूत्र में उद्धृत या निर्दिष्ट हैं। तीन प्राचीन वेदों का उल्लेख 'त्रयी' नाम से किया गया है और अथर्ववेद का 'आथर्वण वेद' नाम से उल्लेख है—'आथर्वणस्य वेदस्य शेष इत्युपदिशन्ति' २. ११. २९.

१२. तैत्तिरीयब्राह्मण और आरण्यक के मन्त्रों को बहुशः उद्धृत किया गया है। जैसे २. २. ३. १६, २. २. ४. १-९ में। शुक्लयजुर्वेद से भी कतिपय अंश हैं। वाजसनेयिब्राह्मण से निम्नलिखित उद्धरण है १. ४. १२. ३—

"अथापि वाजसनेयिब्राह्मणम् ब्रह्मयज्ञो ह वा एष यत्स्वाध्यायस्तस्यैते वषट्कारा यत्स्तनयति यद्विद्योतते यदवस्फूर्जति यद्वातो वायति। तस्मात् स्तनयति विद्योतमानेऽवस्फूर्जति वाते वा वायत्यधीयीतैव वषट्काराणामच्छम्बट्कारायेति।" इसके आगे ही सूत्रों में यजुस्, साम तथा वाजसनेयिब्राह्मण का उल्लेख है।

वाजसनेयिब्राह्मण के उपर्युक्त उद्धरण के विषय में ब्यूह्लेर का मत है कि यह सम्भवतः शतपथब्राह्मण की काण्वशाखा का पाठ है, क्योंकि यह माध्यन्दिन पाठ में उपलब्ध नहीं है। सम्भवतः धर्मसूत्र का रचयिता माध्यन्दिन पाठ से परिचित नहीं था।

इसी प्रकार उपनिषदों का भी उल्लेख इस सूत्र में मिलता है—"सर्ववि-द्यानामप्युपनिषदामुपाकृत्याऽनध्ययनं तदहः" २. २. ५. १. अध्यात्मपटल की अधिकांश सामग्री उपनिषदों से गृहीत है। और वेद के छः अङ्गों के विषय में भी आपस्तम्ब को निश्चित रूप से ज्ञान है २. ४. ८. १०-११ "षडङ्गो वेदः।" "छन्दःकल्पो व्याकरणं ज्योतिषं निरुक्तं शीक्षाच्छन्दोविचितिरिति"। निरुक्त से आपस्तम्ब का परिचय सिद्ध करने के लिए महामहोपाध्याय काणे ने दोनों द्वारा दी गयी आचार्य शब्द की व्युत्पत्तियों की भी तुलना की है—

आपस्तम्ब १. १. १. १४ "यस्माद्धर्मानाचिनोति स आचार्यः।"

निरुक्त १. ४—"आचार्यः कस्मादाचारं ग्राहयति आचिनोत्यर्थानाचिनोति बुद्धिमिति वा।"

आपस्तम्ब किस प्रकार अपने पूर्ववर्ती धर्मसूत्रकारों गौतम और बौधायन के मतों से परिचित हैं यह ऊपर लिखा जा चुका है। आपस्तम्ब के अनेक सूत्रों में समानता भी इसी तथ्य का द्योतक है कि वे इन दोनों प्रमुख सूत्रकारों से परिचित हैं, यद्यपि उन्होंने इनका नामतः उल्लेख नहीं किया है। आपस्तम्बधर्मसूत्र में निम्नलिखित नौ आचार्यों के नाम आये हैं—कण्व, काण्व, कुणिक, कुत्स, कौत्स, पुष्करसादि, वार्ष्यायणि, श्वेतकेतु और हारीत। इनमें कौत्स, वार्ष्यायणि और पुष्करसादि के नाम निरुक्त में भी मिलते हैं। श्वेतकेतु के उल्लेख के विषय में ब्यूह्लेर ने एक रोचक तर्क उपस्थित किया है। उनके अनुसार आपस्तम्बधर्मसूत्र में जिस प्रकार 'अवराः' के उदाहरण के रूप में श्वेतकेतु का उल्लेख किया गया है उससे प्रतीत होता है कि वे आपस्तम्ब से बहुत पहले के नहीं हैं। श्वेतकेतु और राजा जनक की कथा शतपथब्राह्मण में भी आयी है। यदि आपस्तम्ब के श्वेतकेतु को शतपथब्राह्मण

वाले श्वेतकेतु से अभिन्न माना जाय तो आपस्तम्ब शतपथब्राह्मण से एक या दो शताब्दी बाद रहे होंगे। प्रो० काणे ने छान्दोग्योपनिषद् में दो श्वेतकेतु के उल्लेख की ओर ध्यान दिया है—श्वेतकेतु आरुणि और श्वेतकेतु आरुणेय और इस प्रकार आपस्तम्बद्वारा उल्लिखित श्वेतकेतु शतपथब्राह्मण के श्वेतकेतु नहीं हैं अपितु वे एक धर्मसूत्रकार प्रतीत होते हैं।

सम्पूर्ण वेद और वेदाङ्ग साहित्य के अतिरिक्त आपस्तम्ब का परिचय पुराणों और महाभारत से भी है। आपस्तम्बधर्मसूत्र में न केवल पुराणों का उल्लेख है, प्रत्युत पुराणों के अंश भी उद्धृत किये गये हैं—जैसे १. ६. १९. १३.

अथ पुराणे श्लोकावुदाहरन्ति—

उद्यतामाहृतां भिक्षां पुरस्तादप्रवेदिताम्।
भोज्यां मेने प्रजापतिरपि दुष्कृतकारिणः॥
न तस्य पितरोऽश्नन्ति दश वर्षाणि पञ्च च।
न च हव्यं वहत्यग्निर्यस्तामभ्यधिमन्यते॥

२. ९. २३. ३–४

अथ पुराणे श्लोकावुदाहरन्ति—

अष्टाशीतिसहस्राणि ये प्रजामीषिर ऋषयः।
दक्षिणेनार्यम्णः पन्थानं ते श्मशानानि भेजिरे॥
अष्टाशीतिसहस्राणि ये प्रजां नेषिर ऋषयः।
उत्तरेणार्यम्णः पन्थानं तेऽमृतत्वं हि कल्पते॥

पुराण के मत का उल्लेख इस सूत्र में द्रष्टव्य है—

'यो हिंसार्थमभिक्रान्तं हन्ति मन्युरेव मन्युं स्पृशति न तस्मिन् दोष इति पुराणे।' १. १०. २९. ७. आप० २. ९. २४. ६ में भविष्यत्पुराण का नामतः उल्लेख है—

"पुनस्सर्गे बीजार्था भवन्तीति भविष्यत्पुराणे।"

इस सन्दर्भ में यह उल्लेखनीय है कि पुराण का उल्लेख आपस्तम्ब के अतिरिक्त किसी अन्य धर्मसूत्रकार ने नहीं किया है। आपस्तम्ब का परिचय महाभारत से भी प्रतीत होता है, जैसा कि म० म० काणे ने बताया है, आप० २. ७. १७. ८ का निम्नलिखित पद्य अनुशासनपर्व के एक पद्य से मिलता-जुलता है—

"सम्भोजनी नाम पिशाचभिक्षा नैषा पितॄन् गच्छति नोऽथ देवान्।
इहैव सा चरति क्षीणपुण्या शालान्तरे गौरिव नष्टवत्सा॥"

किन्तु सबसे अधिक उल्लेखनीय हैं आपस्तम्ब का पूर्वमीमांसा और न्याय के सिद्धान्तों से सम्बद्ध उल्लेख। इन सूत्रों में 'न्यायविदः' या 'न्यायवित्समयः' प्रयोग द्रष्टव्य हैं—

'अङ्गानां तु प्रधानैरव्यपदेश इति न्यायवित्समयः'

२. ४. ८. १३.

'अथापि नित्यानुवादमविधिमाहुर्न्यायविदः'

२. ६. १४. १३.

इन अंशों से मिलते-जुलते सूत्र जैमिनि के पूर्वमीमांसा सूत्रों में भी मिलते हैं, उदाहरणार्थ—

'अर्थवादो वा विधिशेषत्वात्तस्मान्नित्यानुवादः'

पू० मी० सू० ६. ७. ३०.

इसी प्रकार इन दो उदाहरणों की समानता भी द्रष्टव्य है—

तस्यां क्रयशब्दः संस्तुतिमात्रम् धर्माद्धि सम्बन्धः। आप० २. ६. १३. ११	क्रयस्य धर्ममात्रत्वम् पू० मी० सू० ६. १. १५
'विद्यां प्रत्यनध्यायः श्रूयते न कर्मयोगे मन्त्राणाम्' १. ४. १२. ९	'विद्यां' प्रति विधानाद्वा सर्वकालं प्रयोगः स्यात्कर्मार्थत्वात्प्रयोगस्य' १२.३.१९
'श्रुतिर्हि बलीयस्यानुमानिकादाचारात्' १. १. ४. ८	'विरोधे त्वनपेक्ष्यं स्यादसति ह्यनुमानम्'
यत्र तु प्रीत्युपलब्धितः प्रवृत्तिर्न तत्र शास्त्रमिति	'यस्मिन्प्रीतिः पुरुषस्य तस्य लिप्सार्थलक्षणविभक्तत्वात्'

इन समानताओं के आधार पर महामहोपाध्याय ने यह मत प्रस्तुत किया है कि आपस्तम्ब जैमिनि के मीमांसासूत्र से परिचित थे। संभव है कि वे जिस मीमांसासूत्र से परिचित थे वह उस समय तक वर्तमान रूप न प्राप्त कर सका हो।

"The correspondence in language with the Purvamimansa-sutra is so close that one is tempted to advance the view that Apastamba knew the extant Mīmāṁsā Sutra or an earlier version of it that contained almost the same expressions."

हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र, पृ० ४२

आपस्तम्बधर्मसूत्र के अध्यात्मपटल में आत्मा के स्वरूप पर जिस प्रकार विचार किया गया है उससे सामान्यतः यह धारणा भी बनती है कि आपस्तम्ब वेदान्त दर्शनपद्धति से भी परिचित थे। यद्यपि अध्यात्मपटल का मुख्य स्रोत उपनिषद् हैं, तथापि उनकी सम्बद्ध विचारसरणि के आधार पर ही बादरायण के ब्रह्मसूत्र जैसी दर्शनपद्धति से परिचय का अनुमान स्वाभाविक है। इस सम्बन्ध में ब्यूह्लेर के विचार द्रष्टव्य हैं।

आपस्तम्बधर्मसूत्र की भाषा और शैली

आपस्तम्बधर्मसूत्र की सबसे प्रधान विशेषता इसकी भाषा है। वस्तुतः इस दृष्टि से यह सभी धर्मसूत्रों से विलक्षण है। इस धर्मसूत्र के समयनिर्धारण में एक सबल प्रमाण इसकी भाषा भी है। भाषा की दृष्टि से ब्यूह्लेर ने इसकी असंगतियों को चार वर्गों में रखा है—

१. ऐसे प्राचीन वैदिक शब्दरूप जो दूसरी वैदिक रचनाओं में उपलब्ध हैं और सादृश्य के आधार पर निरपन्न हैं।

२. ऐसे प्राचीन व्याकरण रूप जो पाणिनि के व्याकरण से शुद्ध हैं किन्तु अन्यत्र नहीं मिलते।

३. ऐसे शब्दरूप जो पाणिनि और वैदिकव्याकरण के नियमों के विरुद्ध हैं।

४. वाक्यसंरचना की असंगतियाँ।

जिन अनेक अप्रचलित शब्दों का प्रयोग इस धर्मसूत्र में किया गया है उनमें कुछ के उदाहरण हैं—अननियोग, व्युपतोद, व्युपजाव, ब्रह्महंसस्तुत, पर्यान्त, प्रशास्त, अनात्यय, ब्रह्मोज्झम्, श्वाविट्, छेदन, आचार्यदारे।

अपाणिनीय प्रयोग इस सूत्र में इतनी अधिक संख्या में मिलते हैं कि विद्वानों ने दो धारणाएँ स्वीकार की हैं। १. आपस्तम्ब पाणिनि से परिचित नहीं थे, उनके समकालीन थे अथवा पूर्ववर्ती थे। २. आपस्तम्बधर्मसूत्र के मौलिक पाठ में और भी अधिक असंगतियाँ रही होंगी। प्रो० काणे के शब्दों में—

"This makes it probable that in the original text there must have been many more Un-Panean forms than in the one preserved by Haradatta."

हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र, पृ० ३७

शैली की दृष्टि से आपस्तम्बधर्मसूत्र मुख्यतः गद्य में है, किन्तु इसमें प्रायः पद्यों का प्रयोग भी है। पद्यों की संख्या लगभग २० है, जिनमें ६ पद्य बौधायन धर्मसूत्र में भी उपलब्ध होते हैं। कुछ सूत्र वस्तुतः पद्यात्मक हैं। उद्धृत पद्यों के पहले 'उदाहरन्ति' 'अथाप्युदाहरन्ति' शब्दों का व्यवहार किया गया है।

आपस्तम्बधर्मसूत्र का समय—

उपर्युक्त समालोचना के आधार पर हम आपस्तम्ब धर्मसूत्र के समय के विषय में निम्नलिखित तथ्यों को ध्यान में रखकर कुछ निष्कर्ष निकाल सकते हैं—

१. आपस्तम्ब गौतम और बौधायन धर्मसूत्र के बाद का है, किन्तु हिरण्यकेशि-धर्मसूत्र से पहले का है।

२. आपस्तम्बधर्मसूत्र में सभी वेदों और वेदाङ्गों के पूर्ववर्ती होने का स्पष्ट उल्लेख है। अतः यह वेदाङ्गों के बाद की रचना है।

३. श्वेतकेतु से बहुत बाद के समय की रचना नहीं है, अतः छान्दोग्योपनिषद् के समय से कुछ ही काल बाद की रचना है।

४. भाषा की दृष्टि से यह पाणिनि के व्याकरण के दक्षिण भारत में प्रचार होने से पहले की रचना है।

५. इसमें बौद्धधर्म का कोई उल्लेख नहीं है, अतः दक्षिण भारत के बौद्ध धर्म का परिचय होने से पूर्व की रचना है।

६. यह उस समय की रचना है जब जैमिनि ने अपने दार्शनिक सम्प्रदाय की स्थापना की थी।

७. आपस्तम्बधर्मसूत्र पतञ्जलि (दूसरी शताब्दी ई० पू०) से पहले की रचना है।

भाषाशास्त्र की दृष्टि से तथा श्वेतकेतु के सम्बन्ध में उल्लेख पर ध्यान देते हुए ब्यूह्लेर ने यह विचार प्रकट किया है कि आपस्तम्बधर्मसूत्र को तृतीय शताब्दी ई० पू० के बाद का नहीं मानना चाहिए। किसी भी स्थिति में इसके रचनाकाल की निचली सीमा १५०–२०० वर्ष और पहले रखनी चाहिए।

"On linguistic grounds it seems to me Apastamba cannot be placed later than the third century B. C. and if his statement regarding svetaketu is taken into account, the lower limit for the composition of his sutras must be put further back by 150–200 years."—वही, पृ० ४२.

प्रायः इन्हीं विषयों और तथ्यों पर ध्यान देते हुए महामहोपाध्याय पी० वी० काणे ने आपस्तम्बधर्मसूत्र के लिए ६००–३०० ई० पू० के बीच का समय मानना उचित ठहराया है।

"...We shall not be far wrong if we assign it to some period between 600–300 B. C."

हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र, भाग १, पृ० ४५

आपस्तम्बधर्मसूत्र का वर्ण्यविषय

आपस्तम्बधर्मसूत्र में दो प्रश्न हैं और प्रत्येक में ११ पटल हैं। दोनों प्रश्नों में क्रमशः ३२ और २९ कण्डिकाएँ हैं।

एक ही विषय बिना व्यवधान के कई कण्डिकाओं में विवेचित है और कण्डिका के मध्य में भी नया विषय आरंभ हो जाता है। संक्षेप में इस धर्मसूत्र के वर्ण्यविषय इस प्रकार हैं—

प्रथम प्रश्न कण्डिका १—धर्म के प्रमाण, चार वर्ण और उनकी श्रेष्ठता का क्रम, वर्ण धर्म, उपनयन की विधि और काल, व्रात्य के संस्कार। २—व्रात्य के संस्कार, ब्रह्मचारी के नियम, दण्ड, अजिन और मेखला, ब्रह्मचारी के धर्म ३-४—ब्रह्मचारी के नियम। ५—अभिवाद, पादोपसंग्रहण की विधि, ब्रह्मचारी के नियम। ६—ब्रह्मचारी के नियम। ७—ब्रह्मचारी के नियम, स्नातक के धर्म। ८—ब्रह्मचारी के नियम, अनध्याय के अवसर। ९-११—अनध्याय। १२—स्वाध्याय की विधि, पञ्चमहायज्ञ। १३—पञ्चमहायज्ञ १४—नित्यकर्म अभिवादन योग्य व्यक्ति, अभिवादन की विधि। १५—आचमन की विधि। १६—आचमन की विधि, अभोज्यपदार्थ, भोजन विषयक नियम। १७—अभोज्य अन्न और पदार्थ। १८—अभोज्य और भोज्य अन्न का विचार। १९—भोज्य अन्न। २०—धर्म का प्रयोजन, लक्षण, न बेचने योग्य वस्तुएँ। २१—पतनीय तथा अशुचिकर कर्म। २२—अध्यात्मपटल, आत्मज्ञान के उपाय, आत्मज्ञान की प्रशंसा, आत्मस्वरूप। २३—आत्मज्ञान का फल, भूतदाही दोष। २४—क्षत्रिय के वध का प्रायश्चित्त, ब्रह्महत्या का प्रायश्चित्त, सुरापान तथा गुरुपत्नीगमन का प्रायश्चित्त। २५—सुवर्ण की चोरी का प्रायश्चित्त २६—गोवध का प्रायश्चित्त, अपतनीय प्रायश्चित्त। २७—अपतनीय-प्रायश्चित्त, २८—आपतनीय प्रायश्चित्त, भ्रूणहत्या का प्रायश्चित्त। २९—पतित के नियम, ३०-३३—स्नातक के नियम।

द्वितीय प्रश्न—कण्डिका १-२, गृहस्थ के धर्म। ३—वैश्वदेवबलि ४—वैश्वदेव बलि की विधि और गृहस्थ के धर्म। ५—गृहस्थ के धर्म ६-९—अतिथिसत्कारविधि। १०—ब्राह्मण आदि वर्णों की विधि; दण्ड का नियम। ११—मार्ग देने योग्य व्यक्ति, दूसरे विवाह का नियम, सगोत्रविवाह का निषेध और विवाह के भेद। १२—अभिनिम्रुक्तादि प्रायश्चित्त। १३—स्त्री के प्रति कर्तव्य, दायभाग। १४—दायविभाग तथा बारह प्रकार के पुत्र। १५—उदकदान का नियम, अहविस्य होम। १६—श्राद्धकल्प, १७—श्राद्धकल्प, उसका समय तथा श्राद्धयोग्य ब्राह्मण। १८—नित्यश्राद्ध का नियम। १९—श्राद्ध में पुष्ट्यर्थप्रयोग। २०—पुष्ट्यर्थप्रयोग। २१—आश्रम, संन्यासी और वानप्रस्थ के नियम। २२—वानप्रस्थ के नियम, श्रेष्ठ आश्रम। २३—गृहस्थाश्रम की श्रेष्ठता। २४—गृहस्थाश्रम की श्रेष्ठता। २५—राजा के कर्तव्य, २६—राजा के कर्तव्य, नियोग का नियम। २७—परस्त्रीगमन का प्रायश्चित्त। २८—दण्ड के विषय में विचार। २९—साक्षी की योग्यता, धर्म का लक्षण।

उपर्युक्त विषयसूची से यह स्पष्ट हो जाता है कि दो प्रश्नों में प्रथम में ब्रह्मचारी और स्नातक से संबद्ध नियम दिये गये हैं और दूसरे में गृहस्थ,

संन्यासी और वानप्रस्थ के धर्मों का विवेचन किया गया है। कण्डिकाओं में विषय के अनुसार विभाजन नहीं है, और न कोई-विषय एकत्र समाप्त कर दिया गया है, अपितु एक ही विषय लगातार एकाधिक कण्डिकाओं में क्रमशः चलता रहता है और बीच-बीच में दूसरे विषय से संबद्ध नियम भी विवेचित हुए हैं।

आपस्तम्बधर्मसूत्र के समय और रचना विषयक वैशिष्ट्यों की समालोचना के बाद अब हम उसके सांस्कृतिक और सामाजिक पहलुओं पर विचार करेंगे।

व्याख्याकार हरदत्त—आपस्तम्ब धर्मसूत्र की केवल एक ही व्याख्या उपलब्ध है—हरदत्त कृत उज्ज्वलावृत्ति। ऐसा प्रतीत होता है कि हरदत्त से पहले इस सूत्र पर कोई भाष्य था। स्वयं हरदत्त ने एकाध स्थलों पर दूसरी व्याख्याओं का उल्लेख किया है। ब्यूह्लेर ने इनका समय १४५०–१५०० ई० से पहले माना है। म० म० काणे ने इनका समय ११००–१३०० ई० के बीच माना है।

आपस्तम्बधर्मसूत्र में वर्णव्यवस्था—

प्राचीन भारतीय धर्म, संस्कृति और सामाजिक व्यवस्था पर वर्णव्यवस्था इतनी अधिक छायी हुई है कि जीवन के प्रायः सभी विषयों पर वर्ण के आधार पर ही विचार किया गया है। मूलतः वर्णव्यवस्था की पृष्ठभूमि में मनुष्य का जीविकोपार्जन का कर्म और नैतिक आचरण थे। अपने कर्म के आधार पर मनुष्य उच्च वर्ण में जन्म लेकर भी निम्न वर्ण में गिना जा सकता था। समाज का विभिन्न वर्गों में विभाजन प्रायः सभी देशों में किसी-न-किसी रूप में सदा विद्यमान रहा है। वर्ग या समुदाय स्वाभाविक रूप में जन्म लेते हैं, क्योंकि सभी मनुष्य एक जैसे उत्पन्न नहीं होते, सबमें एक-सी क्षमता नहीं होती और सबकी आदतें एक सी नहीं होतीं। डॉ० राधाकृष्णन् के शब्दों में मानव समाज भिन्न प्रकार की श्रेणियों से बना है और उनमें सबका अपना महत्व है। वे सभी एक सामान्य लक्ष्य को सिद्ध करने में लगे हुए हैं—

"Society is an organism of different grades, and human activities differ in kind and significance. But each of them is of value, so long as it serves the common end. Every type has its own nature which should be followed. No one can be at the same time a perfect saint, a perfect artist and a perfect philosopher. Every definite type is limited by boundaries which deprive it of other possibilities."

(समाज विभिन्न श्रेणियों के अवयव से बना है और मानवीय क्रियाओं का भेद और महत्त्व भिन्न होता है, किन्तु उनमें प्रत्येक का उस स्थिति

तक महत्त्व है जब तक वह एक सामान्य लक्ष्य को सिद्ध करता है। प्रत्येक विशिष्ट भेद का अपना निजी स्वरूप है, जिसका अनुसरण होना चाहिए। कोई भी एक व्यक्ति एक ही साथ एक महान् सन्त, एक महान् कलाकार और पहुँचा हुआ दार्शनिक नहीं हो सकता। प्रत्येक जाति या भेद की अपनी सीमाएँ हैं जो उसे दूसरी सम्भावनाओं से वियुक्त करती हैं।)

—हिन्दू व्यू आफ लाइफ, पृ० १२७

किन्तु समय के साथ परिवर्तन हुआ और वर्ण-व्यवस्था ने जो अन्यायपूर्ण रूप ग्रहण किया वह आज भी समाज की सबसे बड़ी समस्या के रूप में प्रत्यक्ष है। विशेषतः, समाज के एक वर्ग की स्थिति इतनी दयनीय दिखाई पड़ती है कि अनेक मानवों के लिये जन्म भी अभिशाप प्रतीत होता है। भारतीय समाज में वर्ण-व्यवस्था की बुराइयों पर कोई पर्दा अब नहीं डाला जा सकता।

धर्मसूत्रों के काल में वर्ण-व्यवस्था अपनी पूर्णावस्था पर पहुँच चुकी है। आपस्तम्ब धर्मसूत्र में तो सामयाचारिक धर्म की व्याख्या की प्रतिज्ञा कर पहला विवेच्य विषय वर्ण ही है। चौथे ही सूत्र में चार वर्णों का निर्देश कर अगले सूत्र में उनकी श्रेष्ठता के क्रम को जन्म के आधार पर पुष्ट किया गया है। छोटे-छोटे कर्मों में वर्ण के आधार पर भिन्नता सर्वत्र स्पष्ट की गई है। यज्ञोपवीत का समय, अवस्था, मेखला, वस्त्र, दण्ड, भिक्षाचरण की विधि सभी में वर्ण का विचार है।

जन्मना वर्ण-विभाजन की कठोरता इस बात से भी स्पष्ट है कि यदि कोई वर्णमात्र से भी ब्राह्मण व्यक्ति का वध करता है, तो उसका भी प्रायश्चित्त वही होता है, जो वेदज्ञ ब्राह्मण की हत्या का 'ब्राह्मणमात्रं च' १.२४.७। सभी वर्णों के लिए अपने धर्म का पालन ही परम कर्तव्य है। स्वधर्म का अनुष्ठान कर कोई भी मनुष्य परम अपरिमित स्वर्ग के सुख को प्राप्त कर सकता है 'सर्ववर्णानां स्वधर्मानुष्ठाने परमपरिमितं सुखम्।' इस धर्मसूत्र के अनुसार भी ब्राह्मण समाज का सबसे पूज्य और श्रेष्ठ अङ्ग है। उसके लिए मार्ग छोड़ देने का नियम है। किन्तु इसके साथ ही ब्राह्मण को भी अपने धर्म और कर्तव्य का पालन करने वाला होना चाहिये। यदि ब्राह्मण वेदाध्ययन से सम्पन्न नहीं है, तो उसके प्रति सम्मान नहीं प्रदर्शित करना चाहिये। हाँ, उसे बैठने का स्थान, जल तथा अन्न देना चाहिये।

उपनयन का विधान केवल तीन उच्चवर्ण के लिए किया गया है अर्थात् शूद्र और दुष्टकर्म करने वालों के लिए उपनयन का विधान नहीं है। आपस्तम्ब धर्मसूत्र में तो शूद्र और पतित व्यक्ति को 'श्मशान' कह कर उसे और

निन्दित ठहराया गया है। वेद का अध्ययन और अग्नि का आधान भी शूद्र के लिये वर्जित है।

"अशूद्राणामदुष्टकर्मणामुपायनं वेदाध्ययनमग्न्याधेयं फलवन्ति च कर्माणि" प्रश्न १, कण्डिका १, सूत्र ६। शूद्र के लिए केवल सेवाकर्म ही विहित है और श्रेष्ठ वर्ण की सेवा करने से उसे उत्तरोत्तर अधिक पुण्यफल प्राप्त होता है। वर्णों की श्रेष्ठता के क्रम का अनुमान तो इसी से किया जा सकता है कि दस वर्ष के ब्राह्मण बालक के समक्ष सौ वर्ष की आयु का क्षत्रिय पिता के सामने पुत्र की तरह होता है। अपने से हीन वर्ण का व्यक्ति भी विद्या या अवस्था में बढ़ कर हो तो उसके प्रति आदर और सम्मान व्यक्त करने का नियम है— 'पूजा वर्णज्यायसां कार्या, वृद्धतराणां च' १.१३.२।

आपस्तम्बधर्मसूत्र में शूद्र वर्ण की निम्नस्थिति पर अधिक नहीं कहा गया है, किन्तु इससे अधिक प्राचीन गौतमधर्मसूत्र के समय में ही शूद्र की स्थिति बहुत गिरी हुई है। आपस्तम्बधर्मसूत्र के अनुसार भी शूद्र और पतित श्मशान के समान होते हैं उनके समक्ष वेद का अध्ययन निषिद्ध है—"श्मशानवच्छूद्रपतितौ" १.९.९. यदि शूद्र उसी मकान में रहते हों तो वहाँ भी अध्ययन न करें यहाँ तक कि शूद्रा स्त्री देख ले तो वेद का अध्ययन बन्द कर देने का नियम है। किन्तु इसके साथ ही कुछ सहिष्णुता भी दिखाई पड़ती है। शूद्र भी आर्यजन की देखरेख में रसोइयों का कार्य कर सकता है। "आर्याधिष्ठिता वा शूद्रास्संस्कर्तारः स्युः" २.३.४. द्रष्टव्य २.३.९. और आपत्ति के समय शूद्र का अन्न भी भोज्य होता है। "तस्याऽपि धर्मोपनतस्य" १.१८.१४. इस प्रकार की सहिष्णुता अनेक आचार्यों के विचारों में अभिव्यक्त है। मनु ४.२११ में ऐसा ही विचार दिखाई पड़ता है। प्रायश्चित्त और अपराध के लिए दण्ड के प्रसङ्ग में भी शूद्र के प्रति अत्यन्त कठोरता का नियम है। आपस्तम्बधर्मसूत्र के पहले ही वर्णों की स्थिति पूरी तरह निर्धारित हो चुकी थी अतः इस धर्मसूत्र में गौतम ध० सू० की तरह उनके विषय में व्यवहार के नियमों का स्पष्ट निर्देश करने की आवश्यकता नहीं समझी गई है।

आपस्तम्बधर्मसूत्र में आश्रमव्यवस्था—

आश्रमव्यवस्था भारतीय धर्म की अपनी विशेषता है। धर्मशास्त्र के अनुसार मानव जीवन योजनाबद्ध और निश्चित उद्देश्य की ओर उन्मुख है। व्यक्ति के जीवन का मूल्याङ्कन उसके कर्मों से होता है भौतिक साधन समृद्धि मात्र से नहीं। जीवन की प्रत्येक अवस्था के कर्तव्य निर्धारित हैं। व्यक्ति अवस्थानुसार किसी विशिष्ट जीवन प्रवृत्ति से प्रेरित होता है। भारतीय धर्म की आश्रम

व्यवस्था व्यक्ति की प्रवृत्तियों और क्षमताओं के अनुसार जीवन के कर्मों के विभाजन और सन्तुलन की व्यवस्था है। आश्रमव्यवस्था के पीछे एक उदात्त भावना है, एक मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि है।

आश्रमव्यवस्था पर आपस्तम्बधर्मसूत्र में पर्याप्त जोर दिया गया है। आश्रमों की व्यवस्था संस्कारों की आधारभूमि पर की गई है। आपस्तम्ब धर्मसूत्र के अनुसार जिस प्रकार उत्तम और अच्छी प्रकार जोते हुए खेत में पौधों और वनस्पतियों के बीज अनेक प्रकार के फल उत्पन्न करते हैं, उसी प्रकार गर्भाधान आदि संस्कारों से युक्त व्यक्ति भी फल का भागी होता है।

"यथौषधिवनस्पतीनां बीजस्य क्षेत्रकर्मविशेषे फलपरिवृद्धिरेवम्". २.२.४.।

संस्कारों में उपनयन संस्कार से ही ब्रह्मचर्याश्रम आरम्भ होता है। उपनीत के लिए वेद का अध्ययन परमावश्यक कर्त्तव्य है। उपनयन न करा कर वेद की उपेक्षा करने वाला 'ब्रह्महन्' कहलाता है और उसके साथ किसी भी प्रकार का सम्बन्ध वर्जित किया गया है। उनसे भी बढ़ कर वे लोग होते हैं जिनके कुल परम्परा से यज्ञोपवीत होने का ज्ञान नहीं है और जो 'श्मशान' कहे जाते हैं। किन्तु इन सभी प्रकार के उपनयन के अभाव से उत्पन्न दोषों के लिए प्रायश्चित्त का भी विधान किया गया है, जिसके उपरान्त शुद्धि हो जाती है। उपनयन का मुख्य प्रयोजन विद्याग्रहण है। स्त्रियों के लिए उपनयन का नियम नहीं है। उपनयन संस्कार के लिए यह आवश्यक है कि उपनयन करने वाला वेदों और शास्त्रों के ज्ञान से सम्पन्न हो और कुलपरम्परया निषिद्ध कर्मों से विरत रहने वाला एवं विहित कर्मों में मन लगाने वाला हो। उपनयन संस्कार के समय से ही बालक वेद के नियमों के अनुसार धार्मिक कृत्य करने का अधिकारी होता है। उपनयन ही वह सीमा है जहाँ से धार्मिक कृत्य करने का अधिकार आरम्भ होता है। (द्रष्टव्य, २.१५.२३–२४)।

ब्रह्मचर्यावस्था का मुख्य लक्ष्य अध्ययन है। अध्ययन एक तप है, इसके लिए वातावरण की अनुकूलता, मानसिक शान्ति और एकाग्रता, उचित स्थान और पवित्रता पर धर्मसूत्रों में विस्तृत विचार किया गया है। इसीलिए अनाध्याय का प्रकरण सूक्ष्म बातों के साथ प्रायः सभी धर्मसूत्रों में मिलता है। वस्तुतः, जब तक मन समाहित नहीं है, तब तक अध्ययन का कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। वेदाध्ययन के लिए आचरण के नियमों का पालन आवश्यक है, अन्यथा नरक की प्राप्ति होती है और मनुष्य की आयु क्षीण होती है। नियमों का उल्लंघन करने से ही आज कल ऋषि नहीं उत्पन्न होते हैं—

"तस्मादृषयोऽवरेषु न जायन्ते नियमातिक्रमात्" प्रश्न १ कण्डिका ५,४.

ब्रह्मचारी के लिए कामभावना सबसे बड़ी बाधा है। यह उसे अपने मुख्य कर्त्तव्य से विरत करती है, अतः उसे कामभावना का पूर्णतः नियन्त्रण करना चाहिये। मधु, मांस, गन्ध, माला, अञ्जन और सभी सुखदायी वस्तुओं का परित्याग करे। यहाँ तक कि शरीर की अधिक स्वच्छता भी ब्रह्मचारी के लिए वर्जित है। प्रत्येक विधि से भोग प्रवृत्ति को रोक कर उसे विद्याध्ययन में लगाना ब्रह्मचारी की दैनिक तपस्या है। स्त्री सम्पर्क या स्त्री सम्पर्क की कामना उसके व्रत से नितान्त विरोधी विचार हैं, इसीलिए अकारण किसी भी स्त्री के स्पर्श को वर्जित किया गया है। प्र० १. कं. ७ सू० १०.

ब्रह्मचर्य जीवन सभी प्रकार नैतिक गुणों के अर्जन और अभ्यास का जीवन है। ब्रह्मचारी को क्षमाशील, कर्त्तव्यपालन में तत्पर तथा लज्जाशील होना चाहिए और इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखना चाहिए।। धैर्य, उत्साह, अक्रोध, अनसूया ब्रह्मचारी के आवश्यक चारित्रिक गुण हैं। ब्रह्मचारी के लिए अनेक सामान्य नियम हैं। उसे सभी प्रकार की ऐन्द्रिय सुख देनेवाली वस्तुओं का त्याग करना आवश्यक है। शारीरिक सौन्दर्य के प्रदर्शन की प्रवृत्ति का भी त्याग करना चाहिये। जल में केलि-क्रीडा अथवा सुखानुभूति करते हुए स्नान भी ब्रह्मचारी के लिये निषिद्ध है। ब्रह्मचारी के कर्म मुख्यतः तीन प्रकार के हैं—गुरु को प्रसन्न करने वाले कर्म, कल्याण की प्राप्ति के कर्म तथा वेद का परिश्रमपूर्वक अभ्यास ("गुरुप्रसादनीयानि कर्माणि स्वस्त्ययनमध्ययन संवृत्तिरिति" १, ५, ९)। इन कर्मों के अतिरिक्त दूसरे कर्म ब्रह्मचारी को नहीं करने चाहिए। इस प्रकार अध्ययन और गुरु की सेवा विद्यार्थी के जीवन का लक्ष्य माना गया है।

आचार्य के लिए भी उसका आचरण प्रधान होता है। अतएव धर्मसूत्र में आचार्य के लिये भी अनेक नियमों की व्यवस्था की गयी है। आचार्य के धर्म-भ्रष्ट होने पर धर्मसूत्र में उसके त्याग का भी विधान है। ब्रह्मचर्याश्रम में ही नहीं, प्रत्युत सम्पूर्ण जीवन में आचार्य का सर्वाधिक महत्त्व है—"यस्माद्धर्मानाचिनोति स आचार्यः" आचार्य धर्म का ज्ञान कराता है। आचार्य विद्या के माध्यम से बालक को पुनः उत्पन्न करता है। वह माता-पिता से श्रेष्ठ होता है, क्योंकि जो जन्म उसके माध्यम से प्राप्त होता है वह स्वर्गसुख तथा निःश्रेयस् मोक्ष का हेतु होता है। माता-पिता केवल शरीर को ही उत्पन्न करते हैं, किन्तु आचार्य बालक को सर्वथा योग्य बनाता है। आचार्य का यह कर्तव्य है कि वह योग्य शिष्य का अध्यापन करे उसे अस्वीकार न करे १—कण्डिका १४ सूत्र २, ३।

शिष्य का यह कर्त्तव्य है कि गुरु के प्रति आराध्य देव के समान भावना रखे, उनके समक्ष व्यर्थ की बातें न करे और उनकी बातों को ध्यान से सुने—

"देव मिवाचार्यमुपासीताऽविकथयन्नविमना वाचं शुश्रूषमाणोऽस्य"

१—कं० ६, १३

किन्तु इसी प्रसंग में यह भी कहा गया है कि शिष्य को विवेक से काम लेना चाहिये और यदि गुरु की आज्ञा का पालन करने से पतनीय कर्म का दोष होता हो तो उस आज्ञा का पालन नहीं करना चाहिये—"आचार्याधीन-स्स्यादन्यत्र पतनीयेभ्यः" १—२—१९। अध्ययन से प्रमाद करने वाले या अपराधी शिष्य को गुरु डराकर, धमकाकर, भोजन बन्द कर या ठंढे पानी से नहलाकर दण्ड दे सकता है। प्र० १ कं० ८ सू० ३०। दूसरी ओर, शिष्य भी धर्म का उल्लंघन करनेवाले गुरु को एकान्त में समझा सकता है—"प्रमादा-दाचार्यस्य बुद्धिपूर्वं वा नियमातिक्रमं रहसि बोधयेत्" प्र० १ कं० ४ सू० २५। धर्म के कार्यों में गुरु की सहायता और रक्षा करना शिष्य का कर्त्तव्य होता है (१. ४. २३) और ब्रह्मचर्याश्रम में ब्रह्मचारी जो कुछ भी वस्तु प्राप्त करता है वह नियमतः गुरु का होता है। किसी कार्य के लिए जाते समय विद्यार्थी के लिए गुरु की प्रदक्षिणा का नियम है।

शिष्य के प्रति गुरु का कर्त्तव्य भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। गुरु शिष्य को पुत्रवत् माने, हृदय से उसकी उन्नति की कामना करे और ईमानदारी के साथ विद्या प्रदान करे यही आदर्श है—

"पुत्र मिवैनमनुकाङ्क्षन् सर्वधर्मेष्वनपच्छादयमानः सुयुक्तो विद्यां ग्राहयेत्"

१. ८. २५

गुरु शिष्य का किसी प्रकार शोषण न करे और अध्ययन कार्य में अवरोध न आने दे। हां, संकट की स्थिति इसका अपवाद है। गुरु जब शिष्य को विद्या प्रदान करने में प्रमाद करता है तो वह गुरु नहीं रह जाता और शिष्य को चाहिये कि ऐसे गुरु का त्याग कर दे। धर्मसूत्र की दृष्टि में गुरु और शिष्य का आदर्श जीवन के प्रमुख लक्ष्य की सिद्धि की ओर उन्मुख है। यह केवल जीविका या औपचारिकता का सम्बन्ध नहीं है।

धर्मसूत्र में अभिवादन शिष्टाचार या नित्य आचरण का महत्वपूर्ण अङ्ग है, अतः प्रत्येक अवसर पर अभिवादन की विधि का निर्देश किया गया है। गुरु के पादोपसंग्रहण का नियम सभी धर्मसूत्रों और गृह्यसूत्रों में आया है। अभि-वादन, प्रत्यभिवादन में नाम के अन्तिम स्वर को प्लुत करने का नियम है, किन्तु यहाँ भी शूद्र के लिए भिन्न नियम दिया गया है। ध्यानार्ह है कि अभिवादन और पादोपसंग्रहण भिन्न हैं। पादोपसंग्रहण गुरुओं के सम्बन्ध में

विहित है, गुरु का पादोपसंग्रहण अध्ययन आरम्भ करने से पूर्व करना चाहिये। अभिवादन इसके अतिरिक्त अन्य सभी अवसरों पर करना चाहिये।

ब्रह्मचारी के धर्म का एक आवश्यक अंग सायं प्रातः समिदाधान और भिक्षाचरण है। प्र० १ कं० ३ सू० ४३ के अनुसार ब्रह्मचारी भिक्षाचरण के रूप में एक प्रकार का यज्ञ ही करता है—"भैक्षं हविषा संस्तुतं तत्राऽऽचार्यो देवतार्थे।" किन्तु धर्मसूत्र में भिक्षा के कुछ निश्चित निमित्त विहित हैं—आचार्य को दक्षिणा देने के लिए, विवाह, यज्ञ, माता-पिता के भरणपोषण के लिए भिक्षा माँगी जा सकती है। जिस किसी याचक को भिक्षा देना उचित नहीं ठहराया गया है, प्रत्युत याचक के गुणों पर विचार कर ही भिक्षा देनी चाहिये—

"तत्र गुणान् समीक्ष्य यथाशक्ति देयम्" २. १०. २ केवल भौतिक सुख की लिप्सा से भिक्षा माँगना पाप है। किन्तु आचार्य को दक्षिणा देने के लिए शूद्र से भी धन लिया जा सकता है। १. ८. २१। ब्रह्मचारी को भिक्षा देना गृहस्थ का परम कर्तव्य है। हमारे धर्मसूत्र के अनुसार, भिक्षा न देने पर ब्रह्मचारी पुण्य, प्रजा, पशु, कुल, विद्या सभी कुछ छीन लेता है (१ कं० ३ सू० २६)। इस सम्बन्ध में धर्मसूत्र ने गोपथब्राह्मण का भी एक अंश उद्धृत किया है।

गृहस्थाश्रम—गृहस्थाश्रम के महत्त्व का प्रतिपादन प्रायः सभी धर्मसूत्रों में किया गया है। आपस्तम्बधर्मसूत्र के अनुसार "तीन प्रकार की विद्याओं के ज्ञाता आचार्यों का मत है कि वेद ही परम प्रमाण हैं, इस कारण वेदों में व्रीहि, यव, यज्ञपशु, आज्य, दुग्ध, खप्पर का उपयोग करते हुए, पत्नी के साथ, मन्त्रों का उच्च या मन्द स्वर से पाठ कर जिन कर्मों के करने का विधान है उन्हें करना चाहिये और इस कारण उनके विपरीत आचरण का निर्देश करने वाले नियमों को वेदज्ञ प्रमाण नहीं मानते हैं।

"त्रैविद्यवृद्धानां तु वेदाः प्रमाणमिति निष्ठा तत्र यानि श्रूयन्ते व्रीहियवपश्वाज्यपयः कपालपत्नीसम्बन्धान्युच्चैर्नीचैः कार्यमिति तैर्विरुद्ध आचारोऽप्रमाणमिति मन्यन्ते।" (२ कं० २३. ९)।

गृहस्थाश्रम के महत्त्व के विषय में आगे कहा गया है—

"अथाप्यस्य प्रजापतिममृतमाम्नाय आह-प्रजामनु प्रजायसे तदु ते मर्त्याऽमृतमिति।"

इसके अतिरिक्त गृहस्थ की सन्तान को अमृत बताकर वेद ने कहा है—हे मरणधर्मा मनुष्यों, तुम अपनी सन्तान में पुनः उत्पन्न होते हो, अतः सन्तान

ही तुम्हारे लिये अमरत्व है।" पिता ही पुत्र के रूप में उत्पन्न होता है, दोनों में सारूप्य होता है यह भी सामान्यतः देखा जाता है। वस्तुतः पिता प्रजापति का रूप होता है। "पुनस्सर्गे बीजार्था भवन्तीति भविष्यत्पुराणे।" २. २४. ६.

गृहस्थाश्रम की प्रशंसा में प्रजापति के दूसरे वचन का भी उल्लेख किया गया है—

"त्रयी विद्यां ब्रह्मचर्यं प्रजातिं श्रद्धां तपो यज्ञमनुप्रदानम्। य एतानि कुर्वंते तैरित्सह स्मो रजो भूत्वा ध्वंसतेऽन्यत्प्रशंसन्निति।" जो तीनों वेदों का अध्ययन, ब्रह्मचर्य, सन्तानोत्पत्ति, श्रद्धा, तप, यज्ञ तथा दान—इन कर्मों को करता है वह मेरे साथ निवास करता है। जो इनके विपरीत कर्म करता है वह धूल में मिल जाता है।"

गृहस्थाश्रम में पति और पत्नी का समान महत्त्व है और पाणिग्रहण के उपरान्त दोनों को सभी कर्म साथ-साथ करने होते हैं। पर्वों पर दोनों को उपवास करना चाहिये। गृहस्थाश्रम के कर्त्तव्यों में स्थालीपाक प्रमुख प्रतीत होता है इसके लिए अग्नि का उपसमाधान करना होता है। पति और पत्नी सभी कर्मों में सहयोगी होते हैं अतः उनमें किसी भी प्रकार के दायविभाग का नियम नहीं है। वे दोनों पुण्यों के फल में भी समान रूप से अधिकारी होते हैं और धन के उपार्जन में भी साथ होते हैं।

अतिथिसत्कार गृहस्थाश्रम का एक प्रधान कर्त्तव्य है। इसका उल्लेख गौरव के साथ सभी धर्म और गृह्यसूत्रों में है। आपस्तम्ब के अनुसार अतिथि वही है, जो अपने धर्म में निरत रहने वाले गृहस्थ के यहाँ केवल धर्म के प्रयोजन से जाता है, "स्वधर्मयुक्तं कुटुम्बिनमभ्यागच्छति धर्मपुरस्कारो नाऽन्यप्रयोजनः सोऽतिथिर्भवति।" (२. ६. ५)। अतिथि की पूजा को शान्ति और स्वर्ग की प्राप्ति का साधन माना गया है। अतिथि सत्कार के नियम में यह निर्देश किया गया है कि अतिथि के आने पर उठकर उसकी अगवानी करनी चाहिए और अवस्था के अनुसार उसका आदर करना चाहिए और योग्य स्थान प्रदान करना चाहिए। अतिथि के पैरों को दो शूद्र धोवें। कुछ आचार्यों का मत है कि अतिथि के लिए मिट्टी के पात्र में जल लाना चाहिए।

अतिथि को ठहरने के लिए स्थान, सोने के लिये शय्या, चटाई, तकिया, चादर, अञ्जन आदि आवश्यक वस्तुएँ देनी चाहिये। यदि परिवार के सभी सदस्यों के भोजन कर चुकने के बाद भी अतिथि आवे तो उसके भोजन का प्रबन्ध करना चाहिये। गृहस्थों के लिये अतिथि सत्कार नित्य किया जाने वाला प्राजापत्य यज्ञ है—"स एष प्राजापत्यः कुटुम्बिनो यज्ञो नित्यप्रततः।" २.७.१। अतिथियों के उदर की अग्नि आहवनीय अग्नि है, पवित्र गृह्य अग्नि

गार्हपत्य अग्नि है, जिस अग्नि पर भोजन पकाया जाता है वह दक्षिणाग्नि है। इसी प्रकार धर्मसूत्र में कहा गया है कि अतिथि को दिया गया दूध से युक्त अन्न अग्निष्टोम का फल उत्पन्न करता है, घृतमिश्रित भोजन उक्थ्य का फल प्रदान करता है, मधु से युक्त भोजन अतिरात्र यज्ञ का फल देता है, मांस से युक्त भोजन द्वादशाह यज्ञ का फल देता है तथा अन्न और जल अनेक सन्तान एवं दीर्घजीवन प्रदान करते हैं। अतिथि चाहे प्रिय हो या अप्रिय उसका सत्कार स्वर्ग-फल प्रदान करता है। अतिथि सत्कार-रूपी प्राजापत्य यज्ञ में तीनों समय दिया गया अन्न तीन सवन होता है। अतिथि के पीछे जाना उद्वसनीया इष्टि का प्रतीक है, मधुर भाषण ही यज्ञ की दक्षिणा है। अतिथि के प्रस्थान करते समय उसके पीछे चलना ही विष्णुक्रम है, अतिथि को पहुँचा कर लौटना ही मानो इस यज्ञ का अन्तिम अवभृथ स्नान है। जो व्यक्ति अतिथि को एक रात्रि अपने घर में ठहराता है वह पृथ्वी के सुखों को प्राप्त करता है, जो दूसरी रात्रि ठहराता है वह अन्तरिक्ष लोकों को जीतता है, तीसरी रात्रि ठहराने वाला स्वर्गीय लोकों को प्राप्त करता है, चौथी रात्रि ठहराने वाला असीम आनन्द का लोक जीत लेता है। अनेक रात्रियों तक अतिथि को ठहराने से असीम सुखों की प्राप्ति होती है। (प्र० २.कं. ७ सू. ६)।

इसी प्रसङ्ग में कहा गया है कि भोजन न होने पर भी आसन, पादप्रक्षालन, शयन-आसन, स्वागत के वचन से अतिथि का सत्कार करना चाहिये—'अभावे भूमिरुदकं तृणानि कल्याणी वागित्येतानि वै सतोऽगारे न क्षीयन्ते कदाचनेति।' २.३.१४। अतिथि के रूप में यदि कोई शूद्र आये तो उसे कोई कार्य सौंप दिया जाता है और फिर उसे भोजन दिया जाता है। २.३.१९–२०.

ब्रह्मयज्ञ या वेद का स्वाध्याय गृहस्थाश्रम का एक दैनिक कर्म है। इसकी उपेक्षा कदापि अभीष्ट नहीं है। भोजन से पहले ही नित्य स्वाध्याय का नियम है। आपस्तम्बधर्मसूत्र में ब्राह्मण का उद्धरण देते हुये नित्य स्वाध्याय को तप माना गया है। कृच्छ्र, अतिकृच्छ्र, चान्द्रायण आदि तपों का जो कुछ फल होता है वही फल स्वाध्याय का भी होता है। (प्र० १ कं० १२, सू० १)। इसी प्रसङ्ग में शतपथ ब्राह्मण का एक अंश भी उद्धृत किया गया है—

"अथापि वाजसनेयिब्राह्मणम्......" (द्र० पृष्ठ ९०)

वैश्वदेवकर्म भी गृहस्थाश्रम के धर्मों का एक अनिवार्य अङ्ग है। इसके अतिरिक्त पितृकर्म या श्राद्धकर्म की महत्ता पर भी धर्मसूत्र में विस्तार से विचार किया गया है। बलिकर्म के बाद गृहस्थ को चाहिये कि सबसे पहले

अतिथियों को भोजन कराये, उसके बाद बालकों, वृद्धों, रोगियों, सम्बन्ध की स्त्रियों को तथा गर्भवती स्त्रियों को भोजन कराये।

भोजन की शुद्धता धर्मसूत्र का एक प्रमुख विवेच्य विषय है। किसी भी प्रकार की अपवित्र वस्तु के सम्पर्क से भोजन अभोज्य हो जाता है। आपस्तम्बधर्मसूत्र में प्रथम प्रश्न की सोलहवीं, सत्रहवीं कण्डिका में भोजन की शुद्धता का विस्तार के साथ विवेचन किया गया है। इस काल तक शूद्र द्वारा स्पृष्ट भोजन अभोज्य माना जाने लगा है। खट्टा, रातभर रखा हुआ, बासी भोजन, बाजार से खरीदा हुआ भोजन अभोज्य माना जाता है। चित्र निर्माण आदि कर्म कर जीविका निर्वाह करने वाले शिल्पियों का भोजन भी नहीं ग्रहण करना चाहिए (द्र० पृ० १३९)। इसी प्रकार दवा आदि देकर जीविका निर्वाह करने वाले तथा ब्याज लेने वाले व्यक्ति का अन्न भी अभोज्य होता है। प्रायश्चित्त न करने वाले ब्राह्मण का अन्न अभोज्य होता है। आपस्तम्ब के अनुसार गाय तथा बैल का मांस भक्ष्य हो सकता है 'धेन्वनडुहोर्भक्ष्यम्' १. कं० १७.३०। बाजसनेयक के मतानुसार बैल का मांस यज्ञ में अर्पित करने योग्य माना गया है १.१७.३१।

विवाह और नारी—इस धर्मसूत्र में विवाह के छः भेदों का उल्लेख किया गया है, जब कि सामान्यतः आठ भेद धर्मसूत्रों में वर्णित हैं। ये छः भेद हैं—ब्राह्म, आर्ष, दैव, गान्धर्व, आसुर और राक्षस। प्राजापत्य तथा पैशाच विवाह के विषय में हमारा धर्मसूत्र मौन है। इनमें तीन भेदों ब्राह्म, आर्ष और दैव को प्रशस्त माना गया है तथा गान्धर्व, आसुर और राक्षस विवाहों को निन्दित कहा गया है। इन सबमें ब्राह्म विवाह को सबसे उत्तम स्वीकार किया गया है।

धर्मसूत्रों में विवाह के जो भेद बताये गये हैं उनका निर्णायक आधार कन्या प्राप्ति का ढंग है। कन्या कैसे ग्रहण की जाती है इसी आधार पर इन भेदों में अन्तर है या श्रेष्ठता और निकृष्टता का विचार है। ब्राह्म विवाह में वर के कुल, आचरण, धर्म में आस्था, विद्या, स्वास्थ्य के विषय में जानकारी प्राप्त कर अपनी शक्ति के अनुसार कन्या को आभूषणों से अलंकृत कर प्रजा की उत्पत्ति के लिए तथा एक साथ धर्म के प्रयोजन के लिए कन्या प्रदान करे। आर्षविवाह में वर कन्या के पिता को दो सौ गाय तथा बैल प्रदान करे। दैव विवाह में पिता कन्या को किसी ऐसे ऋत्विज् को प्रदान करे जो श्रौतयज्ञ करा रहा हो। यदि कन्या और वर पारस्परिक प्रेम से स्वयं विवाह कर लेते हैं तो वह गान्धर्व विवाह कहलाता है। यदि वर कन्या के लिए अपनी शक्ति के अनुसार धन प्रदान कर विवाह करे, तो वह आसुर विवाह कहलाता है। कन्या

पक्ष वाले को परास्त कर यदि वर कन्या का अपहरण करे तो वह राक्षस विवाह कहलाता है।

विवाह की पवित्रता पर जिस कारण से अधिक विचार किया गया है वह स्पष्टतः यही है कि जैसा विवाह होता है, वैसा ही पुत्र होता है—"यथायुक्तो विवाहस्तथा युक्ता प्रजा भवति" २. १२. ४। इसी सम्बन्ध में हमारे धर्मसूत्र में गोत्र का भी विचार किया गया है। इसके अनुसार अपने ही गोत्र के पुरुष के साथ पुत्री का विवाह नहीं करना चाहिए। "सगोत्राय दुहितरं न प्रयच्छेत्' २. ११. १५ ऐसे पुरुष को भी कन्या देना निषिद्ध है जो मातृपक्ष से छः पीढ़ी के भीतर संबद्ध हो, अथवा पिता के पक्ष से संबद्ध हो।

आपस्तम्बधर्मसूत्र के समय एकपत्नीत्व की प्रवृत्ति को प्रमुखता प्राप्त हुई है। २.११.१२ में स्पष्टतः कहा गया है—"धर्मप्रजासम्पन्ने दारे नाऽन्यां कुर्वीत"। अर्थात् यदि पत्नी श्रौत, गृह्य, स्मार्त धर्मों में श्रद्धा रखनेवाली तथा पुत्र उत्पन्न करने में सक्षम हो तो दूसरा विवाह नहीं करना चाहिए। किन्तु यदि पत्नी दोनों में से किसी एक कार्य के सम्पादन में असमर्थ हो तो अग्निहोत्र की अग्नि प्रज्वलित कर दूसरी पत्नी ग्रहण कर सकता है। इस प्रकार अग्निहोत्र की अग्नि के आधान के साथ पत्नी का मौलिक सम्बन्ध है। इस धर्मसूत्र की दृष्टि में भी परिवार में माता का महत्त्वपूर्ण स्थान है। समावर्तन के बाद लौटे हुए पुत्र द्वारा उपार्जित वस्तुएँ माता को ही समर्पित करनी होती हैं। (१. ८. १५)।

अन्य धर्मसूत्रों के समान आपस्तम्बधर्मसूत्र में भी नियोग की प्रथा का उल्लेख है। कन्या कुल को दी जाती है, इस कारण पति के अभाव में अथवा उसके सन्तानोत्पत्ति में सक्षम न होने पर उसी के गोत्र के पुरुष से विवाहिता स्त्री पुत्र उत्पन्न कर सकती है—

"सगोत्रस्थनीयां न परेभ्यस्समाचक्षीत" २. २७. २।

किन्तु आपस्तम्बधर्मसूत्र के समय तक नियोग की प्रथा का लोप हो चला था। इसका कारण इस सूत्र में यह दिया गया है कि नियोग के धार्मिक पहलू पर लोग अब ध्यान नहीं देते और ऐन्द्रिय सुखों से प्रेरित होकर व्यभिचारी हो जाते हैं। अतः इन्द्रियों की दुर्बलता से नियोग निषिद्ध कर दिया गया है। किन्तु इसके साथ नियोग में किये जाने वाले गोत्र के विचार की आलोचना करते हुए धर्मसूत्रकार ने उसे व्यर्थ बताया है, क्योंकि पति से भिन्न सभी पुरुष समान हैं, चाहे वे पति के गोत्र के हों या न हों। आपस्तम्बधर्मसूत्र ने यह स्पष्ट कर दिया है कि वैवाहिक पवित्रता सभी प्रकार से श्रेयस्कर है और उसका लोक-परलोक में अधिक फल मिलता है।

संन्यास—गृहस्थाश्रम के बाद संन्यास एक महत्वपूर्ण आश्रम है। ब्रह्मचर्याश्रम के नियमों का पालन करनेवाला व्यक्ति ही संन्यास ग्रहण कर सकता है। वह अग्नि का, घर का और सभी प्रकार के सुखों का परित्याग करे, अल्पभाषण करे और इतनी ही भिक्षा मांगे जिससे जीविका-निर्वाह हो। संन्यासी दूसरों द्वारा फेंके गये वस्त्रों को ही धारण करे। कुछ धर्मज्ञों का मत है कि संन्यासी सभी वस्त्रों का परित्याग कर नग्न रहे। स्पष्ट है कि आपस्तम्ब के समय नग्न रहने वाले मुनि लोग भी थे। संन्यासी के समक्ष केवल एक ही लक्ष्य है—आत्मा का ज्ञान प्राप्त करना।

वानप्रस्थ्य—वानप्रस्थाश्रम में भी वही व्यक्ति प्रवेश कर सकता है जो ब्रह्मचारी के नियमों का पालन करता हो। वानप्रस्थ केवल एक अग्नि प्रज्वलित करे, घर में न रहे, किसी प्रकार का सुख भोग न करे, किसी की शरण में न रहे और केवल दैनिक अध्यवसाय के समय बोले। मूल, फल, पत्तों और तिनका आदि का भोजन करते हुए जीविका निर्वाह करे, फिर स्वयं गिरे हुए फलों और पत्तों का भक्षण करे, तब कुछ दिन जल पीकर जीवन धारण करे, कुछ दिन केवल वायु का सेवन करे और फिर केवल आकाश का ही भक्षण करे। इनका उत्तरोत्तर अधिक फल होता है। कुछ आचार्यों के अनुसार वानप्रस्थ के लिए ही अन्य आश्रमों के कर्मों का क्रमानुसार पालन करना चाहिये। वानप्रस्थ गांव से बाहर वन में घर बनाकर वहां पत्नी, पुत्र-पुत्रियों और अग्नि के साथ निवास करे अथवा अकेले ही निवास करे। वानप्रस्थ किसी भी प्रकार का दान न ग्रहण करे। कुछ आचार्यों के अनुसार गृहस्थ को चाहिए कि वह सभी घरेलू वस्तुओं के जोड़े बनवाये और उनमें से अपने उपयोग के लिए एक-एक ग्रहण कर वन को प्रस्थान करे। वन की वस्तुओं से ही होम कर्म करे। सभी मन्त्रों का तथा दैनिक स्वाध्याय का पाठ इस प्रकार करे कि वह दूसरों को न सुनाई पड़े। केवल अग्नि को सुरक्षित रखने के लिए घर बनाये और स्वयं खुले स्थान पर निवास करे।

राजा के कर्त्तव्य तथा अर्थव्यवस्था—

धर्मसूत्रों का अनिवार्य विषय राजधर्म आपस्तम्ब की दृष्टि से छूट नहीं सका है। राजा के कर्त्तव्यों का विवेचन यहां भी किया गया है। राजा का मुख्य कर्त्तव्य दण्ड देना है। राजा को चाहिए कि वह साक्षियों के आधार पर प्रश्न कर तथा शपथ दिलाकर अपराध पर विचार कर दण्ड दे—

"सुविचितं विचित्या दैवप्रश्नेभ्यो राजा दण्डाय प्रतिपद्यते।"

प्र० २. कं० ११. सू० ३।

नैतिक नियमों की रक्षा तथा धर्म का उल्लंघन करने वालों को दण्ड देना राजा का धर्म है। नैतिकता की रक्षा के लिए उसे स्त्रियों के प्रति किये गये दुर्व्यवहार को दण्ड देना चाहिए। आपस्तम्ब के अनुसार राजा ऐसे पुरुष को दण्ड दे जो युवती स्त्रियों पर दुर्भावनापूर्ण दृष्टि डालता है २, १६, १९। व्यभिचार में प्रवृत्त होने वाले पुरुष की प्रजननेन्द्रिय को कटवा देने का दण्ड भी सूत्र में विहित है (पृ० ३६२)। व्यभिचारी द्वारा दूषित की गयी कन्या का भरणपोषण भी स्वयं राजा को करना होता है और प्रायश्चित के बाद इस प्रकार की कन्याएँ विवाहार्थ ग्राह्य मानी गयी हैं।

आपस्तम्बधर्मसूत्र के द्वितीय प्रश्न के दशम पटल में राजा के कर्त्तव्यों का कुछ अधिक स्पष्टता से निर्देश किया गया है। न्याय व्यवस्था उसका धर्म है उसे न्याय कर्त्ताओं को उनकी योग्यता, विद्या, कुल अवस्था, बुद्धि और आचरण का विचार कर ही नियुक्त करना चाहिए।

प्रजा की रक्षा के लिए राजा को नगर के बीच में प्रासाद बनवाना चाहिए। प्रासाद के आगे एक आवसथ भवन हो और उसका नाम 'आमन्त्रण' हो। आवसथ अतिथियों के लिए होना चाहिए। सभाभवन में राजा द्यूत की व्यवस्था कराता है। प्रजा की सुरक्षा राजा का प्रधान कर्त्तव्य है। जिस राजा के राज्य में, ग्राम में या वन में चोरों का भय नहीं होता, वही कल्याणकारी राजा होता है—

"क्षेमकृद्राजा यस्य विषये ग्रामेऽरण्ये वा तस्करं भयं न विद्यते।"

२. २५. १५।

विशेषतः ब्राह्मण की और ब्राह्मण के धन की रक्षा राजा का परम कर्त्तव्य है। ब्राह्मण के धन की रक्षा करते समय मृत्यु प्राप्त कर लेना यज्ञ करने के समान बताया गया है। प्रजा की रक्षा का कार्य योग्य कर्मचारियों को सौंपना चाहिए। रक्षाधिकारी नगर के चारो ओर एक योजना के क्षेत्र में तथा ग्राम के चारो ओर एक कोस के क्षेत्र में रक्षा कार्य करें। यदि इन क्षेत्रों में कोई चोरी होती है तो रक्षापुरुषों से धन चुकता कराया जाय।

राजा की आर्थिक व्यवस्था का आधार कर है, किन्तु कर ग्रहण में भी राजा को विवेक का आश्रय लेकर नियमों का पालन करना होता है। विद्वान् श्रोत्रिय ब्राह्मण, स्त्रियों, अल्पवयस्क बालकों, गुरुकुल में अध्ययन करनेवाले, दासवृत्तिवाले, गूँगे, बहरे तथा रोगी से कोई कर नहीं लिया जाता। संन्यासी से भी किसी भी प्रकार का कर न लेने का विधान है।

उत्तराधिकार के नियम—पिता का यह कर्त्तव्य है कि वह अपने जीवन काल में ही पुत्रों में दाय का विभाजन करे, किन्तु नपुंसक, पागल और पातकी पुत्रों को किसी प्रकार का अंश न प्रदान करे। पुत्र न होने पर दाय का भाग सपिण्ड को प्राप्त होता था। इस प्रकार पुत्रहीन व्यक्ति की विधवा पत्नी सम्पत्ति की अधिकारिणी नहीं होती थी। ऐसा ही मत बौधायन का भी प्रतीत होता है।

किन्तु इस काल में पुत्री के लिए भी उत्तराधिकार का नियम है। पुत्र न होने पर पुत्री दाय की उत्तराधिकारिणी होती थी २,१४,४। दाय के अधिकारी सपिण्ड और आचार्य आदि सभी का अभाव होने पर सम्पत्ति राजा की हो जाती थी। कुछ आचार्यों के अनुसार सभी पुत्रों में ज्येष्ठ पुत्र ही दाय का अधिकारी होता था और उससे छोटे पुत्र अधीन रहते थे। आपस्तम्ब ने दाय विभाग के सम्बन्ध में कुछ देशों के इस नियम का भी उल्लेख किया है कि ज्येष्ठ पुत्र को कुछ विशेष अंश प्राप्त होता था। इसी प्रकार रथ और काष्ठोपकरण पिता के अधिकार में ही रहते थे और स्त्री का भी अपना एक अंश होता था। किन्तु आपस्तम्ब को यह विचार मान्य नहीं है कि केवल ज्येष्ठ पुत्र ही दाय का अधिकारी हो और इस सम्बन्ध में तैत्तिरीय संहिता ३.१.९ में मनु द्वारा सभी पुत्रों में समान विभाजन के नियम का उल्लेख कर सभी पुत्रों में समान विभाजन करना ही उचित बतलाया है—

"सर्वे हि धर्मयुक्ता भागिनः" २. १४. १४।

दाय या सम्पत्ति के विभाग का भी मुख्य प्रयोजन यही है कि उसका उपयोग धर्मकर्म में किया जाय। सभी अपना अंश प्राप्त कर उसे धार्मिक कार्यों में लगाकर धर्म की वृद्धि करें और इसीलिए धर्मसूत्र में कहा गया है कि जो धन को अधर्म में नष्ट करता है वह पुत्र ज्येष्ठ होने पर भी दायविभाग का अधिकारी नहीं है।

आपस्तम्बधर्मसूत्र के काल में खेती को प्रचुर महत्त्व मिल चुका है। खेती के विषय में अनेक नियम दिये गये हैं जिनसे सिद्ध होता है कि खेती की ओर राजा को भी विशेष ध्यान देना होता था। खेती के लिए दूसरे का खेत लेकर खेती न करने पर उसकी उपज का अनुमानित मूल्य खेत को देना होता था इस प्रकार भूमि पर स्वामित्व और काश्तकारी का रूप बहुत कुछ स्थिर हो गया था—

"क्षेत्रं परिगृह्योत्था नाभावात्फलाभावे यस्समृद्धस्स भावि तदपहार्यः।"

२.२८.१।

इसी प्रकार जमीन्दारी प्रथा का आरम्भिक रूप अपने अस्तित्व में आ चुका था—मजदूरों की पिटाई या चरवाहों को शारीरिक दण्ड देने के नियम इसी व्यवस्था के द्योतक हैं।

आपस्तम्ब का धार्मिक एवं नैतिक दृष्टिकोण—

आपस्तम्बधर्मसूत्र के आरम्भ में ही सामयाचारिक धर्मों को मुख्य प्रतिपाद्य विषय बताया गया है। सामयाचारिक धर्म का सम्बन्ध 'समय' से है और समय का अर्थ पुरुषकृत व्यवस्था है। हरदत्त ने अपनी व्याख्या में तीन प्रकार के समय का उल्लेख किया है—विधि, नियम, प्रतिषेध। सामयाचारिक का अर्थ "समयमूला आचारास्समयाचाराः तेषु भवाः सामयाचारिकाः।" धर्म के ज्ञाताओं की सहमति से व्यवस्थापित दैनिक आचार को सामयाचारिक धर्म कहा गया है, किन्तु स्मरणीय है कि धर्म के ज्ञाताओं के समय को ही धर्म के लिए प्रामाणिक माना जाता है। इसीलिए इस सूत्र में कहा गया है—'धर्मज्ञसमयः प्रमाणम्' (पृ० ३)।

धर्म के सम्बन्ध में आपस्तम्ब का विचार अधिक आधुनिक और व्यावहारिक प्रतीत होता है। यद्यपि धर्म का मूल प्रमाण वेद को ही माना गया है, तथापि उसके साथ ही धर्मज्ञों की संविदा या सहमति द्वारा की गयी आचारव्यवस्था को भी मुख्य रूप से प्रमाण माना गया है। वेद का महत्त्व इसलिए है कि धर्मज्ञों के लिए भी वेद ही प्रमाण है।

नैतिक विचारों में कर्म का सिद्धान्त भी धर्मसूत्र में अभिव्यक्त है। मनुष्य को अपने कर्म के अनुसार ही जन्म, शरीर का आकार, रंग, शक्ति, प्रतिभा, ज्ञान, धन, धर्म के अनुष्ठान की क्षमता प्राप्त होती है और वह पहिए की तरह दोनों लोकों में सुखपूर्वक चलता है।

"ततः परिवृत्तौ कर्मफलशेषेण जातिं रूपं वर्णं बलं मेधां प्रज्ञां द्रव्याणि धर्मानुष्ठानमिति प्रतिपद्यते तच्चक्रवदुभयोर्लोकयोः सुख एव वर्तते।" २.२.३

धर्मसूत्र आचार के सम्बन्ध में सदैव विवेक से काम लेने की सलाह देता है, क्योंकि महान पुरुषों में भी कई दुर्बलताएँ होती हैं। पूर्वजों या ऋषियों के कर्मों में धर्म के उल्लंघन तथा साहसपूर्ण कर्म का उदाहरण देखने में आता है। किन्तु सामान्य मनुष्य को उनके उदाहरण का अनुकरण नहीं करना चाहिए। उनका अनुकरण करने से मनुष्य पाप का भागी होता है, अतः सदैव धर्म के सम्बन्ध में स्वविवेक का आश्रय लेना आवश्यक है। "दृष्टो धर्मव्यतिक्रमस्साहसं च पूर्वेषाम्"। तेषां तेजोविशेषेण प्रत्यवायो न विद्यते। तदन्वीक्ष्य प्रयुञ्जानः सीदत्यवरः। २.१३. ७-९।

आपस्तम्ब का विचार है कि मनुष्य अपनी इन्द्रियों के साथ पतित नहीं होता, यद्यपि हारीत का मत इसके विपरीत है। इस प्रकार पतित व्यक्ति का पुत्र भी यदि उससे दूर रहे तो आर्यों में रहने योग्य हो जाता है। हारीत ने अपने मत के समर्थन में स्त्री की उपमा दधिधानी से दी है। जिस प्रकार यज्ञ के दधिपात्र में अशुद्ध दूध में जल और तक्र मिलाने पर उससे उत्पन्न दधि यज्ञ के कार्य के लिए ठीक नहीं होता उसी प्रकार पतित पुरुष से उत्पन्न पुत्र भी पतित होता है। इस प्रकार मनुष्य के अपने कर्म ही सामाजिक अवमानना या प्रतिष्ठा के कारण हैं। पतनीय कर्मों के अतिरिक्त अशुचिकर कर्म भी गिनाये गये हैं, जैसे उच्च वर्णों की स्त्रियों का शूद्र पुरुष के साथ सम्बन्ध और आर्यों का अपपात्र स्त्रियों के साथ यौनसम्पर्क।

इस सूत्र में आचार का महत्त्व अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में अभिव्यक्त है—

'कृच्छ्रा धर्मसमाप्तिस्सामान्येन लक्षणकर्मणा तु समाप्यते।' २.३१.१३।

आचरण का विचार उच्छिष्ट भोजन के प्रसंग में भी किया गया है। यदि पिता या बड़े भाई का भी आचरण धर्म के विपरीत हो तो उनका छोड़ा हुआ भोजन नहीं ग्रहण करना चाहिए। १.४.११, १२। आचार से भ्रष्ट होने पर कठोर व्रत का विधान किया गया है। गुरु की हत्या, गुरुपत्नीगमन, सुवर्ण की चोरी, सुरापान आदि के प्रायश्चित्त अत्यन्त कठिन और भयावह है। आपस्तम्बधर्मसूत्र ने प्रचलित आचार की अपेक्षा श्रुति के नियम को अधिक प्रामाणिक माना है—

"श्रुतिर्हि बलीयस्यानुमानिकादाचारात्" १.४.८

नैतिकता के सम्बन्ध में आपस्तम्बधर्मसूत्र में अभिव्यक्त विचार गौतमधर्मसूत्र के विचारों से बहुत भिन्न नहीं है। निकट संबन्ध की या निकट संबन्ध जैसी स्त्रियों के साथ यौन संबन्ध पतन का कारण है, तो दूसरी ओर आपस्तम्ब ने अन्य आचार्यों का मत भी दिया है, जिसके अनुसार गुरुपत्नियों के अतिरिक्त अन्य विवाहिता स्त्रियों से मैथुन पतन का कारण नहीं होता।

"नाऽगुरुतल्पगे पततीत्येके।" १. २०-१०

क्रोध, हर्ष, रोष आदि को भूतदाहीय कहा गया है, ये प्राणियों का नाश करनेवाले दोष हैं—

'क्रोधो हर्षो रोषो लोभो मोहो दम्भो द्रोहो मृषोद्यमत्याशपरीवादावसूया काममन्यू अनात्म्यमयोगस्तेषां योगमूलो निर्घातः।" (पृ० १७५)

इसके विपरीत क्रोधहीनता, हर्ष का अभाव, रोष न करना, अलोभ, मोह का अभाव, दम्भ का न होना, द्रोह न करना, सत्यवचन, भोजन में संयम,

पर दोष कथन से विमुख होना, असूया का अभाव, स्वार्थहीन उदारता, दान आदि न लेना, सरलता, कोमलता, भावावेगों का शमन, इन्द्रियों को वश में करना, सभी प्राणियों के साथ प्रेम, आत्मा के चिन्तन में मन को समाहित करना, आर्यों के नियम के अनुसार आचरण करना, क्रूरता का त्याग, सन्तोष—ये उत्तम गुण सभी आश्रमों के लिए हैं। इनके आचरण से विश्वात्मा की प्राप्ति होती है।

जिस प्रकार जान बूझकर वध करने से उसका अधिक पाप होता है, उसी प्रकार जान बूझकर उत्तम कर्म करने पर उसका अधिक पुण्य होता है। वध के लिए प्रायश्चित्त स्वरूप दान देना भी पर्याप्त माना गया है। क्षत्रिय की हत्या में एक सहस्र, वैश्य की हत्या पर सौ, शूद्र की हत्या पर दस गायों का दान देने से प्रायश्चित्त हो जाता है। ये विचार मानवतावादी दृष्टिकोण के कितने विरोधी हैं। हिंसक की हिंसा धर्मसूत्र में निन्दित नहीं है। इस प्रकार की हिंसा से कोई पाप नहीं होता, क्योंकि उसमें क्रोध ही क्रोध का स्पर्श करता है।

इस धर्मसूत्र में यौनविषयक नैतिकता के नियमों में कुछ और अधिक कठोरता दिखायी पड़ती है किन्तु इन नियमों पर भी वर्णव्यवस्थाहावी है। यदि तीन उच्च वर्णों में से किसी वर्ण का पुरुष शूद्र स्त्री से मैथुन करे तो उसका देश से निष्कासन होना चाहिए। शूद्र वर्ण का पुरुष उच्च वर्णों की स्त्रियों के साथ सम्बन्ध करे तो वह मृत्युदण्ड का भागी होता है—'वध्यश्शूद्र आर्यायाम्' २-२७९ ब्राह्मण के लिए पर स्त्री गमन का तीन वर्ष का प्रायश्चित्त कर्म निर्दिष्ट है और जितनी बार अपराध किया जाता है उतनी बार प्रायश्चित्त करना होता है। यदि शूद्र तीन उच्च वर्ण के व्यक्ति के प्रति अपशब्द कहता है तो उसकी जीभ कटवा लेनी चाहिए।

"वाचि पथि शय्यायामासन इति समीभवतो दण्डताऽनम्।" २-२७-१५

यदि शूद्र किसी पुरुष का वध करे या चोरी करे, अथवा भूमि पर बलपूर्वक कब्जा करे तो उसकी सम्पूर्ण सम्पत्ति का अपहरण भी विहित है। किन्तु इन्हीं अपराधों के लिए ब्राह्मण को जीवन भर आँखों पर पट्टी बँधाकर रहना पड़ता था "चक्षुनिरोधस्त्वेतेषु ब्राह्मणस्य" २.२७.१७.

आपस्तम्बधर्मसूत्र में धर्म के उद्देश्य की स्पष्ट मीमांसा की गयी है। धर्म का आचरण केवल सांसारिक उद्देश्य से ही नहीं करना चाहिए। यश, लाभ और सम्मान की प्राप्ति ही धर्म का प्रमुख लक्ष्य नहीं है। "नेमं लौकिकमर्थं पुरस्कृत्य धर्मांश्चरेत्।" १.२०.१ जब धर्म का आचरण लौकिक उद्देश्य से किया

जाता है तब वह व्यर्थ हो जाता है। लौकिक फल धर्माचरण का गौणफल है, जैसे फल के लिए आम का पेड़ लगाने पर छाया और सुगन्धि भी प्राप्त होती है, उसी प्रकार धर्म का आचरण करने पर लौकिक फल भी गौण रूप से प्राप्त होता है—"तद्यथाऽऽम्रे फलार्थे निमित्ते छाया गन्ध इत्यनूत्पद्येते, एवं धर्मं चर्यमाणमर्था अनूत्पद्यन्ते।"

यदि धर्म का कोई लौकिक फल भी नहीं होता तो भी कोई हानि नहीं होती है। स्वयं धर्म के लिए भी धर्म का आचरण करना चाहिए। धर्मसूत्र ने इस बात की चेतावनी दी है कि धर्म का आडम्बर करने वालों से सतर्क और सावधान रहना चाहिए। धर्म और अधर्म को पहचानने के लिए विवेक की आवश्यकता है। धर्म का स्वरूप जानने के लिये वेद का ही आश्रय लेना चाहिए। वस्तुतः धर्म वही आचरण है, जिसे आर्य लोग उत्तम कहकर प्रशंसित करते हैं और जिसकी वे निन्दा करते हैं वह अधर्म है।

"यं त्वार्याः क्रियमाणं प्रशंसन्ति स धर्मो यं गर्हन्ते सोऽधर्मः।" १.२०.७

किन्तु धर्म उस आचार को माना गया है जिसे सभी स्थानों पर विनयशील, वृद्ध, जितेन्द्रिय, लोभहीन, दम्भहीन आर्यों द्वारा एकमत से स्वीकार किया गया हो।

× × ×

आपस्तम्बधर्मसूत्र के प्रथम प्रश्न के आठवें पटल में आत्मा के स्वरूप पर विचार किया गया है। इस पटल का नाम अध्यात्मपटल है और इसमें अभिव्यक्त विचार उपनिषद् ही प्रभावित है। योग पर विशेष बल दिया गया है।

चित्त के समाधान का हेतु योग है। चित्त का समाधान करने पर इन्द्रियों का निश्चार या बाहर की ओर विक्षेप समाप्त होता जाता है। आत्मा का ज्ञान सबसे बड़ा लाभ है—

"आत्मलाभान्न परं विद्यते।" आत्मा सभी प्राणियों में नित्य अर्थात् अनश्वर शाश्वत रूप में विद्यमान है, अमर और ध्रुव है, विकार रहित, ज्ञानस्वरूप, अङ्गहीन, शब्द और स्पर्श गुण से परे है। आत्मा ही सम्पूर्ण विश्व है, परम लक्ष्य है। विद्वान् वही है जो सभी प्राणियों को अपने में देखता है। जो आत्मा का दर्शन सभी वस्तुओं में करता है वह ब्राह्मण स्वर्गलोक में प्रतिष्ठित और देदीप्यमान होता है।

"आत्मन पश्यन् सर्वभूतानि न मुह्येच्चिन्तयन्कविः। आत्मानं चैव सर्वत्र यः पश्यत्स वै ब्रह्मा नाकपृष्ठे विराजति"। १०८. २३. १०

आत्मतत्त्व के विषय में कहा गया है कि वह ज्ञानवान् है, बिसतन्तु से भी सूक्ष्म है, जो सम्पूर्ण विश्व को व्याप्त कर स्थित है। पृथ्वी से अधिक भारी है, नित्य है, सम्पूर्ण विश्व को अपने में समाविष्ट कर स्थित है। वह इन्द्रियों से उत्पन्न होने वाले संसार के ज्ञान से भिन्न है, जो ज्ञान इन्द्रिय-विषयों से अभिन्न हैं। वह अपने परम प्रकृष्ट लोक में स्थित होता है, वह सम्पूर्ण संसार को विविध रूपों में विभक्त करता है। उसी परमात्मा से ही शरीर उत्पन्न होते हैं, अतः वह सृष्टि का मूल कारण है, नित्य है, विकार रहित है।'

निपुणोऽणीयान् बिसोर्णाया यस्सर्वमावृत्य तिष्ठति। वर्षीयाश्च पृथिव्या ध्रुवः सर्वमारभ्य तिष्ठति। स इन्द्रियैर्जगतोऽस्य ज्ञानादन्योऽनन्यस्य ज्ञेयात्परमेष्ठी विराजः। तस्मात्कायाः प्रभवन्ति सर्वे स मूलं शाश्वतिकः स नित्यः।

१. ८. २३.२ (पृ० १७२)

किन्तु आचार ही सभी प्रकार की सिद्धि का मूल है। मानसिक विकारों को वश में किये बिना धर्म का प्रयोजन सिद्ध नहीं होता और न ही दार्शनिक चिन्तन का कोई उपयोग रह जाता है। चित्तवृत्ति के निरोध रूपी योग से ही मनुष्य के दोषों का विनाश होता है और प्राणियों को जलाने वाले दोषों का विनाश हो जाने पर पण्डित या ब्रह्मवेत्ता कल्याण प्राप्त करता है—

दोषाणां तु निर्घातो योगमूल इह जीविते।
निर्हृत्य भूतदाहीयान् क्षेमं गच्छति पण्डितः॥ (पृ० १७३)

आधुनिक युग की संत्रस्त और दिग्भ्रमित मानवता के लिए धर्मसूत्र का सन्देश अब भी सुमतिदायी सविता का आलोक देकर सन्मार्ग में प्रवृत्त होने की प्रेरणा दे रहा है और इसके नैतिक मूल्यों के बोध में ही हमारी जातीय संस्कृति के भावी अस्तित्व की आशा है।

—उमेशचन्द्र पाण्डेय

विषयानुक्रमणिका

सप्तम पटल

अष्टम पटल

नवम पटल

दशम पटल

एकादश पटल

द्वितीय प्रश्न

प्रथम पटल

द्वितीय पटल

तृतीय पटल

चतुर्थ पटल

पञ्चम पटल

षष्ठ पटल

सप्तम पटल

अष्टम पटल

नवम पटल

दशम पटल

एकादश पटल

श्रीमदापस्तम्बमहर्षिप्रणीतं

आपस्तम्ब-धर्मसूत्रम्

सानुवाद-'उज्ज्वला'वृत्तिसहितम्

प्रथमः प्रश्नः

अथातस्सामयाचारिकान् धर्मान् व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

[1]प्रणिपत्य महादेवं हरदत्तेन धीमता ।
धर्माख्यप्रश्नयोरेषा क्रियते वृत्तिरुज्ज्वला ॥ १ ॥

अथशब्द आनन्तर्ये । अतश्शब्दो हेतौ । उक्तानि श्रौतानि गार्ह्याणि च कर्माणि । तानि च वक्ष्यमाणान्धर्मानपेक्षन्ते । कथम् ? आचान्तेन कर्म कर्तव्यं, शुचिना कर्तव्य'मिति वचनादाचमनशौचादीनपेक्षन्ते ।

'[2]सन्ध्याहीनोऽशुचिर्नित्यमनर्हः सर्वकर्मसु' ।

इति वचनात् सन्ध्यावन्दनम् । एवं 'अशुचिकरनिर्वेषः,' "[3]द्विजातिकर्मभ्यो हानिः पतनम्' इति वचनात् ब्रह्महत्यादिप्रायश्चित्तानि च । एवमन्येष्वपि यथासम्भवमपेक्षा द्रष्टव्या । अतस्तदनन्तरं सामयाचारिकान् धर्मान् व्याख्यास्यामः । पौरुषेयी व्यवस्था समयः । स च त्रिविधः—विधिर्नियमः प्रतिषेधश्चेति । तत्र प्रवृत्तिप्रयोजनो विधिः— [4]सन्ध्योश्च बहिर्ग्रामादासनं वाग्यतश्चेत्यादिः ।

---

१. मातामहमहाशैलं महस्तदपितामहम् । कारणं जगतां वन्दे कण्ठादुपरि वारणम् । इत्यधिकः पाठः क० पु० ।

२. दक्षस्मृ० अ० २. श्लो. २९. 'यदन्यत् कुरुते कर्म न तस्य फलभाक्भवेत्' इति तस्योत्तरार्धम् ।

३. गौ० ध० २१. ४. "अशुचेर्द्विजाती'ति. ध० पु० ४. आप० ध० १. १०.८.

निवृत्तिप्रयोजनावितरौ।[१] 'प्राङ्मुखोऽन्नानि भुञ्जीते'ति नियमविधिः। क्षुदुपघातार्था भोजने प्रवृत्तिः। शक्यं च [२]यत्किञ्चिद्दिङ्मुखेनापि भुञ्जानेन क्षुदुपहन्तुम्। तत्र नियमः क्रियते-प्राङ्मुख एव भुञ्जीत, न दक्षिणादिमुख इति। [३]परिसङ्ख्या तु नियमस्यैव कियानपि भेदः। एवं द्रव्यार्जने रागात्प्रवृत्तं प्रति नियमः क्रियते–'याजनाध्यापनप्रतिग्रहैरेव ब्राह्मणो द्रव्यमार्जयेत्, न कृषिवाणिज्यादिने'ति। [४]ब्राह्मणस्य गोरिति पदोपस्पर्शनं वर्जये'दित्यादिः प्रतिषेधः। समयमूला आचारास्समयाचाराः तेषु भवाः सामयाचारिकाः। एवम्भूतान् धर्मानिति। [५]कर्मजन्योऽभ्युदयनिःश्रेयसहेतुरपूर्वाख्य आत्मगुणोधर्मः। तद्धेतुभूतकर्मव्याख्यानमेव तद्व्याख्यानम्। तत्र विधिषु तावद्विषयानुष्ठानाद्धर्म इति नास्ति विप्रतिपत्तिः। नियमेष्वपि [६]नियमानुष्ठानाद्धर्मः, प्रतिषेधेष्वपि [७]नञर्थानुष्ठानाद्धर्म इति केचित्। अतएव धर्मानित्यविशेषेणाह।

अन्ये तु–विधिष्वेव धर्मः, इतरयोस्तु विपरीतानुष्ठानादधर्मः केवलम्, न तु विषयानुष्ठानात् कश्चिद्धर्मः। न ह्यप्रतिगृह्णन्नपिबन्वा सुरां धार्मिक इति लोके प्रसिद्धः। सूत्रे तु धर्मग्रहणमधर्मस्याप्युपलक्षणमिति स्थितिः–इति ॥१॥

अनुवाद— अब (श्रौत तथा गृह्यकर्मों का विवेचन करने के बाद) हम सामयाचारिक धर्मों की व्याख्या करेंगे।

टिप्पणी—सामयाचारिक, पुरुषकृत व्यवस्था को समय कहते हैं। 'पौरुषेयी व्यवस्था'। समय तीन प्रकार का होता है : विधि, नियम, प्रतिषेध। सामयाचारिक की व्युत्पत्ति है : 'समयमूला आचारास्समयाचाराः तेषु भवाः, सामयाचारिकाः। समय–पौरुषेयी

---

१. आप० ध० १. ३१. १. २. यत्किञ्चनदिङ्मुखेन इति क० पु०।

३. प्रतिषेधः परिसंख्येत्यनर्थान्तरम्। परिसंख्या वर्जनबुद्धिः। तद्विषयको विधिः परिसंख्याविधिः। स परिसंख्यापदेनाऽप्यभिधीयते इति मीमांसकानां मतम्। अत एव विधिरत्यन्तमप्राप्ते नियमः पाक्षिके सति। तत्र चान्यत्र च प्राप्ते परिसंख्येति गीयते॥ इत्येव वार्तिककारैरुक्तम्। ग्रन्थकारस्त्वयं परिसंख्यां नियमविधावेवान्तर्भावयति॥

४. आप० ध० १. ३१. ६.

५. इदं च तार्किकादिमतमनुसृत्य प्रभाकरमतञ्च। भाट्टमते तत्तत्कर्मणामेव यागदानहोमादिरूपाणां चोदनालक्षणानां धर्मत्वाङ्गीकारात्। उक्तं हि भट्टपादैः—

श्रेयो हि पुरुषप्रीतिस्सा द्रव्यगुणकर्मभिः।
चोदनालक्षणैस्साध्या तस्मात्तेष्वेव धर्मता॥ इति श्लो. वा. १२. १९१.

६. पक्षेऽप्राप्तांशस्य पूरणकरणादित्यर्थः।

७. तत्तन्निषेध्यक्रियाप्रागभावपरिपालनादिति यावत्।

व्यवस्था पर आधारित आचारों को समयाचार कहते हैं, सामयाचारिक धर्म इन आचारों से उदभूत होता है। धर्म इस प्रकार के कर्म को कहते हैं जो अपूर्व के माध्यम से स्वर्ग और मोक्ष का कारण बनता है: 'कर्मजन्योऽभ्युदयनिःश्रेयसहेतुर-पूर्वाख्य आत्मगुणो धर्मः'। इस प्रकार सामयाचारिक का अर्थ हुआ धर्मज्ञ लोगों की सहमति से व्यवस्थापित दैनिक आचार। ॥१॥

किं भोः समयोऽपि प्रमाणम्, ? [1]यदि स्यादिदमपि प्रमाणं भवितुमर्हति– 'चैत्यं वन्देत स्वर्गकामः। प्रगे भुञ्जीत। केशानुल्लुँञ्छेत्। तिष्ठन् भुञ्जीत। न स्नाया'दिति। तत्राह—

धर्मज्ञसमयः प्रमाणम् ॥ २ ॥

न हि ब्रूमः समयमात्रं प्रमाणमिति। किं तर्हि ? धर्मज्ञा ये मन्वादयस्तेषां समयः प्रमाणं धर्माधर्मयोः ॥ २ ॥

अनुवाद— धर्म के ज्ञाताओं (मनु आदि) के समय ही इन आचारों के लए प्रमाण है।

टिप्पणी— केवल समयमात्र को प्रमाण नहीं कहा गया है अपितु धर्मज्ञों के समय को, मनु आदि की व्यवस्था को ही धर्म और अधर्म के विषय में प्रमाण माना गया है॥ २ ॥

कथं पुनरिद[2]मवगतं मन्वादयो धर्मज्ञा न बुद्धादय इति ? यद्युच्यते— बुद्धादीनामतीन्द्रियेऽर्थे ज्ञानं न सम्भवतीति, तन्मन्वादिष्वपि समानम्। अथ तेषां धर्मज्ञानातिशयादतीन्द्रियेऽपि ज्ञानं सम्भवतीति, तत् बुद्धादिष्वपि समानम्। यथाऽऽहुः—

[3]'सुगतो यदि धर्मज्ञः कपिलो नेति का प्रमा।
तावुभौ यदि धर्मज्ञौ मतभेदः कथं तयोः॥ इति।

वक्तव्यो वा विशेषः, तमाह—

वेदाश्च ॥ ३ ॥

चोऽवधारणे। वेदा एव मूलप्रमाणं धर्माधर्मयोः। [4]न च नित्यनिर्दोषेषु वेदेषूक्तोपालम्भसम्भवः। [5]स्वतःप्रमाणस्य हि शब्दस्य न वक्तृदोषनिबन्धनम-

---

१. यदि प्रमाणमिदमपि प्रमाणं इति क० पु० २. अवगम्यते इति ख० पु०

३. अष्टसहस्री० पृ० ५. श्लोकोऽयं कौमारिल इति अष्टसहस्रीटिप्पण्याम्।

४. नित्येषु निर्दोषेषु, इति ख० पु०। अपौरुषेयेषु इति घ० पु०

५. मीमांसकमते तावत् वैदिकानां वाक्यानां नित्यत्वाभ्युपगमात् तत्र कर्तृतया पुरुषसम्बन्धाभावात् स्वत एव प्रामाण्यमङ्गीकृतम्। तदभिप्रेत्याह—स्वतः प्रमाणस्येति।

प्रामाण्यम्। तदिहास्मदादीनां धर्मज्ञसमयः प्रमाणम्, धर्मज्ञानां तु वेदाः प्रमाणम्। मनुरप्याह—

[1]'वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च॥

गौतमोऽपि—[2]"वेदो धर्ममूलं, तद्विदां च स्मृतिशीले।' इति। यद्यप्यप्रत्यक्षो वेदो मूलभूतोऽस्मदादिभिर्नोपलभ्यते। तथापि [3]मन्वादय उपलब्धवन्तः इत्यनुमीयते। वक्ष्यति—[4]'तेषामुत्सन्नाः पाठाः प्रयोगादनुमीयन्ते' इति॥ ३॥

अनुवाद— वेद ही प्रमाण हैं।

टिप्पणी— पूर्वोक्त सूत्र में उल्लिखित धर्मज्ञों के लिए भी वेद ही प्रमाण हैं। हमारे लिए धर्मज्ञसमय' प्रमाण है और धर्मज्ञों के लिए वेद प्रमाण है। इस प्रकार वेद ही धर्म और अधर्म के विषय में मूलप्रमाण है। वेद को मनु और गौतम ने भी धर्म का मूल माना है। मनुस्मृति २.६; गौतमधर्मसूत्र १. १. २.॥ ३॥

चत्वारो वर्णा ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राः॥ ४॥

ब्राह्मणाद्याश्चत्वारो वर्णसंज्ञिकाः। ते च सामयाचारिकैर्धर्मैरधिक्रियन्ते [5]चतुर्णामेवोपदेशेऽपि पुनश्चतुर्ग्रहणं [6]यथाकथञ्चित् चतुर्ष्वन्तर्भूतानामपि ग्रहणार्थम्। ततश्च [7]ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्य' इति बौधायनादिभिरुक्तानामनुलोमादीनामप्यत्र ग्रहणं मतम्। तथा च गौतमः प्रतिलोमानामेव धर्मेऽनधिकारमाह—[8]"प्रतिलोमास्तु धर्महीना" इति॥ ४॥

अनुवाद— वर्ण चार हैं: ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र।

टिप्पणी—ये चारों ही वर्ण सामयाचारिक धर्मों के अधिकारी हैं। चार संख्या से इन चारो के अन्तर्गत अन्तर्भूत वर्णों का भी ग्रहण होगा। गौतमने प्रतिलोम वर्णों को धर्महीन माना हैं॥ ४॥

तेषां पूर्वः पूर्वो जन्मतश्श्रेयान्॥ ५॥

जन्मत इति वचनात् सद्वृत्तादपि शूद्राद्वैश्यब्रुवोऽपि श्रेयान्। एवं वैश्यात् क्षत्रियः क्षत्रियात् ब्राह्मणः॥ ५॥

अनुवाद—इनमें से पूर्ववर्ती वर्ण अपने बाद वाले वर्ण से जन्मतः श्रेष्ठ होता है॥ ५॥

---

१. मनु० स्मृ० २ ६. २. गौ० ध० १. १; २.

३. 'मन्वादिभिरुपलभ्यते इत्यनुमीयते' इति ख० पु०। ४ आप० ध० १.१२.१०.

५. 'वर्णानामुपदेशेऽपि पुनश्चतुर्ग्रहणं यथाकथञ्चिचतुर्ष्वन्तर्भूतानामपी'ति ख० पु०

६. यथाक्रमं इति क० पु० ७. बौ० ध० १. ७. १. ८. गौ० ध० ४० २५'

अशूद्राणामदुष्टकर्मणामुपायनं वेदाध्ययनमग्न्याधेयं फलवन्ति च कर्माणि ॥ ६ ॥

शूद्रवर्जितानां त्रयाणां वर्णानामदुष्टकर्मणामुपायनादयो धर्माः । उपायनमुपनयनम् । नात्र त्रैवर्णिकानामुपनयनादि विधीयते, प्राप्तत्वात् । नापि शूद्राणां प्रतिषिध्यते, । प्राप्त्यभावात् तथा हि—उपनयनं तावद्गृह्ये [1]"गर्भाष्टमेषु ब्राह्मणमुपनयीते"त्यादिना त्रैवर्णिकानामेव विहितम् । इहापि तथैव विधास्यते । अध्ययनमपि [2]"उपेतस्याचार्यकुले ब्रह्मचारिवास" इत्यारभ्य विधानात् अनुपनीतस्य शूद्रस्याप्राप्तमेव । किं च [3]"श्मशानवच्छूद्रपतिता"विति [4]अध्ययननिषेधो वक्ष्यते [5]"यस्य समोपे नाध्येयं स कथं स्वयमध्येतुमर्हति ।

अग्न्याधेयमपि [6]"वसन्ता ब्राह्मण" इत्यादि त्रैवर्णिकानामेव विहितम् । फलवन्ति चाग्निहोत्रादीनि कर्माणि[7] 'स त्रयाणां वर्णाना' मित्युक्तत्वात् त्रैवर्णिकानामेव नियतानि । विद्याग्न्यभावाच्च शूद्राणामप्रसक्तानि । उक्तो विद्याग्न्यभावः । तस्माद्दुष्टकर्मप्रतिषेधार्थं सूत्रम् । यथा शास्त्रान्तरे- [8]"द्विजातिकर्मभ्यो हानिः पतन"मिति । अप्रतिषेधे तु दुष्टकर्मणामप्यधिकारोभवत्येव । 'फलवन्ति च कर्माणी'त्यभिधानात्, क्रियते इति कर्मेति निर्वचनात् । [9]"प्रागुपनयनात् कामचारवादभक्ष" इति गौतमस्मरणं ब्रह्महत्यादिमहापातकव्यतिरिक्तविषयमित्यनुपेतस्यापि दुष्टकर्मत्वसम्भवाद् अदुष्टकर्मणा [10]मित्युक्तम् । शूद्रप्रतिषेधस्तु प्राप्तानुवादः ॥ ६ ॥

अनुवाद-शूद्रवर्ण को छोड़कर तथा दुष्टकर्म करनेवालों को छोड़कर शेष के लिए उपनयन, वेद का अध्ययन, अग्नि का आधान विहित किया गया है, तथा उनके कर्म इस लोक तथा परलोक में पुण्यफल देने वाले होते हैं ।

टिप्पणी— शूद्र वर्ण को छोड़कर शेष तीन वर्णों में भी दुष्टकर्म न करने वालों के लिए ही उपनयन आदि धर्म विवक्षित हैं । गृह्यसूत्र में उपनयन का विधान तीन वर्णों के लिए तो किया ही गया है यहाँ भी वही विधान किया गया है । आगे आपस्तम्ब ध.सू. में शूद्र और पतित को श्मशानवत् समझा गया है । जिस व्यक्ति के

---

१. आप० गृ० ८. २. २. आप० ध० १. २. ११. ३. आप० ध० १. ९. ६
४. अध्ययनप्रतिषेधप्रकरणे वक्ष्यत इति ख० पु०
५. यस्य यस्य, स स. इति द्विरुक्तिः क० पु० ६. तै०. ब्रा. १. १. २.
७. आप० परि० १. २. ८. गौ० ध० २१. ४.
९. गौ० ध० २. १. १०. उपनयनमुक्तं इति क० पु०

समीप वेदाध्ययन नहीं किया जा सकता, वह व्यक्ति स्वयं कैसे वेदाध्ययन का अधिकारी हो सकता है? अग्न्याधेय भी तीन वर्णों के लिए विहित है। पतन का कारण द्विजातिकर्म से हानि है : 'द्विजातिकर्मभ्यो हानिः पतनम्' ॥ ६ ॥

यथा ब्राह्मणादीनामुपनयनादयो धर्माः प्रधानभूताः तादृशं शूद्रस्य कर्माऽऽह-

शुश्रूषा शूद्रस्येतरेषां वर्णानाम् ॥ ७ ॥

इतरेषां ब्राह्मणादीनां वर्णानां या शुश्रूषा सा शूद्रस्य परमो धर्मः ॥ ७ ॥

अनुवाद—शूद्र वर्ण के लिए ब्राह्मणादि अन्य तीन वर्णों की सेवा ही धर्म है ॥७॥

[1]तत्र विशेषमाह—

पूर्वस्मिन् पूर्वस्मिन् वर्णे निश्श्रेयसं भूयः ॥ ८ ॥

सर्वप्रकारं कृताया अपि वैश्यशुश्रूषायाः मात्रयापि कृता क्षत्रियशुश्रूषा बहुतरं फलं साधयति। एवं क्षत्रियशुश्रूषाया ब्राह्मणशुश्रूषा ॥ ८ ॥

अनुवाद—क्रमशःपूर्ववर्ती वर्ण की सेवा से उत्तरोत्तर अधिक फल मिलता है। अर्थात् वैश्य की सेवा से क्षत्रिय की सेवा और उसकी अपेक्षा ब्रह्मण की सेवा अधिक पुण्य उत्पन्न करती है ॥ ८ ॥

उपायनं वेदाध्ययनमित्यादि यदुक्तं अस्मिन् क्रमे उपनयने विशेषमाह—

उपनयनं विद्यार्थस्य श्रुतितस्संस्कारः ॥ ९ ॥

विद्या अर्थः प्रयोजनं यस्य स विद्यार्थः। तस्यायं श्रुतिविहितस्संस्कारः उपनयनं नाम। 'विद्यार्थस्ये'ति वचनात् मूकादेर्न भवति। तथा च शङ्खलिखितौ [2]'नोन्मत्तमूकान् संस्कुर्यात्' इति। [3]लिङ्गस्य विवक्षितत्वात् स्त्रिया अपि न भवति यद्यपि तस्याः [4]'अग्ने गृहपते' इत्यादिकया विद्यया अर्थः। 'श्रुतित' इति वचनं तदतिक्रमे श्रौतातिक्रमप्रायश्चित्तप्राप्त्यर्थम् ॥ ९ ॥

अनुवाद—उपनयन विद्या ग्रहण करने के प्रयोजनवाले का वेद के नियम के अनुसार किया जाने वाला संस्कार है।

टिप्पणी—विद्यार्थः, विद्या अर्थः प्रयोजनम् यस्य सः, कहने से गूँगे आदि के लिए उपनय संस्कार नहीं होता। यही बात शङ्खलिखित० में भी कही गयी है। विद्यार्थ में पुल्लिग होने से स्त्रियों के लिए संस्कार नहीं है ॥ ९ ॥

अनेकवेदाध्यायिनां वेदव्रतवदुपनयनमपि प्रतिवेदं भेदेन कर्तव्यमिति प्राप्ते उच्यते—

---

१. तत्र विशेषः, इति क० पु०

२. इदानीमुपलभ्यमानमुद्रितशङ्खलिखितस्मृतिपुस्तकेषु श्लोकोऽयं नोपलभ्यते।

३. विद्यार्थस्येत्यत्र पुंलिङ्गस्य विवक्षितत्वात् इत्यर्थः।

४. तै. सं० १. ५. ६.

सर्वेभ्यो वै वेदेभ्यस्सावित्र्यनूच्यत इति हि ब्राह्मणम् ॥ १० ॥

"[1]त्रिभ्य एव तु वेदेभ्यः पादं पादमदूदुहत् ।
तदित्यृचोऽस्यास्सावित्र्याः परमेष्ठी प्रजापतिः ॥' इति [2]मनुः ।

ततश्चोपनयने यत्सावित्र्या अनुवचनं तन्मुखेन सर्वे वेदा अनूक्ता भवन्तीत्यगृह्यमाणविशेषत्वादेकमेवोपनयनं सर्वार्थमिति । अस्मिन्नर्थे ब्राह्मणमपि भवति [3]ब्राह्मणमेव वा पठितम् । आथर्वणस्य वेदस्य पृथगुपनयनं कर्तव्यम् । तथा च तत्रैव श्रुतम्—[4]नान्यत्र संस्कृतो भृग्वङ्गिरसोऽधीयीते'ति ॥१०॥

अनुवाद—ब्राह्मण में कहा गया है कि गायत्री मन्त्र का (उपनयन में) अध्ययन सभी वेदों के अध्ययन के प्रयोजन से किया जाता है।

टिप्पणी—इस सूत्र के द्वारा इस शंका का समाधान किया गया है कि क्या भिन्न-भिन्न वेद का अध्ययन करने के लिये पृथक्-पृथक् उपनयन होना चाहिए? बार-बार उपनयन अनावश्यक है। एक ही बार गायत्री मन्त्र ग्रहण करना सभी वेदों का अध्ययन करने के लिए पर्याप्त है ॥ १० ॥

विद्वानेवोपनेताऽभिगम्यत इति विधातुमविदुषो निन्दामाह—

तमसो वा एष तमः प्रविशति यमविद्वानुपनयते
यश्चाऽविद्वानिति हि ब्राह्मणम् ॥ ११ ॥

यथा कश्चित् तमसस्सकाशात्तम एव प्रविष्टो न किञ्चिज्जानाति एवमेवैषः यं माणवकमविद्वानुपनयते, तथा यश्चाविद्वान् । उपनीयते इत्यपेक्ष्यते । यश्च स्वयमविद्वान् सन्नुपनीयते सोऽपि तमस एव तमः प्रविशति । अस्मिन्नर्थे ब्राह्मणमपि भवतीति ॥ ११ ॥

अनुवाद—जिसका उपनयन ऐसा व्यक्ति करता है जिसने वेदों का अध्ययन नहीं किया है' वह इस प्रकार से उपनीत व्यक्ति मानों अन्धकार से निकलकर अन्धकार में ही प्रवेश करता है और उपनयन करने वाला वेदशास्त्रानभिज्ञ व्यक्ति भी अन्धकार से निकलकर अन्धकार मे प्रवेश करता है। यह ब्राह्मण की उक्ति है ॥ ११ ॥

कीदृशस्तह्युपनेताऽभिगम्यः ? तमाह—

तस्मिन्नभिजनविद्यासमुदेतं समाहितं
संस्कर्तारमीप्सेत् ॥ १२ ॥

अविच्छिन्न [5]वेदवेदिसम्बन्धे कुले जन्म अभिजनः। षड्भिरङ्गैस्सहैव

---

१. मनु, स्मृ. २. ७७. २. मनुवचनम् इति. ख० पु०
३. प्रमाणं भवति, ब्राह्मणमिति हि वाचा पठितम्, इत्यशुद्धः पाठः ख० पु०
४. गोप० ब्रा० १. २९. ५. वेदवित्सम्बन्धे इति. क० पु०

यथावदर्थज्ञानपर्यन्तमधीतो वेदो विद्या। सर्वासम्भवे वेद एव वा। तस्मिन्नुपनयने कर्तव्ये ताभ्यां अभिजनविद्याभ्यां समुदेतं सम्पन्नम्, समाहितं विहितप्रतिषिद्धेष्ववहितमनसम्, संस्कर्तारमाचार्यमीप्सेत्। इच्छया करणं लक्ष्यते। आप्नुयादभिगच्छेदिति ॥ १२ ॥

अनुवाद—उपनयन संस्कारको कराने वाला आचार्य ऐसे व्यक्तिको बनाना चाहिए जिसका जन्म वेदविद्याध्ययन की अविच्छिन्न परम्परा वाले कुल में हुआ हो, जो छः अंगों में सहित सभी वेदों के यथावत् अर्थज्ञान से युक्त हो, समाहित (निषिद्ध कर्मों से विरत तथा विहित कर्मों में मन लगाने वाला) हो ॥ १२ ॥

तस्मिश्चैव विद्याकर्माऽऽन्तमविप्रतिपन्ने धर्मेभ्यः ॥ १३ ॥

तस्मिन्नेव चोपनेतरि विद्याकर्म विद्याग्रहणं कर्तव्यम्। आन्तमासमाप्तेः, अविप्रतिपन्ने धर्मेभ्यः यद्यसावाचार्यो धर्मेभ्यो न प्रच्युतो भवति। प्रच्युते तु तस्मिन्नसम्पर्कार्हे अन्यतोऽपि विद्याकर्म भवत्येव।

येषां चाचार्यकरणविधिप्रयुक्तमध्ययनं तेषामेतन्नोपपद्यते कथम्? उपनीयाध्यापनेनाचार्यकं भावयेदिति। सकृदुपनीतस्य माणवकस्य न पुनरुपनयनसंस्कारः सम्भवति। तं कथमन्योऽध्यापयेत्? एतेन मध्ये आचार्यमरणे माणवकस्य तदध्ययनं नाचार्यान्तरात् सम्भवतीति द्रष्टव्यम् ॥ १३ ॥

अनुवाद—यदि वह उपनयन कराने वाला आचार्य धर्म के मार्ग से भ्रष्ट नहीं होता तो उसी से समाप्तिपर्यन्त विद्या ग्रहण करनी चाहिए।

टिप्पणी—उपनयन करने वाले आचार्य के धर्मभ्रष्ट हो जाने पर दूसरे गुरु से भी विद्या ग्रहण की जा सकती है। आचार्य वही है जो उपनयन कराकर विद्या पढ़ाता है। जब बालक एक आचार्य से उपनयन कराने के बाद दूसरे के समीप अध्ययन के लिए जाता है तो क्या उसका पुनः उपनयन होना चाहिए? नहीं, तो फिर दूसरा आचार्य रूप में अध्यापन कैसे कर सकता है? इससे यही समझना चाहिए कि एक आचार्य के शिष्यत्व में आरम्भ किया गया अध्ययन दूसरे आचार्य से विद्या ग्रहण कर पूर्ण न किया जाय। यह विचार हरदत्त ने व्यक्त किया है ॥ १३ ॥

---

*. एतच्चिह्नान्तर्गतो भागः प्रक्षिप्त इति Mysore पुस्तके। परन्तु क. ग. पुस्तकयोरुपलभ्यते पाठः। एतच्च गुरुमतानुसारेण। गुरवो हि "अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत, तमध्यापयीत" इति विधिनाऽऽचार्यत्वसिद्ध्यर्थमध्यापनं विदधताऽध्ययनमपि प्रयुज्यते, अतोऽध्यापनान्यथानुपपत्त्यैव सिध्यदध्ययनं न स्वविधिना 'स्वाध्यायोऽध्येतव्य" इत्यनेन विधीयते इति ब्रुवते। अतस्तन्मतखण्डनमिदम्।

[1]आचार्यशब्दं निराह—

यस्माद्धर्मानाचिनोति स आचार्यः ॥ १४ ॥

यस्मात्पुरुषादयं माणवकः धर्मानाचिनोति आत्मनः प्रचिनोति शिक्षते स आचार्यः [2]'अप्यक्षरसाम्यान्निर्ब्रूयादि'ति चकारमात्रेणेदं निर्वचनम्। अनेन प्रकारेण माणवकमाचार्यः शौचाचारांश्च शिक्षयेदित्युक्तं भवति ॥१४॥

अनुवाद—आचार्य वह हैं जिससे (उपनीत बालक) धर्म का चयन करता है, धर्म का ज्ञान करता है ॥ १४ ॥

तस्मै न द्रुह्येत्कदाचन ॥ १५ ॥

तस्मै एवंभूताचार्याय कदाचन कदाचिदपि न द्रुह्येत् तद्विषयमपकारं न कुर्यात् ॥ १५ ॥

अनुवाद—उस आचार्य से कभी द्रोह न करे। उसका अपकार न करे ॥ १५ ॥

कस्मादित्यत आह—

स हि विद्यातस्तं जनयति ॥ १६ ॥

स ह्याचार्यः तं माणवकं विद्यातो जनयति, यथा पिता मातृतः।

[3]अत्रास्य माता सावित्री पिता त्वाचार्य उच्यते ॥

इति शास्त्रान्तरम् ॥ १६ ॥

अनुवाद—वह आचार्य उस बालक को विद्या से उत्पन्न करता है (जिस प्रकार पिता ने माता से उत्पन्न किया है) ॥ १६ ॥

तच्छ्रेष्ठं जन्म ॥ १७ ॥

तद्विद्यातो जन्म श्रेष्ठं प्रशस्ततमम्' अभ्युदयनिःश्रेयसहेतुत्वात् ॥ १७ ॥

अनुवाद—विद्या से होने वाला यह जन्म श्रेष्ठ होता है।

टिप्पणी—यह जन्म इस कारण श्रेष्ठ होता है कि वह अभ्युदय स्वर्गसुख तथा निःश्रेयस् मोक्ष का हेतु होता है ॥ १७ ॥

मातापितृभ्यामाचार्यः श्रेष्ठ इत्याह—

शरीरमेव मातापितरौ जनयतः ॥ १८ ॥

मातापितरौ शरीरमात्रमेव काष्ठकुड्यादिसमं जनयतः। आचार्यस्तु सर्वपुरुषार्थक्षमरूपं जनयति [4]"आचार्यः श्रेष्ठो गुरूणा"मिति गौतमः ॥१८॥

---

१. आचार्यशब्दनिर्वचनमाह. इति क० ग० पु० २. निरु० २. १. १.
३. मनु० स्मृ० २. १७०. ४. गौ० ध० २.५०

अनुवाद—माता और पिता तो शरीरमात्र ही उत्पन्न करते हैं।

टिप्पणी—साधारण पदार्थों जैसे शरीर मात्र को उत्पन्न करने वाले माता-पिता की अपेक्षा आचार्य का कार्य अधिक महान् है, क्योंकि आचार्य सभी पुरुषार्थों की प्राप्ति के लिए समर्थ बनाकर उत्पन्न करता है। अतएव गौतम धर्मसूत्र में आचार्य को श्रेष्ठ माना गया है ॥ १८ ॥

वसन्ते ब्राह्मणमुपनयीत, ग्रीष्मे राजन्यं, शरदि वैश्यं, गर्भाष्टमेषु ब्राह्मणं, गर्भैकादशेषु राजन्यं, गर्भद्वादशेषु वैश्यम् ॥ १९ ॥

[1]वसन्ते ब्राह्मणमित्यादि गृह्ये गतम् ॥ १९ ॥

अनुवाद—वसन्त ऋतुमें ब्राह्मण बालक को उपनयन करना चाहिए, ग्रीष्ममें क्षत्रिय का तथा शरद् ऋतु में वैश्य का। ब्राह्मण बालक का उपनयन गर्भ के आठवें वर्ष में, राजन्य का गर्भ के ग्यारहवें वर्ष में तथा वैश्य का गर्भ के बारहवें वर्ष में उपनयन करना चाहिए ॥ १९ ॥

अथ काम्यानि ॥ २० ॥

कामनिमित्तान्युपनयनानि वक्ष्यन्ते ॥ २० ॥

अनुवाद—अब किसी विशेष अभिलाषा के उद्देश्य से उपनयन के वर्ष का निर्देश किया जाता है ॥ २० ॥

[2]सप्तमे ब्रह्मवर्चसकामम् ॥ २१ ॥ अष्टम आयुष्कामम् ॥ २२ ॥
नवमे तेजस्कामम् ॥ २३ ॥ दशमेऽन्नाद्यकामम् ॥ २४ ॥
एकादश इन्द्रियकामम् ॥ २५ ॥ द्वादशे पशुकामम् ॥ २६ ॥

'ब्रह्मवर्चसकाम' मित्यादीनि षट् सूत्राणि स्पष्टार्थानि। सर्वत्रोपनयीतेत्यपेक्ष्यते ॥ २१-२६ ॥

अनुवाद—ब्रह्मवर्चस् अर्थात् विद्या में उत्कर्ष प्राप्त करने की अभिलाषा वाले का सातवें वर्ष में, दीर्घजीवन की इच्छा वाले का आठवें वर्ष में, तेज या पौरुष शक्ति की इच्छा वाले व्यक्ति का नवें वर्ष में, अन्न की कामना वाले का दसवें वर्ष में, इन्द्रियशक्ति चाहने वाले का ग्यारहवें वर्ष में और पशुसम्पत्ति के अभिलाषी का उसके बारहवें वर्ष में उपनयन करना चाहिए ॥ २१–२६ ॥

[3] 'आचार्याधीनस्या' दित्यादीनि यानि ब्रह्मचारिणो व्रतानि वक्ष्यन्ते तेष्वसमर्थानां कुमाराणां वर्णक्रमेणानुकल्पमाह—

---

१. आप० गृ० ११. २. २. इतः प्रभृति सूत्रषट्कमेकसूत्रतया लिखितं क. पुस्तके।
३. आप० ध० १. २. १९.

आषोडशाद्ब्राह्मणस्यानात्यय आद्वाविंशात्क्षत्रियस्याऽऽचतुर्विंशाद्वैश्यस्य यथा व्रतेषु समर्थः स्याद्यानि वक्ष्यामः ॥ २७ ॥

आकारोऽभिविधौ। अत्ययोऽतिक्रमः। स एवाऽऽत्ययः तदभावोऽनात्ययः। याहच्छिको दीर्घः, आङो वा प्रश्लेषः। प्रकरणादुपनयनकालस्येति गम्यते। यथा व्रतेषु समर्थः स्यात् तथैतावान् कालः प्रतीक्ष्यः। पूर्वमेव तु सामर्थ्ये सत्यष्टमवर्षाद्यतिक्रमे वक्ष्यमाणं प्रायश्चित्तमेव भवति। एवं षोडशादिभ्य उर्ध्वं कियन्तञ्चित्कालमसमर्थानां पश्चात्सामर्थ्ये सति प्रायश्चित्तं भवत्येव ॥२७॥

अनुवाद—यदि ब्राह्मण का उपनयन उसके सोलहवें वर्ष पूरा होने से पूर्व, क्षत्रिय का बाइसवे वर्ष पूरा होने से पूर्व और वैश्य का चौबीसवें वर्ष पूरा होनेसे पूर्व उपनयन संस्कार हो जाय, तो धर्म का उल्लंघन नहीं होता। उपनयन संस्कार ऐसी अवस्था में हो जब वह आगे उल्लिखित व्रतों को करने में समर्थ हो।

टिप्पणी—इस सूत्र का तात्पर्य यह है कि जैसे ही बालक वेद का अध्ययन आरम्भ करने योग्य अवस्था प्राप्त करे उसका उपनयन होना चाहिए। जब उपनयन संस्कार किसी ऐसे समय पर न हो जब होना चाहिये अर्थात् जब वह वेदाध्ययन करने के लिए समर्थ रहा हो, तो आगे के सूत्रों में उल्लिखित प्रायश्चित्त कर्म करना चाहिए। ब्राह्मण के लिए सोलह वर्ष की, राजन्य के लिए बाइस तथा वैश्य के लिए चौबीस वर्ष की अवस्था यज्ञोपवीत की अन्तिम अवधि बतायी गई है, इस समय तक उपनयन अवश्य होना चाहिए। उसके बाद प्रायश्चित्त का विधान है ॥ २७ ॥

तदानीं प्रायश्चित्तमाह—

अतिक्रान्ते सावित्र्याः ऋतुं त्रैविद्यकं ब्रह्मचर्यं चरेत् ॥२८॥

यस्य यः सावित्र्याः काल उक्तः तदतिक्रमे त्रैविद्यकं त्र्यवयवा विद्या तामधीयते ये ते त्रैविद्याः, तेषमिदं त्रैविद्यकम्। [1]'गोत्रचरणाद्वुञ्'। 'चरणाद्धर्माम्नाययोरि'रिति वुञ्। एवंभूतं ब्रह्मचर्यम्, अग्निपरिचर्यामध्ययनं गुरुशुश्रूषामिति परिहाप्य, सकलं ब्रह्मचारिधर्मं चरेत्। कियन्तं कालम्? ऋतुं, कालध्वनो' रिति द्वितीया। ऋतुमिति वचनाद्दत्वारम्भे प्रायश्चित्तारम्भमिच्छन्ति ॥ २८ ॥

अनुवाद—यदि सावित्रीग्रहण अर्थात् उपनयन का काल बीत गया है तो एक ऋतु तक अर्थात् दो मास तीन वेदों का अध्ययन करने वालों की तरह ब्रह्मचर्य का व्रत धारण करे।

टिप्पणी—इस समय में ब्रह्मचर्य आदि के उन सभी नियमों के पालन का निर्देश किया गया है जो तीनों वेदों का अध्ययन करने वाले विद्यार्थी के लिए विहित

१. पा० सू० ४.३.१२६.

है किन्तु इस व्रत के काल में वह तीन वेदों के अध्येता ब्रह्मचारी के समान अग्निकर्म, अध्ययन और गुरुशुश्रूषा न करे ॥ २८ ॥

अथोपनयनम् ॥ २९ ॥

एवं चरितव्रत उपनेतव्यः ॥ २९ ॥

अनुवाद—इस प्रकार प्रायश्चित व्रत कर लेने पर उसका उपनयन संस्कार किया जाय ॥ २९ ॥

ततस्संवत्सरमुदकोपस्पर्शनम् ॥ ३० ॥

ततः उपनयनादारभ्य संवत्सरमुदकोपस्पर्शनं स्नानं कर्तव्यम्। शक्तस्य त्रिषवणं स्नानम् [1]अशक्तस्य यथाशक्ति ॥ ३० ॥

अनुवाद—उपनयन के बाद एक वर्ष तक प्रतिदिन स्नान करे।

टिप्पणी—यदि सम्भव हो तो प्रतिदिन तीन बार स्नान करे—हरदत्त ॥ ३० ॥

अथाऽध्याप्यः ॥ ३१ ॥

एवं चरितव्रतः पश्चादध्याप्यः ॥ ३१ ॥

अनुवाद—इस प्रकार व्रत कर लेने वाले को वेद का अध्यापन करे ॥३१॥

अथ यस्य पिता पितामह इत्यनुपेतौ स्यातां ते ब्रह्महसंस्तुताः ॥३२॥

यस्य माणवकस्य पिता पितामहश्चानुपेतौ स्यातां स्वयं च, ते तथाविधास्स माणवका ब्रह्महसंस्तुताः ब्रह्महण इत्येव कीर्तिताः ब्रह्मवादिभिः। अतस्मिन् तच्छब्दयोगस्तद्धर्मप्राप्त्यर्थः। एवं च [2]'श्मशानवच्छूद्रपतिता'वित्यध्ययननिषेधप्रकरणे वक्ष्यते। ततश्च ब्रह्म यथा ब्रह्महसमीपे नाध्येयमेवमेषामपीति ॥३२॥

अनुवाद-जिसके पिता और पितामह का उपनयन संस्कार नहीं हुआ है, तथा स्वयं का भी उपनयन नहीं हुआ है उसे तथा उसके पिता, पितामह को ब्रह्महण कहा गया है।

टिप्पणी—ब्रह्मन् का अर्थ यहाँ वेद से है और उपनयन संस्कार न कराकर वेदाध्ययन की उपेक्षा करने वाला वेद की हत्या करता है और इस प्रकार वह ब्रह्महण है और इस प्रकार का व्यक्ति पतित होता है। पतित शूद्र को श्मशान के समान माना गया है ॥ ३२ ॥

तेषामभ्यागमनं भोजनं विवाहमिति च वर्जयेत् ॥ ३३ ॥

तेषामेतेषामभ्यागमनमाभिमुख्येन गमनम्, मातापितृपुत्रदारशरीररक्षणार्थमपि वर्जयेत्। यद्यपि भिक्षा सर्वतः प्रतिग्राह्येति वक्ष्यते भोजनमुद्यतमपि

---

१. अन्यस्य' क. ख. पु.   २. आप ध० १. ६. ९

वर्जयेत् [1]'अपि दुष्कृतकारिण' इति सत्यपि वचने। विवाहं च वर्जयेत् यद्यपि [2]'स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपी'ति मानवस्मरणम् ॥ ३३ ॥

अनुवाद—ऐसे ब्रह्महण लोगों के साथ मिलने-जुलने, भोजन करने तथा विवाह संबन्ध करने का वर्जन करे।

टिप्पणी—यद्यपि भिक्षा के विषय में कहा गया है कि भिक्षा कहीं से भी ली जा सकती है और विवाह के विषय में भी कहा गया हैं कि स्त्रीरत्न दुष्कुल से भी ग्राह्य है, तथापि यह सूत्र इन सबका वेदाध्ययन न करने वाले ब्रह्महन् के सम्बन्ध में निषेध करता है ॥ ३३ ॥

तेषामिच्छतां प्रायश्चित्तम् ॥ ३४ ॥

इच्छतामिति वचनान्न बलात्कारेण प्रायश्चित्तं कारयितव्यम् ॥ ३४ ॥

अनुवाद—यदि वे चाहें तो यह प्रायश्चित करें (बलपूर्वक उनसे प्रायश्चित न कराया जाय) ॥ ३४ ॥

यथा प्रथमेऽतिक्रम ऋतुरेवं संवत्सरः ॥ ३५ ॥

यथा प्रथमेऽतिक्रमे ब्रह्मचर्यस्य ऋतुः कालः एवमन्यस्मिन्नतिक्रमे संवत्सरः कालः ॥ ३५ ॥

अनुवाद—वेदाध्ययन की उपेक्षा के लिए पहले एक ऋतु अर्थात् दो मास का जैसा प्रायश्चित्त बताया गया है वैसा ही प्रायश्चित एक वर्ष करे ॥ ३५ ॥

अथोपनयनम् ॥ ३६ ॥ तत उदकोपस्पर्शनम् ॥ ३७ ॥

गते ॥ ३६-३७ ॥

अनुवाद—उसके बाद उनका उपनयन हो और वे स्नान करें ॥ ३६-३७ ॥

इत्यापस्तम्बधर्मसूत्रे प्रथमप्रश्ने प्रथमा [3]कण्डिका।

—:०:—

प्रतिपूरुषं संख्याय संवत्सरान् यावन्तोऽनुपेताः स्युः ॥ १ ॥

यदि पितैवानुपेतः ततस्संवत्सरमेकम्। अथ पितामहोऽपि, ततो द्वौ। अथ स्वयमपि यथाकालमनुपेतः, ततः संवत्सरानिति ॥ १ ॥

अनुवाद—जितने पूर्वज अनुपेत हों उनमें प्रत्येक के लिए एक एक वर्ष जोड़कर (तथा अपने लिए भी एक वर्ष जोड़कर) उतने वर्ष तक ब्रह्मचर्य व्रत का प्रायश्चित करे ॥ १ ॥

---

१. आप० ध० १.१९.१३ २. मनु० स्मृ० २.२३८.

३. खण्डिका इति. क. पुस्तके। खण्डः इति ख. पुस्तके। एवमेव प्रतिखण्डसमाप्ति

अथोदकोपस्पर्शने मन्त्राः—

सप्तभिः पावमानीभि"र्दयन्ति यच्च दूरक' इत्येताभिर्यजुष्पवित्रेण सामपवित्रेणाऽऽङ्गिरसेनेति ॥ २ ॥

पवमानः सोमो देवता यासां ताः [1]पावमान्यः। यजुष्पवित्रेण [2]आपो अस्मान्मातरः शुन्धन्त्वि' त्यनेन, सामपवित्रेण 'कया नश्चित्र आभुवदि' त्यादिगीतेन वामदेव्येन साम्ना, आङ्गिरसेन [3]'हंसःशुचिषदि'त्यनेन एतैरञ्जलिना शिरस्यपोऽवसिञ्चेत् ॥ २ ॥

अनुवाद—वह प्रतिदिन यजुष्पवित्र के 'यदन्ति यच्च दूरक' आदि सात पवमान मन्त्रों द्वारा, सामपवित्र के 'कया नश्चित्र आभुवत्' आदि वामदेव के साम से तथा अङ्गिरस के तैत्तिरीयसंहितान्तर्गत 'हंसश्शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्धोता आदि ४. २. १. ४ से अञ्जलि से जल लेकर सिर पर सिञ्चन करे ॥ २ ॥

अपि वा व्याहृतिभिरेव ॥ ३ ॥

पूर्वैः सह व्याहृतीनां विकल्पः ॥ ३ ॥

अनुवाद—अथवा पूर्वोक्त मन्त्रों के साथ व्याहृतियों का भी प्रयोग करते हुए सिंचन करे ॥ ३ ॥

अथाऽध्याप्यः ॥ ४ ॥

गतम् ॥ ४ ॥

---

१. यदन्ति यच्च दूरके भयं विन्दति मामिह। पवमान वितज्जहि ॥ १ ॥
पवमानस्सोऽअद्य नः पवित्रेण विचर्षणिः। यः पोता स पुनातु नः ॥ २ ॥
यत्ते पवित्रमर्चिष्यग्ने विततमन्तरा। ब्रह्म तेन पुनीहि नः ॥ ३ ॥
यत्ते पवित्रमर्चिवदग्ने तेन पुनीहि नः। ब्रह्म सवैः पुनीहि नः ॥ ४ ॥
उभाभ्यां देव सवितः पवित्रेण सवेन च। मां पुनीहि विश्वतः ॥ ५ ॥
त्रिभिष्ट्वं देव सवितर्वर्षिष्ठैः सोम धामभिः। अग्ने दक्षैः पुनीहि नः ॥ ६ ॥
पुनन्तु मां देवजनाः पुनन्तु वसवो धिया। विश्वे देवाः पुनीतन मा जातवेदः पुनीहि मा ॥७॥ (ऋ० सं० ७.२.१७ १८.) इति सप्त पावमान्यः ॥

२. आपो अस्मान् मातरश्शुन्धन्तु घृतेन नो घृतपुवः पुनन्तु विश्वमस्मत्प्रवहन्तु रिप्रम्' (तै. स. १.२.१) इति यजुःपवित्रम्। 'कया नश्चित्र आ भुवदूती सदावृधस्सखा। कया शचिष्ठया वृता' इत्यस्यामृचि गीयमानं वामदेव्याख्यं साम सामपवित्रम् ॥

३. 'हꣳसश्शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत्। नृषद्वरसदृतसद्व्योमसदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतं बृहत्' (तै. सं. ४. २. १.४.) इत्याङ्गिरसः ॥

तत्र 'यस्य पिता पितामह' इत्युपक्रमे 'यस्ये' त्येकवचनमन्तेऽप्यध्याप्य' इति। मध्ये तु 'ब्रह्महसंस्तुताः' तेषामभ्यागमनं' 'तेषामिच्छता'मिति बहुवचनम्। तत्रोपक्रमोपसंहारानुसारेण माणवकस्यैव प्रायश्चित्तमुपनयनमध्यापनं च। बहुवचनं तु तथाविधमाणवकबहुत्वापेक्षमित्यवोचाम ॥ ४ ॥

अनुवाद—इस प्रायश्चित के बाद ऐसे व्यक्ति का अध्यापन किया जाता है ॥४॥

अथ यस्य प्रपितामहादि नानुस्मर्यंत उपनयनं ते श्मशानसंस्तुताः ॥ ५ ॥

प्रपितामहादि प्रपितामहादारभ्य प्रपितामहः पितामहः पिता स्वयं च यथाकालमिति। ते तथाविधा माणवकाः श्मशानसंस्तुताः। एतेन [1]"श्मशाने सर्वतः शम्याप्रासा' दित्यध्ययननिषेध एषामपि सन्निधौ भवति ॥ ५ ॥

अनुवाद—किन्तु जिनके प्रपितामह आदि का (अर्थात् प्रपितामह, पितामह, पिता और स्वयं का) उपनयन होने का स्मरण नहीं है। वे श्मशान कहे जाते हैं ॥ ५ ॥

टिप्पणी—अर्थात् वे पतित होते हैं और जिस प्रकार श्मशान के समीप वेदाध्ययन नहीं किया जाता उसी प्रकार ऐसे पतित लोगों के समीप वेद का उच्चारण नही किया जाता, उनके द्वारा वेद का अध्ययन तो दूर रहा ॥ ५ ॥

तेषामभ्यागमनं भोजनं विवाहमिति च वर्जयेत्तेषामिच्छतां प्रायश्चित्तं द्वादशवर्षाणि त्रैविद्यकं ब्रह्मचर्यं चरेदथोपनयनं [2]तत उदकोपस्पर्शनं पावमान्यादिभिः ॥ ६ ॥

गतम्। पावमान्यादिभिरित्यनेनैव प्रतिपूरुषं सङ्ख्याय संवत्सरानित्येतदपि द्रष्टव्यम् ॥ ६ ॥

अनुवाद—उनके साथ मिलने-जुलने, भोजन और विवाह का वर्जन करना चाहिए। यदि वे प्रायश्चित्त करना चाहें तो बारह वर्ष तक तीन वेदों के अध्येता ब्रह्मचारी के व्रत का (अग्निकर्म, अध्ययन और गुरुशुश्रूषा को छोड़कर) पालन करें, उसके बाद उनका उपनयन हो और तदुपरान्त वे पवमान आदि मन्त्रों से (जिनका उल्लेख इस कण्डिका के दूसरे मन्त्र में किया गया है) स्नान करे ॥६॥

अथ गृहमेधोपदेशनम् ॥ ७ ॥

गृहमेधो गृह्यशास्त्रं गृहस्थधर्मो वा ॥ ७ ॥

---

१. आप. ध. १. ९. ६. २. ततस्संवत्सरमुदकोपस्पर्शनम्. इति ग. पु.।

अनुवाद—तब उसे गृहस्थ के नियमों का उपदेश दिया जाय ॥ ७ ॥

नाध्यापनम् ॥ ८ ॥

नाध्यापनं कृत्स्नस्य वेदस्य । किं तु गृह्यमन्त्राणामेवेति ॥ ८ ॥

अनुवाद—उसे सम्पूर्ण वेद की शिक्षा न दी जाय ।

टिप्पणी—अपितु केवल गृह्य कर्म प्रयुक्त मन्त्रों का ही अध्यापन हो ॥ ८ ॥

ततो यो निवर्तते तस्य संस्कारो यथा प्रथमेऽतिक्रमे ॥९॥

ततः एवं कृतप्रायश्चित्तात् गृहस्थोभूताद्यो निवर्तते उत्पद्यते तस्योपनयन-संस्कारः कर्तव्यः । कथम् ? यथा प्रथमेऽतिक्रमे ऋतुं त्रैविद्यकं ब्रह्मचर्यं चारयित्वेत्यर्थः ॥ ९ ॥

अनुवाद—गृह्यमन्त्रों का अध्ययन समाप्त कर लेने पर उसका उसी प्रकार उप-नयन संस्कार किया जाय जिस प्रकार प्रथम अतिक्रम के सम्बन्ध में किया था ।

टिप्पणी—प्रथम वेदाध्ययन के अतिक्रम में जिस प्रकार एक ऋतु अर्थात् दो मास के ब्रह्मचर्यव्रत के प्रायश्चित का विधान किया गया था, वहीं प्रायश्चित्त यहाँ भी विहित है ॥ ९ ॥

तत ऊर्ध्वं प्रकृतिवत् ॥ १० ॥

ततः यो निवर्तते तस्य प्रकृतिवत् यथा प्राप्तमुपनयनं कर्तव्यमिति । यस्य तु प्रपितामहस्य पितुरारभ्य नानुस्मर्यंत उपनयनं तत्र प्रायश्चित्तं नोक्तम्, धर्मज्ञैरूहितव्यम् ॥ १० ॥

अनुवाद—उसके बाद सभी कर्म वैसे ही किये जाते हैं जैसे सामान्य उपनयन के संन्दर्भ में होता है ।

टिप्पणी—हरदत्त ने यह संकेत किया है कि जिनके प्रपितामह से भी पूर्ववर्ती पुरुषों के उपनयन का स्मरण नहीं है उसके विषय में धर्मज्ञ व्यक्तियों को व्यवस्था देनी चाहिए ॥ १० ॥

एवं ततः पूर्वेष्वपि निरूपितमुपनयनम्, अथाऽध्ययनविधिः—

उपेतस्याऽऽचार्यकुले ब्रह्मचारिवासः ॥ ११ ॥

एवं यथाविध्युपेतस्य ब्रह्मचारिणस्सत आचार्यकुले वासो भवति । ब्रह्म वेदस्तदर्थं व्रतं चरतीति ब्रह्मचारी । अध्ययनाङ्गानि व्रतानि चरता आचार्यकुले वस्तव्यमित्युक्तं भवति ॥ ११ ॥

अनुवाद—उपनीतबालक ब्रह्मचारी होकर आचार्य के कुल में निवास करे ।

टिप्पणी—ब्रह्मचारी की व्युत्पत्ति हरदत्त की व्याख्या में द्रष्टव्य है । 'ब्रह्म वेदस्तदर्थं व्रतं चरतीति ब्रह्मचारी ॥ ११ ॥

तत्र कालः—

'अष्टाचत्वारिंशद्वर्षाणि ॥ १२ ॥

चतुर्णां वेदानामध्ययनकाल एषः। प्रतिवेदं द्वादश ॥ १२ ॥

अनुवाद—अड़तालिस वर्ष तक गुरुकुल में निवास करे।

टिप्पणी—यह समय चार वेदों के अध्ययन के लिए है, प्रत्येक वेद के अध्ययन के लिए बारह वर्ष का काल बताया गया है ॥ १२ ॥

पादूनम् ॥ १३ ॥

स एव कालः पादूनं वा प्रत्येतव्यः। पादेनोनं पादूनम्। पररूपं [2]कतन्तवत्। षट्त्रिंशद्वर्षाणि। प्रतिवेदं नव ॥ १३ ॥

अनु०—अथवा एक चौथाई कम समय होता है अर्थात् छत्तीस वर्ष निवास करे।

टिप्पणी—इस प्रकार प्रत्येक वेद के लिए नौ वर्ष का समय विवक्षित है ॥१३॥

अर्धेन ॥ १४ ॥

ऊनमिति [3]समस्तमप्यपेक्षते। चतुर्विंशतिर्वर्षाणि। प्रतिवेदं षट् ॥ १४ ॥

अनुवाद—अथवा उसके आधे समय तक अर्थात् चौबीस वर्ष तक निवास करे।

टि०—इस प्रकार प्रत्येक वेद के लिए छः वर्ष का समय भी विवक्षित है ॥१४॥

त्रिभिर्वा ॥१५॥

पादैरूनमिति प्रकरणाद् गम्यते। द्वादशवर्षाणि। प्रतिवेदं त्रीणि ॥ १५ ॥

अनुवाद—अथवा तीन चौथाई कम समय तक निवास करे। अर्थात् केवल बारह वर्ष तक निवास करे, प्रत्येक वेद का तीन वर्ष तक अध्ययन करे ॥ १५ ॥

द्वादशावरार्ध्यम् ॥ १६ ॥

अवरार्ध्यशब्दोऽवरमात्रेत्येतस्मिन्नर्थे वर्तते। द्वादशवर्षाणि अवरमात्रा यथा भवति तथा ब्रह्मचारिणा गुरुकुले वस्तव्यम्। पूर्वेणैव सिद्धे यो ब्रह्मचार्यतिमेधावितया चतुरोऽपि वेदानितोऽल्पीयसा कालेन गृह्णाति तेनाप्येतावन्तं कालं गुरुकुले वस्तव्यम्।[4] 'विद्यया स्नाती'त्येतस्मिन्नपि पक्षे नातित्वरितेन स्नातव्यमित्येवमर्थमिदमारभ्यते। एतेन एकस्य वेदस्य त्रीणि वर्षाणि ब्रह्मचर्यमवश्यं[5] भावीत्यर्थात्सिद्धम्।

---

१. गोपथब्राह्मणेऽथर्ववेदीयद्वितीयप्रपाठके पञ्चमब्राह्मणेऽस्य विधिर्दृश्यते—तस्मा एतत् प्रोवाचाष्टाचत्वारिंशद्वर्षं तच्चतुर्धा वेदेषु व्यूह्य द्वादशवर्षं ब्रह्मचर्यं द्वादशवर्षाण्यवरार्धमपि स्नायंश्चरेद्यथाशक्त्यपरम्' (गोप० ब्रा० पू. २. ५.) इति ॥

२. 'शकन्ध्वादित्वात्' इति घ० पु०।

३. उपसमस्तमिति ख० पु० प्राप्तसमासमपीत्यर्थः सर्वत्राप्यपेक्षते इति. घ. पु.

४. आप० ध. १. ३०. १ ५. भावीत्ययमर्थसिद्धः। इति ख० पु०

मनुरप्याह—

[1]षट्त्रिंशदाब्दिकं चर्यं गुरौ त्रैविद्यकं व्रतम् ।
तदर्धिकं पादिकं वा ग्रहणान्तिकमेव वा ।। इति ।।

त्रयाणां वेदानां षट्त्रिंशत्, एकैकस्य द्वादश । तदर्धिकं त्रयाणामामष्टादश; एकैकस्य षट् । पादिकं वा त्रयाणां नव; एकैकस्य त्रीणि । ग्रहणान्तिकमेव वेति एकैकस्य त्रिभ्य ऊर्ध्वमनियम; न प्रागित्यर्थो द्रष्टव्यः ।। १६ ।।

अनु०—बारह वर्ष तक अवधि की आचार्यकुल में निवास करने की न्यूनतम अवधि है ।

टिप्पणी—व्याख्याकार के अनुसार बारह वर्ष निवास करे । जो ब्रह्मचारी उसके पहले ही चारो वेदों का अध्ययन पूरा कर ले वह भी बारह वर्ष तक निवास करे ।।१६।।

न ब्रह्मचारिणो विद्यार्थस्य परोपवासोऽस्ति ।। १७ ।।

ब्रह्मचारिविद्यार्थशब्दयोरर्थ उक्तः । यो ब्रह्मचरी विद्यार्थो भवति न तेन दिवसमात्रमपि परस्य समीपे वस्तव्यम् । आचार्यस्य समीप एव वस्तव्यमित्युक्तं भवति । विद्यार्थस्येति वचनात् नैष्ठिकस्य कदाचिदन्यत्र [2]वासेऽपि न दोषः । यद्वा भोजननिवृत्तिरेवोपवासः । परलोकार्थ उपवासः परोपवासः स विद्यार्थस्य न भवति । नैष्ठिकस्य तु [3]दोषः । अत्र पक्षे [4]'आहिताग्निरनड्वानि'ति विद्यार्थब्रह्मचारिविषयम् ।। १७ ।।

अनुवाद—विद्याग्रहण करने की अभिलाषा वाला ब्रह्मचारी दूसरे के समीप निवास न करे ।

टिप्पणी—ऐसे ब्रह्मचारी को आचार्य के समीप ही निवास करना चाहिए । एक दिन के लिए भी किसी दूसरे के समीप निवास न करे । विद्यार्थं नैष्ठिक ब्रह्मचारी का कभी दूसरे के समीप निवास करने में दोष नहीं है । इस प्रकार यह नियम नैष्ठिक ब्रह्मचारी के संबन्ध में लागू नहीं होता । हरदत्त ने परोपवास की एक अन्य व्याख्या भी की है । पर अर्थात् परलोक के लिए उपवास अर्थात् भोजननिवृत्ति, परलोकार्थं उपवास विद्यार्थी के लिए विहित नहीं है ।। १७ ।।

अथ ब्रह्मचर्यविधिः ।। १८ ।।

ब्रह्म वेदस्तदर्थं यद्व्रतं चरितव्यं तद् ब्रह्मचर्यं तदधिक्रियते ।। १८ ।।

अनुवाद—अब ब्रह्मचर्य की विधि बतायी जाती है ।। १८ ।।

आचार्याधीनस्स्यादन्यत्र पतनीयेभ्यः ।। १९ ।।

"आचार्याधीनो भवे" त्युपनयनान्ते यत् संशासनं तत्सिद्धैवाचार्याधीनता

१. मनु० स्मृ० ३. १ २. वासो न दोषः इति क० पु०
३. न दोषः इति ख० पु० ४. आप० ध. २. ९. १३.

तानूद्यते 'अन्यत्र पतनीयेभ्य' इति विशेषं वक्ष्यामीति ।[1] पतनीय इति करणे कृत्प्रत्ययः । [2]अमुमरातिं ब्राह्मणमित्थं व्यापादयेत्याचार्येण चोदितोऽप्येवमादि न कुर्यादिति ॥ १९ ॥

अनुवाद—उन कार्यों के आदेश को छोड़कर जिनसे पतन होता है, गुरु के सभी आदेशों का पालन करे।

टिप्पणी—यदि आचार्य किसी की हत्या करने के लिए अथवा अन्य पाप कर्मों की आज्ञा दे तो ब्रह्मचारी उन कार्यों के लिए गुरु की आज्ञा का पालन न करे किन्तु ऐसे कर्मों के अतिरिक्त निरन्तर गुरु के अधीन रहे। पतनहेतुक आज्ञाओं के अतिरिक्त सभी आज्ञाओं का पालन करे ॥ १९ ॥

हितकारी गुरोरप्रतिलोमयन् वाचा ॥ २० ॥

आचार्येण प्रयुक्तोऽप्यप्रयुक्तोऽपि तस्मै हितमेव कुर्यात्, वाचा [3]प्रातिलोम्यमकुर्वन् ॥ २० ॥

अनु०—गुरु का निरन्तर भला करे और वाणी से उनका विरोध न करे ॥ २० ॥

अधासनशायी ॥२१॥

शयनं शायः। [4]'कृत्यल्युटो बहुल' मिति बहुलवचनात् घञ्। अधः आसनशायो यस्य सः अधासनशायी। गुरुसन्निधावध आसीत अधश्शयीतेत्युक्तं भवति। अधश्शब्दस्य सवर्णदीर्घश्छान्दसः, अपपाठो वा। तृणेषु प्रस्तरेषु चासनशयने शिष्टाचारसिद्धे ॥ २१ ॥

अनुवाद—गुरु के निकट उनसे नीची शय्या पर ही सोवे ॥ २१ ॥

नानुदेश्यं भुञ्जीत ॥ २२ ॥

अनुदेश्यं श्राद्धार्थं देवतार्थं वा उद्दिष्टं न भुञ्जीत ॥ २२ ॥

अनुवाद—श्राद्ध में या देवता के लिए अर्पित भोजन को न ग्रहण करे ॥ २२ ॥

तथा क्षारलवणमधुमांसानि ॥ २३ ॥

न भुञ्जीतेत्येव। [5]क्षारादीनि गृह्ये गतानि ॥ २३ ॥

अनुवाद—चटपटा पदार्थ, नमकीन वस्तु, मधु और मांस का भक्षण न करे ॥२३॥

अदिवास्वापी ॥ २४ ॥

न दिवा स्वप्यात् ॥ २४ ॥

अनुवाद—दिन में शयन न करे ॥ २४ ॥

---

१. करणे प्रत्ययः इति क० पु० 	२. अस्मदरातिं इति ख० पु०

३. प्रातिकूल्यं इति ख० पु० 	४. पा० सू० ३. ३. ११३

५. क्षारपदार्थः आप० ध० २. १५. ११. सूत्रे व्याख्यास्यते।

अगन्धसेवी ॥ २५ ॥

चन्दनादीनि गन्धद्रव्याणि न सेवेत ॥ २५ ॥

अनुवाद—सुगन्धित द्रव्यों का सेवन न करे ॥ २५ ॥

मैथुनं न चरेत् ॥ २६ ॥

उपचारक्रिया केली स्पर्शो [1]भूषणवाससाम् ।
एकशय्यासनं क्रीडा चुम्बनालिङ्गने तथा ॥

इत्यादेस्सर्वस्योपलक्षणं मैथुनग्रहणम् ॥ २६ ॥

अनुवाद—सभी प्रकार के मैथुन सुखों का वर्जन करे ॥ २६ ॥

उत्सन्नश्लाघः ॥ २७ ॥

श्लाघा शोभा सा उत्सन्ना यस्य स उत्सन्नश्लाघः ॥ एवंभूतो भवेत् । [2]म्रक्षणादिना मुखादिकम् उज्ज्वलं न कुर्यात् इति ॥ २७ ॥

अनुवाद—(सुगन्धित लेपों द्वारा) अपनी सुन्दरता बढ़ाने की इच्छा न करे ॥२७॥

अङ्गानि न प्रक्षालयीत ॥ २८ ॥

[3]विना शिरसा सुखार्थमुष्णोदकादिना शरीरं न प्रक्षालयेत् ॥ २८ ॥

अनुवाद—अपने सुख के लिए (उष्ण आदि जल से) अंगों को न धोवे ॥२८॥

प्रक्षालयीत त्वशुचिलिप्तानि[4] गुरोरसन्दर्शे ॥२९॥

यानि तु मूत्रपुरीषाद्यशुचिलिप्तान्यङ्गानि तानि कामं [5]मृदाद्भिः प्रक्षालयेत् यावद्गन्धो लेपश्चापैति । तदपि गुरोरसन्दर्शे [6] यत्र स्थितं गुरुर्नपश्यति तत्र । आचार्यप्रकरणे गुरुग्रहणात् पित्रादीनामपि ग्रहणम् ॥ २९ ॥

अनुवाद—किन्तु यदि शरीर के अंग अपवित्र वस्तुओं (मूत्र-पुरीष आदि) से लिप्त हो तो (मिट्टी या जल से) किसी ऐसे स्थान में धोवे जहाँ गुरु उसे न देख सकें ॥२९॥

[7]नाप्सु श्लाघमानः स्नायाद्यदि स्नायाद्दण्डवत् प्लवेत् ॥३०॥

स्नाने प्राप्ते न श्लाघमानः स्नायात् । किं तु दण्डवत् प्लवेदित्युक्तम् । स्नानीयैर्मलापकर्षणं श्लाघा; क्रीडा वा जले । अपर आह—'अङ्गानि न प्रक्षा-

---

१. भूषणवाससी. इति. क० पु० २. मृत्कल्कादिना इति क० पु०

३. स्नानसमये आमलकादिभिर्न क्षालयेत् । इति क० पु०

४. गुरोरसन्दर्शने इति क० पु० ५. मृद्वारिभिः इति ख० पु०

६. यत्र गुरुर्न पश्यति तत्र । इति ख० पु० 'यत्र लिप्तं गुरुः' इति ग० पु०

७. नाप्सु श्लाघमानस्स्नायादित्येतावदेव ख० पु० सूत्रम् । "अथाद्भिरश्लाघमानो न स्नायात् तेन तां श्लाघामवरुन्धे" (गो० ब्रा० पू० १.२.) इति गोपथब्राह्मणम् ।

लयीते' (सू० २८) त्यासमावर्तनान्नित्यस्नानस्य प्रतिषेधः। 'प्रक्षालयीत त्वशुचिलिप्तानो' (सू० २९) ति नैमित्तिकस्य विधिः। 'नाप्सु श्लाघमानः स्नाया' (सू०३०)दिति तत्रैव श्लाघाप्रतिषेध इति ॥ ३० ॥

अनुवाद—जल में शरीर की शोभा बढ़ाने के ऊपर ध्यान देता हुआ (स्नानीय लोपों आदि से सफाई करते हुए या क्रीडा करते हुए) स्नान न करे। स्नान करे भी तो केवल डण्डे की तरह तैरे ॥ ३० ॥

जटिलः ॥३१॥

सर्वानेव केशान् जटां कृत्वा बिभृयात् ॥ ३१ ॥

अनुवाद—सभी केशों को जटा बाँधकर धारण करे ॥ ३१ ॥

शिखाजटो वा वापयेदितरान् ॥३२॥

अथवा शिखामेव जटां कृत्वा इतरान् केशान् वापयेत् नापितेन ॥ ३२ ॥

अनुवाद—अथवा शिखा को ही जटा बना कर धारण करे, शेष केशों को मुँडा डाले ॥ ३२ ॥

मौञ्जी मेखला त्रिवृद्ब्राह्मणस्य शक्तिविषये दक्षिणावृत्तानाम् ॥३३॥

मुञ्जानां विकारो मौञ्जी। त्रिवृत् त्रिगुणा। एवम्भूता ब्राह्मणस्य मेखला भवति। सा च शक्तिविषये शक्तौ सत्यां दक्षिणावृत्तानां प्रदक्षिणावृत्तानां कर्तव्या। तद्धितार्थे गुणभूतानामपि मुञ्जानामेवैतद्विशेषणम् ॥ ३३ ॥

अनुवाद—ब्राह्मण की मेखला मूँज की होती है और तीन गुण वाली होती है यदि संभव हो तो वे गुण दाहिनी ओर को बटे गए हों ॥ ३३ ॥

ज्या राजन्यस्य ॥३४॥

स्पष्टम् ॥ ३४ ॥

अनुवाद—राजन्य बालक के लिए धनुष की डोरी मेखला होती है ॥३४॥

मौञ्जी वाऽयोमिश्रा ॥३५॥

अथवा अयोमिश्रा क्वचित्तु कालायसेन बद्धा मौञ्जी मेखला भवति राजन्यस्य ॥ ३५ ॥

अनु०—अथवा अयस् के खण्ड से युक्त मूँज की मेखला भी हो सकती है ॥३५॥

आवीसूत्रं वैश्यस्य ॥३६॥

अविरूर्णायुः कम्बलप्रकृतिः तत्सम्बन्धिनी ऊर्णा आवी तत्कृतं सूत्रं आवीसूत्रम। सा मेखला वैश्यस्य भवति ॥ ३६ ॥

अनवाद—वैश्य बालक की मेखला ऊन का धागा होती है ॥ ३६ ॥

सैरी तामली वेत्येके ॥३७॥

सैरी सीरा बाह्योक्त्ररज्जुः। [1]तामलो मूलोदसंज्ञको वृक्षः तस्य त्वचा ग्रथिता तामली ॥ ३७ ॥

अनुवाद—अथवा बैलों को जुएँ से जोड़ने वाली रस्सी (जोता) वैश्य की मेखला हो सकती है अथवा तमाल की छाल से बटी गई रस्सी मेखला के रूप में प्रयोग की जा सकती है, ऐसा कुछ आचार्यों का मत है ॥ ३७ ॥

पालाशो दण्डो ब्राह्मणस्य नैयग्रोधस्कन्धजोऽवा[2] ङग्रो राजन्यस्य बादर औदुम्बरो वा वैश्यस्य वार्क्षो दण्ड इत्यवर्णसंयोगेनैक उपदिशन्ति ॥३८॥

पालाशो दण्ड इत्यादि गृह्ये [3]गतम् ॥ ३८ ॥

अनुवाद—ब्राह्मण का दण्ड पलाश का हो, क्षत्रिय का दण्ड न्यग्रोध वृक्ष की नीचे की ओर निकलने वाली शाखा का हो तथा वैश्य ब्रह्मचारी का दण्ड बदर या उदुम्बर का हो। कुछ आचार्य विना वर्ण के निर्देश के ब्रह्मचारी का दण्ड यज्ञीय वृक्ष का विहित करते हैं ॥ ३८ ॥

वासः ॥३९॥

वस्यते कौपीनमाच्छाद्यते येन तद्वासः। तद्वक्ष्यते ॥ ३९ ॥

अनुवाद—वस्त्र (कौपीन)धारण करे ॥ ३९ ॥

शाणीक्षौमाजिनानि ॥४०॥

शणस्य विकारः शाणी पटी। क्षुमा अतसी तस्या विकारः क्षौमम्। श्वेतपट्टाख्यवासोविशेष इत्यन्ये। अजिनं यस्य कस्यचिन्मेध्यस्य पशोः। त्रीण्येतानि वर्णानुपूर्व्येण वासांसि ॥ ४० ॥

अनुवाद—वर्णों के क्रम के अनुसार कौपीन वस्त्र सन का, अतसी का अथवा किसी पवित्र पशु का चर्म हो ॥ ४० ॥

काषायं चैके वस्त्रमुपदिशन्ति ॥४१॥

एके आचार्या वस्त्रं त्वधोधार्यमुपदिशन्ति। वस्त्रं कार्पासम्। तच्च काषायं कषायेण रक्तम्। ब्राह्मणस्येत्यर्थाद्गम्यते। इतरयोर्वक्ष्यमाणत्वात् ॥ ४१ ॥

इत्यापस्तम्बधर्मसूत्रे प्रथमप्रश्ने द्वितीया कण्डिका ॥ २ ॥

अनु०—कुछ आचार्य ब्राह्मण का अधो वस्त्र काषाय रंग का विहित करते हैं ॥४१॥

—:०:—

१. तमालादण् तमालसंज्ञो वृक्षः तस्य० इति घ० पु०

२. अवाङग्र०:' इति क० पु० ३. आप० गृ० ११. १५०

माञ्जिष्ठं राजन्यस्य ॥१॥

मञ्जिष्ठया रक्तं माञ्जिष्ठम् ॥ १ ॥

अनुवाद—क्षत्रिय ब्रह्मचारी का वस्त्र मजीठ से रंगा हुआ होवे ॥ १ ॥

हारिद्रं वैश्यस्य ॥ २ ॥

हरिद्रया रक्तं हारिद्रम् ॥ २ ॥

अनुवाद—वैश्य का वस्त्र हल्दी से रंगा हुआ हो ॥ २ ॥

हारिणमैणेयं वा कृष्णं ब्राह्मणस्य ॥३॥

एतान्युत्तरीयाणि । 'बस्ताजिन' मिति वक्ष्यमाणत्वात् इहाप्यजिनमिति गम्यते ।'अजिनमुत्तरमुत्तरये' त्युपनयने यदजिनमुक्तं धार्यं तद्धारिणं ब्राह्मणस्य; हरिणो मृगस्तस्य विकारः हारिणम् । ऐणेयं वा कृष्णम् । एणी मृगी तस्या विकार ऐणेयम् । 'एण्या ढञ्'। द्विविधा एण्यः कृष्णाश्च गौराश्च । अतो विशेष्यते-कृष्णमैणेयमिति ॥ ३ ॥

अनुवाद—ब्राह्मण द्वारा धारण किया जाने वाला चर्म हरिण का हो अथवा काले रंग की मृगी का चर्म हो ॥ ३ ॥

अस्मिन् पक्षे विशेषमाह—

कृष्णं चेदनुपस्तीर्णासनशायी स्यात् ॥४॥

कृष्णं चेद्बिभृयात् न हारिणं ततस्तस्मिन्नुपस्तीर्णे नासीत, न च शयीत । अयं तावदर्थः । शब्दनिर्वाह [3]'स्वधासनशायी'त्यत्र कृतः ॥४॥

अनुवाद—यदि काले रंग का चर्म धारण करे तो उसे बैठने या सोने के लिए भूमि पर न बिछावे ॥ ४ ॥

रौरवं राजन्यस्य ॥५॥

रुरुर्बिन्दुमान्मृगः ॥ ५ ॥

अनुवाद—क्षत्रिय द्वारा धारण किया जाने वाला चर्म रुरुमृग (धब्बेवाले मृग) का हो ॥ ५ ॥

बस्ताजिनं वैश्यस्य ॥६॥

बस्तश्छागः ॥ ६ ॥

अनुवाद—वैश्य का ऊपर पहनने वाला चर्म बकरे का होवे ॥ ६ ॥

आविकं सार्ववर्णिकम् ॥७॥

अविरूर्णायुः । स एवाऽऽविकः । तस्य चर्माऽऽविकं, तत्सर्वेषामेव वर्णानाम् । अस्य हारिणादिभिर्विकल्पः ॥ ७ ॥

---

१. आप० गृ० ११. ११. २. पा० सू० ४. ३. ५९. ३. आप० ध० १.२.२१.

अ०—अथवा सभी वर्णों के लिए भेड़ का चर्म हो ॥ ७ ॥

कम्बलश्च ॥८॥

अयमप्याविक एव । प्रावरणमेव सर्वेषाम् ॥ ८ ॥

अनुवाद—ओढ़ने का वस्त्र भी सबके लिए भेड़ के ऊन का बना हो ॥ ८ ॥

'काषायं चैके वस्त्रमुपदिशन्ती' त्यारभ्य वासांस्यजिनानि च विहितानि। तत्र कामवशेन विशेषमाह—

ब्रह्म वृद्धिमिच्छन्नजिनान्येव वसीत, क्षत्रवृद्धिमिच्छन् वस्त्राण्येव, उभयवृद्धिमिच्छन्नुभयमिति हि [1]ब्राह्मणम् ॥९॥

ब्रह्मवृद्धिः ब्राह्मणवृद्धिः क्षत्रियवृद्धिः ॥ ९ ॥

अनुवाद—ब्रह्मशक्ति की वृद्धि चाहने वाला केवल अजिन ही धारण करे। क्षत्रिय की शक्ति की वृद्धि चाहने वाला वस्त्रों को ही धारण करे। दोनों की वृद्धि चाहने वाला चर्म तथा वस्त्र दोनों को धारण करे। ऐसा ब्राह्मण का वचन है ॥९॥

अथ स्वपक्षमाह—

अजिनं त्वेवोत्तरं धारयेत् ॥१०॥

उत्तरमुत्तरीयम्। तदीजिनमेव धारयेत् ॥ १० ॥

अनुवाद—किन्तु उत्तरीय के रूप में केवल चर्म ही धारण करे ॥ १० ॥

[2]अनृत्तदर्शी ॥११॥

नृत्तं न पश्येत् ॥ ११ ॥

अनुवाद—नृत्य न देखे ॥ ११ ॥

सभाः समाजांश्चाऽगन्ता ॥१२॥

द्यूतादिस्थानं सभा। उत्सवादिषु समवायः समाजः। तान्सभास्समाजांश्च अगन्ता ताच्छील्येन न गच्छेत्। यदृच्छया गमने न दोषः ॥ १२ ॥

अनुवाद—द्यूतादि की सभा में या उत्सव आदि की भीड़-भाड़ में न जावे ॥ १२ ॥

---

१. अत्र गोपथब्राह्मणस्य प्रथमप्रपाठकस्य द्वितीया कण्डिका द्रष्टव्या।

२. इमे नियमा गोपथब्राह्मणे विहिताः "नोपरिशायी स्यान्न गायनो न नर्तनो न सरणो न निष्ठीवेत् यदुपरिशायी भवत्यभीक्ष्णं निवासा जायन्ते, यद्गायनो भवत्यभीक्ष्णश आक्रन्दान् धावन्ते, यन्नर्तनो भवत्यभीक्ष्णशः प्रेतान्निर्हरन्ते, यत्सरणो भवत्यभीक्ष्णशः प्रजास्संविशन्ते, यन्निष्ठीवति मध्य एव तदात्मनो निष्ठीवति" इति। गो० ब्रा० १. २. ७

अजनवादशीलः ॥१३॥

जनवादः परिवादः लोकवार्त्ता वा, तच्छीलो न स्यात् ॥ १३ ॥

अनुवाद—परिवाद या लोकवार्ता की आदत न डाले ॥ १३ ॥

रहश्शीलः ॥१४॥

सति सम्भवे रहःशीलः स्यात् ॥ १४ ॥

अनुवाद—गम्भीर तथा एकान्तशील रहे ॥ १४ ॥

गुरोरुदाचारेष्वकर्ता स्वैरिकर्माणि ॥ १५ ॥

येषु प्रदेशेषु गुरुरुदाचरति पौनःपुन्येन चरति तेषु स्वैरिकर्माणि मैत्रप्रसाधनादीनि न कुर्यात् ॥ १५ ॥

अनुवाद—जिन स्थानों पर गुरु प्रायः आते-जाते हों वहां अपने सुख का कोई कार्य न करे ॥ १५ ॥

स्त्रीभिर्यावदर्थसम्भाषी ॥ १६ ॥

स्त्रीभिस्सह[1] यावत्प्रयोजनं तावदेव सम्भाषेत। न प्रसक्तानुप्रसक्तमतिचिरम्[2] 'बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षती'ति। अतिबालाभिरतिवृद्धाभिश्च न दोषः ॥ १६ ॥

अनुवाद—स्त्रियों से उतना ही बातचीत करे जितना प्रयोजन हो।

टिप्पणी—हरदत्त की व्याख्या के अनुसार अत्यन्त अल्पायु तथा अत्यन्त वृद्धा के साथ वार्तालाप में दोष नहीं है ॥ १६ ॥

मृदुः ॥ १७ ॥

क्षमावान् ॥ १७ ॥

अनुवाद—क्षमाशील हो ॥ १७ ॥

शान्तः ॥ १८ ॥

इन्द्रियाणामसद्विषये प्रवृत्त्यभावः शमः तद्वान् शान्तः ॥ १८ ॥

अनुवाद—इन्द्रियों को अनुचित विषयों से नियन्त्रित रखे ॥ १८ ॥

दान्तः ॥ १९ ॥

विहितेषु कर्मस्वग्लानिर्दमः। तद्वान् दान्तः ॥ १९ ॥

अनुवाद—अपने कर्तव्यपालन में तत्पर रहे ॥ १९ ॥

ह्रीमान् ॥ २० ॥

ह्रीर्लज्जा तद्वान् ॥ २० ॥

अनुवाद—लज्जाशील हो ॥ २० ॥

---

1. यावत्प्रयोजनमेव. 2. मनु. स्मृ. २. २१५.

दृढधृतिः ॥ २१ ॥

लब्धे नष्टे मृते वा धृतावेवावस्थितः स्यात् न हृष्येत् न वाविषीदेत् ॥ २१ ॥

अनुवाद—धैर्य या आत्मसंयम से युक्त हो ॥ २१ ॥

अग्लाँस्नुः ॥ २२ ॥

उत्साहसम्पन्नः।[1] "ग्लाजिस्थश्च ग्स्नुः" । अत्रानुस्वारः छान्दसोपपाठो वा॥

अनुवाद—उत्साहसम्पन्न हो ॥ २२ ॥

अक्रोधनः ॥ २३ ॥

न कस्मैचिदपि कुप्येत् ॥ २३ ॥

अनुवाद—किसी पर भी क्रोध न करे ॥ २३ ॥

अनसूयुः ॥ २४ ॥

पराभ्युदयानुसन्तापः असूया । तच्छीलो न स्यात् ॥ २४ ॥

अनुवाद—दूसरे के अभ्युदय पर जलने वाला न होवे ॥ २४ ॥

सर्वं लाभमाहरन् गुरवे सायं प्रातरमत्रेण भिक्षाचर्यं चरेद्भिक्षमाणोऽन्यत्राऽपपात्रेभ्योऽभिशस्ताच्च ॥ २५ ॥

अपपात्राः प्रतिलोमजा रजकादयः। अपगतानि हि तेषां पात्राणि पाकाद्यर्थानि चतुर्भिर्वर्णैस्सह । अभिशस्तान् वक्ष्यति 'अथ पतनीयानी' त्यादिना । तानुभयान् वर्जयित्वा अन्यत्र भिक्षेत । तत्र भिक्षमाणस्सर्वं लाभं यच्च यावच्च लब्धं गोहिरण्यादि तत्सर्वं[2] ममायया गुरवे आहरेत् । एवमहरहः कुर्वन् सायं प्रातरमत्रेण न हस्तादिना भिक्षाचर्यं भिक्षाचरणं चरेत् कुर्यात् । 'सायं प्रात' रिति वचनान्न सायं गृहीतेन प्रातराशः, नापि प्रातर्गृहीतेन सायमाशः ॥२५॥

अनुवाद—सभी प्राप्त वस्तुओं को गुरु के पास लावे, भिक्षापात्र लेकरप्रातः और सायं भिक्षाटन करे, आर्यों के सम्बन्ध के लिए अयोग्य निम्नवर्ण के पुरुषों और अभिशप्तों को छोड़कर कहीं से भिक्षा ग्रहण कर सकता है ॥ २५ ॥

अथ भिक्षाप्रत्याख्यानं निन्दितुं ब्राह्मणमाकृष्यते—

स्त्रीणां प्रत्याचक्षाणानां समाहितो ब्रह्मचारीष्टं दत्तं हुतं प्रजां पशून् ब्रह्मवर्चसमन्नाद्यं वृङ्क्ते । तस्मादु ह वै ब्रह्मचारिसङ्घं चरन्तं न प्रत्याचक्षीतापि हैष्वेवंविध एवंव्रतः स्यादिति हि[3] ब्राह्मणम् ॥२६॥

---

१. पा. सू. ३. २. १३९. २. अमाययेति. नास्ति क. पु. सर्वमादाय इति ग. पु.

३. ते देवा अब्रुवन् ब्राह्मणो वा अयं ब्रह्मचर्यं चरिष्यति ब्रूतास्मै भिक्षा इति गृहपतिर्ब्रूते बहुचारी गृहपत्न्या इति किमस्या वृञ्जीताददत्या इति, इष्टापूर्तसुकृतद्रविणमवरु-

व्याख्यातः समाहितः। समाहितो ब्रह्मचारी याभिः स्त्रीभिः भिक्षमाणः प्रत्याख्यायते तासां प्रत्याचक्षाणानां स्त्रीणामिष्टं यागैरर्जितं धर्मं, वृङ्क्ते आच्छिनत्ति. यस्मादेवं तस्मात् ब्रह्मचारिसङ्घं चरन्तं न प्रत्याचक्षीत। उ ह वा इति निपाता वाक्यालङ्कारार्थाः। अपिशब्दौ कदाचिदित्येतमर्थं द्योतयतः। एषु सङ्घीभूतेषु ब्रह्मचारिषु कदाचिदेवंविधः समाहित एवंव्रतः 'अथ ब्रह्मचर्याविधि' रित्यारभ्य यान्युक्तानि तद्वान् ब्रह्मचारी स्यात्।[1] सम्भावने लिङ्। सम्भवेत्। तस्मान्न प्रत्याचक्षीतेत्येवं ब्राह्मणं भवतीति ॥ २६ ॥

अनुवाद-एक ब्राह्मण में,कहा गया है: समाहित ब्रह्मचारी भिक्षा न देने वाली स्त्रियों से दान, हवन से उत्पन्न पुण्य को, उनकी प्रजा, पशुओं, उनके कुलों की विद्या को, अन्न को छीन लेता है। अतएव ब्रह्मचारियों के समूह को भिक्षा दिये विना वापस न करे, क्योंकि उनमें उस प्रकार का व्रत पालन करने वाला ब्रह्मचारी भी हो सकता है ॥ २६ ॥

नानुमानेन भैक्षमुच्छिष्टं दृष्टश्रुताभ्यां तु ॥ २७ ॥

भिक्षाणां समूहो भैक्षम्। न तल्लिङ्गाभासेनोच्छिष्टं मन्तव्यम्। किंतु दृष्टश्रुताभ्यामेव। दृष्टमात्मनः प्रत्यक्षम्। श्रुतमाप्तोपदेशः। ताभ्यामेव तदुच्छिष्टमवगन्तव्यम्। अयमंशः प्राप्तानुवादोऽपूर्वमंशं विधातुम्। यथा[2] 'नानुवषट्करोति, अपि वोपांश्वनुवषट्कुर्यात्' इति ॥ २७ ॥

अनुवाद—भिक्षा को देखकर ही उसे अनुमान से उच्छिष्ट नहीं समझ लेना चाहिए अपितु देख कर आप्त व्यक्ति के उपदेश से ही उसे उच्छिष्ट समझना चाहिए ॥ २७ ॥

[3]भवत्पूर्वया ब्राह्मणो भिक्षेत ॥ २८ ॥

ब्राह्मणो ब्रह्मचारी भवत्पूर्वया वाचा भिक्षेत भिक्षां याचेत—'भवति भिक्षां देही'ति ॥ २८ ॥

अनु०—ब्राह्मणब्रह्मचारी भिक्षा माँगते समय 'भवति' का प्रयोग पहले करे ॥२८॥

भवन्मध्यया राजन्यः ॥ २९ ॥

भिक्षां भवति देही'ति राजन्यो भिक्षेत् ॥ २९ ॥

न्ध्यादिति, तस्मात् ब्रह्मचारिणेऽहरहर्भिक्षां गृहिणीमामेयुरिष्टापूर्तसुकृतद्रविणमवरुन्ध्यादिति" इति गोपथब्राह्मणम् (गो० ब्रा० १. २. ६.)

१. सम्भावनायां लिङ्. इति. ख० पु०

२. आप. श्रौ. १३. १५. ९. १०. सोमयागे पात्नीवतग्रहे प्राप्तस्याप्यनुवषट्कारनिषेधस्य उपांश्वनुवषट्कारविधानार्थं नानुवषट्करोतीत्यनुवादः।

३. इतः सूत्रत्रयमेकीकृतं ग० पुस्तके।

अनुवाद—क्षत्रिय मध्य में 'भवति' शब्द का प्रयोग करे ।। २९ ।।

भवदन्त्यया वैश्यः ॥ ३० ॥

'भिक्षां देही भवती'ति ।। ३० ।।

अनुवाद—वैश्य अन्त में 'भवति' संबोधन का प्रयोग करे ।। ३० ।।

सर्वं लाभमाहरन् गुरव, इत्युक्तम् । अथाऽऽहृतं किं कर्तव्यमित्यत आह—

तत्समाहृत्योपनिधायाऽऽचार्याय प्रब्रूयात् ३१ ॥

तत् भैक्षं समाहृत्य समीपे निधायाचार्याय प्रब्रूयात्—इदमित्थमाहृतमिति३१

अनुवाद—भिक्षा लाकर गुरु के समीप रखकर उनसे निवेदन करे ।।३१।।

तेन प्रदिष्टं भुञ्जीत ॥ ३२ ॥

तेन ह्याचार्येण प्रदिष्टं सौम्य त्वमेव भुङ्क्ष्वेत्युक्तं भुञ्जीत ।। ३२ ।।

अनुवाद— उनके द्वारा आदेश पाने पर भोजन करे ।। ३२ ।।

विप्रवासे गुरोराचार्यकुलाय ॥ ३३ ॥

यदि गुरुर्विप्रोषितोऽसन्निहितः स्यात् तत् आचार्यकुलायाऽऽचार्यस्य यत्कुलं भार्यापुत्रादि तस्मै ब्रूयात् । तेन प्रदिष्टं भुञ्जीत ।। ३३ ।।

अनुवाद—यदि गुरु कहीं बाहर गये हों तो उनके कुल के सदस्य (पत्नी या पुत्र) को प्राप्त भिक्षा अर्पित करे ।। ३३ ।।

तैर्विप्रवासेऽन्येभ्योऽपि श्रोत्रियेभ्यः ॥ ३४ ॥

तैस्स्वकुल्यैस्सह गुरोः विप्रवासे अन्येभ्योऽपि "[1]श्रोत्रियेभ्यः प्रब्रूयात् । तैः प्रदिष्टं भुञ्जीतेति विपरिणामेनान्वयः । गौतमोऽप्याह[2] "असन्निधौ तद्भार्यापुत्रसब्रह्मचारिभ्यः' इति ।। ३४ ।।

अनुवाद—यदि गुरु अपने परिवार के सदस्योंके साथ अन्यत्र गये हों तो दूसरे श्रोत्रियों को अर्पित करे ।। ३४ ।।

नाऽऽत्मप्रयोजनश्चरेत् ॥३५॥

आत्मा प्रयोजनं प्रयोजकः यस्य स आत्मप्रयोजनः । एवंभूतो भिक्षां न चरेत् आत्मार्थं न चरेदित्यर्थः । अस्य प्रयोजनं यदा श्रोत्रिया अपि न लभ्यन्ते तदा[3] 'प्रोषितो भैक्षादग्नौ कृत्वा भुञ्जीते'ति वक्ष्यामाणमप्रोषितेऽपि यथा स्यादिति ।। ३५ ।।

अनुवाद—केवल अपने लिए भिक्षाचरण न करे ।

---

१. श्रोत्रियपदार्थः आप. ध. २. ४. ६. सूत्रेद्रष्टव्यः । २. गौ० ध० २. ४०.

३. आप० ध० १. ३. ४२

टिप्पणी—व्याख्याकार ने स्पष्ट किया है कि यदि श्रोत्रिय भी उपलब्ध न हो तो अग्नि में भिक्षा का अंश अर्पित करके भोजन करे ॥३५॥

भुक्त्वा स्वयममत्रं प्रक्षालयीत ॥ ३६ ॥

अमत्रं भोजनपात्रम्, भुक्त्वेति सन्निधानात्। तत्स्वयमेव प्रक्षालयीत प्रक्षालयेत्। भिक्षापात्रस्य त्वन्येन प्रक्षालने न दोषः। उभयोरपि पात्रयोर्ग्रहणमित्यन्ये ॥ ३६ ॥

अनुवाद—भोजन करने के बाद स्वयं ही भोजनपात्र को साफ करे ॥३६॥

न चोच्छिष्टं कुर्यात् ॥ ३७ ॥

यावच्छक्नोति भोक्तुं तावदेव भोजनपात्रे कृत्वा भुञ्जीत ॥ ३७ ॥

अ०—उच्छिष्ट न छोड़े। जितना भोजन कर सके उतना ही ग्रहण करे ॥३७॥

अशक्तौ भूमौ निखनेत् ॥ ३८ ॥

भोजने प्रवृत्तो यदि तावद्भोक्तुं न शक्नुयात् तदा तदन्नं भूमौ निखनेत् ॥ ३८ ॥

अनुवाद—यदि अपने भोजनपात्र में लिये गये सम्पूर्ण भोजन को न खा सके तो बचे हुए अंश को भूमि में गाड़ दे ॥३८॥

अप्सु वा प्रवेशयेत् ॥ ३९ ॥

अप्सु प्रक्षिपेत् ॥ ३९ ॥

अनुवाद—अथवा उसे जल में फेंक दे ॥३९॥

आर्याय वा पर्यवदध्यात् ॥ ४० ॥

आर्यस्त्रैवर्णिकः तस्मै अनुपनीताय पर्यवदध्यात् सर्वमेकस्मिन्पात्रेऽवधाय तत्समीपे भूमौ स्थापयेत् ॥ ४० ॥

अनुवाद—अथवा उसे एक एक पात्र में रखकर तीन वर्णों के किसी व्यक्ति के पास, जिसका उपनयन न हुआ हो, रख दे ॥४०॥

अन्तर्धिने वा शूद्राय ॥ ४१ ॥

अन्तर्धानमन्तर्धिः सोऽस्यास्तीति। व्रीह्यादित्वादिनिः। अन्तर्धी दासः। अन्तर्हितं हि तस्य शूद्रत्वम्, आशौचेषु स्वामितुल्यत्वात्। प्रकरणादाचार्यस्येति गम्यते। आचार्यदासाय वा शूद्राय पर्यवदध्यात् ॥ ४१ ॥

अनुवाद—अथवा आचार्य के दास शूद्र के समीप रख दे ॥४१॥

प्रोषितो भैक्ष्यादग्नौ कृत्वा भुञ्जीत ॥ ४२ ॥

यदि शिष्य आचार्यार्थमात्मार्थं वा प्रोषितः स्यात् तदा भैक्षात् किञ्चिदादायाग्नौ कृत्वा प्रक्षिप्य शेषं भुञ्जीत श्रोत्रियाणां सद्भावे असद्भावे च। 'अन्येभ्योऽपि श्रोत्रियेभ्य'[1] इत्येतन्न भवति। यदि स्यात्तत्रैवायं ब्रूया 'तदभावेऽग्नौ कृत्वा भुञ्जीतेऽति। यद्यपि तत्राचार्यस्य प्रवासः प्रकृतः तथापि न्यायसाम्याच्छिष्यस्यापि विप्रवासे भविष्यति ॥ ४२ ॥

अनुवाद—यदि शिष्य अपने कार्य से या गुरु के कार्य से यात्रा पर हो तो भिक्षा में प्राप्त अन्न का अंश अग्नि हवन करके भोजन करे।

टिप्पणी—यह नियम उस समय भी लागू होता है जब श्रोत्रिय भी न मिले। अग्नि ब्राह्मण वर्ण का देवता है अतः वह गुरु का स्थान ग्रहण करता है ॥४२॥

अथ ब्रह्मचारिणो यज्ञं विधातुं हविरादीनि सम्पादयति—

भैक्षं हविषा संस्तुतं तत्राऽऽचार्यो देवतार्थे ॥ ४३ ॥

भैक्षं हविष्येन संस्तुतं कीर्तितम्। तत्र तस्मिन् हविषि आचार्यो देवतार्थे देवताकार्ये तत्प्रीत्यर्थत्वात्तस्य ॥ ४३ ॥

अनुवाद—भिक्षा को यज्ञीय अन्न कहा गया है और उसके लिए गुरु देवता है ॥४३॥

आहवनीयार्थे च ॥ ४४ ॥

तस्य जाठराग्नौ हूयमानत्वात् ॥ ४४ ॥

अनुवाद—आचार्य आहवनीय अग्नि का स्थान ग्रहण करता है। (मानो उसकी जठराग्नि में हवन ही किया जाता है) ॥४४॥

तं भोजयित्वा ॥ ४५ ॥

इति प्रथमप्रश्ने तृतीया कण्डिका।

अनुवाद—उसे भिक्षा का एक अंश खिलाकर ॥४५॥

—:o.—

यदुच्छिष्टं प्राश्नाति ॥ १ ॥

अनुवादेषु सर्वत्र विधिः कल्प्यते। तं भोजयेत्। भोजयित्वा तस्योच्छिष्टं प्राश्नीयात् प्राश्नाति। अकारोऽपाठश्छन्दसो वा, 'शादि'ति चुत्वप्रतिषेधात् ॥ ४५ ॥ १ ॥

अनुवाद—(गुरु को खिलाने के बाद) जो उच्छिष्ट बचे उसका भोजन करे ॥१॥

हविरुच्छिष्टमेव तत् ॥ २ ॥

इडाभक्षणादिस्थानीयमित्यर्थः ॥ २ ॥

१. इत्येतत्सत्र न भवति. इति ख० पु०

अनुवाद—यह उच्छिष्ट यज्ञीय हवि का उच्छिष्ट ही होता है ॥२॥

यदन्यानि द्रव्याणि यथालाभमुपहरति दक्षिणा एव ताः ॥ ३ ॥

यदन्यानि द्रव्याणि गवादीनि भिक्षाचरणे लब्धानि समिदादीनि च स्वयमाहृतानि यथालाभमुपहरति दक्षिणा एव ताः। दक्षिणासामानाधिकरण्यात्ता इत्युक्तम् ॥ ३ ॥

अनुवाद—भोजन के अतिरिक्त अन्य प्रकार की वस्तुएँ जिस रूप में उपलब्ध हुई हों वे सभी गुरु के लिए दक्षिणा होती हैं।

टिप्पणी—ये अन्य वस्तुएँ, यथा गौ, रथ, ईंधन आदि गुरु के लिए यज्ञोपरान्त दी जाने वाली दक्षिणा का स्थान ग्रहण करती हैं ॥३॥

स एष ब्रह्मचारिणो यज्ञो नित्यप्रततः ॥ ४ ॥

स एष एवंभूतो यज्ञः ब्रह्मचारिणो नित्यं प्रतायते। एवं कुर्वता ब्रह्मचारिणा यज्ञ एव नित्यं क्रियत इत्यर्थः ॥ ४ ॥

अनुवाद—यह ब्रह्मचारी द्वारा नित्य किया जाने वाला यज्ञ है ॥४॥

न चास्मै श्रुतिविप्रतिषिद्धमुच्छिष्टं दद्यात् ॥ ५ ॥

अस्मै शिष्याय आचार्यः श्रुतिविप्रतिषिद्धं शास्त्रविप्रतिषिद्धमुच्छिष्टं न दद्यात् ॥ ५ ॥

अनुवाद—आचार्य शिष्य को ऐसी कोई भी वस्तु न दे जो शास्त्र द्वारा ब्रह्मचारी के लिए निषिद्ध हो,इस प्रकार की वस्तु उच्छिष्ट हो तब उसे न देवे ॥५॥

किं पुनस्तत्—

यथा क्षारलवणमधुमांसानीति ॥ ६ ॥

यथेतिवचनाच्छ्रुतिविप्रतिप्रतिषिद्ध' मिति लक्षणतः प्रतिषेधाच्च क्षारादिग्रहणमेवं विधस्योपलक्षणम् ॥ ६ ॥

अनुवाद—जैसे चटपटे, नमकीन खाद्य पदार्थ, मधु, मांस आदि (इन्हें उच्छिष्ट) होने पर भी गुरु ब्रह्मचारी को न दे ॥६॥

एतेनान्ये नियमा व्याख्याताः ॥ ७ ॥

अभ्यङ्गशेषो गन्धशेषो माल्यशेष इत्यादयो ब्रह्मचारिणः प्रतिषिद्धा आचार्येण न देया इत्युक्तं भवति ॥ ७ ॥

अनुवाद—इससे दूसरे नियमों की (सुगन्धित लेप, माला आदि को न देने के नियमों की) भी व्याख्या हो गई ॥७॥

केचित्तु श्रुतिविप्रतिषिद्धमाचार्यशेषमुपयुञ्जाना दृश्यन्ते पूर्वः पूर्वे आचारः प्रमाणमिति वदन्तः। तान्निराकरोति—

श्रुतिर्हि बलीयस्यानुमानिकादाचारात् ॥ ८ ॥

अनुमानाय प्रभवतीत्यानुमानिकः। आचाराद्धि श्रुतिः स्मृतिर्वाऽनुमीयते। तस्मादानुमानिकादाचारात्प्रत्यक्षश्रुतिर्बलीयसी। तद्विरोधे तु नानुमातुं शक्यते,[1] 'अनुमानमबाधितम्' इति न्यायात्। एवं च ब्रुवता ब्रह्मचारिणः क्षारलवणादिप्रतिषेधः प्रत्यक्षब्राह्मणमूल इति दर्शितं भवति। यद्यपि क्षारादिप्रतिषेधश्रुतेरुच्छिष्टव्यतिरिक्तो विषयः सम्भवति तथापि सङ्कोचोऽपि तस्या अविशेषप्रवृत्ताया आनुमानिकादाचारादयुक्तः ॥ ८ ॥

अ०—श्रुति का नियम प्रचलित आचार की अपेक्षा अधिक प्रामाणिक होता है, जिस आचार से श्रुति के किसी अंश का अनुमान किया गया है।

टिप्पणी—आनुमानिक का अर्थ है, अनुमानाय प्रभवति इति आनुमानिकः। श्रुति या स्मृति के किसी अंश के अस्तित्व का अनुमान आचार से ही किया जाता है। किसी ऐसे श्रुति या स्मृति का अनुमान नहीं किया जा सकता जो आचार के विपरीत है क्योंकि उस स्थिति में अनुमान प्रत्यक्ष का ही विरोधी हो जायगा। आपस्तम्ब का प्रयोजन यही है कि क्षारलवण आदि के प्रतिषेध का नियम ब्राह्मण ग्रन्थ में है ॥८॥

ननु परस्परविरुद्धा अपि श्रुतय उपलभ्यन्ते[2] 'गृह्णाति, न गृह्णाती'ति। तत्किमाचारात् सङ्कोचिका श्रुतिर्नानुमीयते ? अत आह—

दृश्यते चापि प्रवृत्तिकारणम् ॥ ९ ॥

स्यादेव यद्ययमाचारोऽगृह्यमाणकारणः स्यात्। गृह्यते तु तत्र कारणम् ॥९॥

अनुवाद—इस नियम के विषय में, इस प्रकार की प्रवृत्ति कारण दिखाई पड़ती है।

टिप्पणी—यद्यपि जिस नियम के अन्तर्गत क्षारलवणमधुमांस का वर्जन किया गया है वह उन्हीं का निर्देश करता है जो उच्छिष्ट नहीं हैं, तथापि आचार के आधार पर यह कहना गलत होगा कि इस नियम को उच्छिष्ट के क्षारलवणादि के विषय में नहीं समझना चाहिए। इस प्रकार के श्रुति का अनुमान आचार के विपरीत होगा। उपर्युक्त कथन भी तभी ठीक होता जब निषेध करने का कोई कारण नहीं होता। किन्तु निषेध के लिए कारण है और वह है प्रवृत्ति ॥९॥

---

१. अनुमानबाधित इति न्यायात्, इति. क॰ पु॰

२ अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णति इति श्रुतिभ्यामेकस्मिन्नेवातिरात्रसंस्थाके ज्योतिष्टोमे षोडशिसंज्ञस्य ग्रहणस्य ग्रहणाग्रहणयोः परस्परविरुद्धयोर्विधानात् तयोरपि श्रुत्योः परस्परं विरोधादिति भावः। उलूखलाकार उपर्यासेचनवान् पात्रविशेषो ग्रहः। खदिरवृक्षनिर्मितो ग्रहविशेषष्षोडशी। तस्य सोमरसेन पूरणं ग्रहणम्।

किं तत् ?

प्रीतिह्युपलभ्यते ॥ १० ॥

क्षारादिभोजने भुञ्जानस्य प्रीतिर्भवति। ततश्च यत्र प्रीत्युपलब्धितः प्रवृत्तिर्न तत्र शास्त्रमस्ति। तदनुवर्तमाना नरकाय राध्यतीति न्यायान्न संकोचिका श्रुतिरनुमीयते इति ॥ १० ॥

अनुवाद—क्योंकि उपर्युक्त निषिद्ध वस्तुओं के भोजन से सुख का अनुभव होता है।

टिप्पणी—इस सूत्र में पिछले सूत्र में उल्लिखित निषेध का कारण प्रदर्शित किया गया है। और जिस आचार से सुख या प्रीति का प्रयोजन सिद्ध होता हो उसे प्रामाणिकता प्रदान करने वाली कोई श्रुति नहीं है ॥१०॥

पितुर्ज्येष्ठस्य च भ्रातुरुच्छिष्टं भोक्तव्यम् ॥ ११ ॥

[1]स्पष्टम् ॥ ११ ॥

अनुवाद—पिता और बड़े भाई द्वारा छोड़े गये उच्छिष्ट भोजन को ग्रहण किया जा सकता है ॥११॥

धर्मविप्रतिपत्तावभोज्यम् ॥ १२ ॥

यदि तयोर्धर्माद्विप्रतिपत्तिरपायो भवति ततो न भोज्यम्। यद्वा भुञ्जानस्य ब्रह्मचारिणो धर्मविप्रतिषेधो भवति मधुमांसादिमिश्रत्वेन ततो न भोज्यमिति ॥ १२ ॥

अनुवाद—यदि उनका आचरण धर्म के विपरीत हो तो उनका उच्छिष्ट भोजन अभोज्य होता है ॥१२॥

टिप्पणी—इसकी ऐसी भी व्याख्या हो सकती है कि यदि उस उच्छिष्ट भोजन से धर्म की हानि होती हो तो उसे न खाए ॥१२॥

सायं प्रातरुदकुम्भमाहरेत् ॥ १३ ॥

आचार्यस्य स्नानपानार्थम् ॥ १३ ॥

अनुवाद—सायंकाल और प्रातःकाल अपने गुरु के लिये घड़े में जल ले आवे ॥१३॥

(२) सदाऽरण्यादेधानाहृत्याऽधो निदध्यात् ॥ १४ ॥

सदा प्रत्यहमरण्यात् न पित्रादिगृहात् एधान् काष्ठानि आचार्यगृहे पाकाद्यर्थमाहरेत् आहृत्य चाऽधो निदध्यात् अधोनिधानमाचार्यपुत्रादिषु बालेषु

---

१. स्पष्टोऽर्थः इति० ग० पु०

२. "तस्मात् ब्रह्मचार्यहरहस्समिध आहृत्य सायं प्रातरग्निं परिचरेत्, नोपर्युपसादयेत् अधः प्रतिष्ठापयेत्" (गोप. १. २. ६.) इति गोपथब्राह्मणम् ॥

पतनशङ्कया। अपर आह—आत्मनस्समिदाधानार्थं[1] मेधोहरणमिति। उक्तं गृह्ये—[2]'एवमन्यस्मिन्नपि सदाऽरण्यादेधानाहृत्य। इति। तदनुवादेनाधोनिधानं विधीयते दृष्टार्थमदृष्टादृष्टार्थं वेति ॥ १४ ॥

अनुवाद—प्रतिदिन वन से ईंधन लाकर आचार्य के घर में नीचे रखे।

टिप्पणी—नीचे रखने का कारण यह हो सकता है कि कहीं आचार्य के यहाँ छोटे बच्चों के ऊपर न गिर जाय। कुछ आचार्यों का मत है कि शिष्य द्वारा लाया गया ईंधन गुरु अपने काम में न लावे, अपितु शिष्य के दैनिक अग्निकर्म के लिए ही उसका प्रयोग हो। गृह्यसूत्र में दैनिक अग्निकर्म का विधान किया गया है ॥ १४॥

नास्तमिते समिद्धारो गच्छेत् ॥ १५ ॥

अस्तमित आदित्ये समिध आहर्तुं न गच्छेत्; चोरव्याघ्रादिसम्भवात्। "समिद्धार इति[3] 'अण् कर्मणि चे' ति तुमर्थेऽण्प्रत्ययः ॥ १५ ॥

अनुवाद—सूर्य के अस्त हो जाने पर समिध् लाने के लिए न जावे ॥१५॥

अग्निमिध्वा परिसमूह्य समिध आदध्यात्सायंप्रातर्यथोपदेशम् ॥१६॥

परिसमूहनं परितो मार्जनम्। विप्रकीर्णस्याग्ने[4]रेकीकरणमित्यन्ये। यथोपदेशं यथा गृह्य उक्तं तथा समिध आदध्यात्। गृह्ये विहितमपि समिदाधानं विधीयते सर्वाचरणार्थम्। सायं प्रातरित्यादिकान् विशेषान् वक्ष्यामीति च ॥ १६ ॥

अनुवाद—अग्नि जलाकर, उसके चारो ओर की भूमि साफ करके, गृह्यसूत्र में उक्त विधि से सायं-प्रातः समिधों का आधान करे ॥ १६ ॥

सायमेवाऽग्निपूजेत्येके ॥ १७ ॥

एके आचार्यास्सायमेवाग्निपूजा कार्या, न प्रातरिति मन्यन्ते ॥ १७ ॥

अनुवाद—कुछ आचार्यों का मत है कि अग्नि की पूजा केवल सायंकाल करनी चाहिए ॥१७॥

समिद्धमग्निं पाणिना परिसमूहेन्न समूहन्या ॥ १८ ॥

सामिदाधाने समिद्धमग्निं पाणिनैव परिसमूहेत्, न समूहन्या। समूहनी सम्मार्जनी दर्भनिर्मिता वेदाकृतिः, आचारात् ॥ १८ ॥

अनुवाद—अग्नि को जलाकार, जलती अग्नि के चारों ओर भूमि हाथ से साफ करे, समूहनी (दर्भ की मार्जनी) से न साफ करे ॥ १८ ॥

प्राक्तु याथाकामी १९ ॥

---

१. इध्माहरणं इति क० ख० पु० २. आप० गृ० ११. २२.
३. पा० सू० ३. ३. १२. ४. राशीकरणमित्यन्ये इति ख० पु०

प्राक्समिदाधानात् परिसमूहने याथाकामी भवति। यथाकामस्य भावो याथाकामी। ष्यञ्, षित्वादीकारः ॥ १९ ॥

अनुवाद—किन्तु अग्नि में समिध् रखने के पहले वह इच्छानुसार समूहनी का का भी प्रयोग कर सकता है ॥ १९ ॥

नाऽग्न्युदकशेषेण वृथाकर्माणि कुर्वीताऽऽचामेद्वा ॥ २० ॥

अग्निपरिचर्यायां परिसमूहने परिषेचने च यदुपयुक्तमुदकं तच्छेषेण वृथाकर्माणि अदृष्टप्रयोजनरहितानि पादप्रक्षालनादीनि न कुर्वीत। नाऽप्याचामेत्। अवृथाकर्मत्वादस्य पुनःप्रतिषेधः ॥ २० ॥

अनुवाद—अग्निपरिचर्या में समूहन आदि से बचे हुए जल का प्रयोग वृथाकर्म (अदृष्टप्रयोजनरहित) में न करें और न ही उससे आचमन करे।

टिप्पणी—वृथाकर्म वे कर्म हैं जिनसे कोई धर्म उत्पन्न नहीं होता। समिदाहरण, कुशाहरण, यज्ञ के लिए पुष्पचयन आदि धर्मकर्म हैं। जल का वृथा प्रयोग तथा पादप्रक्षालन आदि ॥ २० ॥

पाणिसंक्षुब्धेनोदकेनैकपाण्यावर्जितेन च नाऽऽचामेत् ॥ २१ ॥

पाणिसंक्षुब्धं [1]पाणिना संक्षोभितं तेनोदकेन नाऽऽचामेत्। इदं तटाकादिषु स्वयमाचमने। यदा परं आचामयति, तदैकेन पाणिना यदावर्जितं तेन नाऽऽचामेत्। किं तु उभाभ्यां हस्ताभ्यां करकादि गृहीत्वा यदावर्जितमुदकं, तेनैवाऽऽचामेत्। एवं च स्वयं वामहस्तावर्जितेनापि नाचामेत्। (अलाबुपात्रेण नालिकेरजेन वैणवेन चर्ममयेन ताम्रमयेन वा पात्रेण स्वयमाचमनमाचरन्ति शिष्टाः) ॥ २१ ॥

अनुवाद—जिस जल में हाथ डाला गया हो अथवा जिस जल को एक हाथ से लाया गया हो उस जल से आचमन न करे।

टिप्पणी—दोनों हाथों से लाये गये जल से ही आचमन करे। स्वयं भी बाएँ हाथ से लाये गये जल से आचमन न करे ॥ २१ ॥

स्वप्नं च वर्जयेत् ॥ २२ ॥

पूर्वं 'मदिवास्वापो' (१. २. २८) त्यनेन [2]दिवास्वापः प्रतिषिद्धः। अनेन रात्रावपि यावदाचार्यो न स्वपिति, तावन्तं कालं स्वापः प्रतिषिध्यते। स्वप्नकथनं वर्जयेदित्येके ॥ २२ ॥

अनुवाद—सोने का वर्जन करे।

---

१. कुम्भादिगतमित्यधिकं घ० पु० ( ) एतच्चिह्नान्तर्गतो भागः ख० पुस्तके नास्ति

२. दिवास्वापप्रतिषेधः इति. क० पु०

टिप्पणी—यद्यपि पहले यह नियम कहा जा चुका है कि दिन में न सोवे। इस सूत्र से यह विवक्षित है कि रात्रि को भी जब तक गुरु जगे हुए हों तब तक न सोवे ॥ २२ ॥

अथाऽहरहराचार्यं गोपायेद्धर्मार्थयुक्तैः कर्मभिः ॥ २३ ॥

अथ स्वप्नस्य प्रकृतत्वात् स्वप्नान्तरं ब्राह्मे मुहूर्ते उत्थायेत्यर्थः। अहरहः नित्यमाचार्यं गोपायेत् रक्षेत्। किं दण्डादि गृहीत्वा ? नेत्याह—धर्मार्थयुक्तैः कर्मभिः। धर्मयुक्तानि कर्माणि समित्कुशपुष्पाहरणादीनि, अर्थयुक्तानि [1]युग्यघासाहरणादीनि ॥ २३ ॥

जगने के बाद प्रतिदिन धर्मार्थ कर्मों से गुरु की रक्षा करे अर्थात् सहायता करे।

टिप्पणी—धर्मार्थ कर्म से तात्पर्य है समित्कुशपुष्पहरणादि ॥ २३ ॥

(२) स गुप्त्वा संविशन् ब्रूया 'द्धर्मगोपायमाजूगुपमह, मिति ॥२४॥

स[3] ब्रह्मचारी धर्मार्थयुक्तैः कर्मभिर्यावदुत्थानात् यावदस्य संवेशनात् एवमाचार्यं गुप्त्वा संविशन् शयनं भजन् [4]"धर्मगोपायमाजूगुपमह' मितीमं मन्त्रं ब्रूयात्। धर्मं गोपायतीति धर्मगोपायः आचार्यः तमहमाजूगुपमाभिमुख्येन रक्षितवानस्मि, इदानीं तु संविशामीति मन्त्रार्थः।

अपर आह—हे धर्म मा मां गोपाय रक्ष यस्मादहं आजूगुपमहमाचार्यमेतावन्तं कालमिति ॥ २४ ॥

अनुवाद—इस प्रकार गुरु की सहायता करने के बाद शयन करने के लिए जाते समय धर्मगोपायमाजूगुपमहम्, मन्त्र कहे।

टिप्पणी—धर्मगोपाय-धर्म की रक्षा करने वाला, गुरु। इसकी दूसरी व्याख्या इस प्रकार की जाती है, हे धर्म, मेरी रक्षा करो, मैंने गुरु की रक्षा की है ॥२४॥

प्रमादादाचार्यस्य बुद्धिपूर्वं वा नियमातिक्रमं रहसि बोधयेत् ॥२५॥

प्रमादोऽनवधानम्। प्रमादात् बुद्धिपूर्वं य अचार्यस्य वा नियमातिक्रमस्तं रहसि बोधयेत्। इत्थमयं नियमः पूज्यपादैरतिक्रम्यते इति ॥ २५ ॥

अनुवाद—यदि गुरु जानबूझ कर अथवा प्रमाद से नियम का उल्लंघन करे तो उसके विषय में एकान्त में ध्यान दिलावे ॥ २५ ॥

अनिवृत्तौ स्वयं कर्माण्यारभेत ॥ २६ ॥

---

१. एधसां हरणादीनि इति घ० पु०

२. "स यदहरहराचार्यकुलेऽनुष्ठते सोऽनुष्ठाय ब्रूयात्-धर्मगुप्तो मा गोपायेति धर्मो हैनं गुप्तो गोपायेति" इति गोपथब्राह्मणम् (गो. ब्रा १. २. ४.)

३. न्याय्यादुत्थानान्न्याय्याच्च संवेशनात्. इति क० ख० पु० अन्यायात्...दन्याय्याच्च... इति. ङ० पु०

४. यावदुपात्त एवायं मन्त्रः।

यदि बोधितोऽप्याचार्यस्ततो न निवर्तते, ततः स्वयमेव तस्य कर्तव्यानि ब्रह्मयज्ञादीनि कर्माण्यारभते कुर्यात् ॥ २६ ॥

अनुवाद—यदि गुरु नियम के अतिक्रमण से ध्यान दिलाये जाने पर भी विरत नहीं होता, तो ब्रह्मचारी स्वयं ही उन कर्मों को करे जो गुरु के कर्तव्य होते हैं ॥२६॥

निवर्तयेद्वा ॥ २७

प्रसह्य वा स्वयं निवर्तयेत् । पित्रादिभिर्वा निवर्तयेत् ॥ २७ ॥

अनुवाद—अथवा निवर्तन करे।

टिप्पणी—इसका यह भी अर्थ लगाया गया है कि वह अपने गृह को चला जाय ॥ २७ ॥

अथ यः पूर्वोत्थायी जघन्यसंवेशी तमाहुर्न स्वपितीति ॥ २८ ॥

यः पूर्वमाचार्यादुत्तिष्ठति प्रतिबुध्यते। जघन्यशब्दः पश्चादर्थे। जघन्यश्च संविशति, तं ब्रह्मचारिणं न स्वपितीति धर्मज्ञा आहुः। प्रयोजनमुपनयने 'मा सुषुप्था' इति संशासनस्यायमर्थः' न स्वापस्यात्यन्ताभाव इति। अथशब्दश्च वाक्योपक्रमे ॥ २८ ॥

अनुवाद—जो आचार्य से पहले उठता है और आचार्य के सोने के बाद सोता है उस ब्रह्मचारी के विषय में धर्मज्ञ कहते हैं कि वह सोता नहीं है ॥ २८ ॥

स य एवं प्रणिहितात्मा ब्रह्मचार्यत्रैवास्य सर्वाणि कर्माणि फलवन्त्यवाप्तानि भवन्ति यान्यपि गृहमेधे ॥ २९ ॥

'आचार्याधीनः स्या' दित्यारभ्य यस्य नियमा उक्ताः, स ब्रह्मचारी, एवमुक्तेन प्रकारेण, प्रणिहितात्मा प्रकर्षेण निहित आचार्यकुले स्थापित आत्मा येन स तथोक्तः। प्रकर्षश्च[1] आत्मनस्तत्रैव शरीरन्यासः। वक्ष्यति [2]"आचार्यकुले शरीरन्यासः" इति। अस्यैवंविधस्य ब्रह्मचारिणः अत्रैव ब्रह्मचर्याश्रमे सर्वाणि फलवन्ति ज्योतिष्टोमादीनि कर्माण्यवाप्तानि भवन्ति। तत्फलावाप्तिरेव तदवाप्तिः। यान्यपि कर्माणि गृहमेधे गृह्यशास्त्रे विवाहाद्यष्टकान्तानि, तान्यवाप्तानि भवन्ति। तदेवं नैष्ठिकब्रह्मचारिविषयमिदं सूत्रम् ॥ २९ ॥

अनुवाद—जो ब्रह्मचारी इस प्रकार से अपने मन को आचार्य के कुल में ही लगाता है वह (ब्रह्मचर्याश्रम में ही) उन सभी पुण्यफलवाले कर्मों को कर लेता है जो गृहस्थ श्रम में किये जाते हैं। ॥ २९ ।

इत्यापस्तम्बीये धर्मसूत्रे चतुर्थी कण्डिका ॥ ४ ॥

इत्यापस्तम्बधर्मसूत्रवृत्तौ[3] हरदत्तविरचितायामुज्ज्वलायां
प्रथमप्रश्न प्रथमः पटलः ॥ १ ॥

---

१. आन्तात्तत्रैव शरीरन्यासः इति ख० पु० अन्ततस्तत्रैव, इति, घ० पु०
२. आप० ध० २. २१. ६. ३. हरदत्तमिश्रविरचितायां इति क० पु०

अथ द्वितीयः पटलः ।

—:०:—

नियमेषु तपश्शब्दः ॥ १ ॥

'आचार्याधीनः स्या' दित्यादयो ये नियमाः अस्मिन्ब्रह्मचारिप्रकरणे निर्दिष्टाः' तपश्शब्दस्तेषु द्रष्टव्यः, न कृच्छ्रादिषु ॥ १ ॥

अनुवाद—इस प्रकरण में 'तप' शब्द का प्रयोग ब्रह्मचारी के नियमों के लिए किया गया है ॥ १ ॥

तदतिक्रमे विद्याकर्म निःस्रवति ब्रह्म सहापत्यादेतस्मात् ॥ २ ॥

तेषां नियमानामतिक्रमे विद्याकर्म विद्याग्रहणं ब्रह्म निःस्रवति गृहीतं वेदं निस्सारयति । कुतः, ? एतस्मात् नियमातिक्रमेणाध्येतुः पुरुषात् । न केवलमेतस्मात् । किं तर्हि ? सहापत्यात् । अपत्येन सह वर्तत इति सहापत्यः [1]"वोपसर्जनस्ये' ति सभावाभावे रूपम् । अपत्यादपि ब्रह्म निःसारयति । यद्यप्यपत्यं नियमातिक्रमकारि न भवति, तथापि पितृदोषादेव ततो ऽपि ब्रह्म निस्सारयति । नियमातिक्रमेण विद्याग्रहणं कुर्वतः पुरुषात् सहापत्यात् गृहीतं ब्रह्म निस्सरति, ब्रह्मयज्ञादिषूपयुज्यमानमप्यकिञ्चित्करं भवतीत्यर्थो विवक्षितः । स्रवतेश्च सकर्मकस्य प्रयोगो भाष्ये दृष्टः 'स्रवत्युदकं कुण्डकेति ।

अपर आह—[2] तदतिक्रमे नियमातिक्रमे विद्याग्रहणं न कर्तव्यम् । कुतः ? यतो निस्स्रवति ब्रह्म निस्सरतीत्यर्थः' शेषं समानमिति । विद्याकर्म निस्स्रवति ब्रह्म च निस्स्रवतीत्यन्ये । अन्ये च—कुर्वत इत्यध्याहार्यम् । तदतिक्रमेण विद्याकर्म कुर्वतो ब्रह्म निस्स्रवतीति ॥ २ ॥

अनुवाद—इन नियमों का उल्लंघन करने पर विद्याध्ययन उससे और उसके पुत्रों से भी पूर्वप्राप्त वेद का ज्ञान दूर कर देता है ।

टिप्पणी—तात्पर्य यह है कि जो ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्य के नियमों का उल्लंघन करके वेद का अध्ययन करता है उसके द्वारा ब्रह्मयज्ञ में तथा अन्य धर्मकृत्यों में उच्चारित वेदमन्त्रों का कोई पुण्यफल नहीं होता । नियम का उल्लंघन होने पर विद्याध्ययन करना चाहिए या नहीं, इस विषय में भिन्न मत हैं ॥ २ ॥

न केवलमकिञ्चित्करं नियमातिक्रमेण विद्याग्रहणम् , प्रत्युताऽनर्थकारीत्याह—

---

१. पा.सू. ६.३.८२ बहुव्रीह्यवयवस्य सहशब्दस्य सभावस्स्याद्विकल्पेन इति सूत्रार्थः ।

२. तदतिक्रमे विद्याकर्म निस्स्रवतीति नियमातिक्रमेण विद्याग्रहणं न कर्तव्यम्, कुतः ? यतो निस्स्रवति ब्रह्म निस्सारयतीत्यर्थः, इति क० पु०

कर्तपत्यमनायुष्यं च ॥ ३ ॥

कर्तशब्देन श्वभ्राभिधायिना नरको लक्ष्यते। पतत्यनेनेति पत्यम्। एवंभूतं विद्याग्रहणं नरकपातहेतुर्भवति। अनायुष्यं च अनायुष्करं च ॥ ३ ॥

अनुवाद—इसके अतिरिक्त वह नरक प्राप्त करता है और उसकी आयु कम होती है ॥ ३ ॥

तस्मादृषयोऽवरेषु न जायन्ते नियमातिक्रमात् ॥ ४ ॥

अत एवावरेषु अर्वाचीनेषु कलियुगवर्तिषु ऋषयो न जायन्ते मन्त्रदृशो न भवन्ति। नियमातिक्रमस्येदानीमवर्जनीयत्वात् ॥ ४ ॥

अनुवाद—ब्रह्मचर्य के नियमों का उल्लंघन करने के कारण आजकल कलियुग में ऋषि उत्पन्न नहीं होते।

टि०—'अवरषु' का अर्थ है 'आजकल के लोगों में' कलियुग के लोगों में ॥ ४ ॥

कथं तर्ह्यद्यतना अतिक्रामन्तोऽपि नियमानल्पेनैव यत्नेन चतुरो वेदान् गृह्णन्ति ? युगान्तरे सम्यगनुष्ठितस्य नियमकर्मणः फलशेषेणेत्याह—

श्रुतर्षयस्तु भवन्ति केचित्कर्मफलशेषेण पुनस्सम्भवे ॥ ५ ॥

पुनस्सम्भवः पुनर्जन्म ॥ ५ ॥

अनु०—किन्तु पूर्वजन्म के पुण्यफल के शेष होने से कुछ लोग पुनर्जन्म लेने पर अपने वेद के ज्ञान द्वारा ऋषियों के समान होते हैं।

टि०—यह इस प्रश्न का उत्तर है कि इस जन्म में भी कुछ लोग बड़ी सरलता से वेदों का अध्ययन कैसे कर लेते हैं ? उन लोगों के वेदाध्ययन की क्षमता का कारण पूर्वजन्म के ब्रह्मचर्यावस्था के नियमों के पालन से उत्पन्न पुण्यफल ही है। पुनस्सम्भव का अर्थ है नये जन्म में ॥ ५ ॥

अत्रोदाहरणम्—

यथा श्वेतकेतुः ॥ ६ ॥

श्वेतकेतुर्ह्यल्पेनैव कालेन चतुरो वेदाञ्जग्राह। तथा च छान्दोग्यम्—"[1]"श्वेतकेतुर्हारुणेय आस। तं ह पितोवाच श्वेतकेतो वस ब्रह्मचर्यं, न वै सोम्यास्मत्कुलीनोऽननूच्य ब्रह्मबन्धुरिव भवतीति। स ह द्वादशवर्ष उपेत्य चतुर्विंशतिवर्षस्सर्वान् वेदानधीत्य महामना अनूचानमानी स्तब्ध एयाय" ति ॥ ६ ॥

अनु०—उदाहरण के लिए श्वेतकेतु।

---

१. छान्दो ६. १. १.

टि०—श्वेतकेतु ने बहुत अल्प अवस्था में चारों वेदों का ज्ञान प्राप्त कर लिया। छान्दोग्योपनिषद् में उनका उल्लेख है। ६. १. १ ॥ ६ ॥

एवं नियमातिक्रमे दोषमुक्त्वा तदनुष्ठाने सिद्धिमाह—

यत्किंच समाहितोऽब्रह्म प्याचार्यादुपयुङ्क्ते ब्रह्मवदेव तस्मिन् फलं भवति ॥ ७ ॥

अब्रह्मपि अब्रह्मापि। पररूपम्, [1]कतन्तवत्। अपेर्वाऽकारलोपः, पिहितपिनद्धादिवत्। वेदव्यतिरिक्तमपि यत्किञ्चित् विषमन्त्रादि समाहितो नियमवान् भूत्वा आचार्यादुपयुङ्क्ते गृह्णाति तस्मिन् वेदव्यतिरिक्ते ब्रह्मवदेव फलं भवति ॥ ७ ॥

अनु०—नियमों का पालन करते हुए ब्रह्मचारी वेद के अतिरिक्त जो कुछ भी गुरु शिक्षा ग्रहण करता है उसका फल उसी प्रकार होता है जिस प्रकार वेद के अध्ययन का फल होता है ॥ ७ ॥

निग्रहानुग्रहशक्तिरप्यस्य भवतीत्याह—

अथो यत्किञ्च मनसा वाचा चक्षुषा वा सङ्कल्पयन् ध्यायत्याहाऽभिविपश्यति वा तथैव तद्भवतीत्युपदिशन्ति ॥ ८ ॥

अथो अपि च यत्किञ्च निग्रहात्मकं अनुग्रहात्कम् वा सङ्कल्पयन् चिकीर्षन्मनसा निर्दयेन शिवेन वा ध्यायति—इत्थमिदमस्याऽस्त्विति, तथैव तद्भवति। तथा यत्किञ्च सङ्कल्पयन्वाचा [2]क्रूरया मधुरया वा आह—इत्थमिदमस्यास्त्विति' तथैव तद्भवति। एवं यत्किञ्च सङ्कल्पयन् चक्षुषा घोरेण वा मैत्रेण वा अभिविपश्यति तथैव तद्भवतीत्युपदिशन्ति धर्मज्ञाः ॥ ८ ॥

अनु०—'संकल्प करके जो कुछ भी वह मन से सोचता है, शब्दों में अभिव्यक्त करता है, चक्षु से देखता है वह भी वैसा ही हो जाता है, ऐसा धर्मज्ञ लोग कहते हैं।

टि०—हरदत्त की व्याख्या में संकेत किया गया है कि चाहे शान्त मन से अथवा क्रूर मन से चिन्तन किया जाय, क्रूर वाणी से अथवा मधुर वाणी से कहा जाय, घोर नेत्रों से देखा जाय अथवा मित्रतापूर्ण नेत्रों से देखा जाय, सभी समान होता ही है ॥ ८ ॥

अवश्यं धर्मयुक्तेनाध्येतव्यमित्युक्तम्। इदानीं ते धर्मा लक्षणतस्त्रिविधा इत्याह—

गुरुप्रसादनीयानि कर्माणि स्वस्त्ययनमध्ययनसंवृत्ति[3]रिति ॥ ९ ॥

---

१. ककन्धुवत्, इति. घ० पु०   २. घोरया इति. क० पु०

३. अयं 'इति' शब्द उत्तरसूत्रस्यादौ पठितः क० पुस्तके

यैरनुष्ठितैः गुरुः प्रसीदति तानि गुरुप्रसादनीयानि पादप्रक्षालनादीनि कर्माणि। स्वस्तीत्यविनाशि नाम। तत्प्राप्तिसाधनं स्वस्त्ययनम्। तच्च त्रिविधं दृष्टार्थमदृष्टार्थमुभयार्थं चेति। दृष्टार्थं बाहुनदीतरणादिनिषेधः। अदृष्टार्थं क्षारादिनिषेधः। उभयार्थं भिक्षाचरणादि। अध्ययनसम्वृत्तिरधीतस्य वेदस्याऽभ्यासः ॥ ९ ॥

अनु०—(ब्रह्मचारी विद्यार्थी के कर्तव्य धर्म हैं) गुरु को प्रसन्न करने वाले कर्म, कल्याण की प्राप्ति के कर्म तथा वेद का परिश्रमपूर्वक अभ्यास।

टि०—स्वस्ति का अर्थ है कल्याण करने वाले नियम का पालन यथा नदी आदि को तैरकर पार करने का वर्जन। स्वस्ति तीन प्रकार का कहा गया है: दृष्टार्थ, अदृष्टार्थ, उभयार्थ। नदीसंतरण का निषेध दृष्टार्थ का उदाहरण है। क्षारलवणादि भक्षण का वर्जन अदृष्टार्थ का तथा भिक्षाचरण उभयार्थ स्वस्ति का उदाहरण है। इस सूत्र में विद्यार्थी के धर्मों को तीन वर्गों में बाँटा गया है ॥ ९ ॥

अतोऽन्यानि निवर्तन्ते ब्रह्मचारिणः कर्माणि ॥ १० ॥

एतेभ्यः अन्यानि कर्माणि निवर्तन्ते ब्रह्मचारिणो, न कर्तव्यानीत्यर्थः ॥१०॥

अनु०—इसके अतिरिक्त दूसरे कार्य ब्रह्मचारी को नहीं करने चाहिए ॥ १० ॥

स्वाध्यायधृग्धर्मरुचिस्तपस्व्यृजुर्मृदुस्सिद्ध्यति ब्रह्मचारी ॥ ११ ॥

स्वाध्यायधृक् अधीतस्य[1] वेदस्य धारयिता अविस्मर्ता। धर्मे रुचिर्यस्य स धर्मरुचिः। तपस्वी नियमेषु तपश्शब्दः तद्वान्। ऋजुः अमायावी। मृदुः। क्षमावान्। एवंभूतो ब्रह्मचारी सिद्ध्यति सिद्धिं प्राप्नोति। उक्ता सिद्धिः[2] 'अथो यत्किञ्च मनसे' ति। तत्रोक्तानां पुनर्वचनमादरार्थम्। तदनुष्ठाने फलभूमा, अतिक्रमे च दोषभूमेति तात्पर्यम् ॥ ११ ॥

अनु०—स्वाध्याय को धारण करने वाला, धम अर्थात् नियम के पालन में रुचि रखने वाला, तपस्वी (अर्थात् ब्रह्मचारी के नियमों का पालन करने वाला), सरल तथा क्षमावान् ब्रह्मचारी सिद्धि प्राप्त करता है ॥ ११ ॥

सदा महान्तमपररात्रमुत्थाय गुरोस्तिष्ठन्प्रातरभिवादनमभिवादयीताऽसावहं भो, इति ॥ १२ ॥

सदा प्रतिदिनं महान्तमपररात्रं रात्रेः पश्चिमे याम उत्तिष्ठेत्। उत्थाय च समीपे तिष्ठन् गुरोः प्रातरभिवादनमभिवादयीत—'असावहं भो' इति ब्रुवन्। असावित्यत्राऽऽत्मनो नामनिर्देशः, यथा—'अभिवादये यज्ञशर्माहं भो' इति ॥१२॥

अनु०—प्रतिदिन रात्रि के अन्तिम याम में उठे और गुरु के निकट जाकर अपना नाम लेते हुए अभिवादन करे ॥ १२ ॥

---

१. 'स्वाध्यायस्य' इति क० ख० पु०   २. आप० ध० १. ५. ८.

समानग्रामे च वसतामन्येषामपि वृद्धतराणां प्राक्प्रातराशात् ॥१३॥

अन्येषामप्याचार्यव्यतिरिक्तानाम् प्राक्प्रातराशात् प्रातर्भोजनात्प्राक प्रातरभिवादनमभिवादयीत, ते चेत् समानग्रामे वसन्ति ॥ १३ ॥

अनु०—और उसी ग्राम में रहने वाले दूसरे वृद्ध विद्वान ब्राह्मणों को भी प्रातराश के पूर्व प्रणाम करे ॥ १३ ॥

प्रोष्य च समागमे ॥ १४ ॥

यदा स्वयं प्रोष्य समागतो भवति, आचार्यादयो वा तदाऽप्यभिवादयीत । इदं नैमित्तिकम् । पूर्वं नित्यम् ॥ १४ ॥

अनु०—यात्रा पर गया हो तो लौटने पर इन व्यक्तियों से मिलने पर प्रणाम करे ।

टिप्पणी—यह अभिवादन केवल अवसर के अनुसार किया जाता है किन्तु इसके पूर्व सूत्र १२, १३ की अभिवादनविधि नित्य करनी होती है ॥ १४ ॥

अथ काम्यम्—

स्वर्गमायुश्चेप्सन् ॥ १५ ॥

अभिवादयीतेत्येव ॥ १५ ॥

अनु—स्वर्ग तथा दीर्घजीवन की अभिलाषा से इन व्यक्तियों का अन्य समयों पर भी अभिवादन करे ॥१५॥

अभिवादनप्रकारं वर्णानुपूर्व्येणाऽऽह—

दक्षिणं बाहुं श्रोत्रसमं प्रसार्य ब्राह्मणोऽभिवादयीतोरस्समं राजन्यो मध्यसमं वैश्यो[1] नीचैश्शूद्रः प्राञ्जलि ॥ १६ ॥

ब्राह्मणोऽभिवादयमानः आत्मनो दक्षिणं बाहुं श्रोत्रसमं प्रसार्याभिवादयीत । उरस्समं राजन्यः । दक्षिणं प्रसार्याभिवादयीतेत्यत्रानुवर्तते । एवमुत्तरयोरपि । मध्यसममुदरसमम् । ऊरुसममित्यन्ये । नीचैः पादसमं शूद्रोऽभिवादयीत । प्राञ्जलि यथा भवति तथा अभिवादयति । अञ्जलिं कृत्वेत्यर्थः । प्राञ्जलिरिति युक्तः पाठः ॥ १६ ॥

अनु०—ब्राह्मण दाहिनी बाहु को कान के बराबर फैलाकर अभिवादन करे । क्षत्रिय वक्ष के समानान्तर फैलाकर अभिवादन करे । वैश्य उदर या ऊरु के समानान्तर बाहु फैलाकर अभिवादन करे । शूद्र नीचे (पैरों के समानान्तर) हाथ करके अञ्जलि बाँधकर अभिवादन करे ॥ १६ ॥

---

१. नीचैश्शूद्रः ''' ॥ १६ ॥ प्राञ्जलि ॥ १७ ॥ इति पाठः क० घ० पु०

प्लावनं च नाम्नोऽभिवादनप्रत्यभिवादने च पूर्वेषां वर्णानाम् ॥१७॥

अभिवादनस्य यत्प्रत्यभिवादनं तत्राभिवादयितुर्नाम्नः प्लावनं कर्तव्यम् प्लुतः कर्तव्य इत्यर्थः। पूर्वेषां वर्णानां शूद्रवर्जितानामभिवादयमानानाम्। [1]'प्रत्यभिवादेऽशूद्रे' इति पाणिनीयस्मृतिः। तत्र [2]"वाक्यस्य टे' रित्यनुवृत्तेः प्रत्यभिवादवाक्यस्यान्ते नामप्रयोगः तस्य टेः प्लुतः। 'आयुष्मान् भव सौम्या३ इति प्रयोक्तव्यः। स्मृत्यन्तरवशान्नाम्नश्च पश्चादकारः। तथा च मनुः—

[3]आयुष्मान् भव सौम्येति वाच्यो विप्रोऽभिवादने।
अकारश्चास्य नाम्नोऽन्ते वाच्यःपूर्वाक्षरः प्लुतः॥" इति।

'आयुष्मान् भव सौम्य देवदत्त ३ अ' इति प्रयोगः। शम्भुर्विष्णुः पिनाकपाणिश्चक्रपाणिरित्यादीनां नाम्नां सम्बुद्धौ गुणे कृते 'एचोऽप्रगृह्यस्यादूराद्धूते पूर्वस्यार्धस्यादुत्तरस्येदुतौ' इत्ययं विधिर्भवति। अन्ते अकारः। [4]'तयोर्य्वावचि संहितायाम्' इति यकारवकारौ च भवतः—शम्भा ३ व, विष्णा३ व, पिनाकपाणा ३ य, चक्रपाणा ३ य इति। अत्र सूत्रे'प्रत्यभिवादने चे'ति चकारस्यार्थं न पश्यामः।

अपर आह—'अभिवादने प्रत्यभिवादने च प्लावन'मिति। अस्मिन्नपि पक्षे द्वन्द्वेनाभिहितत्वाच्चशब्दोऽनर्थक एव। अभिवादने च शास्त्रान्तरे न क्वापि प्लुतो विहितः। तस्मादनर्थक एव चकारः। अनर्थकाश्च निपाता बहुलं प्रयुज्यन्ते ॥ १७ ॥

अनु०—शूद्र को छोड़कर पूर्ववर्ती वर्णों के अभिवादन, प्रत्यभिवादन में नाम के अन्तिम स्वर को प्लुत करके उच्चारण करना चाहिए।

टि०—प्रत्यभिवादन के वाक्य के अन्त के स्वर को प्लुत हो। 'आयुष्मान् भव सौम्या ३'। मनुस्मृति में भी इसका निर्देश किया गया है। उकारान्त, इकारान्त नामों के सम्बोधन में गुण किया जाता है 'तयोर्य्वावचि संहितायाम्' से यकार, वकार होता है। शम्भा ३ व, विष्णा ३ व, पिनाकपाणा ३ य, जैसा रूप बनता है।

इस सूत्र में 'च' के प्रयोग को हरदत्त ने निरर्थक बताया है। दूसरे सूत्रों में अभिवादन के वाक्य में प्लुत का विधान नहीं किया गया है॥ १७ ॥

उदिते त्वादित्य आचार्येण समेत्योपसंग्रहणम् ॥ १८ ॥

उदिते त्वादित्ये आचार्येण अध्ययनार्थं समेत्य वक्ष्यमाणेन विधिनोपसंग्रहणं कुर्यात् ॥ १८ ॥

---

१. पा. सू. ८. २. ८३. शूद्रभिन्नविषये प्रत्यभिवादेयद्वाक्यं "आयुष्मान् भव सौम्य" इत्यादिरूपं तस्य टेः प्लुतस्स्यात्, स चोदात्तः इति सूत्रार्थः।

२. पा० सू० ८. २. ८२.   ३. मनु० स्मृ० २. १२५.

४. पा० सू० ८. ३. १०८. इदुतोर्यकारवकारौ स्तोऽचि संहितायाम् इति सूत्रार्थः।

अनु०—सूर्य उगने पर गुरु के निकट अध्ययनार्थ आकर पादोपसंग्रहण करे ॥१८॥

सदैवाऽभिवादनम् ॥ १९ ॥

अन्यदा सर्वदा पूर्वोक्तप्रकारेणाभिवादनमेव । अयमनुवाद उत्तरविवक्षया ॥ १९ ॥

अनु०—इसके अतिरिक्त अन्य सभी अवसरों पर पूर्वोक्त विधि से ही अभिवादन करे ॥ १९ ॥

उपसंग्राह्य आचार्य इत्येके ॥ २० ॥

अभिवादनप्रसङ्गे सदैव उपसंग्राह्य आचार्य इत्येके मन्यन्ते ॥ २० ॥

अनु०—धर्मज्ञों का मत है कि सभी अवसरों पर गुरु का पादोपसंग्रहण करे, अभिवादनमात्र नहीं ॥ २० ॥

ननु किमिदमुपसंग्रहणम् ? तदाह—

दक्षिणेन पाणिना दक्षिणं पादमधस्तादभ्यधिमृश्य सकुष्ठिकमुपसंगृह्णीयात् ॥ २१ ॥

आत्मनो दक्षिणेन पाणिना आचार्यस्य दक्षिणं पादं अधस्तादभ्यधिमृश्य, अधिशब्द उपरिभावे, अधस्ताच्चोपरिष्टाच्चाभिमृश्य । सकुष्ठिकं सगुल्फम् । साङ्गुष्ठमित्यन्ये । उपसंगृह्णीयात् । इदमुपसंग्रहणम् । एतत्कुर्यात् ॥ २१ ॥

अनु०—गुरु के दाहिने पैर को दाहिने हाथ से नीचे और ऊपर की ओर दबाकर उसे एडी के साथ पकड़े ।

टि०—सकुष्ठिकम् का अर्थ कुछ लोग अँगूठे सहित भी करते हैं । इसे ही उपसंग्रहण कहते हैं ॥ २१ ॥

उभाभ्यामेवोभावभिपीडयत उपसंग्राह्यावित्येके ॥ २२ ॥

उभाभ्यां पाणिभ्यां उभावेवाऽऽचार्यस्य पादौ अभिपीडयतो माणवकस्य उपसंग्राह्यावित्येके मन्यन्ते । अभिपीडयत इति "[1]कृत्यानां कर्तरि" इति कर्तरि षष्ठी । अत्र मनुः—

[2]'व्यत्यस्तपाणिना कार्यमुपसंग्रहणं गुरोः ।
सव्येन सव्यः स्प्रष्टव्यो दक्षिणेन च दक्षिणः ॥ इति ॥ २२ ॥

अनु०—कुछ धर्मज्ञों का मत है कि दोनों हाथों से गुरु के दोनों चरणों को (दाहिने हाथ से दाहिने पैर को, बाएँ हाथ से बाएँ पैर को) दबावे ॥ २२ ॥

सर्वाह्णं सुयुक्तोऽध्ययनादनन्तरोऽध्याये ॥ २३ ॥

---

१. पा० सू० २. ३. ७१ २. म० स्मृ० २. ७२.

'सर्वं च तदहश्च सर्वाह्णम्। [1]"राजाहस्सखिभ्यष्टच्।' [2]'अह्नोऽह्न एतेभ्य' इत्यह्नादेशः। [3]' अह्नोदन्ता'दिति णत्वम्। अत्यन्तसंयोगे द्वितीया।' सर्वाह्णं सदा सुयुक्तः सुसमाहितः अनन्यचित्तः। अध्ययनादनन्तरः नान्तरयतीत्यनन्तरः। अध्ययनाद्यथा आत्मानं नान्तरयति यथा अध्ययनान्न विच्छिद्येत तथा स्यात्। अध्याये स्वाध्यायकाले। अध्याय इत्यनुवादः। [4]"मनसा चानध्याय' इति विशेषविधानात्। 'अध्याये' दिति प्रायेण पठन्ति। तत्र तकारोऽपपाठश्छान्दसो वा॥ २३॥

अनु०—पूरे दिन मन को समाहित रखे (अन्यत्र ध्यान न रखे) अध्याय के समय ध्यान कहीं अन्यत्र न रखे, अध्ययन पर ही पूर्ण ध्यान रखे॥२३॥

तथा गुरुकर्मसु॥ २४॥

गुरुकर्मसु च तथा स्यात् सुयुक्तोऽनन्तरश्च स्यात्॥ २४॥

अनु०—इसी प्रकार गुरु के कार्यों को करते समय भी अन्यत्र ध्यान न रखे॥२४।

मनसा चाऽनध्याये॥ २५॥

अनध्यायकाले मनसा च अध्यायादनन्तरः स्यात्। सन्देहस्थानानि मनस निरूपयेत्। अध्ययनविषयामेव चिन्तां कुर्यात्॥ २५॥

अनु०—अनध्याय के समय अध्ययन विषयों की ही मन से चिन्ता करे। (स्पष्ट न हुए स्थलों को समझने का प्रयत्न करे।)॥ २५॥

आहूताध्यायी च स्यात्॥ २६॥

आचार्येणाहूतस्सन्नधीयीत' नाध्यापने स्वयं प्रवर्तयेत्॥ २६॥

॥ इत्यापस्तम्बीये धर्मसूत्रे पञ्चमी काण्डिका॥

अनु०—गुरु के बुलाने पर ही अध्ययन के लिए जावे, स्वयं अध्यापन के लिए गुरु से न कहे॥ २६॥

—:०:—

सदा निशायां गुरुं संवेशयेत्तस्य पादौ प्रक्षाल्य संवाह्य॥ १॥

सदा प्रत्यहं निशायां अतिक्रान्ते प्रदोषे गुरुं संवेशयेत्। कथम्? तस्य गुरोः पादौ प्रक्षाल्य संवाह्य च। संवाहनं मर्दनम्॥ १॥

---

१. पा० सू० ५. ४. ९१. राजन्शब्दान्तादहन्शब्दान्तात् सखिशब्दान्ताच्च तत्पुरुषात् टच् स्यात् इति सूत्रार्थः॥

२. सर्वैकदेश-संख्यात, पुण्यशब्देभ्यः परस्याहन्शब्दस्याह्न इत्यादेशस्स्यात्-समासान्ते परे इति सूत्रार्थः।

३. ८. ४. ७. अदन्तपूर्वपदस्थाद्रेफात् परस्याह्नादेशस्य नस्य णस्स्यात् इति सूत्रार्थः।

४. आप० ध० १. ५. २६.

अनु०—प्रतिदिन रात्रि को गुरु के चरणों को धोकर तथा उनके शरीर का मर्दन करके उन्हें सुलावे ॥ १ ॥

अनुज्ञातः संविशेत् ॥ २ ॥

[1]गुरुणाऽनुज्ञातस्तु स्वयं संविशेत् शयीत ॥ २ ॥

अनु०—उनकी आज्ञा प्राप्त करके स्वयं सोवे ॥ २ ॥

न चैनमभिप्रसारयीत ॥ ३ ॥

एनमाचार्यं प्रति पादौ न प्रसारयेत् ॥ ३ ॥

अनु०—अपने पैर गुरु की ओर न पसारे ॥ ३३ ॥

न खट्वायां सतोऽभिप्रसारणमस्तीत्येके ॥ ४ ॥

यदा तु गुरुः खट्वायां शेते तदा तं प्रति पादयोः प्रसारणं न दोषायेत्येके मन्यन्ते' स्वपक्षस्तु तत्रापि दोष इति ॥ ४ ॥

अनु०—कुछ धर्मज्ञों का मत है कि यदि गुरु खाट पर सोये हों तो उनकी ओर पैर पसारने में दोष नहीं है ॥ ४ ॥

न चाऽस्य सकाशे संविष्टो भाषेत ॥ ५ ॥

अस्याऽऽचार्यस्य सकाशे स्वयं संविष्टः शयानो न भाषेत। कार्यावेदनादावुत्थायैव भाषेत ॥ ५ ॥

अनु०—आचार्य के समीप स्वयं सुखपूर्वक बैठकर (या लेटकर) उनसे बात न करे ॥ ५ ॥

अभिभाषितस्त्वासीनः प्रतिब्रूयात् ॥ ६ ॥

आचार्येणा[2]भिभाषितस्त्वासीनः प्रतिब्रूयात्। एतदाचार्ये आसीने शयाने वा ॥ ६ ॥

अनु०— यदि गुरु स्वयं लेटे हों तो) गुरु के कुछ कहने पर बैठा हुआ ही उत्तर दे ॥ ६ ॥

अनूत्थाय तिष्ठन्तम् ॥ ७ ॥

यदा त्वाचार्यस्तिष्ठन् प्रतिब्रूयात्। उत्तरे द्वे सूत्रेस्पष्टार्थे ॥ ७ ॥

अनु०—यदि गुरु खड़े होकर कुछ कह रहे हों तो ब्रह्मचारी भी खड़ा होकर उत्तर दे ॥ ७ ॥

गच्छन्तमनुगच्छेत् ॥ ८ ॥ धावन्तमनुधावेत् ॥ ९ ॥

न सोपानद्वेष्टितशिरा अवहितपाणिर्वासीदेत् ॥ १० ॥

---

१. पश्चाद्गुरुणा इति ख० पु०   १. अभिभाषितस्सन् इति ख० पु०

उत्तरत्रोपानत्प्रतिषेधा 'न सोपान' दित्यनुवादः 'अध्वापन्नस्त्वि' ति प्रतिप्रसोतुम्। आचार्यं न सोपानत्क आसीदेत्। नापि वेष्टितशिराः। अवहितपाणिः दात्रादिहस्तः एवंभूतोऽपि नासीदेत् ॥ ८–१० ॥

अनु०—यदि गुरु चल रहे हों तो उनके पीछे चले; दौड़ रहे हों तो उनके पीछे दौड़े। गुरु के समीप जूते पहने हुए, सिर को वेष्टित करके अथवा हाथ में कोई औजार (दात्र) लेकर न जावे ॥ ८-१० ॥

अध्वापन्नस्तु कर्मयुक्तो वाऽऽसीदेत् ॥ ११ ॥

अध्वानं प्राप्तोऽध्वापन्नः कर्मणि दात्रादिसाध्ये प्रवृत्तः कर्मयुक्तः एवंभूतस्तु सोपानत्कोऽप्यासीदेत् ॥ ११ ॥

अनु०—किन्तु यात्रा के समय अथवा (दात्रादि द्वारा साध्य) कार्य में लगे होने पर (जूते पहनकर, सिर वेष्टित करके, हाथ में कोई उपकरण लेकर गुरु के समीप) जा सकता है ॥ ११ ॥

न चेदुपसीदेत् ॥ १२ ॥

[1]न चेदाचार्यस्समीपे, उपसीदेत् उपविशेत्। यदि तूपविशेदध्वापन्नः कर्मयुक्तो वा तदोपानत्प्रभृतीनि विहायोपविशेत् ॥ १२ ॥

अनु०—किन्तु गुरु के अत्यन्त निकट न बैठे ॥ १२ ॥

देवमिवाचार्यमुपासीताविकथयन्नविमना वाचं शुश्रूषमाणोऽस्य ॥ १३ ॥

यो यं देवं भजते स तद्भावनया तमिवाऽऽचार्यमुपासीत। अविकथयन् [2]व्यर्थां कथामकुर्वन्। अविमनाः अविक्षिप्तमनाः। अस्याऽऽचार्यस्य वाचं शुश्रूषमाणः ॥ १३ ॥

अनु०—गुरु के समीप अपने आराध्य देव के प्रति भावना जैसी श्रद्धा के साथ जावे, उनके समक्ष व्यर्थ बात न करे और ध्यान से तत्पर होकर उनके वचन सुने ॥ १३ ॥

अनुपस्थकृतः ॥ १४ ॥

[3]उपस्थकरणं प्रसिद्धम्। तत्कृत्वा नोपासीत ॥ १४ ॥

अनु०—गुरु के समीप एक टाँग के ऊपर दूसरी टाँग चढ़ाकर न बैठे ॥ १४ ॥

अनुवाति [4]वाते वीतः ॥ १५ ॥

---

१. न चेदाचार्यसमीपे उपसीदेत् उपविशेत् इति ख० पु०

२. व्यर्था कथा विकथा तामकुर्वन् इति० पु०

३. आकुञ्चितस्य सव्यजानुन उपरि दक्षिणं पादं प्रक्षिप्योपवेशनमुपस्थकरणम्।

४. 'वाते' इति नास्ति ख० पु०

वाते अनुवाति सति वीतः विपर्ययेणेतः उपासीत । प्रतिवातं तु वक्ष्यमाणेन प्रतिषिध्यते । मनुरप्याह—

"प्रतिवातेऽनुवाते च नासीत गुरुणा सहे' ति ॥ १५ ॥

अनु०—यदि वायु शिष्य की ओर से गुरु की ओर बह रही हो तो दिशा बदल दे ॥ १५ ॥

अप्रतिष्टब्धः पाणिना ॥ १६ ॥

पाणिना प्रतिष्टब्धो न स्यात् पाणितलं भूमौ कृत्वा पाण्यवलम्बनो नाऽऽसीत ॥ १६ ॥

अनु०—हाथ को पृथिवी पर टिकाये बिना बैठे ॥ १६ ॥

अनपाश्रितोऽन्यत्र ॥ १७ ॥

अन्यत्र कुड्याद्यपाश्रितो न स्यात् । कुड्याद्यपाश्रितो नासीत ॥ १७ ॥

अनु०—बैठते समय किसी वस्तु का (दीवाल आदि का) सहारा न लेवे ॥ १७ ॥

यज्ञोपवीती द्विवस्त्रः ॥ १८ ॥

यदा द्विवस्त्रस्तदा वाससाऽन्यतरेण यज्ञोपवीती स्यात् ।[२]"अपि वा सूत्रमेवोपवीतार्थे" इत्येष कल्पस्तदा न भवति ॥ १८ ॥

अनु०—यदि ब्रह्मचारी विद्यार्थी दो वस्त्र धारण करता हो तो उत्तरीय को यज्ञोपवीत की तरह लपेटकर बैठे ॥ १८ ॥

अधोनिवीतस्त्वेकवस्त्रः ॥ १९ ॥

यदा त्वेकवस्त्रो भवति तदा अधोनिवीतः स्यात् । न तस्य दीर्घस्याप्येकदेशेनोत्तरीयं कुर्यात् ॥ १९ ॥

अनु०—किन्तु यदि एक ही वस्त्र धारण करता हो तो उसको अधोवस्त्र के रूप में (बिना ओढ़े हुए, केवल शरीर के नीचे के भागों में लपेट कर) धारण करे ॥ १९ ॥

अभिमुखोऽनभिमुखम् ॥ २० ॥

स्वयमाचार्याभिमुखः आत्मानं प्रत्यनभिमुखमाचार्यमुपासीत ।[३]स्वयमाचार्यमपश्यन् आचार्यस्य पुरत आर्जवेनाऽऽसीत ॥ २० ॥

अनु०—आचार्य के अपनी ओर न देखने पर भी स्वयं उनकी ओर ही मुख करके बैठे ॥ २० ॥

अनासन्नोऽनतिदूरे[3]च ॥ २१ ॥

---

१. मनु० स्मृ० २. २०३

२. आप० ध० २. ४. २२.

३. स्वयमाचार्यमेव पश्यन् इति० ख० पु०

अत्यासन्नो न स्यादतिदूरे [1]च न स्यात् ॥ २१ ॥

अनु०- गुरु से न तो बहुत निकट बैठे और न बहुत दूर पर बैठे ॥ २१ ॥

यावदासीनो बाहुभ्यां प्राप्नुयात् ॥ २२ ॥

यावत्यन्तराले आसीन आचार्यं बाहुभ्यां प्राप्तुं शक्नुयात् तावत्यासीत ॥ २२ ॥

अनु०-जितनी दूरी पर बैठने से आचार्य का दोनों बाहुओं से स्पर्श कर सके उतनी दूरी पर बैठे ॥ २२ ॥

अप्रतिवातम् ॥ २३ ॥

आचार्यस्य [2]प्रतिवाते नाऽऽसीत ॥ २३ ॥

अनु०–जिधर से आचार्य की ओर वायु बह रही हो उधर न बैठे ।

टि०–अंग्रेजी अनुवाद में ब्यूह्लेर ने अर्थ किया है ऐसे स्थान पर न बैठे जहाँ से वायु गुरु की ओर से उसकी ओर आ रही हो ॥ २३ ॥

एकाध्यायी दक्षिणं बाहुं प्रत्युपसीदेत् ॥ २४ ॥

यदा एक एवाऽधीते तदा आचार्यस्य दक्षिणं बाहुं प्रति दक्षिणे पार्श्वं उपसीदत् उपविशेत् ॥ २४ ॥

अनु ०-यदि एक ही शिष्य अध्ययन करने वाला हो तो वह गुरु की दाहिनी ओर बैठे ॥ २४ ॥

यथावकाशं बहवः ॥ २५ ॥

वहवस्तु शिष्या यथावकाशमुपसीदेयुः ॥ २५ ॥

अनु०–यदि अनेक शिष्य हों तो वे सुविधानुसार जिधर स्थान हो वहाँ बैठें ॥२५॥

तिष्ठति च नाऽऽसीताऽनासनयोगविहिते ॥ २६ ॥

आसनयोग आसनकल्पना । आसनयोगेन विहितस्सम्भावित आनयोगविहितः । आसनयोगेनाऽसम्भाविते आचार्ये तिष्ठति सति स्वयं नाऽऽसीत ॥ २६ ॥

अनु०–जहाँ आसन देकर गुरु का सम्मानित न किया गया हो वहाँ स्वयं न बैठे ॥ २६ ॥

आसीने च न संविशेत् ॥ २७ ॥

[3]'अशयनयोगविहिते' इति पूर्वानुसारेण गम्यते । शयनयोगेनासम्भावित आचार्ये आसीने स्वयं न संविशेत् न शयीत ॥ २७ ॥

---

१. चकारो नास्ति० ख० पुस्तके २. प्रतिवातं इति ख० पु०

३. आसनयोग इति क० पु०

४ आ० ध०

अनु०—यदि गुरु (सं ने के लिए श्य्या न पाकर) वैठे हों, तो स्व यं न सोवे ॥२७॥

चेष्टति च चिकीर्षंस्तच्छक्तिविषये ॥ २८ ॥

व्यत्ययेन परस्मैपदम्। आचार्ये चेष्टति सति स्वयमपि तच्चिकीर्षन् स्यात्। किमविशेषेण? शक्तिविषये। यद्याचार्येण क्रियमाणमात्मनश्शक्तेर्विषयो भवति। 'चिकीर्ष' न्निति सन्प्रयोगादिच्छामेव प्रदर्शयेत् नाच्छिद्य कुर्यात्। प्रदर्शितायां त्विच्छायामाचार्यश्चेदनुजानीयात्, कुर्यात्। अशक्तिविषये तु नेच्छापि प्रदर्शयितव्या। चिकीर्षेदिति युक्तः पाठः ॥ २८ ॥

अनु०—यदि गुरु कोई कार्य करने का प्रयत्न कर रहे हों तो उसको कर सकने की शक्ति होने पर स्वयं करने की इच्छा करे ॥ २८ ॥

न चास्य सकाशेऽन्वक्स्थानिन उपसङ्गृह्णीयात् ॥ २९ ॥

आचार्यव्यतिरिक्ता गुरवोऽन्वक्स्थानिन इति स्मार्तो व्यवहारः। आचार्यः श्रेष्ठो गुरूणाम्। तमपेक्ष्यान्वक्थानं पदमेषामिति कृत्वा। आचार्यस्य सन्निधौ अन्वक्स्थानिनं नोपसङ्गृह्णीयात् ॥ २९ ॥

अनु०—यदि आचार्य निकट हों तो अन्य गुरुओं (माता, पिता आदि) का, जो आचार्य से अवर हैं, चरण-स्पर्श न करें

टि०('गुरु' के अन्तर्गत माता-पिता आदि श्रेष्ठ निकट सम्बन्धी जन भी आते हैं, वे सभी आचार्य से अवर माने जाते हैं ॥ २९ ॥

गोत्रेण वा कीर्तयेत् ॥ ३० ॥

न चैनमन्वक्स्थानिनं गोत्रेण अभिजनकुलादिना वा कीर्तयेत् न स्तुवीत भार्गवोऽयं महाकुलप्रसूत इति ॥ ३० ॥

अनु०—अन्य गुरुजन का आचार्य के समीप गोत्र का उल्लेख करके प्रशंसा न करे ॥ ३० ॥

न चैनं प्रत्युत्तिष्ठेदनुत्तिष्ठेद्वा[1]पि चेत्तस्य गुरुःस्यात्॥ ३१ ॥

प्रत्युत्थानमप्यस्य न कर्तव्यमाचार्यस्य सकाशे। यदा पुनरसावाचार्यसकाशे त्वासित्वा गमनायोत्तिष्ठति तदाऽनूत्थानमपि न कर्तव्यम्। यद्यप्यसौ तस्य [2]आचार्यस्य मातुलादिः गुरुः स्यात्। [3]'आचार्यप्राचार्यसन्निपात' इति वक्ष्यति तेनैव न्यायेन [4]मातुलादिष्वपि प्रसङ्गे इदमुक्तम् ॥ ३१ ॥

अनु०—आचार्य के समीप होने पर अन्य गुरुओं के आगमन पर उठकर अगवानी

१. अपि चेत्यादिसूत्रान्तरं. ख०च० पु० ।

२. माणवकस्य इति क० पु० ३. आप० ध० १. ८. १९. पूजां वक्ष्यतीति ख० पु०

४. मातुलादिप्रसङ्गे इति क० पु०

न करे और न उनके जाने पर पीछे जावे, भले ही वह अन्य गुरु आचार्य का भी गुरु क्यों न हो।

टि०—आचार्य के भी गुरु का उदाहरण, आचार्य का मामा आदि ॥ ३१ ॥

देशात्त्वासनाच्च संसर्पेत् ॥ ३२ ॥

किं तु देशादासनाच्च संसर्पेत्तस्य सम्मानार्थम् ॥ ३२ ॥

अनु०—किन्तु (उस अन्य गुरुके लिए सम्मानप्रदर्शनार्थ) अपने स्थान और आसन से उठे ॥ ३२ ॥

नाम्ना तदन्तेवासिनं गुरुमप्यात्मन इत्येके ॥ ३३ ॥

तस्याचार्यस्यान्तेवासिनं नाम्नैव कीर्तयेत् 'यज्ञशर्मन्नि' ति। यद्यप्यसावात्मनो गुरुर्भवति इत्येवमेके मन्यन्ते। स्वपक्षस्तु गुरोर्नामग्रहणं न कर्तव्यमिति ॥ ३३ ॥

अनु०—आचार्य के अन्तेवासी को नाम से पुकारे। कुछ लोगों का मत है कि आचार्य का अन्तेवासी अपना गुरु भी हो तो भी नाम से पुकारे ॥ ३३ ॥

यस्मिंस्त्वनाचार्यसम्बन्धाद्गौरवं वृत्तिस्तस्मिन्नन्ववस्थानीयेप्याचार्यस्य ॥ ३४ ॥

यस्मिंस्तु पुरुषे शिष्याचार्यभावमन्तरेणापि विद्याचारित्र्यादिना लौकिकानां गौरवं तस्मिन्नन्ववस्थानीये ऽप्याचार्ये या वृत्तिस्सा कर्तव्या। अन्ववस्थानीयोऽप्यनन्ववस्थान्येव ॥ ३४ ॥

अनु०—किन्तु जिस व्यक्ति का आचार्य-शिष्य सम्बन्ध को छोड़कर किसी अन्य कारण से सम्माननीय स्थान हो तो उसके प्रति उसी प्रकार का आदर का व्यवहार करे जैसा आचार्य के प्रति विहित है, भले ही वह आचार्य से अवर हो ॥ ३४ ॥

भुक्त्वा चास्य सकाशे नानूत्थायोच्छिष्टं प्रयच्छेत् ॥ ३५ ॥

आचार्यस्य भुञ्जानस्याऽभुञ्जानस्य वा सकाशे भुक्त्वा अनूत्थाय छान्दसो दीर्घः। उत्थानमकृत्वा उच्छिष्टं न प्रयच्छेत्[१] 'आर्याय वा पर्यवदध्या' दितियद्विहितम् ॥ ३५ ॥

अनु०—गुरु के निकट भोजन करके विना उठे ही उच्छिष्ट को न दे। (अर्थात् 'आर्याय वा पर्यवदध्यात्' नियम से किसी को उच्छिष्ट देते समय उठ कर दे ॥ ३५ ॥

आचामेद्वा ॥ ३६ ॥

१. आप० ध० २. ३. ४०.

आचमनमप्यनुत्थाय न कुर्यात् ॥ ३६ ॥

अनु०—आचमन भी विना उठे हुए न करे ॥ ३६ ॥

किं करवाणीत्यामन्त्र्य ॥ ३७ ।

आचम्य किं करवाणीति गुरुमामन्त्र्य ॥ ३७ ॥

इत्यापस्तम्बधर्मसूत्रे प्रथमप्रश्ने षष्ठी कण्डिका ॥

अनु०—आचमन करने के बाद गुरु से कार्य के विषय में पूछे ॥ ३७ ॥

—:०:—

उत्तिष्ठेत्तूष्णीं वा ॥ १ ॥

उत्तिष्ठेत् तूष्णीं वा । विकल्पः । आमन्त्रयेति लिङ्गात् [1]उत्थायाप्याचामन्नाचार्यसकाश एवाऽऽचामेत् ॥ १ ॥

अनु०—अथवा चुपचाप उठे ॥ १ ॥

नापपर्यावर्तेत गुरोः प्रदक्षिणीकृत्याऽपेयात् ॥ २ ॥

उत्थाय कार्यवत्तया गन्तुमिच्छन् गुरोरप अपसव्यं न पर्यावर्तेत । किंतु प्रदक्षिणीकृत्याऽपेयात् ॥ २ ॥

अनु०—(उठकर कार्य के लिए जाते समय) अपना बायाँ हाथ गुरु की ओर करके उसके चारो न घूमें । उसकी ओर अपना दाहिना हाथ करके ही प्रदक्षिणा करे और तब अपने कार्य पर जावे ॥ २ ॥

न प्रेक्षेत नग्नां स्त्रियम् ॥ ३ ॥

यां प्रेक्षमाणस्य मनसो विकारो भवति तां नग्नां स्त्रियं नेक्षेत ॥ ३ ॥

अनु०—नग्न स्त्री की ओर न देखे ॥ ३ ॥

[2]ओषधिवनस्पतीनामाच्छिद्य नोपजिघ्रेत् ॥ ४ ॥

ओषधयः फलपाकान्ताः । वनस्पतयो ये पुष्पैर्विना फलन्ति । वीरुद्वृक्षाणामप्युपलक्षणम् । तेषां पत्रपुष्पाण्याच्छिद्य नोपजघ्रेत् । 'आच्छिद्य' तिवचना[3]द्याद्दच्छिकाघ्राणे न दोषः ॥ ४ ॥

अनु०—सूघने के लिए किसी वृक्ष या वनस्पति की पत्ती या फूल न तोड़े ॥ ४ ॥

---

१. उत्थायाप्याचमनं न कुर्यात्, आचार्यसमीप एवाचामेत् । इति. ख० पु०

२. "अथैतत् ब्रह्मचारिणः पुण्यो गन्धो य ओषधिवनस्पतीनां तासां पुण्यं गन्धं प्रच्छिद्य नोपजिघ्रेत् तेन तं पुण्यं गन्धमवरुन्धे" इति गोपथब्राह्मणम् । (गो० ब्रा० १. २. २.)

३. याद्दच्छिके गन्धग्रहणे न दोषः इति ख० पु०

उपानहौ छत्रं यानमिति वर्जयेत् ॥ ५ ॥

यानं शकटादि । इतिशब्द एवंप्रकाराणामुपलक्षणार्थः । तत्र गौतमः—'वर्जयेन्मधुमांसगन्धमाल्यदिवास्वप्नाञ्जनाभ्यञ्जनयानोपानच्छत्रकामक्रोधलोभमोहवादवादनस्नानदन्तधावनहर्षनृत्तगीतपरिवादभयानीति ॥ ५ ॥

अनु०—जूता, छाता, रथ आदि के प्रयोग का वर्जन करे ।

टिप्पणी—गौतमधर्मसूत्र में मधु, मांस, गन्ध, माल्य, दिनमें सोना, अञ्जन, अभ्यंजन, यान, जूता, छत्र वस्तुएँ, काम, क्रोध, लोभ मोह, वाद, वादन स्नान, दाँतौन, हर्ष, नृत्त, गीत, परिवाद, भय का वर्जन करने का नियम बताया गया है ॥ ५ ॥

न स्मयेत ॥ ६ ॥

स्मितं न कुर्यात् ॥ ६ ॥

अनु०—स्मित न करे ॥ ६ ॥

यदि स्मयेताऽपिगृह्य स्मयेतेति हि ब्राह्मणम् ॥ ७ ॥

यदि हर्षातिरेकं धारयितुं न शक्यते अपिगृह्य हस्तेन मुखं पिधाय स्मयेत इति ब्राह्मणं 'न स्मयेते'त्यारभ्य ॥ ७ ॥

अनु०—यदि (हर्षातिरेक से) स्मित करे तो हाथ मुँह को ढककर ऐसा ब्राह्मण का वचन है ॥ ७ ॥

[2]नोपजिघ्रेत् स्त्रियं मुखेन ॥ ८ ॥

स्नाता [3]मनुलिप्तां वा स्त्रियं बालामपि मुखेन नोपजिघ्रेत् । 'मुखेने' ति वचनाद्यादृच्छिके गन्धाघ्राणे न दोषः ॥ ८ ॥

अनु०—किसी स्त्री को मुख से न सूंघे ।

टिप्पणी—इसका तात्पर्य यह है कि जानबूझ कर न सूंघे अनचाहे उसकी गन्ध सूँघ ली जाय उसमें दोष नहीं । स्त्री से यहाँ सुगन्धित द्रव्यों का लेप करने वाली स्त्री से तात्पर्य है । व्याख्याकार ने छोटी कन्या के भी सुगन्धित द्रव्यों के लेप से युक्त होने पर जानबूझ कर सुगन्धित को सूंघने का निषेध किया है ॥ ८ ॥

न हृदयेन प्रार्थयेत् ॥ ९ ॥

---

१. गौ० ध० २.१३.

२ पञ्च ह वा एते ब्रह्मचारिण्यग्नयो धीयन्ते द्वौ पृथग्घस्तयोर्मुखे हृदये उपस्थ एव पञ्चमः । स यद्दक्षिणे पाणिना स्त्रियं न स्पृशति तेनाहरहर्याजिनां लोकमवरुन्धे, यत्सव्येन तेन प्रव्राजिनाम्, यन्मुखेन, तेनाग्निप्रस्कन्दिनां, यद्धृदयेन तेन शूराणां, यदुपस्थेन तेन गृहमेधिनां, तैश्चेत् स्त्रियं पराहरत्यनग्निरिव शिष्यते ॥ इति गो० ब्रा० १.२.४

३. अनुलिप्ताङ्गीं इति. ख० पु०

हृदयेन मनसा स्त्रियं न प्रार्थयेत्—अपीयं मम स्यादिति ॥ ९ ॥

अनु०—मन से स्त्री की प्राप्ति की कामना न करे ॥ ९ ॥

नाकारणादुपस्पृशेत् ॥ १० ॥

कारणेन विना स्त्रियं नोपस्पृशेत्। कारणं योक्त्रसन्नहनविमोचनविषमपतनधारणादि ॥ १० ॥

अनु०— विना कारण से किसी स्त्री का स्पर्श न करे ॥ १० ॥

रजस्वलो रक्तदन्सत्यवादी स्यादिति हि ब्राह्मणम् ॥ ११ ॥

रजस्वलो मलिनगात्रः। रक्ता दन्ता यस्य स रक्तदन्। छान्दसो दन्नादेशः पङ्किलदन्त इत्यर्थः। एतदुभय 'मुत्सन्नश्लाघ'(१-१-२७) इत्यनेन गतमपि पुनरुच्यते[1] श्रौतप्रायश्चित्तप्राप्त्यर्थम्। 'अनृतं वोक्त्वे' (२-१-२७) ति प्रायश्चित्तं वक्ष्यति। सत्यवादी स्यादिति ब्राह्मणम् ॥ ११ ॥

अनु०—एक ब्राह्मण में कहा गया है कि वह (ब्रह्मचारी) शरीर को मलिन रखे तथा दाँतों को गन्दा रखे, सत्यवादी होवे ॥ ११ ॥

यां विद्यां कुरुते गुरौ तेऽप्यस्याऽऽचार्या ये तस्यां गुरोर्वंश्याः ॥ १२ ॥

आत्मीये गुरौ यां विद्यां कुरुते अधीते तस्यां विद्यायां गुरोर्वंश्या आचार्यास्तेऽप्यस्य माणवकस्याचार्याः। यद्यपि साक्षात्तेभ्यो न गृह्यते विद्या तथापि आचार्यवदुपचरितव्याः। 'तस्या' मिति वचानाद्विद्यान्तरे ये वंश्यास्तेषु नायं विधिः ॥ १२ ॥

अनु०—ब्रह्मचारी जिस विद्या का अध्ययन कर रहा हो उस विद्या को उसके आचार्य के गुरु भी उस ब्रह्मचारी के आचार्य होते हैं।

टि०—यद्यपि गुरु के आचार्य से साक्षात् ब्रह्मचारी विद्या नहीं ग्रहण करता, फिर भी उन्हें आचार्य के समान ही समझे। किन्तु उस विद्या के अतिरिक्त दूसरी विद्या के गुरु के विषय में यह नियम नहीं होगा। 'वंश्या' का तात्पर्य विद्यावंश के पूर्वज विद्या देने वाले गुरु से है ॥ १२ ॥

यानन्यान् पश्यतोऽस्योपसङ्गृह्णीयात्तदात्वे त उपसङ्ग्राह्याः ॥ १३ ॥

अस्य माणवकस्य पश्यत अस्मिन् माणवके पश्यति यानन्यानाचार्य उपसङ्गृह्णीयात्ते माणवकस्याऽप्युपसङ्ग्राह्याः। किं सदा? नेत्याह—तदात्वे तस्यां दशायाम्। अपर आह—तदा प्रभृति त उपसङ्ग्राह्याः। तुशब्दात् समावृत्तेनापि ॥ १३ ॥

---

1. श्रौतप्रायश्चित्तमतिक्रमे स्यादिति. ख० पु०

अनु०—विद्यार्थी जिन-जिन का अपने आचार्य द्वारा पादोपसंग्रहण किया जाना देखे उन-उन गुरुओं का उस अवस्था में रहते समय तक उपसंग्रहण करे।

टि०—इस विषय में प्रश्न है कि क्या वह ब्रह्मचारी उनके चरण का उपसंग्रहण सदा करे ? कुछ धर्मज्ञ केवल उसी अवस्था में पादोपसंग्रहण मानते हैं किन्तु अन्य लोग उस समय के बाद प्रत्येक अवसर पर उनके पादोपसंग्रहण का विधान करते हैं॥१३॥

गुरुसमवाये भिक्षायामुत्पन्नायां यमनुबद्धस्तदधीना भिक्षा ॥ १४ ॥

यदा द्वितीयं तृतीयं वा वेदमधीयानस्य माणवकस्य गुरुसमवायो भवति गुरवः समवेता भवन्ति, तदा भिक्षायामुत्पन्नायां यं गुरुमिदानीमनुबद्धो माणवकः यतोऽधीते तदधीना भिक्षा, यच्च यावच्च लब्धं तत्तस्मै निवेदनीयम्। [1]तदुक्तश्च विनियोगः ॥ १४ ॥

अनु०—यदि किसी विद्यार्थी के कई आचार्य हों तो उसके द्वारा प्राप्त भिक्षा उसके समक्ष प्रस्तुत की जायगी जिसके अधीन वह उस समय अध्ययन कर रहा हो।

टि०—किसी शिष्य के अनेक आचार्य उस स्थिति में होंगे जब शिष्य ने कई वेदों का अध्ययन किया हो, क्योंकि सामान्यतः एक आचार्य एक ही वेद का अध्यापन करता है ॥ १४ ॥

समावृत्तो मात्रे दद्यात् ॥ १५ ॥

कृतसमावर्तनो विवाहात्प्रागर्जितं मात्रे दद्यात् ॥ १५ ॥

अनु०—जब विद्यार्थी समावर्तन के बाद घर लौटे तो (विवाह के पूर्व) अर्जित वस्तुएँ माता को प्रदान करे ॥ १५ ॥

माता भर्तारं गमयेत् ॥ १६ ॥

माता पतिं प्रापयेत् ॥ १६ ॥

अनु०—माता उस वस्तु को अपने पति को देवे ॥ १६ ॥

भर्ता गुरुम् ॥ १७ ॥

[2]प्रापयेत्। माणवकस्य गुरुम्, माणवकार्जितं द्रव्यं तद्गामि युक्तम् ॥ १७ ॥

अनु०—पति उस अर्जित वस्तु को उस शिष्य के गुरु को प्रदान कर ॥१७॥

धर्मकृत्येषु वोपयोजयेत् ॥ १८ ॥

धर्मकृत्यानि विवाहादीनि। तेषु वोपयोजयेत्। गुरोरभावे भर्ता, तदभावे माता, सर्वेषामभावे समावृत्तस्वयमेव वा ॥ १८ ॥

---

१. ततश्च विनियोगः इति. क०पु०. २. सोऽपि गुरुं प्रापयेन्माणवकस्य इति ख०पु०

अनु–अथवा उस अर्जित धन का उपयोग (विवाहादि) धर्मकार्यों में करे ॥ १८ ॥

कृत्वा विद्यां यावतीं शक्नुयात् वेददक्षिणामाहरेद्धर्मतो याथाशक्ति ॥ १९ ॥

यावतीं विद्यां कर्तुं शक्नुयात् वेदं वेदौ वेदान्वा तावतीं कृत्वा अधीत्य गुरवे दक्षिणामाहरेत् दद्यात् । यथाशक्ति धर्मत उपलब्धां न्यायार्जिताम् ॥१९॥

अनु०–जितनी विद्याओं का अध्ययन कर सकता हो उतनी विद्या-शाखाओं का अध्ययन करके अपनी शक्ति के अनुसार तथा धर्मानुकूल विधि से अर्जित करके गुरु को दक्षिणा दे।

टि०–यावतीं विद्यां से एकवेद, दो वेदों या तीन वेदों के अध्ययन से तात्पर्य है ॥ १९ ॥

धर्मत इत्यस्यापवादः—

विषमगते त्वाचार्य उग्रतः शूद्रतो वाऽऽहरेत् ॥ २० ॥

यदा त्वाचार्यो विषमगतः आपद्गतः तदा उग्रतः शूद्रतो वाऽपि प्रतिगृह्य दक्षिणामाहरेत् । वैश्याच्छूद्रायां जात उग्रः, उग्रकर्मा वा द्विजातिः ॥ २० ॥

अनु०–किन्तु यदि आचार्य विपत्ति की अवस्था में हों तो उग्र या शूद्र से भी धन लेकर दक्षिणा दे सकता है।

टि०–वैश्य पुरुष और शूद्रा स्त्री का पुत्र उग्र कहलाता है। अथवा उग्रकर्मा द्विजाति। भयंकर कर्म करने वाला द्विजाति ॥ २० ॥

सर्वदा शूद्रत उग्रतो वाऽऽचार्यार्थस्याहरणं धर्म्यमित्येके ॥ २१ ॥

सर्वदा आपद्यनापदि च, आचार्याय यो देयोऽर्थः तस्य, उग्रतः शूद्रतो वाऽऽहरणं धर्म्यं धर्मादनपेतमित्येके मन्यन्ते । 'धार्म्य'मिति पाठे स्वार्थे ष्यञ् ॥ २१ ॥

अनु०—किन्तु कुछ लोगों का मत है कि आचार्य की दक्षिणा के लिए शूद्र और उग्र से भी धन लेना धर्मसंमत है ॥ २१ ॥

दत्वा च नाऽनुकथयेत् ॥ २२ ॥

आचार्याय एवामाहृत्य दत्वा न कीर्तयेत्,–एतन्मया दत्तमिति ॥ २२ ॥

अनु०—आचार्य के लिए इस प्रकार धन देकर उसका बखान न करे ॥ २२ ॥

कृत्वा च नाऽनुस्मरेत् ॥ २३ ॥

गुरवे प्राणसंशयादौ महान्तमप्युपकारं कृत्वा नानुस्मरेत नाऽनुचिन्तयेत्—अहो मयैतत्कृतमिति ॥ २३ ॥

अनु०–(गुरु के संकट में) उपकार करके उसे स्मरण नहीं करना चाहिए ॥२३॥

आत्मप्रशंसां परगर्हामिति च वर्जयेत् ॥ २४॥

इतिकरणादेवंप्रकाराणामात्मनिन्दादीनामपि प्रतिषेधः ॥ २४ ॥

अनु० आत्मप्रशंसा तथा परनिन्दा आदि न करे ॥ २४ ॥

प्रेषितः[1] स्तदैव प्रतिपद्येत ॥ २५ ॥

इदं कुर्वित्याचार्येण प्रेषितस्तदैव प्रतिपद्येत कुर्यात् क्रियमाणमपि कर्म विहाय, यद्यपि [2]तदाचार्यस्य भवति ॥ २५ ॥

अनु० (किसी कार्य को करने के बीच में) गुरु के किसी अन्य कार्य के लिये आदेश देने पर तत्काल करे । (पहले से किये जाते हुए कार्य को छोड़ दे, भले ही वह कार्य आचार्य का ही हो) ॥ २५ ॥

शास्तुश्चाऽनागमाद्वृत्तिरयन्त्र ॥ २६ ॥

तस्मिंश्च 'विद्याकर्मान्त' मित्यस्यापवादः । यद्यधिगन्तुमिष्टा विद्या शास्तुः शाशितुराचार्यस्य सम्यङ्नाऽऽगच्छति तदा तस्यानागमात् अन्यत्र पुरुषान्तरे वृत्तिर्भवत्येव यस्य सम्यगागच्छति । [3]'येषमाचार्यविधिप्रयुक्तमध्ययनं तेषामेतन्नोपपद्यत' इत्यवोचाम ॥ २६ ॥

अनु० यदि जिस विद्या को प्राप्त करने की इच्छा हो उसका अध्यापन करने में गुरु असमर्थ हो तो वह दूसरे गुरु के समीप जावे और अध्ययन करे ॥ २६ ॥

अन्यत्रोपसङ्ग्रहणादुच्छिष्टाशनाच्चाऽऽचार्यवदाचा-
र्यदारे वृत्तिः ॥ २७ ॥

अन्यत्रेत्युभयोश्शेषः । आचार्यवदाचार्यदारे वृत्तिः कर्तव्या । किमविशेण ? अन्यत्रोपसङ्ग्रहणादुच्छिष्टाशनाच्च, पादोपसङ्ग्रहणमुच्छिष्टाशनं च इत्येतदुभयं वर्जयित्वा । अत्र मनुः—

[4]'गुरुवद्गुरुपत्नीषु युवतीर्नाभिवादयेत् ।' इति ।

गौतमस्तु, [5]'तद्भार्यापुत्रेषु चैवं नोच्छिष्टाशनस्नापनप्रसाधनपादप्रक्षालनोन्मर्दनोपसङ्ग्रहणानि' इति ।'दार' इत्येकवचनं छान्दसम् ॥ २७ ॥

अनु० आचार्य की पत्नी के प्रति भी आचार्य के प्रति किये जाने वाले सम्मान-

---

१. तदेव इति ख० पु०   २. तदाचार्याय इति ख० पु०

३. येषामित्याद्यवोचामेत्यन्तः पाठो नास्ति ख. पुस्तके

४. मनु. स्मृ० २. २१२. गुरुपत्नी तु युवतिर्नाभिवाद्येह पादयोः । इति मुद्रितमनुस्मृतिपाठः ।

५. गौ० ध० २. ३१ ३२

पूर्ण व्यवहार की तरह व्यवहार करे, किन्तु आचार्य पत्नी के चरण का उपसंग्रहण न करे और उच्छिष्ट का भोजन न करे।

टि०—मनु और गौतम के भी विचार इसी प्रकार के हैं ॥ २७ ॥

तथा समादिष्टेऽध्यापयति ॥ २८ ॥

य आचार्येण समादिष्टो नियुक्तोऽध्यापयति तस्मिन्नाचार्यदारवद्वृत्तिः। 'अध्यापयती'ति वर्तमाननिर्देशा[1] द्यावदध्यापनमेवायमतिदेशः ॥ २८ ॥

अनु०—इसी प्रकार का व्यवहार उस अध्यापक के प्रति भी करे जो गुरु के आदेश से उसे (कुछ समय के लिए) पढ़ावे ॥ २८ ॥

वृद्धतरे च सब्रह्मचारिणि ॥ २९ ॥

अध्यापयतीति नाऽनुवर्तते। तरनिर्देशात् ज्ञानवयोभ्यामुभाभ्यां वृद्धो गृह्यते। सब्रह्मचारी सहाध्यायी, समाने ब्रह्मणि व्रतं चरतीति। तस्मिन्नप्याचार्यदारववृत्तिः।

'आचार्यात्पादमादत्ते पादं शिष्यः स्वमेधया।
पादं सब्रह्मचारिभ्यः पादः कालेन पच्यते ॥'

इत्यध्ययने उपयोगसम्भवात् ॥ २९ ॥

अनु०—इसी प्रकार का व्यवहार उस सहाध्यायी के प्रति भी करना चाहिए जो विद्या और ब्रह्मचर्यव्रत में अपने से श्रेष्ठ हो।

टि०—श्रेष्ठ ब्रह्मचारी इस कारण भी आदरणीय होता है कि शिष्य बहुत-सा ज्ञान पहले से अध्ययन करने वाले शिष्यों से प्राप्त करता है। जैसा कि यहाँ व्याख्या में उद्धृत श्लोक में कहा गया है विद्यार्थी अपने ज्ञान का चौथाई भाग गुरु से, चौथाई अपने से श्रेष्ठ सहाध्यायियों से, चौथाई अपनी बुद्धि से और शेष समय से ग्रहण करता है ॥ २९ ॥

उच्छिष्टाशनवर्जमाचार्यवदाचार्यपुत्रे वृत्तिः ॥ ३० ॥

'उच्छिष्टाशनवर्ज'मिति वचनादुपसङ्ग्रहणं भवति। एतच्च ज्ञानवयोभ्यामुभाभ्यां वृद्धे। तदर्थं वृद्धतर इत्यनुवर्तते। गौतमीयस्तूपसङ्ग्रहणप्रतिषेधो वृद्धतरादन्यविषयः ॥ ३० ॥

अनु०—(अपने से विद्या या आयु में श्रेष्ठ) गुरु के पुत्र के प्रति भी उसी प्रकार का व्यवहार करे जैसा गुरु के प्रति विहित है, किन्तु उसके उच्छिष्ट का भोजन न करे ॥३०॥

समावृत्तस्याप्येतदेव सामयाचारिकमेतेषु ॥ ३१ ॥

---

१. यावदध्यापनं तावदेवातिदेश' इति. ख० पु०

कृतसमावर्तनस्याप्येतदेवानन्तरोक्तम्। एतेष्वाचार्यादिषु पुत्रान्तेषु सामयाचारिकं समयाचारप्राप्तं वृत्तमान्तात्। समादिष्टे त्वध्यापयीतेति (२९) विशेष उक्तः॥ ३१॥

॥ इत्यापस्तम्बीयधर्मसूत्रवृत्तावुज्वलायां सप्तमी कण्डिका॥

अनु०—समावर्तन के बाद (घर लौटने पर भी) इन आचार्यादिक के प्रति सामयाचारिक आचरण (जीवन पर्यन्त) करे॥ ३१॥

—:०:—

यथा ब्रह्मचारिणो वृत्तम्॥ १॥

समावृत्तस्येति[1] वर्तते। समावृत्तस्य[2] ब्रह्मचारिणोऽकृतविवाहस्य यथा वृत्तं वर्तनम् तथा वक्ष्यामः॥ १॥

अनु०—समावर्तन के बाद (विवाह से पूर्व) ब्रह्मचारी की तरह ही आचरण करे॥ १॥

माल्यालिप्तमुख उपलिप्तकेशश्मश्रुरक्तोऽभ्यक्तो वेष्टित्युपवेष्टिती काञ्चुक्युपानही पादुकी॥ २॥

माली मालावान्। आलिप्तमुखश्चन्दनादिना। मुखग्रहणमुपलक्षणम्। [3]'मुखमग्रे ब्राह्मणोऽनुलिम्पेदि'त्याश्वलायनवचनात्। सुगन्धिभिरामलकादिभिर्द्रव्यैरुपलिप्तानि संस्कृतानि केशश्मश्रूणी यस्य सः उपलिप्तकेशश्मश्रुः। अक्तः अञ्जनेनाऽक्ष्णोः। अभ्यक्तः तैलेन। वेष्टिता वेष्टितशिराः। कटिप्रदेशो द्वितीयेन वाससा वेष्टितो यस्य सः उपवेष्टिती। कञ्चुकश्चोपानच्च कञ्चुकोपानहम्।[4] द्वन्द्वाच्चुदषहान्तादित्यच् सामासान्तः। तदस्यास्तीति कञ्चुकोपानही। द्वन्द्वोपतामगर्ह्यात्प्राणिस्थादिनिप्रत्ययः। प्रसिद्धे पाठे कंचुकमेव काञ्चुकं तद्वान् काञ्चुकी। उपानद्वानुपानही। व्रीह्यादिस्वादिनिः। पादुके दारुमये पादरक्षणे तद्वान् पादुकी॥२॥

अनु०—वह माला पहन सकता है, चन्दनादि से मुख का लेप कर सकता है, केश और दाढ़ी-मूँछों में तेल लगा सकता है (आँखों में) अंजन लगा सकता है, पगड़ी, कटि के ऊपर बाँधने वाला दुपट्टा काञ्चुक (लम्बा कुर्ता), जूते और खड़ाऊं पहन सकता है॥ २॥

उदाचारेषु चास्यैतानि न कुर्यात्कारयेद्वा॥ ३॥

अस्याऽऽचार्यादेः पुत्रान्तस्य उदाचारेषु दृष्टिगोचरेषु देशेषु एतानि माल्यादीनि न कुर्यात्कारयेद्वा॥ ३॥

---

१. अनुवर्तत इति ख० पु० २. कृतविवाहस्य इति क० पु०

३. आश्व० गृ० ३. ९.१०

४. पा० सू० ५. ४. १०६. चवर्गान्तात् वहान्ताच्च द्वन्द्वाट्टच् स्यात् समाहारे इति सूत्रार्थः।

अनु०—आचार्य आदि के सामने ये सब कार्य न करे और न कराये ॥३॥

स्वैरिकर्मसु च ॥ ४ ॥

एतानि न कुर्यात् कारयेद्वा ॥ ४ ॥

अनु०—अपने सुख के लिये कार्य करते समय माल्यधारण आदि न करे और न दूसरे व्यक्ति द्वारा कराये ॥ ४ ॥

तत्रोदाहरणम्—

यथा दन्तप्रक्षालनोत्सादनावलेखनानीति ॥ ५ ॥

दन्तप्रक्षालनं दन्तधावनम्। उत्सादनमुद्वर्तनम्। अवलेखनं कङ्कतादिना केशानांविभागेनाऽवस्थापनम्। इतिशब्दः प्रदर्शनार्थः। तेन स्नानभोजनमूत्रोच्चारादिष्वपि प्रतिषेधः॥ ५ ॥

अनु०—यथा दाँतों की सफाई, केशों को साफ करना तथा उनमें कंघी आदि भी न करे ॥ ५ ॥

तद्द्रव्याणां च न कथयेदात्मसंयोगेनाऽऽचार्यः ॥ ६ ॥

तस्य शिष्यस्य गृहस्थभूतस्य यानि द्रव्याण्युपस्थापितानि तेषां मध्ये एकेनापि द्रव्येण यथाऽऽत्मा संयुज्यते तथा न कथयेत्। आचार्यः शिष्यगृह[1] मेत्य अहो दर्शनीयं भोजनपात्रमित्यादि[2] लिप्सा यथा गम्यते तथा न कथयेदिति॥ ६ ॥

अनु०—(गृहस्थ) शिष्य की वस्तुओं में से किसी के प्रति लिप्सा प्रदर्शित करते हुए आचार्य उल्लेख न करे।

टि०—आचार्य जब भी अपने गृहस्थभूत शिष्य के घर आवे तो उसके घर की वस्तुओं को देखकर किसी की भी इस प्रकार प्रशंसा न करें जिससे उसका उस वस्तु को प्राप्त करने की इच्छा प्रकट हो ॥ ६ ॥

**स्नातस्तु काले यथाविध्यभिहृतमाहूतोऽभ्येतो वा
न प्रतिसंहरेदित्येके ॥ ७ ॥**

[3]'वेदमधीत्य स्नास्य' न्नित्यनेन विधिना स्नातः तस्मिन्काले यथाविध्यभिहृतमाबद्धं स्रगादि आचार्येणाहूतः स्वयमेव वा तत्समीपमभ्येतो न प्रतिसंहरेत् न विमुञ्चेदित्येके मन्यते। स्वपक्षस्तु तदापि मुञ्चेदिति। 'काले यथाविध्यभिहृतं' मिति वचनादपरेद्युरारभ्य प्रतिसंहरेन्नेव॥ ७ ॥

---

१. प्रत्यागत इति ख० पु०　　२. ईप्सा इति. ख० पु०　　३. आप० गृ० १२.१

अनु०—किन्तु कुछ धर्मज्ञों का मत है कि (वेदों का अध्ययन करने के बाद) स्नान कर लेने वाला शिष्य गुरु के द्वारा बुलाये जाने पर अथवा स्वयं गुरु से मिलने के लिये जाने पर विधि के अनुसार धारण की गई माला आदि को न निकाले।

टि०—यह मत आपस्तम्ब को मान्य नहीं है। उपर्युक्त तीसरे सूत्र के विपरीत है, व्याख्याकार हरदत्त ने भी स्पष्ट किया किया है :"स्वपक्षस्तु तदापि मुञ्चेदिति" ॥७॥

उच्चैस्तरां नाऽऽसीत ॥ ८ ॥

स्वार्थे तरप्। आचार्यासनादुच्चासने नाऽऽसीत ॥ ८ ॥

अनु०—अपने गुरु के आसन से अधिक ऊंचे आसन पर न बैठे ॥ ८ ॥

तथा बहुपादे ॥ ९ ॥

नीचेऽप्यासने बहुपादे नाऽऽसीत ॥ ९ ॥

अनु०—किसी ऐसे आसन पर भी न बैठे जिसमें गुरु के आसन की अपेक्षा अधिक पाये हों ॥ ९ ॥

सर्वतः प्रतिष्ठते ॥ १० ॥

आसने आसीत। आचार्यं पीठादावुपवेश्य स्वयं वेत्रासनादावासीत। तद्धि भूमौ सर्वतः प्रतिष्ठितम् ॥ १० ॥

अनु०—(आचार्य को पीढ़े आदि पर बैठाकर) स्वयं ऐसे आसन पर बैठे जो सभी ओर से पृथ्वी पर लगा हो (यथा चटाई)।

टि०—इस सूत्र के अर्थ करने में भ्रान्ति भी दिखाई पड़ती है, कुछ लोग ऐसा अर्थ करते हैं कि 'सर्वतः प्रतिष्ठिते न आसीत' और इसका संबन्ध ऊपर के सूत्र ८ के साथ ही जोड़कर अर्थ करते है। किन्तु हरदत्त ने व्याख्या में स्पष्ट किया है कि ऐसे ही आसन पर बैठे "आसने आसीत"। आचार्य को पीठादि पर बैठाकर स्वयं वेत्रासनादि पर बैठे। ब्यूलेर ने इस सूत्र की हरदत्त की व्याख्या को विपरीत अर्थ में लेकर उल्टा अनुवाद कर दिया है ॥ १० ॥

शय्यासने चाऽऽचरिते नाविशेत् ॥ ११ ॥

आचार्येणाचरित उपभुक्ते शय्यासने नाऽऽविशेत्। शयने न शयीत आसने नासीत। पित्रादिष्वपि गुरुषु समानमिदम्। तथा च मनुरविशेषेणाह[1]—'शय्यासने चाध्युषिते श्रेयसा न समाचरेत्।' इति ॥ ११ ॥

अनु०—जिस आसन पर गुरु बैठते हों उस पर न बैठे तथा जिस शय्या पर वे सोते हों उस पर न सोवे ॥ ११ ॥

---

१. मनु० २. ११९ 'शय्यासनेऽध्याचरिते' इति मेधातिसम्मतः पाठः। शय्या चासनं चेति द्वन्द्वैकवद्भावः।

गतं समावृत्तस्य वैशेषिकम्। अथ ब्रह्मचर्यविधेरेव शेषः—

यानमुक्तोऽध्वन्यन्वारोहेत् ॥ १२ ॥

यानं शकटादि। आरोहेत्युक्तो गुरुणा पश्चादारोहेत्। अध्वनि मार्गे 'छत्रं यानमिति वर्जये'दिति पूर्वोक्तस्य प्रतिषेधस्यापवादः। यानं च गुर्वा रूढमन्यद्वा ॥ १२ ॥

अनु०—यात्रा में किसी यान पर गुरु के चढ़ने के बाद ही चढ़े ॥ १२ ॥

सभानिकषकटस्वस्तरांश्च ॥ १३ ॥

उक्तोऽध्वन्यन्वारोहेदित्येव। 'सभास्समाजांश्चे' त्यस्यापवादार्थं सभाग्रहणम् निकषो नाम कृषीवलानामुपकरणं, कृष्टं क्षेत्रं येन समीक्रियते, यच्च कस्मिंश्चिदारूढे[1] केनचिदाकृष्यते। तत्र गुरुणा आकृष्यमाणेऽपि तेनोक्तस्सन्नारोहेत् न त्वनौचित्यभयान्नारोहेदिति। कटो वीरणनिर्मिता शय्या। तत्र गुरुणोक्तस्सन् सहाऽऽसीत। उत्सवादावेष आचारः। स्वस्तरो नाम पलालशय्या[2] नवस्वस्तरे संविशन्ती' ति दर्शनात्। तत्रापि गुरुणोक्तस्सन् सहासनादि कुर्यात् ॥१३॥

(गुरु के आदेश से सभा में भी प्रवेश करे; निकष (पाटा) पर भी चढ़े, (गुरु के साथ) चटाईपर भी बैठे, और पुआल की शय्या पर भी बैठे।

टि०—निकष जोते हुए खेत को बराबर करने का उपकरण जिसे पाटा या हेंगा कहते हैं। यदि गुरु स्वयं उसे खींच रहे हों और शिष्य को उस पर बैठने का आदेश दें तो शिष्य उस पर बैठे। इसी प्रकार गुरु के आदेश से उनके साथ एक ही चटाई पर या पुआल की शय्या पर बैठ-सो सकता है ॥ १३ ॥

नानभिभाषितो गुरुमभिभाषेत प्रियादन्यत् ॥ १४ ॥

गुरुणाऽनभिभाषितो गुरुं प्रति न किञ्चित् ब्रूयात् प्रियादन्यत्। प्रियं तु ब्रूयात् यथा ते पुत्रोजात इति ॥ १४ ॥

अनु०—गुरु जब तक स्वयं कुछ अभिभाषण न करे तब तक गुरु से कुछ न कहे किन्तु कोई प्रिय समाचार हो तो उनके अभिभाषण किए बिना उनसे कहे ॥ १४ ॥

व्युपतोदव्युपजापव्यभिहासोदामन्त्रणनामधेयग्रहणप्रेषणानीति गुरोर्वर्जयेत् ॥ १५ ॥

व्युपतोदः[3] अङ्गुल्यादिघट्टनं यदाभिमुख्यार्थं क्रियते। व्युपजापः श्रोत्रयो र्मुहुर्मुहुर्जल्पनम्। वकारश्छान्दसोऽपपठो वा। व्यभिहासः आभिमुख्येन हसनम्। उदामन्त्रणमुच्चैस्सम्बोधनम्; यथा बधिरं प्रति। नामधेयग्रहणं दशम्यां पितृविहितस्य नाम्नोग्रणम्। न पूज्यनाम्नो भगवदादेः। प्रेषणमाज्ञापनम्।

---

१ केनचिदाकृष्यमाणे क्षेत्र समं भवति. इति. घ० पु०

२. आप ०गृ० १९-९

३. अङ्गुल्यादिना सघट्टनम् इति घ० पु०

एतानि गुरुविषये न कर्तव्यानि । इतिकरणादेवंप्रकाराणामन्येषामपि प्रतिषेधः । यथाऽऽह मनुः—

[४] नोदाहरेत्तस्य नाम परोक्षमपि केवलम् । न चैवास्यानुकुर्वीत गतिभाषितचेष्टितम् ॥ इति ॥ १५ ॥

अनु०—गुरु को अंगुलि से छूने, उनके कानों में धीमे स्वर में कुछ कहने, उनके मुख की ओर मुख करके हसने, ऊंचे स्वर से उन्हें संबोधित करने, उनका नाम लेने, उनको कोई आदेश देने आदि कर्मों का वर्जन करे अर्थात् ऐसा न करे ॥ १५ ॥

आपद्यर्थं ज्ञापयेत् ॥ १६ ॥

आपदि व्युपतोदादिभिरप्यर्थमभिप्रेतं ज्ञापयेत् । असति पुरुषान्तरे [५]वचनेनापि बोधयेत् , न साक्षात्प्रेषयेत् , यथा—शूलतोदो मे भवति, स चाऽग्निना शाम्यति, न चात्र कश्चित्सन्निहितः, किं करोमि मन्दभाग्य इति ॥ १६ ॥

अनु०—आपत्ति की अवस्था में इनमें से किसी भी प्रकार से उन्हें सूचित करे (साक्षात् आदेश न देवे) ॥ १६ ॥

उत्तरे सूत्रे समावृत्तविषये—

सहवसन्सायं प्रातरनाहूतो गुरुं दर्शनार्थो गच्छेत् ॥ १७ ॥

सह एकस्मिन् ग्रामे वसन् सायं प्रातरनाहूतोऽपि गुरुं दर्शनार्थो नान्यप्रयोजनो गच्छेत् ॥ १७ ॥

अनु०—यदि उसी ग्राम में निवास करता हो (जिसमें गुरु निवास करते हों) तो प्रातः काल और सायं बिना बुलाये ही उनसे मिलने के लिये जावे ॥ १७ ॥

विप्रोष्य च तदहरेव पश्येत् ॥ १८ ॥

यदा ग्रामान्तरं गतः प्रत्यागच्छति तदा तदहरेवाऽऽचार्यं पश्येत् ॥ १८ ॥

अनु०—यात्रा से लौटने पर जिस दिन लौटकर आवे उसी दिनगुरु का दर्शन करे ॥ १८ ॥

आचार्यप्राचार्यसन्निपाते प्राचार्यायोपसंगृह्योपसञ्जिघृक्षेदाचार्यम् ॥ १९ ॥

आचार्यस्याऽऽचार्यः प्राचार्यः प्रपितामहवत् । यदा आचार्यस्य प्राचर्यस्य च कार्यवशात् सन्निपातो मेलनं भवति, तदा प्राचार्याय द्वितीयार्थे चतुर्थी । प्राचार्यं पूर्वमुपसंगृह्य पश्चात्त्वाचार्यमुपसङ्ग्रहीतुमिच्छेत् । न केवलं मनसा

---

४. मनु० २.१९९

५. वचनेनैव इति क० पु०

किन्तु यथाऽऽचार्यो जानाति मामयमुपसञ्जिघृक्षतीति तथा चेष्टेत। अन्यथा अदृष्टार्थमुपदिष्टं स्यात् ॥ १९ ॥

अनु०—यदि आचार्य और आचार्य के भी आचार्य दोनों एक साथ मिल जाएँ तो पहले प्राचार्य के चरणों का उपसंग्रहण करे फिर आचार्य के चरण का उपसंग्रहण करने की चेष्टा करे ॥ १९ ॥

प्रतिषेधेदितरः ॥ २० ॥

इतर आचार्यः प्रतिषेधेत् 'वत्स मा मोंपसङ्गृहीरिति ॥ २० ॥

अनु०—आचार्य उसे ऐसा करने से मना करे ॥ २० ॥

लुप्यते पूजा चाऽस्य सकाशे ॥ २१ ॥

अस्य प्राचार्यस्य सकाशे सन्निधौ आचार्यस्य पूजा लुप्यते न कार्या। न केवलमुपसङ्ग्रहणमेव। उत्तरसूत्रं समावृत्तविषयम् ॥ २१ ॥

अनु०—प्राचार्य के समीप आचार्य के लिए अन्य प्रकार की पूजा भी नहीं की जाती ॥ २१ ॥

मुहूंश्चाऽऽचार्यकुलं दर्शनार्थो गच्छेद्यथाशक्त्यधिहस्त्यमा-
दायाऽपि दन्तप्रक्षालनानीति ॥ २२ ॥

मुहूँश्चेत्यनुस्वारदीर्घौ छान्दसौ। वीप्सालोपश्चात्र द्रष्टव्यः। मुहुर्मुहुरिति विवक्षितम्। ग्रामान्तरे वसन्नपि मुहुर्मुहुराचार्यकुलं दर्शनार्थमागच्छेत्। यथाशक्ति गोरसापूपादि अधिहस्त्यं हस्ते भवमादाय स्वयमेव गृहीत्वेत्यर्थः। अपिशब्दोभावे विधिं द्योतयति—गोरसाद्यभावे दन्तकाष्ठान्यपीति। इतिशब्द अन्तेवासिधर्माणां समाप्तिद्योतनार्थः ॥ २२ ॥

अनु०—(दूसरे ग्राम में रहने पर भी) आचार्य का दर्शन करने के लिए आचार्य के यहां बार-बार जावे और अपनी शक्ति के अनुसार उनके लिए कुछ न कुछ वस्तु अपने हाथ से ले आवे, भले ही वह दातौन जैसी छोटी वस्तु क्यों न हो।

टि०—इस सूत्र में इति' शब्द का प्रयोग अन्तेवासी के धर्म का विवेचन समाप्त होने की सूचना देता है ॥ २२ ॥

[1]मातरं पितरमाचार्यमग्नींश्च गृहाणि च रिक्तपाणिर्नो-
पगच्छेद्राजानं चेन्न श्रुतमिति ॥ २३ ॥

तस्मिन्गुरोर्वृत्तिः ॥ २४ ॥

तस्मिन्नन्तेवासिनि गुरोर्वृत्तिः। वृत्तेः प्रकारो वक्ष्यते ॥ २३-२४ ॥

---

१. इदं सूत्रं क० पुस्तक एव दृश्यते नान्यत्र।

अनु०—माता, पिता, आचार्य, अग्नि के समीप तथा घर में खाली हाथ न जावे अथवा यदि राजा को पहले से न जाने हो तो उसके समीप भी खाली हाथ न जावे ॥ २३ ॥

अनु०—अब शिष्य के प्रति गुरु के व्यवहार का विवेचन किया जायगा ॥ २४ ॥

पुत्रमिवैनमनुकाङ्क्षन् सर्वधर्मेष्वनपच्छादयमानः सुयुक्तो विद्यां ग्राहयेत् ॥ २५ ॥

एनं शिष्यं पुत्रमिव अस्याऽभ्युदयः स्यादिति अनुकाङ्क्षन् सर्वेषु धर्मेषु किञ्चिदप्यनपच्छादयमानः अगूहन् सुयुक्तः सुष्ठ्ववहितः तत्परो भूत्वा विद्यां ग्राहयेत् ॥ ५ ॥

अनु०—शिष्य को पुत्र की तरह मानता हुआ (उसकी उन्नति की कामना करत हुआ), ध्यान देकर सभी धर्मों में कुछ भी गुप्त न रखते हुए विद्या प्रदान करे ॥ २५ ॥

न चैनमध्ययनविघ्नेनाऽऽत्मार्थेषूपरुन्ध्यादनापत्सु ॥ २६ ॥

न चैनं शिष्यमध्ययनविघ्नेनाऽऽत्मप्रयोजनेष्वनापत्सूपरुन्ध्यात् ।[2] उपरोधः अस्वतन्त्रीकरणम् ।'अनापत्स्वि' तिवचनादापद्यध्ययनविघातेनाऽप्युपरोधे न दोषः ॥ ५६ ॥

अनु०—आपत्ति के समय को छोड़कर अन्य समय में शिष्य के अध्ययन में विघ्न पहुंचाकर उसे अपने किसी कार्य में न लगावे ॥ २६ ॥

अन्तेवास्यनन्तेवासी भवति विनिहितात्मा गुरावनैपुणमापद्यमानः ॥२७॥

'आपद्यमान' इत्यन्तर्भावितण्यर्थः । योऽन्तेवासी विनिहितात्मा द्वयोराचार्ययोः[3] विविधं निहितात्मा गुरावनैपुणमापादयति—नाऽनेनाऽयं प्रदेशः सम्यगुक्त इति, सोऽन्तेवासी न भवति । स त्याज्य इत्यर्थः[4]

अपर आह—योऽन्तेवासी वाङ्मनःकर्मभिरनैपुणमापद्यमानो गुरौ विदृशं नहितात्मा भवति अनुरूपं न शुश्रूषते सोऽन्तेवासी न भवतीति ॥ २७ ॥

अनु०—जो अन्तेवासी दो गुरुओं से विद्या प्राप्त करते हुए (प्रथम) गुरु की विद्या की अल्पता का उल्लेख करके निर्देश करता है वह अन्तेवासी नहीं रह जाता

टि०—हरदत्त ने अपनी व्याख्या में दूसरी व्याख्या का भी निर्देश किया है

---

१. अभ्यासादिषु इति ङ० पु०

२. उपरोधः स्वतन्त्रीकरणम्. इति ङ० पु०   ३. विधिवत् इति. ख० पु० ।

४. "अत्र मनुः-धर्मार्थौ यत्र न स्यातां शुश्रूषा वापि तद्विधा । तत्र विद्या न वक्तव्या शुभं बीजमिवोषरे इति-"इत्यधिकः पाठो दृश्यते ख० पुस्तके ।

जिसके अनुसार जो शिष्य वचन, विचार, कार्य से गुरु के विपरीत आचरण करता है, उनकी शुश्रूषा नहीं करता, वह अन्तेवासी नहीं रह जाता ॥ २७ ॥

आचार्योऽप्यनाचार्यो भवति श्रुतात्परिहरमाणः ॥ २८ ॥

आचार्योऽप्यानाचार्यो भवतीति; त्याज्य इत्यर्थः । किं कुर्वन् ? श्रुतात्परिहरमाणः तेन तेन व्याजेन विद्याप्रादानमकुर्वन् ॥ २८ ॥

अनु०—आचार्य भी जब (बहाने बनाकर) विद्या प्रदान करने से प्रमाद करता है तब वह आचार्य नहीं रह जाता और त्याज्य होता है ॥ २८ ॥

अपराधेषु चैनं सततमुपालभेत ॥ २९ ॥

अपराधेषु कृतेष्वेनं शिष्यं सततमुपालभेत—इदमयुक्तं त्वया कृतमिति॥२९॥

अनु०—शिष्य के अपराध करने पर गुरु सदा ही उसे फटकार सकता है ॥२९॥

अभित्रास उपवास उदकोपस्पर्शनमदर्शनमिति दण्डा यथामात्रमानिवृत्तेः ॥ ३० ॥

अभित्रासो भयोत्पादनम्। उपवासो भोजनलोपः । उदकोपस्पर्शनं शीतोदकेन स्नापनम्। अदर्शनं यथाऽऽत्मनं न पश्यति तथा करणम् । गृहप्रवेशनिषेधः सर्वत्र ण्यन्तात् प्रत्ययः । इत्येते दण्डाः शिष्यस्य यथामात्रं यावत्यपराधमात्रा तदनुरू व्यस्ताः समस्ताश्च । आनिवृत्तेः यावदसौ न ततोऽपराधान्निवर्तते तावदेते दण्डाः ॥ ३० ॥

अनु०—डराना, भोजन न देना ठंढे जल से नहलाना, अपने समीप न आने देना आदि शिष्य के लिए (उसके अपराध के अनुसार) दण्ड होते हैं और जब तक वह अपराध करना न छोड़ दे तब तक ये दण्ड दिये जाते हैं ॥ ३० ॥

निवृत्तं चरितब्रह्मचर्यमन्येभ्यो धर्मेभ्योऽनन्तरो भवेत्यतिसृजेत् ॥ ३१ ॥

एवं चरितब्रह्मचर्यं निवृत्तं गुरुकुलात् कृतसमावर्तनमित्यर्थः । एवंभूतमन्येभ्यो धर्मेभ्यो यमसावाश्रमं प्रतिपित्सते तत्र तेभ्योऽनन्तरो भव यथा त्वमन्तरितो न भवसि तथा भवेत्युक्त्वाऽतिसृजेत्। तं तमाश्रमं प्रतिपत्तुमुत्सृजेत् ॥ ३१ ॥

इत्यापस्तम्बसूत्रवृत्तावुज्ज्वलायामष्टमी कण्डिका ॥
इति चापस्तम्बधर्मसूत्रवृत्तौ हरदत्तविरचितायामुज्ज्वलायां
प्रथमप्रश्ने द्वितीयः पटलः ॥ २ ॥

अनु०—ब्रह्मचर्य का व्रत पूरा करने पर, समावर्तन के बाद शिष्य को इन वचनों के साथ विदा करे 'अब दूसरे कर्तव्यों में रत होओ ॥ ३१ ॥

द्विती पटलः समाप्त

---

१. रज्जुवेण्वादिना भयोत्पादनम् इति. ख० पु०

अथ तृतीयः पटलः

एवमध्येतुरध्यापयितुश्च धर्मा उक्ताः अथ देशकालकृता अध्ययनधर्मा उच्यन्ते—

श्रावण्यां पौर्णमास्यामध्यायमुपाकृत्य मासं प्रदोषं नाधीऽयीत ॥ १ ॥

मेषादिस्थे सवितरि यो यो दर्शः प्रवर्तते ।
चान्द्रमासास्तत्तदन्ताश्चैत्राद्या द्वादश स्मृताः ।
तेषु या या पौर्णमासी सा सा चैत्र्यादिका स्मृता ।
कादाचित्केन योगेन नक्षत्रस्येति निर्णयः ।

तदेवं सिंहस्थे सवितरि याऽमावास्या तदन्ते चान्द्रमसे मासे या मध्यवर्तिनी पौर्णमासी सा श्रावणी श्रवणयोगस्तु भवतु वा मा वा । तस्यां श्रावण्यां पौर्णमास्यामध्यायमुपाकृत्य गृह्योक्तेन विधिनोपाकर्म कृत्वा स्वाध्यायमधीयीत । अधीयानश्च मासमेकं प्रदोषे प्रथमे रात्रिभागे नाधीयीत ग्रहणाध्ययनं धारणाध्ययनं च न कुर्यात् । प्रदोषग्रहणाद्रात्रावप्यूर्ध्वं न दोषः ॥ १ ॥

अनु०—श्रावण की पूर्णिमा को वेदाध्ययन का उपाकर्म करके एक मास तक प्रदोष काल में अध्ययन न करे

टि०—उपाकर्म प्रतिवर्ष वेद का अध्ययन आरम्भ करने का कर्म है । सूत्र में केवल प्रदोष में अर्थात् रात्रि के प्रथम भाग में अध्ययन का निषेध किया गया है । अतएव प्रदोष के बाद रात्रि में अध्ययन करने में कोई दोष नहीं है ॥ १ ॥

तैष्यां पौर्णमास्यां रोहिण्यां वा विरमेत् ॥ २ ॥

तिष्यः पुष्यः तेन युक्ता पौर्णमासी तैषी श्रावणीवत् । तस्यां विरमेत् । उत्सर्जनं कुर्यात् । तस्यापि प्रयोगो[1] गृह्य एवोक्तः । रोहिण्यां वा,[2] तैषमासि तिष्यात्पूर्वा या रोहिणी तस्यां वा विरमेत् । अनयोःपक्षयोः पञ्च मासानधीयीत ॥ २ ॥

अनु०—पौषमास की पौर्णमासी को अथवा उसके पूर्व भी रोहिणी नक्षत्र में अध्ययन न करे ।

टि०—इस प्रकार पाँच महीने अध्ययन का विधान किया गया है ॥ २ ॥

अर्धपञ्चमांश्चतुरो मासानित्येके ॥ ३ ॥

अर्धः पञ्चमो येषां ते अर्धपञ्चमाः । अर्धाधिकांश्चतुरो मासान् अधीयीतेत्यपेक्ष्यत[3] इत्येके मन्यन्ते । अस्मिन्पक्षे प्रोष्ठपद्यामुपाकरणं शास्त्रान्तरदर्शनात् ।

---

१. आपस्तम्बगृह्यसूत्रान्तर्गतोपाकर्मोत्सर्जनपटलव्याख्यानेऽनाकुलायामित्यर्थः । (आप० गृ० सू० पृ० १५४) एतद्वचनबलादेव हरदत्तेनोपाकर्मोत्सर्जनाख्यः पटलः आपस्तम्बगृह्यान्तर्गतो व्याख्यात इत्यवगम्यते इति न्यरूपयाम गृह्यटिप्पण्याम् ।

२. 'तिष्ये मासे भवा या रोहिणी' इति ङ० पु० । ३. अत्र मनुः ४. ९५. द्रष्टव्यः ।

उत्सर्जनस्य वा प्रतिकर्षः। उत्सर्जने च कृते श्रावण्याः प्राक् शुक्लपक्षेषु धारणाध्ययनं वेदस्य कृष्णपक्षेषु व्याकरणाद्यङ्गाध्ययनम्। पुनः श्रावण्यामुपाकृत्यागृहीतभागस्य ग्रहणाध्ययनमिति। प्रपञ्चितमेतद्[1] गृह्ये॥ ३॥

अनु०—कुछ धर्मज्ञों के अनुसार साढ़े चार महीने अध्ययन करे।

टि०—जो लोग साढ़े चार मास अध्ययन की अवधि मानते हैं उनके अनुसार उपाकर्म भाद्रपद पूर्णिमा को होना चाहिए। उत्सर्जन के बाद तक यह क्रम जारी रखे। प्रत्येक मास के कृष्णपक्ष में वेदांगों का व्याकरण आदि का अध्ययन करे। श्रावण की पूर्णिमा को उपाकर्म करके पहले न पढ़े गये वेद के अंश का अध्ययन करे॥ ३॥

निगमेष्वध्ययनं वर्जयेत्॥ ४॥

निगमाश्चत्वराः। ग्रामनिर्गमनागममार्गा वा; नियमेन गम्यते तेष्विति। तेषु सर्वप्रकारमध्ययनं वर्जयेत्॥ ४॥

अनु०—चौराहों पर किसी भी प्रकार का अध्ययन न करे॥ ४॥

आनडुहेन वा शकृत्पिण्डेनोपलिप्तेऽधीयीत॥ ५॥

अनडुत्सम्बन्धिना वा शकृत्पिण्डेनोपलिप्य निगमेष्वप्यधीयीत॥ ५॥

अनु०—(राजपथ पर भी, चौराहे पर भी) गोबर से लिपे हुए स्थान पर अध्ययन करे॥ ५॥

श्मशाने सर्वतः शम्याप्रासात्॥ ६॥

श्मशाने चाध्ययनं वर्जयेत्। सर्वतः सर्वासु दिक्षु। शम्या क्षिप्ता यावति देशे पतति ततोऽर्वागिति पञ्चमीनिर्देशाद्गम्यते॥ ६॥

अनु०—श्मशान में तथा उसके चारों ओर शम्या (जुए की कीली) फेंकने पर जितनी दूरी तक वह जाती है उतनी दूरी के भीतर अध्ययन न करे॥ ६॥

ग्रामेणाऽध्यवसिते क्षेत्रेण वा नाऽनध्यायः॥ ७॥

यदा श्मशानं ग्रामतया क्षेत्रतया वा अध्यवसितं स्वीकृतं भवति तदा अध्येतव्यमेव॥ ७॥

अनु०—यदि श्मशान के स्थान पर ग्राम बना हो अथवा श्मशान को जोतकर खेत बना दिया गया हो तो वहाँ अध्ययन कर सकता है॥ ७॥

ज्ञायमाने तु तस्मिन्नेव देशे नाऽधीयीत॥ ८॥

यदा तु तदध्यवसितमपि श्मशानं ज्ञायते-अयं स प्रदेश इति, तदा तावत्येव प्रदेशे नऽधीयीत। न शम्याप्रासात्॥ ८॥

अनु०—किन्तु जब उस प्रदेश के श्मशान होने का ज्ञान हो तो वहां अध्ययन न करे॥ ८॥

---

१. आप० गृ० ७।१. पृ० ११०.

[1]श्मशानवच्छूद्रपतितौ ॥ ९ ॥

शूद्रापतितसकाशेऽपि शम्याप्रासान्नाऽध्येयम् ॥ ९ ॥

अनु०—शूद्र वर्ण के तथा पतित व्यक्ति भी श्मशान के समान होते हैं (उनके समीप वेद का अध्ययन उसी प्रकार नहीं करना चाहिए जैसे श्मशान में नहीं करना चाहिए ।) ॥ ९ ॥

समानागार इत्येके ॥ १० ॥

एके मन्यन्ते समानागारे शूद्रपतितौ वर्ज्यौ, न शम्याप्रासादिति ॥ १० ॥

अनु०—कुछ आचार्यों का मत है कि यदि शूद्र या पतित उसी भवन में हों तो अध्ययन न करे ॥ १० ॥

शूद्रायां तु प्रेक्षणप्रतिप्रेक्षणयोरेवाऽनध्यायः ॥ ११ ॥

शूद्रायां तु यदा परस्परं प्रेक्षणं भवति तदैवाऽनध्यायः । न समानागारे, नापिशम्याप्राशादिति ॥ ११ ॥

अनु०—यदि शूद्रा स्त्री को देख रहा हो और शूद्रा स्त्री उसे देख रही हो तो अध्ययन न करे ॥ ११ ॥

तथाऽन्यस्यां स्त्रियां वर्णव्यतिक्रान्तायां मैथुने ॥ १२ ॥

शूद्राव्यतिरिक्ताऽपि या स्त्री मैथुने वर्णव्यतिक्रान्ता नीचगामिनी तस्यामपि प्रेक्षणप्रतिप्रेक्षणयोरनध्यायः ॥ १२ ॥

अनु०—इसी प्रकार जब विद्यार्थी तथा अपने से नीच वर्ण के पुरुष के साथ यौन-सम्बन्ध वाली स्त्री एक दूसरे को देखें तब विद्यार्थी अध्ययन न करे ॥ १२ ॥

ब्रह्माध्येष्यमाणो मलवद्वाससेच्छन् सम्भाषितुं ब्राह्मणेन सम्भाष्य तया सम्भाषेत । सम्भाष्य तु ब्राह्मणेनैव सम्भाष्याऽधीयीत । एवं तस्याः प्रजानिःश्रेयसम् ॥ १३ ॥

यो वेदमध्येष्यामाणो मलवद्वाससा रजस्वलया सह सम्भाषितुमिच्छति स पूर्वं ब्राह्मणेन सम्भाष्य पश्चात्तया सम्भाषेत । सम्भाष्य च पुनरपि ब्राह्मणेनैव सम्भाष्याऽधीयीत । किमेवं सति भवति ? एवं तस्या मलवद्वाससः आगामिनी या प्रजा तस्या निःश्रेयसमभ्युदयो भवति । प्रजारूपं वा निःश्रेयसं तस्या भवति । 'प्रजानिःश्रेय'मितिवचनात् विधवादिभिः सह सम्भाषणेनैतत्कर्तव्यम् ॥ १३ ॥

अनु०—वेद का अध्ययन करने का व्रत लेने वाला विद्यार्थी यदि किसी रजस्वला से बोलना चाहे तो उससे पहले किसी ब्राह्मण से भाषण करे फिर उस रजस्वला से

---

१. याज्ञवल्क्योऽत्र १. १४८. द्रष्टव्यः ।

भाषण करे और तदुपरान्त ब्राह्मण से संभाषण करने के बाद ही अध्ययन करे। इस प्रकार उस रजस्वला स्त्री के सन्तान का अभ्युदय होगा।

टि०—इस सूत्र से यह व्यंजित होता है कि विधवा रजस्वला से संभाषण में ऐसा नियम नहीं होगा, क्योंकि उसके विषय में प्रजानिःश्रेयस का प्रयोजन नहीं होता ॥१३॥

[१] अन्तश्शवम् ॥ १४ ॥

अन्तश्शवो यत्र ग्रामे तत्र नाध्येयम्। एतेना 'न्तश्चाण्डाल'मिति व्याख्यातम् ॥ १४ ॥

अनु०—जिस गांव में शव पड़ा हो वहां अध्ययन न करे ॥ १४ ॥

अन्तश्चाण्डालम् ॥ १५ ॥

चण्डाल एव चाण्डालः। उभयत्र प्रथमा सप्तम्यर्थे। अव्ययीभावो वा विभक्त्यर्थे द्रष्टव्यः ॥ १५ ॥

अनु०—जिस गांव में चण्डाल रहता हो वहां अध्ययन न करे ॥ १५ ॥

[२] अभिनिस्सृतानां तु सीम्न्यनध्यायः ॥ १६ ॥

यदा शवाः सीम्नि अभिनिस्सृता भवन्ति तदा तत्राऽनध्यायः ॥ १६ ॥

अनु०—जब शव गांव की सीमा में ले जाया जा रहा हो तो अध्ययन न करे ॥ १६ ॥

सन्दर्शने चाऽरण्ये ॥ १७ ॥

अरण्ये च यावति प्रदेशे शवश्चण्डालो वा सन्दृश्यते तावत्यनध्यायः ॥ १७ ॥

अनु०—वन में भी जब तक शव या चण्डाल दिखाई पड़ रहा हो तब तक अध्ययन न करे ॥ १७ ॥

तदहरागतेषु च ग्रामं बाह्येषु ॥ १८ ॥

बाह्याः उग्रनिषादादयः परिपन्थिनः तेषु च ग्राममागतेषु तदहरनध्यायः, तस्मिन्नहनि नाऽध्येतव्यम् ॥ १८ ॥

अनु०—यदि (उग्र, निषाद आदि) बहिष्कृत जाति के लोग गांव में आ गये हों तो उस दिन अध्ययन न करे ॥ १८ ॥

अपि सत्सु ॥ १९ ॥

ये विद्याचरित्रादिभिर्महान्तः सन्तः तेष्वपि ग्राममागतेषु तदहरनध्यायः ॥ १९ ॥

---

१. मनु० ४. १०८ तत्र द्रष्टव्यः। २. अभिनिर्हृतानां इति. ख० पु०

अनु०—महान् पुरुष भी गांव में आएँ तो उस दिन अध्ययन न करे ॥ १९ ॥

सन्धावनुस्तनिते रात्रिम् ॥ २० ॥

सन्धिः सन्ध्या तस्मिन् सन्धौ। अनुस्तनिते मेघगर्जिते सति रात्रिं सर्वां रात्रिं नाऽधीयीत। वर्षर्तोविदम्। अन्यस्मिन्नधिकं वक्ष्यति ॥ २० ॥

अनु०—यदि सन्ध्या को मेघों की गर्जन होवे तो उस रात्रि में अध्ययन न करे ॥ २० ॥

स्वप्नपर्यान्तं विद्युति ॥ २१ ॥

अन्त्यो दीर्घ उपान्त्यो ह्रस्वः। विपर्यासश्छान्दसोऽपपाठो वा। सन्धौ विद्युति सत्यां स्वप्नपर्यन्तां रात्रिमनध्यायः न सर्वाम्। स्वप्नपर्यन्ता रात्रिः प्रहरावशिष्टा ॥ २१ ॥

अनु०—यदि विद्युत् चमके तो सोने के समय तक अनध्याय रखे।

टि०—सारी रात अनध्याय नहीं होगा, अपितु सोकर उठने के बाद एक प्रहर अध्ययन किया जाय ॥ २१ ॥

एवं सायं सन्ध्यायामुक्तं, प्रातःसन्ध्यायामाह—

उपव्युषं यावता वा कृष्णां रोहिणीमिति शम्याप्रासाद्विजानीयादेतस्मिन्काले विद्योतमाने सप्रदोषमहरनध्यायः ॥ २२ ॥

उपव्युषं उषस्समीपे तत्र विद्योतमाने विद्युति सत्यामपरेद्युस्सप्रदोषमहरनध्यायः। प्रदोषादूर्ध्वं रात्रावध्ययनम्। यावता वा कालेन शम्याप्रासादर्वागवस्थितां गां कृष्णामिति वा रोहिणीमिति वा विजानीयात्। एतस्मिन्काले उपव्युषं विद्योतमान इत्यन्वयः रोहिणी गौरवर्णा। इतिशब्दप्रयोगे द्वितीया प्रयुज्यते तत्राऽन्वयप्रकारश्चिन्त्यः ॥ २२ ॥

अनु०—यदि उषाकाल के समीप विद्युत की चमक दिखाई पड़े अथवा उस समय पर विद्युत दिखाई पड़े जब एक शम्या के फेकने भर की दूरी पर स्थित गौ के काली या लाल होने का ज्ञान न होता हो, तो वह उस दिन को तथा सन्ध्या को अध्ययन न करे ॥ २२ ॥

दह्रेऽपररात्रे स्तनयित्नुना ॥ २३ ॥

रात्रेस्तृतीयो भागः सर्वोऽपररात्रः। तस्य त्रेधा विभक्तस्याद्योऽशों महारात्रः। अन्त्यो दह्रः। तस्मिन् दह्रेऽपररात्रे स्तनयित्नुना निमित्तेन सप्रदोषमहरनध्यायः ॥ २३ ॥

अनु०—यदि रात्रि के तीसरे भाग के उत्तरार्द्ध में मेघगर्जन हो तो उसके बाद दिन भर या सन्ध्या को अध्ययन न करे ॥ २३ ॥

---

१. अस्य सूत्रत्वेन परिगणनं कृतं क० पु०

ऊर्ध्वमर्धरात्रादित्येके ॥ २४ ॥

अर्धरात्रादूर्ध्वमनन्तरोक्तो विधिरित्येके मन्यन्ते । स्वपक्षस्तु दह्व एवेति ॥ २४ ॥

अनु०—कुछ धर्मज्ञों का मत है कि यह नियम उस समय होता है जब रात्रि का पूर्वार्द्ध बीत जाने के बाद गर्जन हो।

टि०—आपस्तम्ब को सूत्र २३ का नियम ही मान्य है ॥ २४ ॥

गवां चाऽवरोधे ॥ २५ ॥

दस्युप्रभृतिभिरवरुद्धासु गोषु तावन्तं कालमनध्यायः अवरोधो ग्रामान्निर्गमनिरोधः ॥ २५ ॥

अनु०—जब गौएँ अवरुद्ध कर दी गई हो तब अध्ययन न करे।

टि०—व्याख्याकार हरदत्त के अनुसार जब गौएं चोरों आदि द्वारा गाँव से निकलने से रोक दी गई हो ॥ २५ ॥

वध्यानां च यावता हन्यन्ते ॥ २६ ॥

वधार्हाणां चोरादीनामवरोधे यावता कालेन हन्यन्ते तावन्तं कालमनध्यायः ॥ २६ ॥

अनु०—वध के योग्य (चोर आदि) का जब वध किया जा रहा हो तब उतने समय तक अनध्याय होता है जितने समय में उनका वध हो ॥ २६ ॥

पृष्ठारूढः पशूनां नाऽधीयीत ॥ २७ ॥

हस्त्यश्वादीनां पशूनां पृष्ठाऽरूढः तत्राऽऽसीनस्सन्नाऽधीयीत ॥ २७ ॥

अनु०—(हाथी, अश्व) आदि पशुओं के पीठ पर बैठकर (अध्ययन न करे) ॥२७॥

अहोरात्रावमावास्यासु ॥ २८ ॥

अमावास्यासु द्वावहोरात्रौ नाऽधीयीत। तासु च पूर्वेद्युश्चतुर्दशीषु च। तथा च मनुः[1]—'अमावास्याचतुर्दश्योः पौर्णमास्यष्टकासु च।' इति ॥ २८ ॥

इत्यापस्तम्बसूत्रवृत्तावुज्ज्वलायां नवमी कण्डिका ॥

अनु०—अमावास्या को दो दिन और दो रात्रि अध्ययन न करे ॥ २८ ॥

नवमी कण्डिका समाप्त

---:o:---

चातुर्मासीषु च ॥ १ ॥

चतुर्षु मासेषु भवाश्चातुर्मास्यः। संज्ञैषा तिसृणां पौर्णमासीनां यासु चातुर्मास्यानि क्रियन्ते। काः पुनस्ताः? फाल्गुन्याषाढीकार्तिक्यः। चातुर्मास्यो यज्ञः। 'तत्र भव' इति वर्तमाने 'संज्ञायामणि' त्यण्प्रत्ययः। तासु चातुर्मासीषु

१. मनु० स्मृ० ४. ११३.

पूर्ववद्वावहोरात्रावनध्यायः। गौतमस्तु स्वशब्देनाह[1] 'कार्तिकी फाल्गुन्याषाढी पौर्णमासी' ति। [2] पौर्णमास्यनन्तरप्रतिपत्सु च शास्त्रान्तरवशादनध्यायः। यथा ह्योशनाः—'पर्वणीतिहासवर्जितानां विद्यानामनध्याय' इति। 'प्रतिपत्सु न चिन्तये' दिति च। एवं चतर्दशीमात्रस्य वर्जने शास्त्रान्तरं[3] मूलं मृग्यम्। तत्र याज्ञवल्क्यः—

[4] 'पञ्चदश्यां चतुर्दश्यामष्टम्यां राहुसूतके।' इति ॥ १ ॥

अनु०—जिन मासों में चातुर्मास्य यज्ञ किये जाते हैं उनको पौर्णमासी तिथियों को अध्ययन न करे।

टि०—ये पौर्णमासी तिथियों फाल्गुन, आषाढ़ और कार्तिक की होती हैं। गौतमधर्मसूत्र में इन तीनों का स्पष्ट उल्लेख किया गया है 'कार्तिकी फाल्गुन्याषाढी पौर्णमासी'। पौर्णमासी के बाद प्रतिपद को भी अनध्याय होता है ॥ १ ॥

वैरमणे गुरुष्वष्टाक्य औपाकरण इति त्र्यहाः ॥ २ ॥

विरमणमुत्सर्जनं तदेव वैरमणम्। तस्मिन् वैरमणे। प्रथमान्तपाठे सिप्तम्यर्थे प्रथमा। गुरुषु श्वशुरादिषु। संस्थितेष्विति प्रकरणाद्गम्यते। अष्टकैवाऽष्टाक्यं स्वार्थिकः ष्यञ्। आदौ प्राप्ता वृद्धिर्मध्ये कृता। उपाकरणमेवौपाकरणम्। एतेषु निमित्तेषु त्र्यहा अध्ययनरहिताः तत्र गुरुषु मरणदिनमारभ्य त्र्यहाः। इतरेषु पूर्वेद्युरपरेद्युस्तस्मिंश्च दिने नाधीयीत। अत्र गौतमः—[5] 'तिस्रोऽष्टकास्त्रिरात्रमन्त्यामेकेऽभितो वार्षिक' मिति। उपाकरणादूर्ध्वं प्रागुत्सर्जनात् यदध्ययनं तद्वार्षिकम्। तदभितस्तस्यादावन्ते च यत्कर्म क्रियते तत्रापि त्रिरात्रमित्यर्थः। औशनसे च व्यक्तमुक्तम् 'उपाकर्मणि चोत्सर्गे त्र्यहमनध्याय'[6] इति। मानवे च व्यक्तम् 'उपाकर्मणि चोत्सर्गे त्रिरात्रं क्षपणं स्मृतम्।[7]' इति ॥ २ ॥

अनु०—उत्सर्ग अर्थात् वेदाध्ययन के विराम के समय, (श्वशुर आदि) गुरु की मृत्यु पर, अष्टका श्राद्ध के अवसर पर, तथा उपाकर्म के समय तीन दिन का अनध्याय होता है।

---

१. गौ० ध० १६. ३२. २. पौर्णमास्यन्तरें प्रतिपत्सु च इति. ख० पु०

३. मूलम्' इति. नास्ति क० पुस्तके। मृग्यमिति नास्ति ख० पुस्तके

४. या० स्मृ० १. १४६. ऋतुसन्धिषु भुक्त्वा च श्राद्धं प्रतिगृह्य च इत्यधिकः पाठः ख० पुस्तके।

५. गौ० १६. ३८-४०

६. नेदं वचनमिदानीमुपलभ्यमानायां पद्यात्मिकायामौशनसस्मृतौ दृश्यते।

७. मनु० ४. ११९.

टि०—गुरु की मृत्यु पर मरने के दिन से तीन दिन का अनध्याय होता है। अन्य निमित्त में वेदोत्सर्ग, अष्टकाश्राद्ध तथा उपाकर्म में एक दिन पूर्व तथा एक दिन बाद अनध्याय होता है ॥ २ ॥

तथा सम्बन्धेषु ज्ञातिषु ॥ ३ ॥

ये सन्निकृष्टा ज्ञातयः भ्रातृतत्पुत्रपितृव्यादयः। तेष्वपि मृतेषु तथा त्र्यहमनध्यायः। ब्रह्मचारिणो विधिरयम्। आशौचवतां तु यावदाशौचमनध्यायः शास्त्रान्तरसिद्धः—

'उभयत्र दशाऽहानि कुलस्यान्नं न भुज्यते। दानं प्रतिग्रहो यज्ञः स्वाध्यायश्च निवर्तते ॥'[1] इति ॥

उभयत्र जनने मरणे च ॥ ३ ॥

अनु०—निकट सम्बन्धियों (भाई, भतीजा, चाचा आदि) की मृत्यु पर तीन दिन का अनध्याय होता है

टि०—यह नियम ब्रह्मचारी के लिए है, अन्यथा निकट सम्बन्धियों की मृत्यु पर दस दिन तक आशौच रहता है ॥ ३ ॥

मातरि पितर्याचार्य इति द्वादशाहाः ॥ ४ ॥

मात्रादिषु मृतेषु द्वादशाहमनध्यायः। अयं विधिर्गृहस्थानमपि। केचिदाशौचमपि तावन्तं कालमिच्छन्ति। नेति वयम्, अनध्यायप्रकरणात् ॥ ४ ॥

अनु०—माता, पिता तथा आचार्य की मृत्यु पर बारह दिन का अनध्याय होता है।

टि०—गृहस्थों के लिए भी इतना समय समझना चाहिए। कुछ धर्मशास्त्रकार इनकी मृत्यु में बारह दिन का आशौच मानते है ॥ ४ ॥

तेषु चोदकोपस्पर्शनं तावन्तं कालम् ॥ ५ ॥

मात्रादिष्वधिकं तावन्तं कालमहरहस्स्नानपि कार्यम्, न केवलमनध्यायः ॥ ५ ॥

अनु०—इनकी मृत्यु पर उतने ही दिन तक प्रतिदिन स्नान भी करे ॥ ५ ॥

अनुभाविनां च परिवापनम् ॥ ६ ॥

अनु पश्चात् भूता जाता अनुभाविनः मृतापेक्ष्याऽवरवयसः। तेषां परिवापनमपि भवति केशानाम्।[2] 'कृत्यच इति प्राप्तस्य णत्वस्य[3] 'णे

---

१. मनु० ५. ३.

२. 'शिखामनु प्रवपन्त ऋध्ये'' इति वचनम्? तस्य बलीयस्त्वादित्याह इति. ख० पु०

३. पा० सू० ८. ४. २२. उपसर्गस्थान्निमित्ततः (रेफषकाराभ्यां) परस्याऽच उत्तरस्य कृत्प्रत्ययगतस्य नकारस्य णत्वं स्यादिति सूत्रार्थः ॥

'विभाषे' ति विकल्पः। अन्ये तु शावं दुःखमनुभवतां सर्वेषां परिवापनमिच्छन्ति।

अपर आह—अनुभाविन उदकार्हाः। तेषां मरणे परिवापनमिति ॥ ६ ॥

अनु०—मृत व्यक्ति की अपेक्षा कम आयु वाले निकट सम्बन्धी अपने केशों का भी मुण्डन करायें।

टि०—अनुभाविन से हरदत्त ने मृत की अपेक्षा कम आयु के 'मृतापेक्षयाऽवरवयसः' अथवा उसके बाद उत्पन्न 'पश्चात् भूता' अर्थ किया है और यह भी संकेत कर दिया है कि कुछ लोग 'अनुभाविन्' का अर्थ 'उदकार्ह' जलांजलि देने योग्य किया है और उनके अनुसार सूत्र का अर्थ होगा—उदकार्ह सम्बन्धी की मृत्यु पर केशों का क्षौर होता है। 'अनुभाविनां' से यह भी अर्थ लिया गया है कि दु.ख का अनुभव करने वाले सभी व्यक्ति केशों का परिवापन करायें ॥ ६ ॥

न समावृत्ता वपेरन्नन्यत्र विहारादित्येके ॥ ७ ॥

विहारो यागदीक्षा। ततोऽन्यत्र न समावृत्ता वपेरन्नित्येके मन्यन्ते। स्वमतं तु वपेरन्नेवेति ॥ ७ ॥

अनु०—कुछ धर्मशास्त्रज्ञों का मत है कि समावृत्त व्यक्ति श्रौत यज्ञ की दीक्षा के अतिरिक्त किसी अन्य अवसर पर परिवापन न करायें ॥ ७ ॥

तत्र वपनस्याऽमङ्गलत्वं गुणविधिना परिहारं च वक्तं ब्राह्मणमुदाहरति—

अथापि ब्राह्मणम्—रिक्तो वा एषोऽनपिहितो यन्मुण्डस्तस्यैतदपिधानं यच्छिखेति ॥ ८ ॥

रिक्तः अन्तःशून्यो घटादिः। सोऽनपिहितः पिधानरहितो यादृशः तादृश एषः यन्मुण्डो नाम। तस्य रिक्तस्यापिधानमेतत् यच्छिखा नाम। अनेनचैतद्दर्शितं-निषेधशास्त्रं सह शिखया वपनप्रतिषेधपरमिति ॥ ८ ॥

अनु०—ब्राह्मण ग्रन्थ में भी कहा गया है—जिसके केश का सम्पूर्ण मुण्डन हो गया है वह एक रिक्त तथा विना पिहान के (घट) जैसा होता है, शिखा उसके पिहान की तरह होती है।

टि०—इसमें यह प्रदर्शित किया गया है कि श्रौतयज्ञ की दीक्षा के अतिरिक्त किसी अन्य अवशर पर शिखासहित वपन नहीं होना चाहिए ॥ ८ ॥

कथं तर्हि सत्रेषु शिखाया वपनम्?[2] वचनसामर्थ्यादित्याह—

सत्रेषु तु वचनाद्वपनं शिखायाः ॥ ९ ॥

स्पष्टम् ॥ ९ ॥

---

१. पा० सू० ८. ४. ३. उपसर्गस्थान्निमित्तात्परस्य, णिजन्ताद्विहितो यः कृत्प्रत्ययः तद्गतस्य नकारस्य णत्वं विकल्पेन स्यात् इति सूत्रार्थः। २. ५६. पृष्ठे ५. टिप्पणी द्रष्टव्या

सूत्रों में तो शिखा का भी वपन होता है क्योंकि वेद में इसका निर्देश किया गया है ॥ ९ ॥

आचार्ये त्रीनहोरात्रानित्येके ॥ १० ॥

आचार्ये संस्थिते त्रीनहोरात्रानध्ययनं वर्जयेदित्येके मन्यते। स्वपक्षस्तु द्वादशाहः पूर्वमुक्तः ॥ १० ॥

अनु०—कुछ धर्मशास्त्रज्ञों के अनुसार आचार्य की मृत्यु पर केवल तीन दिन का अनध्याय होता है।

टि०—किन्तु आपस्तम्ब का अपना मत है कि बारह दिन का अनध्याय होना चाहिए जैसा कि ऊपर सूत्र ४ में स्पष्ट कहा गया है ॥ १० ॥

श्रोत्रियसंस्थाया[1] मपरिसंवत्सरायामेकाम् ॥ ११ ॥

श्रोत्रियं[2] वक्ष्यति। तस्य संस्थायामपरिपूर्णसंवत्सरायां श्रुतायामेकां रात्रिमेकमहोरात्रमध्ययनं वर्जयेत्। अत्र संस्थाश्रवणाद्गुर्वादिष्वपि सैव निमित्तमनध्यायस्य ॥ ११ ॥

अनु०—श्रोत्रिय (विद्वान वेदज्ञ ब्राह्मण) मृत्यु का समाचार उसकी मृत्यु के एक वर्ष के भीतर सुनने पर एक दिन और एक रात का अनध्याय होता है।

टि०—व्याख्या में हरदत्त ने किसी गुरु की मृत्यु का समाचार एक वर्ष के भीतर सुनने पर भी इतना ही अनध्याय माना है ॥ ११ ॥

सब्रह्मचारिणीत्येके ॥ १२ ॥

एके तु सब्रह्मचारिणो मरण एवऽनन्तरोक्तमनध्यायमिच्छन्ति, न तु श्रोत्रियसामान्यमरणे ॥ १२ ॥

अनु०—कुछ धर्मशास्त्रकार श्रोत्रिय के सहाध्यायी होने पर ही उसकी मृत्यु का समाचार एक वर्ष के भीतर सुनकर एक दिन और एक रात्रि के अनध्याय का नियम मानते है ॥ १२ ॥

श्रोत्रियाभ्यागमेऽधिजिगांसमानोऽधीयानो वा
ऽनुज्ञाप्याधियीत ॥ १३ ॥

श्रोत्रियेऽभ्यागते अध्येतुकामोऽधीयानश्च तमनुज्ञाप्याधीयीत ॥ १३ ॥

अनु०—यदि श्रोत्रिय आया हो तो उस समय पढ़ाने की इच्छा हो या वस्तुतः अध्ययन कर रहा हो तो उसकी अनुमति लेकर अध्ययन करे ॥ १३ ॥

---

१. उपरि संवत्सरायां इति क० पुस्तकेपपाठः। २. आप० ध० २. ६. ४. सूत्रे।

अध्यापयेद्वा ॥ १४ ।

अध्यापयितुकामोऽध्यापयन्वेति प्रकरणाद्गम्यते। सोऽपि तमनुज्ञाप्याध्यापयेदिति ॥ १४ ॥

अनु०—इसी प्रकार श्रोत्रिय के आगमन के समय अध्यापन का विचार हो। अथवा अध्यापन कर रहा हो तो उसकी अनुमति लेकर अध्यापन करे ॥ १४ ॥

गुरुसन्निधौ "चाधीहि भो" इत्युक्त्वाऽधीयीत ॥ १५ ॥

धारणाध्ययनं पारायणाध्ययनं वा कुर्वन् गुरौ सन्निहिते सति 'अधीहि-भो' इत्युक्त्वाधीयीत ॥ १५ ॥

अनु०—गुरु निकट हों तो 'अधीहिभो' ऐसा कहकर अध्ययन करे।

टि०—'अधीहि भो' इस वाक्य को कहनेवाला कौन होगा गुरु या शिष्य यह चिन्तनीय है। ॥ १५ ॥

अध्यापयेद्वा ॥ १६ ॥

अध्यापयन्नपि तत्सन्निधावेवमेवोक्त्वाऽध्यापयेत् ॥ १६ ॥

अथवा अध्यापनकरे ॥ १६ ॥

उभयत उपसंग्रहणमधिजिगांसमानस्याधीत्य च ॥ १७ ॥

उभयत अध्ययनस्याऽऽदावन्ते च उपसंग्रहणं कर्तव्यं यथाक्रम[1] मध्येतुकामस्याऽऽदावधीत्यान्ते ॥ १७ ॥

अनु०—अध्ययन करने की इच्छा करते समय तथा पाठ समाप्त करने के बाद दोनों ही अवसरों पर गुरु के चरणों का उपसंग्रहण करे ॥ १७ ॥

अधीयानेषु वा यत्राऽन्यो व्यवेयादेतमेव शब्दमुत्सृज्याऽधीयीत ॥ १८ ॥

बहुवचनमतन्त्रम्। अधीयानेषु च यत्राऽन्यो व्यवेयादन्तरा गच्छेत्, तत्रा 'प्यधीहि' भोइत्येतमेव शब्दमुत्सृज्य उच्चार्याऽधीयीत। प्रत्येकमुपदेशादेकवचनम्। अधीयीरन् ॥ १८ ॥

अनु०—जब शिष्य अध्ययन कर रहे हो तब यदि कोई अन्य व्यक्ति आ जाता है तो वे ही शब्द ('अपि अधीहि भो') कहने के बाद अध्ययन आरम्भ करे ॥१८॥

श्वगर्दभनादास्सलावृक्येकसृकोलूकशब्दास्सर्वे त्रादितशब्दा रोदनगीतसामशब्दाश्च ॥ १९ ॥

---

१. अध्येतुकामस्येत्यादि ङ० पुस्तक एवास्ति। मनौ० २. ७३ श्लोको द्रष्टव्यः।

शुनां गर्दभानां च बहूनां नादः। बहुवचननिर्देशात् सलावृकी वृकजातावबान्तरभेदः। क्रोष्ट्रीत्यन्ये। लिङ्गस्याविवक्षितत्वात्पुंसोऽपि ग्रहणम्। "इन्द्रो यतीन् सालावृकेभ्य" इत्यादौ दर्शनात्। सर्वत्रादिस्वरो दीर्घः। स एवायं विकृतः प्रयुक्तः। एकसृकः एकचरः सृगालः। उलूको दिवाभीतः। एतेषां च शब्दाः। वादितानि वादित्राणि वीणावेणुमृदङ्गादीनि। तेषां च सर्वे शब्दाः। रोदनशब्दादयश्च। एते श्रूयमाणा [2]अनध्यायस्य हेतवः॥ १९॥

अनु०—अनेक कुत्तों का भोंकना कई गदहों का रेंकना, भेड़िया का बोलना, एकसृक (सृगाल) और उल्लू के शब्द सुनना वादन यन्त्रों का शब्द रोने, गीत तथा सामगान का शब्द—ये सभी अनध्याय के निमित्त होते हैं॥ १९॥

शाखान्तरे च साम्नामनध्यायः॥ २०॥

वेदान्तरसकाशे[3] साम्नामनध्ययनम्। गीतिषु सामाख्या, तद्योगाद्वेदवचन इत्यन्ये॥ २०॥

अनु०—जब अन्य वेद का समीप में उच्चारण किया जा रहा हो तब सामगान का अध्ययन नहीं करना चाहिए॥ २०॥

सर्वेषु च शब्दकर्मसु यत्र संसृज्येरन्॥ २१॥

आक्रोश[4]परिवादादिषु सर्वेषु शब्दकर्मसु अनध्यायः। यत्राध्ययनशब्देन ते संसृज्येरन्॥ २१॥

अनु०—सभी प्रकार के शब्दों के सुनाई पड़ने पर, यदि वे शब्द अध्ययन के शब्द में मिलकर विघ्न उत्पन्न करते हों, तो अध्ययन नहीं करना चाहिए॥ २१॥

छर्दयित्वा स्वप्नान्तम्॥ २२॥

छर्दनं वमनम्। तत्कृत्वा स्वप्नान्तं यावन्नाऽधीयीत॥ २२॥

अनु०—वमन करने के बाद फिर सोकर उठने तक अध्ययन न करे॥ २२॥

सर्पिर्वा प्राश्य॥ २३॥

अथ वा सर्पिः प्राश्याऽधीयीत॥ २३॥

अनु०—अथवा (वमन के बाद) घृत खाकर अध्ययन करे॥ २३॥

पूतिगन्धः॥ २४॥

दुर्गन्ध उपलभ्यमानोऽनध्यायहेतुः॥ २४॥

अनु०—दुर्गन्ध भी अनध्याय का हेतु होता है॥ २४॥

---

१. तै० सं० ६. २. ७. २ या० स्मृतौ १. १४८-१५१. श्लोका द्रष्टव्याः।

३. साम नाऽध्येयम्। इति. ख० पु०   ४. परिहासादिषु० इति. क० पु०

शुक्तञ्चाऽऽत्मसंयुक्तम् ॥ २५ ॥

यत्पक्वं कालपाकेनाऽम्लं जातं तच्छुक्तम्। तच्चावदात्मसंयुक्तं स्वोदरस्थमजीर्णं, यावत्तदनुगुण उद्गारस्तावदनध्यायहेतुः ॥ २५ ॥

अनु०—जब तक पेट में अजीर्ण के कारण अम्ल बना हुआ भोजन हो (खट्टी डकारें आती हों) तब तक अध्ययन न करे ॥ २५ ॥

प्रदोषे च भुक्त्वा नाऽधीयीत ॥ २६ ॥

तेनाऽधीत्यैव भुञ्जीत ॥ २६ ॥

अनु०—सायंकाल भोजन करके अध्ययन न करे।

टि०—इस कारण सायंकाल अध्ययन के बाद ही भोजन करे ॥ २६ ॥

प्रोदकयोश्च पाण्योः ॥ २७ ॥

भुक्त्वेत्येव। भुक्त्वा यावत्प्रोदकौ पाणी आर्द्रौ तावन्नाऽधीयीत। केचित भुक्त्वेति नानुवर्तयन्ति ॥ २७ ॥

अनु०—(भोजन करने के बाद) जब तक हाथ गीला हो तब तक अध्ययन न करे।

टि०—कुछ लोग इस सूत्र का अर्थ करते समय 'भुक्त्वा' 'भोजन करके' इतना सम्बन्ध नहीं जोड़ते ॥ २७ ॥

प्रेतसंक्लृप्तं चान्नं भुक्त्वा सप्रदोषमहरनध्यायः ॥ २८ ॥

यो मृतोऽसपिण्डीकृतस्स प्रेतः। तदुद्देशेन दत्तमन्नं भुक्त्वा सप्रदोषमहर्नाऽधीयीत। प्रदोषादूर्ध्वं न दोषः। अत्र मनुः—

'यावदेकानुद्दिष्टस्य गन्धो लेपश्च तिष्ठति।

विप्रस्य विदुषो देहे तावद्ब्रह्म न कीर्तयेत् ॥' इति ॥ २८ ॥

अनु०—मृत व्यक्ति को उद्दिष्ट कर दिये गये (श्राद्ध के) भोजन को ग्रहण करने के बाद एक दिन तथा सायंकाल अध्ययन न करे।

टि०—प्रदोष के बाद अध्ययन करने में कोई दोष नहीं ॥ २८ ॥

आ च विपाकात् ॥ २९ ॥

यदि तावता कालेन तदन्नं पक्वं जीर्णं न भवति, तत आविपाकात् तस्य नाऽधीयीत ॥ २९ ॥

अनु०—अथवा जब तक वह अन्न पच नहीं जाता तब तक अध्ययन न करे ॥२९

अश्राद्धेन तु पर्यवदध्यात् ॥ ३० ॥

जीर्णे अजीर्णे च तस्मिन् अश्राद्धेनाऽन्नेन पर्यवदध्यात् तस्योपर्यश्राद्धमन्नं

१. मनु० स्मृ० ४. १११.

भुञ्जीतेत्युक्तं भवति। केचित् अत्र 'अश्राद्धेने' ति वचनात् पूर्वत्रापि प्रेतान्नमिति श्राद्धमात्रं विवक्षितं मन्यन्ते ॥ ३० ॥

॥ इत्यापस्तम्बधर्मसूत्रे तद्वृत्तावुज्ज्वलायां च दशमी कण्डिका ॥

अनु०—श्राद्ध के अवसर पर खाये हुए अन्न के बाद ऐसा अन्न अवश्य खावे जो श्राद्ध के लिए न कल्पित हो ॥ ३० ॥

दशमी कण्डिका समाप्त

—:०:—

काण्डोपाकरणे चाऽऽमातृकस्य ॥ १ ॥

काण्डोपाकरणं काण्डव्रतादेशनम्। तस्मिन्नहनि अमातृकस्यान्नं भुक्त्वा सप्रदोषमहरनध्यायः। अपर आह—भुक्त्वेति नाऽनुवर्तते। यथाचोत्तरत्र भुक्त्वाग्रहणम्। काण्डोपाकरणे अमातृकस्य माणवकस्या सप्रदोषमहरनध्यायः। एतेनोत्तरं व्याख्यातम् ॥ १

अनु०—वेद के नये काण्ड का अध्ययन आरम्भ करने पर मातृहीन व्यक्ति द्वारा दिया गया भोजन करके एक दिन तथा सन्ध्या को अनध्याय रखे ॥ १ ॥

काण्डसमापने चाऽपितृकस्य ॥ २ ॥

काण्डसमापनं व्रतविसर्गः ॥ २ ॥

अनु०—काण्ड समाप्त करने के दिन यदि पितृहीन व्यक्ति का अन्न ग्रहण करे तो एक दिन तथा सन्ध्या को अनध्याय रखे ॥ २ ॥

मनुष्यप्रकृतीनां च देवानां यज्ञे भुक्त्वेत्येके । ३ ॥

ये मनुष्या भूत्वा प्रकृष्टेन तपसा देवास्सम्पन्नास्ते मनुष्यप्रकृतयो [1]नन्दिकुबेरादयः। तेषां यज्ञः तत्प्रीत्यर्थे ब्राह्मणभोजनम्, तत्रभुक्त्वा सप्रदोषमहरनध्याय इत्येके मन्यन्ते। मनुष्यमुखेन देवेष्विज्यमानेष्वित्यन्ये ॥ ३ ॥

अनु०—कुछ धर्मशास्त्रज्ञों का मत हैं कि जो देवता पहले मनुष्य थे और (तपस्या के कारण) देवता हो गये हों उनके लिए किये गए यज्ञ में अन्न ग्रहण करने के वाद भी उतने ही समय तक (एक दिन तथा सन्ध्या को) अनध्याय रखे।

टि०—ऐसे देवों में हरदत्त ने नन्दिकुबेर का उदाहरण दिया ॥ ३ ॥

पर्युषितैस्तण्डुलैरामपांसेन च नाऽनध्यायः ॥ ४ ॥

'प्रेतसंक्लृप्तं चाऽन्न' (१०.२८) मित्यस्यापवादः पर्युषिता रात्र्यन्तरिताः ह्यः प्रतिगृहीताः, तेषु तण्डुलेष्वद्य पक्त्वा भुज्यमानेषु नानध्यायः। तथा आममांसेन तदहर्भक्षितेनापि नानध्यायः पर्युषितेनेत्यके। 'पर्युषितै' रिति वचनात्तदहर्भक्षितैः सप्रदोषमहरनध्यायः ॥ ४ ॥

---

१. 'नन्दीश्वरशरकुमारादयः' इति पाठान्तरम्।

अनु०—यदि एक दिन पहले (रात्रि से पूर्व) प्राप्त चावल या कच्चा मांस बनाकर खावे तो अनध्याय नहीं होता (भले ही ये खाद्य पदार्थ मृत व्यक्ति के लिए श्राद्ध के ही उद्दिष्ट करके दिया गया हो) ।

टि०—यह सूत्र दशमी कण्डिका के २८वें सूत्र का अपवाद है ॥ ४ ॥

तथौषधिवनस्पतिमूलफलैः ॥ ५ ॥

ओषधिग्रहणेन वीरुधोऽपि गृह्यन्ते । वनस्पतिग्रहणेन वृक्षमात्रम् । तेषां मूलैः सूरणकन्दादिभिः फलैश्चाऽम्रादिभिः पक्वैरपक्वैश्च तदहर्भक्षितैरपि नाऽनध्यायः ॥ ५ ॥

अनु०—यदि (श्राद्ध से संम्बद्ध) लताओं और वृक्षों का मूल-फल खावे तो अनध्याय नहीं होता ॥ ५ ॥

यत्काण्डमुपाकुर्वीत यस्य चानुवाक्यं कुर्वीत
न तत्तदहरधीयीत ॥ ६ ॥

यस्मिन्नहनि यत्काण्डमुपाकृतं न तत्तदहरधीयीत । तथा श्रावण्यां पौर्णमास्यामुपाकृत्य प्रशस्तेऽहरन्तरे यस्य काण्डस्यानुवाक्यमध्येतुमारम्भं कुर्वीत न तत्तदहरधीयीत । अहरित्यहोरात्रोपलक्षणम् ॥ ६ ॥

अनु०—काण्ड आरम्भ करने की तिथि (श्रावण की पौर्णमासी) को अथवा काण्ड की अनुवाकानुक्रमणी का अध्ययन करते समय सम्बद्ध काण्ड का उस दिन (तथा उस रात्रि) अध्ययन न करे ॥ ६ ॥

उपाकरणसमापनयोश्च पारायणस्य तां विद्याम् ॥ ७ ॥

अनेकवेदाध्यायी यद्येकस्य वेदस्य पारायणं कुरुते तदा तस्य पारायणस्य [1]ये उपाकरणोत्सर्जने, तयोः कृतयोस्तां विद्यां तदहर्नाऽधीयीत । एतदेव ज्ञापकं पारायणस्याऽप्युपाकरणोत्सर्जने भवत इति । 'तां विद्यामि' ति वचनाद्विद्यान्तराध्ययने न दोषः ॥ ७ ॥

अनु०—(अनेक वेदों का अध्येता) एक वेद के पारायण का उपाकरण तथा उत्सर्जन करने के बाद उस (वेद) विद्या का उस दिन अध्ययन न करे ॥ ७ ॥

वायुर्घोषवान् भूमौ तृणसंवाहो वर्षति वा यत्र धाराः प्रवहेत् ॥ ८ ॥

घोषवान् कर्णश्रवः । भूमाववस्थितानि तृणानि संवाहयति उत्क्षिप्य गमयतीति तृणसंवाहः । वर्षति वा[2] मेघे धाराः प्रवहेत् विक्षिपेत् । यत्र देशे एवं-

---

१. उपाकरणोत्सर्जनयोः इति ङ० पु०   २. देवे. इति क० पु०

विधो वायुस्तत्र तावन्तं कालं नाऽधीयीत। अत्र मनुः—
[1]"कर्णश्रवेऽनिले रात्रौ दिवा पांसुसमूहने" ॥ इति ॥ ८ ॥

अनु०—यदि वायु हर-हराती हुई बहती हो, तिनकों को उड़ा रही हो या मेघ की धाराओं की बौछार ला रही हो तो उस स्थान पर (जब तक इस प्रकार की वायु बह रही हो) अध्ययन न करे ॥ ८ ॥

उत्तरे द्वे सूत्रे निगदसिद्धे—

[2]ग्रामारण्ययोश्च सन्धौ महापथे च विप्रोष्य च समध्ययनं तदहः ॥९॥

यदा[3] सहाऽधीयानाः कारणवशाद्विप्रवसेयुः। केचिच्चाचार्येण वा सङ्गतास्तदा समध्ययनं सहाऽधीयमानं प्रदेश तदहर्नाधीयीत। विप्रोषितानां यदहः पुनर्मेलनं तदहर्नाधीयीतेत्यन्ये ॥ ९ ॥

अनु०—गांव और वन की सीमा पर, महापथ पर अध्ययन न करे अथवा साथ अध्ययन करने वाला यात्रा पर गया हो तो उस दिन उस अंश का अध्ययन न करे।

टिप्पणी—इसकी एक व्याख्या यह भी है कि जब साथ अध्ययन करने वाले कहीं यात्रा से लौटे हो तो उस दिन उनके साथ अध्ययन न करे ॥ ९ ॥

स्वैरिकर्मसु च ॥ १० ॥

नाधीयीतेत्येव ॥ १० ॥

अनु०—अपने को सुख देने वाले कर्मों को करते समय अध्ययन न करे ॥१०॥

अत्रोदाहरणम्—

यथाहस्तप्रक्षालनोत्सादनानुलेखणानीति ॥ ११ ॥

णत्वमाकस्मिकम्, अपपाठो वा ॥ ११ ॥

अनु०—इस प्रकार के स्वयं को सुख देने वाले कर्म हैं: हाथ धोना, दबाना या खुजलाना ॥ ११ ॥

तावन्तं कालं नाऽधीयीताऽध्यापयेद्वा ॥ १२ ॥

तेषु स्वैरिकर्मसु तावन्तं कालमध्ययनमध्यांपनञ्च वर्जयेत् ॥ १२ ॥

अनु०—इन सुखद कार्यों के करते रहते समय तक न तो अध्ययन करे और न अध्यापन ॥ १२ ॥

सन्ध्योः ॥ १३ ॥

---

१. म० स्मृ० २. १०२ २. इदं ११ शं च सूत्रं त्रिधा विच्छिन्नं ङ० पु०
३. सहाधीयमानेषु केचित् इति ख० पु०

सज्योतिषोऽज्योतिषोऽदर्शनात् उभे सन्ध्ये । तयोस्तावन्तं कालं नाधीयी-ताध्यापयेद्वा । एवमुत्तरत्राप्यनुवृत्तिः ॥ १३ ॥

अनु०—दोनों सन्ध्या समय (गोधूलि वेलाओं) में अध्ययन या अध्यापन न करे ॥ १३ ॥

उत्तरे द्वे सूत्रे निगदसिद्धे—

तथा वृक्षमारूढोऽप्सु चावगाढो नक्तं चापावृते ॥ १४ ॥

विवृतद्वारमपावृतम् । तत्र नक्तं नाधीयीत ॥ १४ ॥

अनु०—वृक्ष पर चढ़कर नदी में प्रवेश कर और रात्रि में द्वार खोलकर अध्ययन न करे ॥ १४ ॥

दिवा च पिहिते ॥ १५ ॥

संवृतद्वारं पिहितम् । तत्र दिवा नाधीयीत ॥ १५ ॥

अनु०—दिन में द्वार बन्द कर अध्ययन न करे ॥ १५ ॥

अविहितमनुवाकाध्ययनमाषाढवासन्तिकयोः ॥ १६ ॥

वासन्तिको वसन्तोत्सवः । स च चैत्रमासि शुक्लत्रयोदश्यां भवति । आषाढशब्देनापि तस्मिन्मासे क्रियमाणस्तादृशः कश्चिदिन्द्रोत्सवादिर्विवक्षितः । तयोस्तदहरनुवाकाध्ययनमविहितम् । अनुवाकग्रहणान्न्यूने न दोषः ।

अपर आह—अनुवाकग्रहणान्मन्त्रब्राह्मणयोरेव प्रतिषेधः, नाङ्गाना मिति ॥ १६ ॥

अनु०—आषाढ़ महीने (इन्द्रोत्सव) में और वसन्त के उत्सव के समय अनुवाक का अध्ययन नहीं करना चाहिए ।

टिप्पणी—हरदत्त ने व्याख्या में संकेत किया है कि चूँकि सूत्र में अनुवाक के अध्ययन का निषेध है अतः अनुवाक से छोटे अंशों का अध्ययन किया जा सकता है । इसी प्रकार कुछ व्याख्याकारों के अनुसार अनुवाक का निषेध करके केवल मन्त्र ब्राह्मणात्मक वेद का निषेध किया गया है वेदाङ्ग का नहीं ॥ १६ ॥

नित्यप्रश्नस्य चाऽविधिना ॥ १७ ॥

नित्यं प्रश्नाध्ययनं यत्र स नित्यप्रश्नो ब्रह्मयज्ञः । यस्य चाविधिना वक्ष्य-माणेन प्रकारेण विनाऽनुवाकाध्यनमविहितम् । यद्यपि नित्यं ब्रह्मयज्ञाध्ययनं तथापि केनचिदप्यङ्गेन विना न कर्तव्यम् । तेन विस्मृत्य प्रातराशे कृते प्रायश्चि-मेव न ब्रह्मयज्ञः । मनुः—

'स्नातकव्रतलोपे च प्रायश्चित्तमभोजनम्' । इति ॥ १७ ॥

अनु०—इसी प्रकार ब्रह्मयज्ञ में बिना उचित विधि के वेद के अंश का अध्ययन करना निषिद्ध है ।

टिप्पणी—ब्रह्मयज्ञ का अध्ययन नित्य करना चाहिए किन्तु अङ्ग के बिना अध्ययन नहीं करना चाहिए। यदि कोई दैनिक ब्रह्मयज्ञ करना भूलकर प्रातराश ग्रहण कर ले तो उसके लिए उपवास का प्रायश्चित ही करना होता है॥ १७॥

तस्य विधिः॥ १८॥

तस्य नित्यप्रश्नस्य विधिर्वक्ष्यते॥ १८॥

अनुवाद—दैनिक अध्ययन की विधि इस प्रकार है॥ १८॥

अकृतप्रातराश उदकान्तं गत्वा प्रयतः शुचौ देशेऽधीयीत यथाध्यायमुत्सृजन्वाचा॥ १९॥

अकृतदिवाभोजन उदकसमीपं गत्वा प्रयतः स्नानमार्जनादिशुद्धः शुचौ देशे प्राच्यामुदीच्यां वा दिश्यच्छदिर्दर्शेऽधोयीत। यथाध्यायं यथा पाठमनुषङ्गरहितमुत्सृजन् आदित आरभ्य प्रथमादिष्वहस्सु[1] अधीयीत द्वितीयादिषूत्सृज्य ततः परमधीयीत। वाचा उच्चैरित्यर्थः॥ १९॥

अनुवाद—प्रातराश करने से पूर्व जल के समीप जाकर स्नान, मार्जन आदि द्वारा शुद्ध होकर पवित्र स्थान में ऊंचे स्वर से पढ़े हुए अंश को छोड़कर आरम्भ से पाठ करे॥ १९॥

मनसा चा ऽनध्याये॥ २०॥

अनध्याये च मनसाऽधीयीत नित्यस्वाध्यायम्॥ २०॥

अनुवाद—जिस दिन अनध्याय का विधान किया गया हो उस दिन मन से ही स्वाध्याय करे॥ २०॥

विद्युति चाऽभ्यग्रायां स्तनयित्नावप्रायत्ये प्रेतान्ने नीहारे च मानसं परिचक्षते॥ २१॥

विद्युति अभ्यग्रायामविरतायाम्। स्तनयित्नौ चाऽभ्यग्रे। अप्रायत्ये आत्मनोऽशुचिभावे। प्रेतान्ने च भुक्ते। नीहारे च नीहारो हिमानी तस्मिंश्च वर्तमाने। मानसमनन्तरोक्तमध्ययनं परिचक्षते वर्जयन्ति॥ २१॥

अनुवाद—यदि निरन्तर बिजली चमक रही हो अथवा निरन्तर मेघगर्जन हो रहा हो, यदि स्वयं शुद्ध न हो, श्राद्ध का अन्न खाने पर, कुहरा छाए रहने पर वेद का मानसिक स्वाध्याय भी वर्जित किया गया है॥ २१॥

श्राद्धभोजन एवैके॥ २२॥

१. अधीतं यत् तत् इति. ङ० पु०

एके त्वाचार्याः श्राद्धभोजन एव मानसं परिचक्षते, न विद्युदादिषु ॥२२॥

अनुवाद—कुछ धर्मज्ञ केवल श्राद्धभोजन करने पर ही मानसिक स्वाध्याय का निषेध करते हैं ॥ २२ ॥

विद्युत्स्तनयित्नुर्वृष्टिश्चापर्तौ [1]यत्र सन्निपतेयुस्त्र्यहमनध्यायः ॥ २३ ॥

अपर्तौ यस्मिन् देशे यो वर्षाकालः ततोऽन्यस्तत्रापर्तुः । तत्र यदि विद्युदादयस्सन्निपतेयुः समुदितास्स्युः तदा त्र्यहमनध्यायः ॥ २३ ॥

अनु०—जब असमय में बिजली की चमक, मेघ की गर्जन अथवा वर्षा एक साथ होवे तो तीन दिन अनध्याय होता है ॥ २३ ॥

यावद्भूमिर्व्युंदकेत्येके ॥ २४ ॥

यावता कालेन भूमिः विगतोदका भवति तावन्तं कालमनध्याय इत्येके मन्यन्ते ॥ २४ ॥

अनु०—कुज धर्मशास्त्रज्ञों के अनुसार केवल उस समय तक अनध्याय होता है जब तक पृथ्वी सूख नहीं जाती ॥ २४ ॥

एकेन द्वाभ्यां वैतेषामाकालम् ॥ २५ ॥

एतेषां विद्युदादीनां मध्ये एकेन द्वाभ्यां वा योगे आकालमनध्यायः । अपरेद्युरा तस्य कालस्य प्राप्तेरित्यर्थः ॥ २५ ॥

अनु०—यदि उपयुक्त विद्युत्, मेघगर्जन और वर्षा में से कोई एक घटित हों या दो एक साथ हों तो दूसरे दिन के उसी समय तक अनध्याय होता है ॥ २५ ॥

सूर्याचन्द्रमसोर्ग्रहणे भूमिचले ऽपस्वान उल्कायामग्न्युत्पाते च सर्वासां विद्यानां सार्वकालिकमाकालम् ॥ २६ ॥

'सूर्याचन्द्रमसो' रिति वचनं बृहस्पत्यादिनिवृत्त्यर्थम् । भूमिचले भूकम्पे । अपस्वाने निर्घाते । उल्कायामुल्कापाते । अग्न्युत्पाते[2] ग्रामादिदाहे । एतेषु निमित्तेषु[3] सर्वेषु सर्वासां विद्यानाम्—

[4]अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्यायविस्तरः ।

---

१. "यत्र" इति नास्ति क० पु०

२. गृहादिदाहे इति ग० पु०   ३. सर्वेषु इति नास्ति. ख० ग० पु०

४. विष्णु पु० अङ्गानि शिक्षाव्याकरणछन्दोनिरुक्तज्यौतिषश्रौतसूत्राणि, चत्वारो वेदाः, ऋगादयः प्रसिद्धाः, मीमांसा पूर्वमीमांसा, उत्तरमीमांसा च 'न्यायविस्तरः गौतमप्रणीतमान्वीक्षिक्याख्यं न्यायशास्त्रम्, वैशेषिकशास्त्रं च, पुराणं मत्स्यादिपुराणानि, मन्वादिप्रणीतानि धर्मशास्त्राणि च विद्यापदवाच्यानीत्यर्थः ।

पुराणं धर्मशास्त्रं च विद्या ह्येताश्चतुर्दश ॥ इत्युक्तानाम् । सार्वकालिकमृतौ चापर्तौ चाऽऽकालमनध्यायः । अत्र 'सर्वासामि'ति वचनादन्यत्र वेदानामेव प्रतिषेधः । अङ्गानामपीत्यन्ये ॥ २६ ॥

अनु०—सूर्यग्रहण चन्द्रग्रहण के समय, भूकम्प आने पर, आँधी चलने पर, उल्कापात होने पर तथा आग लगने पर सभी वेदों एवं अङ्गों का अध्ययन दूसरे दिन उसी समय तक नहीं करना चाहिए।

टिप्पणी—'सर्वासां विद्यानां' से कुछ लोग सभी वेदों का अर्थ ग्रहण करते हैं और कुछ लोग वेद और वेदाङ्गों से अर्थ लेते हैं।—हरदत्त की व्याख्या ॥ २६ ॥

अभ्रं चापर्तौ सूर्याचन्द्रमसोः परिवेष इन्द्रधनुः प्रतिसूर्यमत्स्यश्च वाते पूतिगन्धे नीहारे च सर्वेष्वेतेषु तावत्कालम् ॥ २७ ॥

अपर्तावभ्रं दृश्यमानं यावत् दृश्यते तावत्कालमनध्यायः । एवं परिवेषादिष्वपि योज्यम् । बृहस्पत्यादिपरिवेषे न दोषः । इन्द्रधनुः प्रसिद्धम् । सूर्यसमीपे तदाकृतिः प्रतिसूर्यः । मत्स्यः पुच्छवन्नवाम् । समाहारद्वन्द्वे छान्दसो लिङ्गव्यत्ययः । सर्वेष्वेतेषु वातादिषु च त्रिषु तावत्कालमनध्यायः । वाते घोषवति । पूतिगन्धे दुर्गन्धे । नीहारे हिमान्याम् । वातादिग्रहणं पूर्वोक्तानां श्वगर्दभादीनामुपलक्षणार्थम् । पुनरिह वचनं तावत्कालमिति विधातुम् । अत्रैव श्वगर्दभादिग्रहणे कर्तव्ये पूर्वत्र पाठस्य चिन्त्यं प्रयोजनम् ॥ २७ ॥

अनु०—ऋतु से भिन्न समय में मेघ दिखाई पड़ने पर सूर्य या चन्द्रमा के परिवेष से घिरे होने पर सूर्य के समीप उसकी अनुकृति दिखाई पड़ने पर, पुच्छल तारा उगने पर इन्द्रधनुष होने पर दुर्गन्ध आने या कुहरा छाये रहने पर उतने समय तक सभी विद्याओं का अनध्याय होता है, जब तक ये घटनायें रहती हैं ॥ २७ ॥

मुहूर्तं विरते वाते ॥ २८ ॥

वाते घोषवति विरतेऽपि मुहूर्तमात्रमनध्यायः । द्वे नाडिके मुहूर्तम् ॥२८ ॥

अनु०—तीव्र वायु का बहना बन्द होने के बाद भी एक मुहूर्त तक अनध्याय होता है ॥ २८ ॥

सलावृक्यामेकसृक इति स्वप्नपर्यन्तम् ॥ २९ ॥

[1]'तावत्काल'मित्यस्याऽपवादोऽयम् । सलावृक्येकसृकशब्दौ व्याख्यातौ ॥ २९ ॥

---

१. आप० ध० १. ११. २७

अनुवाद—भेड़िया का या एक सृगाल का शब्द सुनाई पड़ने पर निद्रा से जगने के बाद तक अनध्याय होता है ॥ २९ ॥

नक्तं चारण्येऽनग्नावहिरन्ये वा ॥ ३० ॥

रात्रावग्निवर्जिते हिरण्यवर्जिते वाऽरण्ये नाधीयीत ॥ ३० ॥

अनुवाद—रात्रि को किसी ऐसे वन में अध्ययन न करे जहाँ अग्नि या स्वर्ण न हो ॥ ३० ॥

अननूक्तं चाऽपत्तौ छन्दसो नाधीयीत ॥ ३१ ॥

उत्सर्जनादूर्ध्वमुपाकरणादर्वागपर्तुः । तत्र छन्दसोऽननूक्तमंशमपूर्वं नाऽधीयीत । ग्रहणाध्ययनमपर्तौ न कर्तव्यम् । यद्यपि[1] तैष्यां पौर्णमास्यां रोहिण्यां वा विरमे' दित्युक्तम्, तथापि कियन्तं कालं तद्विररमणम् ? कस्माद्वाऽध्ययनम् ? इत्यपेक्षायामिदमुच्यते—एतावन्तं कालं ग्रहणाध्ययनं न कर्त्तव्यमिति । धारणाध्ययने नदोषः । तथा छन्दस' इति वचनादङ्गानां ग्रहणाध्ययने न दोषः ॥३१॥

अनुवाद—असमय में (उत्सर्जन और उपाकरण के बीच) छन्द के उस अंश का अध्ययन न करे जिसका अध्ययन पहले न किये हो ।

टिप्पणी—'छन्दसः' उल्लेख होने से वेदाङ्गों का अध्ययन करने में कोई दोष नहीं है ॥ ३१ ॥

प्रदोषे च ॥ ३२ ॥

प्रदोषे चाऽननूक्तमृतामपि नाधीयीत । [2]'मासं प्रदोषे नाधीयीते' त्येतत्तु धारणाध्ययनस्यापि प्रतिषेधार्थम् । अपर आह—यस्यां रात्रौ द्वादशी त्रयोदशी च मिश्रीभवतः, तस्यां प्रदोषे नाधीयीतानूक्तमननूक्तं च, ऋतावपर्तौ च । एष आचार इति ॥ ३२ ॥

अनुवाद—प्रदोष में भी छन्द के किसी नये अंश का अध्ययन न करे ।

टि०—कुछ लोगों के अनुसार जिस रात्रि को द्वादशी, त्रयोदशी मिलती हों उस सन्ध्या को अध्ययन न करे ॥ ३२ ॥

सार्वकालिकमाम्नातम् ॥ ३३ ॥

आम्नातमधीतं तत्सार्वकालिकमपर्तौ प्रदोषे च सर्वस्मिन्कालेऽध्येतव्यम् ३३

अनुवाद—पढ़े हुए विषय को सभी काल में (ऋतु से भिन्न समय में तथा सन्ध्या को भी) अध्ययन करे ।

---

१. आप० ध० १.९.२ २. आप० ध० १.९.१

टिप्पणी—इसका संबन्ध ३१वें सूत्र से जोड़कर अर्थ करने पर विपरीत अर्थ होगा, अर्थात् अध्ययन न करे ॥ ३३ ॥

यथोक्तमन्यदतः परिषत्सु ॥ ३४ ॥

अत एतस्मादनध्यायप्रकरणोक्तादन्यदनध्यायनिमित्तम् । परिषत्सु मानवादिधर्मशास्त्रेषु यथोक्तं [1]तथा द्रष्टव्यम् । तत्र वसिष्ठः [2]'दिग्दाहपर्वतप्रपातेषूपलरुधिरपांसुवर्षेष्वाकालिक' मिति ।

यमः—

[3]'श्लेष्मातकस्य शल्मल्या मधूकस्य तथाप्यधः ।
कदाचिदपि नाध्येयं कोविदारकपित्थयोः ॥'

सङ्ग्रामोद्यानदेवतासमीपेषु नाधीयीतेति ॥ ३४ ॥

इत्यापस्तम्बधर्मसूत्रवृत्तावुज्ज्वलायामेकादशी कण्डिका

अनुवाद—(अनध्याय के विषय में) और नियम दूसरे धर्मशास्त्रों से भी ग्रहण कर समझना चाहिए ॥ ३४ ॥

इति चापस्तम्बधर्मसूत्रवृत्तौ हरदत्तविरचितायामुज्ज्वलायां
प्रथमप्रश्ने तृतीयः पटलः ॥ ३ ॥

---

१. तथा इति नास्ति. क० पु०

२. व. स्मृ ११. ८. दिग्नादपर्वतनादकम्पप्रपातेषु, इति मुद्रितपुस्तकपाठः । निमित्तप्रादुर्भावादारभ्याऽन्येद्युर्यावत् स एव कालः स आकालः । तत्र भवमाकालिकम् ।

३. मुद्रितयमस्मृतौबृहद्यमस्मृतौ वा नेदं वचनमुपलभ्यते ।

अथ चतुर्थः पटलः

तपः स्वाध्याय इति ब्राह्मणम् ॥ १ ॥

योऽयं नित्यस्वाध्यायस्तत्तपः कृच्छ्रातिकृच्छ्रचान्द्रायणादिलक्षणं तपो यावत्फलं साधयति तावत्साधयतीत्यर्थः ॥ १ ॥

अनु०—नित्य स्वाध्याय तप है, ऐसा ब्राह्मण का कथन है।

टिप्पणी—इसका तात्पर्य यह है कि कृच्छ्र, अतिकृच्छ्र, चान्द्रायण आदि तपों का जो फल होता है, वही फल स्वाध्याय का भी होता है ॥ १ ॥

तत्र श्रूयते'स यदि तिष्ठन्नासीनः शयानो वा स्वाध्यायमधीते तप एव तत्तप्यते तपो हि स्वाध्याय इति ॥ २ ॥

तत्रैव ब्राह्मणे "स यदि तिष्ठन्नासीन' इत्यापत्कल्पः श्रूयते। तत्र [2]'दर्भाणां महदुपस्तीर्योपस्थं कृत्वा प्राङासीनः स्वाध्याय' मित्यादिर्मुख्यः कल्पो[3] ब्राह्मण एवोक्तः। इह पुनरासीनवचनं यथाकथञ्चिदासनार्थम्। सर्वथाऽप्यधीयानस्तप एव तत्तप्यत इति ब्राह्मणार्थः। मनुरप्याह—

[4] आहैव स नखाग्रेभ्यः परमं तप्यते तपः।
यस्स्रग्व्यपि द्विजोऽधीते स्वाध्यायं शक्तितोऽन्वहम् ॥' इति।

---

१. तै० आ० २. १२. अत्र सूत्रे ब्राह्मणवाक्यानुपूर्वी योपात्ता सा क्वचित् ब्राह्मणे नोपलभ्यते। किन्तु एवमनुमीयते—तैतिरीयारण्यकद्वितीयप्रपाठकद्वादशानुवाकगतं 'उत तिष्ठन्नुत व्रजन्नुतासीन उत शयानोऽधीतैव स्वाध्यायम्" इत्यंशं 'तप एव तत् तप्यते तपो हि स्वाध्यायः' इति तत्रैव त्रयोदशानुवाकगतमंशं चाऽऽदायैकीकृत्य सूत्रेऽनूदितवान् सूत्रकार इति।

२. तै० आ० २. ११. १ ३. तैत्तिरीयारण्यके स्वाध्यायब्राह्मण इत्यर्थः।

४. मनु० २. १६७ "यदि ह वा अप्यभ्यक्तोऽलंकृतस्सुहितस्सुखे शयने शयानः स्वाध्यायमधीत आहैव स नखाग्रेभ्यस्तप्यते य एवं विद्वान् स्वाध्यायमधीते, तस्मात् स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" (मा० शत० ब्रा० ११. ५. ३.) इति माध्यान्दिनशतपथब्राह्मणवाक्यमूलेयं मानवी स्मृतिरिति भाति।

स्रग्वीति स्वैरं दर्शयति ॥ २ ॥

अनुवाद—उसी ब्राह्मण में यह भी कहा गया है कि चाहे वह खड़े होकर स्वाध्याय करे या बैठकर या सोकर, वह तप ही करता है, क्योंकि स्वाध्याय तप ही है।

टि०—यह तैत्तिरीय आरण्यक का वचन है, इसमें किसी भी प्रकार से स्वाध्याय करने को तप कहा गया है। बैठने में भी वह किसी भी प्रकार से बैठकर या किसी भी प्रकार से सोकर स्वाध्याय करे। वह तप के समान फलदायक होता है ॥ २ ॥

एवं कर्तुर्नियमो नाऽपद्यतीवाऽऽदरणीय इत्युक्त्वा कालेऽप्याह—

अथापि वाजसनेयिब्राह्मणम्[1] ब्रह्मयज्ञो ह वा एष यत्स्वाध्यायस्तस्यैते वषट्कारा यत्स्तनयति यद्विद्योतते यदवस्फूर्जति यद्वातो वायति। तस्मात् स्तनयति विद्योतमानेऽवस्फूर्जति वाते वा वायत्यधीयीतैव वषट्काराणामच्छम्बट्कारायेति ॥ ३ ॥

अथापि अपि च स्वाध्यायो नाम य एष ब्रह्मयज्ञः ब्रह्म वेदः तत्साधनो यागः। यथा दर्शपूर्णमासादयः पुरोडाशादिसाधनाः। हवैशब्दौ प्रसिद्धिं द्योतयतः। तस्य यज्ञस्यैते वक्ष्यमाणाः स्तनयित्न्वादयो वषट्काराः वषट्कारस्थानीयाः। बहुवचननिर्देशात्[2] वषट्कारानुवषट्कारस्वाहाकारास्सर्वे प्रदानार्था गृह्यन्ते[3] स्तनितं मेघशब्दः। विद्योतनं विद्युद्व्यापारः। अवस्फूर्जनमशनिपातः। तत्र 'अवस्फूर्जथुर्लिङ्ग' मिति दर्शनात्। 'वायती' ति 'ओवैशोषण' इत्यस्य रूपम्। यथा आर्द्रप्रदेशश्शुष्को भवति तथा[4] वातीत्यर्थः। यस्मादेते वषट्काराः तस्मात् स्तननादिष्वनध्यानिमित्तेषु सत्स्वप्यधीयीतैव। न पुनरनध्याय इति नाधीयीत। किमर्थम्? वषट्काराणामेतेषामच्छम्बटकाराय अव्यर्थत्वाय।

---

१. इदानीमुपलभ्यमानमाध्यन्दिनशतपथब्राह्मणपंक्तिस्त्वियम्-"तस्य वा एतस्य ब्रह्मयज्ञस्य चत्वारो वषट्काराः यद्वातो वाति यद्विद्योतते, यत् स्तनयति यदवस्फूर्जति तस्मादेवं विद्वाते वाति विद्योतमाने स्तनयत्यवस्फूर्जत्यधीयीतैव वषट्काराणामछम्बट्काराय" इति।

२. वषट्कारः सर्वत्र यागादौ हविःप्रक्षेपात् पूर्वं हविःप्रक्षेपार्थमेव पठ्यमानयाज्यायाः अन्ते पठ्यमानः 'वौषट्' इति शब्दः। सोमयागे तत्तद्ग्रहहोमानन्तरं "सोमस्याग्ने वीहि२ वौषट्" इति द्वितीयवारं पठ्यमानोऽनुवषट्कारः। स्वाहाकारस्तु प्रसिद्धः।

३. स्तननं इति. ख० ग० पु०　　४. वायतीत्यर्थः इति क० पु०

अन्यथा एते वषट्कारा व्यर्थास्स्युः। ततश्च[1] यथा होत्रा वषट्कृते अध्वर्युर्न जुहुयात् तादृगेव तत्स्यात् ॥ ३ ॥

अनु०—वाजसनेयिब्राह्मण में कहा गया है : स्वाध्याय एक प्रकार का दैनिक यज्ञ है, जिसमें ब्रह्म ही यज्ञ का साधन है, जिस प्रकार दर्शपूर्णमास आदि में पुरोडाश साधन होता है। जो मेघगर्जन होती है, जो विद्युत की चमक होती है, जब वज्रपात होता है, तो वही सब स्वाध्याय यज्ञ का वषटकार शब्द है। इस कारण मेघगर्जन होने पर, विद्युत चमकने पर, वज्रपात होने पर तथा आँधी चलने पर भी अध्ययन करे, अन्यथा ये वषट्कार रूप शब्द व्यर्थ हो जायँगे।

टि०—यहाँ शतपथब्राह्मण ११.५.६.८ का निर्देश किया गया है ॥ ३ ॥

तस्य शाखान्तरे वाक्यसमाप्तिः ॥ ४ ॥

तस्य वाजसनेयिब्राह्मणस्य। शाखान्तरे वाक्यसमाप्तिर्भवति, न [2]तावति पर्यवसानम् ॥ ४ ॥

अनुवाद—उपर्युक्त ब्राह्मण वाक्य का पर्यवसान अन्य साखा में भी उपलब्ध होता है ॥ ४ ॥

तदेव [3]शाखान्तरं पठति—

अथ यदि वा वातो वायात्स्तनयेद्वा विद्योतेत वाऽवस्फूर्जेद्वैकां वर्चमेकं वा यजुरेकं वा सामाऽभिव्याहरेद्भूर्भुवस्सुवस्सत्यं तपः श्रद्धायां जुहोमीति वैतत्। तेनोहैवाऽस्यैतदहस्स्वाध्याय उपात्तो भवति ॥ ५ ॥

अन्ते इतिशब्दोऽध्याहार्यः। वातादिषु सत्सु एकामृचमधीयीत। प्राप्ते प्रदेशे। यजुर्वेदाध्ययन एकं यजुः। सामवेदाध्ययन एकं साम। सर्वेषु वा वेदेषु 'भूर्भुवः सुव' रित्यादिकं यजुरभिव्याहरेत्, न पुनर्यथापूर्वं प्रश्नमात्रम्। तेनैव तावतैवास्याऽध्येतुः तदहः तस्मिन्नहनि स्वाध्याय उपात्तो भवति[4] अधीतो

---

१. दर्शपूर्णमासादियागेषु सर्वत्र हविःप्रदानसमये "अमुष्मा अनुब्रूहि" इति प्रैषानन्तरं पुरोनुवाक्यामनूच्याऽऽश्राव्य प्रत्याश्राव्य याज्यामुक्त्वा वषट्कृते जुहोति" इति वचनात् वषट्कारानन्तरं होमो विहितः। तत्र वषट्कारानन्तरं होमाकरणे यादृशो दोषस्तादृशस्स्यादित्यर्थः।

२. 'तावतीति' नास्ति ख० पु०

३. किमिदं शाखान्तरमिति न ज्ञायते। ४,५, वेदाध्यायी इति क० पु०

४. स्वीकृतो भवति अधीतो भवतीत्यर्थः, इति ख० पु०

भवतीति यावत्। केचित्तु 'भूर्भुवः सुव' रित्यादिकं ब्राह्मणभागाध्ययनविषयं मन्यन्ते, न सार्वत्रिकम् ॥ ५ ॥

अनु०—यदि तीव्र वायु चलती हो, मेघगर्जन होता हो, विद्युत की चमक होती हो, या वज्र पात होता हो, तो एक ऋचा का, एक यजुर्मन्त्र का अथवा एक साम का अध्ययन करे अथवा सभी वेदों का अध्ययन करते समय 'भूर्भुवः सुव 'आदि एक यजुर्मन्त्र का अध्ययन करे इस प्रकार उन दिन के स्वाध्याय का अध्ययन पूरा हो जाता है।

टिप्पणी—इस प्रकार उपर्युक्त मेघ गर्जन आदि के समय पूरे प्रश्न भाग का अध्ययन करना आवश्यक नहीं होता। कुछ लोगों के अनुसार केवल भूः भुवः सुवः शब्दों का प्रयोग करने से ही उस दिन का स्वाध्याय पूरा हो जाता है ॥ ५ ॥

कस्मात् पुनर्वाजसनेयिब्राह्मणस्योदाहृते शाखान्तरे वाक्यसमाप्तिराश्रीयते न पुनर्यथाश्रुतमात्रं गृह्यते ? तत्राह—

एवं सत्यार्यसमयेनाऽविप्रतिषिद्धम् ॥ ६ ॥

एवं सति वाक्यपरिसमाप्तावाश्रीयमाणायामार्यसमयेन आर्याः शिष्टा मन्वादयः तेषां समयो व्यवस्था, तेन अविप्रतिषिद्धं भवति। इतरथा विप्रतिषिद्धं स्यात् ॥ ६ ॥

अनु०—इस प्रकार यदि इस सूत्र को ब्राह्मणवाक्य के साथ सम्बद्ध किया जायगा तो आर्यों के नियम का विरोध नहीं होगा।

टि०—उपर्युक्त सूत्र ५ में व्यक्त नियम से ब्राह्मणग्रन्थ के साथ सामंजस्य बना रहता है तथा ब्राह्मण का भी विरोध नहीं होता तथा दूसरी ओर धर्मशास्त्रकारों के अनध्यायविषयक नियमों का भी विरोध नहीं होता ॥ ६ ॥

कथम् ?

अध्यायानध्यायं ह्युपदिशन्ति। तदनर्थकं स्याद्वाजसनेयिब्राह्मणं चेदवेक्षेत ॥ ७ ॥

आर्या हि अध्यायमनध्यायं चोपदिशन्ति। तदुपदेशनमनर्थकं स्यात् यदि वाजसनेयिब्राह्मणं यथाश्रुतमवेक्षेताऽध्येता ॥ ७ ॥

अनु०—क्योंकि आर्य अर्थात् धर्म जानने वाले शिष्ट लोग वेद के स्वाध्याय तथा अनाध्याय दोनों का उपदेश देते हैं। यदि वाजसनेयिब्राह्मण के उपर्युक्त अंश मात्र पर ध्यान दिया जायगा तो शिष्टों का नियम व्यर्थ हो जायगा ॥ ७ ॥

ननु—अनर्थकमेवेदमस्तु, श्रुतिविरोधात्। तत्राह—

आर्यसमयो ह्यगृह्यमानकारणः ॥ ८ ॥

योऽयमध्यायानध्यायविषय आर्यसमयः न तत्र किञ्चित्कारणं गृह्यते। यथा [1]'वैसर्जनहोमीयं वासोऽध्वर्यवे ददाती' त्यत्रागृह्यमाणकारणश्चार्यसमयः श्रुत्यनुमानद्वारेण प्रमाणम्। अतो वाक्यपरिसमाप्तिरेव युक्ता। एवं हि वाजसनेयिब्राह्मणस्यापि नात्यन्तबाधः। अनध्यायोपदेशस्यापि प्रभूताध्ययनविषयतयाऽर्थवत्त्वमिति। सूत्रे 'अगृह्यमानकारण' इति णत्वाभावश्छान्दसः ॥८॥

अनु०—आर्यों के स्वाध्याय तथा अनध्याय विषयक नियमों का कोई कारण नहीं दिखाई पड़ता।

टि०—चूंकि आर्यों के नियम का कोई लौकिक कारण नहीं है अतः उसका कारण धार्मिक होना चाहिए और वह श्रुति पर ही आधारित है ॥ ८ ॥

का पुनरसौ स्मृतिः? या ब्रह्मयज्ञेऽप्यनध्यायमुपदिशति। मानवे तावद्विपर्ययः श्रूयते—

[2]'नैत्यके नास्त्यनध्यायो ब्रह्मसत्रं हि तत्स्मृतम्।' इति।

सामान्येनानध्यायोपदेशस्तु ब्रह्मयज्ञादन्यत्र चरितार्थः। तस्मात्तादृशी स्मृतिर्मृग्या। एवं तर्ह्यग्निहोत्रादिष्वपि मन्त्राणामनध्यायः प्राप्नोति। नेत्याह—

विद्यां प्रत्ययनध्यायः श्रूयते न कर्मयोगे मन्त्राणाम् ॥ ९ ॥

विद्या वेदाध्ययनम्। तां प्रत्यनध्यायः श्रूयते। न पुनर्मन्त्राणां कर्मयोगे। हेतुः परिभाषायामुक्तो[3] र्थान्तरत्वादिति। अर्थान्तरं हि कर्मणि प्रयोगो मन्त्राणाम् [4]न पुनर्ग्रहणाध्ययनम्। पारायणाध्ययनमध्येऽनध्यायागमो भवति वा न वेति चिन्त्यम्। एवं श्रीरुद्रादिजपेऽपि ॥ ९ ॥

अनु०—वेद के अनध्याय के विषय में आर्यों ने जो नियम दिये हैं वे विद्याग्रहण के लिए ही हैं न कि वेद के मन्त्रों का यज्ञ के समय प्रयोग के लिए ॥ ९ ॥

---

१. सोमयागे अग्नीषोमीयपश्वनुष्ठानकाले तदर्थं शालामुखीयादग्नेः कश्चिदंशमुद्धृत्य तस्य उत्तरवेदिस्थाहवनीयकुण्डे स्थापनार्थं अध्वर्यौ गच्छति तं यजमानस्तत्पत्नीपुत्रादयोऽनुगच्छेयुः। गच्छतस्तानहतेन दीर्घतमेन वस्त्रेणोपर्याच्छाद्य सर्वेष्वाहवनीयदेशं प्राप्तेषु तत्र तमग्निं प्रतिष्ठाप्य, आच्छादनवस्त्रान्तं स्रुग्दण्डे बध्वाऽऽन्येन जुहोति। ते वैसर्जनहोमा उच्यन्ते। तच्च वासः अध्वर्यवे दद्यात् इति प्रकृतवाक्यार्थः। स्मृतेरस्याः लोभादिमूलकत्वमापाद्यातएवाप्रामाण्यमुक्तं शबरस्वामिना। कुमारस्वामिना तु एवं सति सर्वत्राऽनाश्वासप्रसङ्गमापाद्य मन्वादिस्मृतिवत् प्रामाण्यमेवाङ्गीकृतम्।

२. म० स्मृ० २. १०६ ब्रह्मसत्रं सततप्रवृत्तं सत्रम्, यथा सहस्रसंवत्सरादिकं सत्रं न न कदाचिच्छिद्यते तद्वदिदं नित्याध्ययनमित्यर्थः।

३. आप० प० १. ४० ४. अनुष्ठेयार्थप्रकाशकतया इत्यधिकं ख० ग० पु०

कथं पुनरार्यसमयः प्रमाणम् ? यावता न तेषामतीन्द्रियेऽर्थे ज्ञानं सम्भवति । तत्राह—

ब्राह्मणोक्ता विधयस्तेषामुत्सन्नाः पाठाः प्रयोगादनुमीयन्ते ॥ १० ॥

विधीयन्त इति विधयः कर्माणि । ते सर्वे स्मार्ता अपि ब्राह्मणेष्वेवोक्ताः नन्विदानीं ब्राह्मणानि नोपलभ्यन्ते । सत्यम्; तेषामुत्सन्नाः पाठाः, अध्येतृदौर्बल्यात् । कथं तर्हि तेषामस्तित्वम् ? प्रयोगादनुमीयन्ते । प्रयोगः स्मृतिनिबन्धनमनुष्ठानं च । तस्माद्ब्राह्मणान्यनुमीयन्ते मन्वादिभिरुपलब्धानीति [1]कथमन्यथा स्मरेयुरनुतिष्ठेयुर्वा । सम्भवति च तेषां वेदसंयोगः ॥ १० ॥

अनुवाद—सभी विधियां पहले वदों में उपदिष्ट थीं, किन्तु अब ब्राह्मणों के न उपलब्ध होने पर प्रयोग से ही उनका अनुमान किया जाता है ।

टि०—यह इस प्रश्न का उत्तर है कि स्मृतिकारों के नियमों का आधार क्या है । उत्तर में सभी स्मार्त नियमों का आधार ब्राह्मणग्रन्थ माने गये हैं, जिनके अधिकांश अध्ययन करने वालों की दुर्बलता के कारण उपलब्ध नहीं है और अब प्रयोग के आधार पर केवल अनुमान के विषय हैं ॥ १० ॥

अथ प्रसङ्गादपस्मृतिरुच्यते—

यत्र तु प्रीत्युपलब्धितः प्रवृत्तिर्न तत्र शास्त्रमस्ति ॥ ११ ॥

यत्र [2]पितृष्वसृसुतामातुलसुतापरिणयनादौ । प्रीत्युपलब्धितः प्रवृत्तिर्न तत्रोत्सन्नपाठं शास्त्रमनुमीयते, प्रीतेरेव प्रवृतिहेतोः सम्भवात् ॥ ११ ॥

अनु०—किन्तु जहां । स्मृति का या आचार का पालन करने से प्रीति प्राप्त होने से प्रवृत्ति होती हो तो वहां शास्त्र का अनुमान नहीं किया जाता है ।

टि०—क्योंकि प्रीति ही प्रवृत्ति का हेतु होती है ॥ ११ ॥

ततश्च —

तदनुवर्तमानो नरकाय राध्यति ॥ १२ ॥

तद्विधानमनुतिष्ठन्नरकायैव राध्यति कल्पते ॥ १२ ॥

अनु०—इस प्रकार की प्रवृत्ति का अनुसरण करने वाला नरक में ही गिरता है ॥ १२ ॥

अथ ब्राह्मणोक्ता विधयः ॥ १३ ॥

एवं स्मृत्याचारप्राप्तानां श्रुतिमूलत्वमुक्तम् ।[3] अथ प्रत्यक्षब्राह्मणोक्ता

---

१. कथमपरथा इति ख० पु० २. 'पितृष्वसृसुता' इति नास्ति ख० ग० पु०

३. अथेदानीं इति ख० पु०

एव केचिद्विधयो व्याख्यायन्ते तेषामपि स्मार्तेष्वनुप्रवेशार्थम्। तेन तदतिक्रमे स्मार्तातिक्रमनिमित्तमेव प्रायश्चित्तं भवति ॥ १३ ॥

अनु०—अब ब्राह्मण ग्रन्थों में उपदिष्ट विधियों का निर्देश किया जाता है ॥ १३ ॥

तेषां [1]'महायज्ञा महासत्राणीति च संस्तुतिः ॥ १४ ॥

तेषां वक्ष्यमाणानां महायज्ञा इति संस्तुतिः स्वाध्यायब्राह्मणे। महासत्राणीति च संस्तुतिर्भवति बृहदारण्यकादौ। संस्तुतिग्रहणेन संस्तुतिमात्रमिदं न नामधेयं [2]धर्मातिदेशार्थमिति दर्शयति। तेन महायज्ञेषु सोमयागेषु ये धर्माः 'न ज्येष्ठं भ्रातरमतीत्य सोमेन यष्टव्य' मित्यादयः, ये च महासत्रस्य गवामयनस्य धर्मा[3] इष्टप्रथमयज्ञानामधिकार' इत्यादयः उभयेऽपि ते वक्ष्यमाणेषु पञ्चमहायज्ञेषु न भवन्ति ॥ १४ ॥

अनु०—आगे जिन यज्ञों का वर्णन किया जायगा उन्हें स्तुति के लिए महायज्ञ या महासत्र कहा जाता है।

टि०—संस्तुति के लिए उन्हें महायज्ञ कहा जाता है, इससे यह तात्पर्य है कि वस्तुतः महायज्ञ उनका नाम नहीं है अपितु उनकी प्रशंसा के लिए ही इस नाम का उनके लिए प्रयोग किया जाता है ॥ १४ ॥

के पुनस्ते? तानाह

[4]अहरहर्भूतबलिर्मनुष्येभ्यो यथाशक्ति दानम ॥ १५ ॥

---

१. पञ्चैव महायज्ञाः तान्येव महासत्राणि (श० ब्रा० ११. ५. ६. १) इति शतपथे।

२. कुण्डपायिनामयनाख्ये संवत्सरसाध्ये सत्रविशेषे "मासमग्निहोत्रं जुहोतीति" श्रुतोऽग्निहोत्रशब्दस्तत्रत्यस्य कर्मविशेषस्य गौण्या वृत्त्या नामधेयं सन् प्रसिद्धाग्निहोत्रात् धर्मातिदेशकः इत्युक्तं पूर्वमीमांसायां सप्तमतृतीये। एवं च क्वचित् नामत्वेनाभिधावृत्त्या प्रयुज्यमानस्य शब्दस्य प्रकरणान्तरेऽन्यत्र कर्मनामतया यदि श्रवणं, तदा न तत्र कर्मान्तरेऽपि तस्य शक्तिरङ्गीक्रियतेऽनेकार्थतादोषभिया। किन्तु प्रसिद्धतादृशकर्मनिष्ठगुणसमानगुणवत्वरूपां गौणीं वृत्तिमाश्रित्य तद्बलात् तदीयधर्मातिदेशक इति स्थितम्। प्रकृते तु न तथा। किन्तु स्तुतिमात्रमिति।

३. इष्टप्रथमयज्ञैर्यष्टव्यम् इति, ख० पु० "आहिताग्नय इष्टप्रथमयज्ञा गृहपतिसप्तदशास्सत्रमासीरन्" इति सत्रेऽधिकारिनियमः। प्रथमयज्ञशब्देन सोमयाग उच्यतेऽग्निष्टोमसंस्थाकः। पूर्वं कृताधानाः अनुष्ठिताग्निष्टोमसंस्थाकसोमयागाः द्वादशाहादिषु सत्राख्येषु ज्योतिष्टोमविकृतिभूतेषु सोमयागेष्वधिकारिणः इति वाक्यार्थः। तादृशानां नियमानां तत्रापेक्षा। अधीतवेदस्य सर्वस्याऽप्यत्राधिकार इति भावः।

४. "सूत्राणीमानि—शतपथब्राह्मणस्य काञ्चन प्रतिरूपतामनुभवन्ति" इयं हि शातपथी

वैश्वदेवे वक्ष्यमाणेन बलिहरणप्रकारेण भूतेभ्योऽहरहर्भूतबलिर्देयः, एष भूतयज्ञः। मनुष्येभ्यश्च यथाशक्ति दानं कर्तव्यम्। एष मनुष्ययज्ञः ॥ १५ ॥

अनु०—इन महायज्ञों के अन्तर्गत प्रतिदिन प्राणियों के लिए बलि अर्पित करना तथा मनुष्यों को यथाशक्ति दान देना सम्मिलित हैं।

टि०—भूतों अर्थात् सात प्रकार के प्राणियों को बलि अर्पित करना भूतयज्ञ हुआ तथा मनुष्यों को यथाशक्ति उन्नादि का दान करना मनुष्ययज्ञ कहलाता है ॥ १५ ॥

इत्यापस्तम्बधर्मसूत्रवृत्तौ द्वादशी कण्डिका

देवेभ्यः स्वाहाकार आ काष्ठात् पितृभ्यः स्वाधाकार ओद-
पात्रात् स्वाध्याय इति ॥ १ ॥

देवेभ्यः स्वाहाकारेण प्रदानम् आकाष्ठात् अशनीयाभावे काष्ठमपि तावद्देयम्। वैश्वदेवोक्तप्रकारेणैवैष देवयज्ञः। केचिद्वैश्वदेवाहुतीभ्यः पृथग्भूतामिमामाहुतिं मन्यन्ते। देवेभ्यः स्वाहे'ति च मन्त्रमिच्छन्ति। 'देवयज्ञेन यक्ष्य इति सङ्कल्पमिच्छन्ति। वयं तु न तथेति' गृह्य एवाऽवोचाम। केचिदाहुः— 'आकाष्ठा' दिति वचनादशनीयाभावेन भोजनलोपेऽपि यथाकथञ्चित् वैश्वदेवं कर्तव्यम्, पुरुषसंस्कारत्वादिति।

अपरे तु—अशनीयसंस्कार इति वदन्तो भोजनलोपे वैश्वदेवं न कर्तव्यमिति स्थिताः।

पितृभ्यः स्वधाकारेण प्रदानम् ओदपात्रात् अन्नाद्यभावे उदपात्रमपि स्वधाकारेण तावद्देयम्। पात्रग्रहणात् सह पात्रेण देयम्। एष पितृयज्ञः। स्वाध्यायः

पंक्तिः—भूतयज्ञो मनुष्ययज्ञः पितृयज्ञो ब्रह्मयज्ञः इति। अहरहर्भूतेभ्यो बलिं हरेत्। तथैतं भूतयज्ञं समाप्नोति, अहरहर्दद्यादोदपात्रात् तथैतं मनुष्ययज्ञं समाप्नोति, अहरहस्स्वधा कुर्यादोदपात्रात् तथैतं पितृयज्ञं समाप्नोति, अहरहस्स्वाहाकुर्यादाकाष्ठात्तथैनं देवयज्ञं समाप्नोति। अथ ब्रह्मयज्ञः। स्वाध्ययोवै ब्रह्मयज्ञः इति।

१. आपस्तम्बगृह्यसूत्रस्यानाकुलातात्पर्यदर्शनसहितस्य चौखम्बामुद्रणालयमुद्रितस्य पुस्तकस्य १०४ पृष्ठे द्रष्टव्यम्।

'तस्य विधि' रित्यारभ्योक्तो नित्यस्वाध्यायः। स तु ब्रह्मयज्ञः। इतिः समाप्तौ। इत्येते महायज्ञा इति। न चायमुपदेशक्रमोऽनुष्ठान उपयुज्यते। अनुष्ठानं तु—[1]ब्रह्मयज्ञो, देवयज्ञः, पितृयज्ञो, भूतयज्ञो, मनुष्ययज्ञ इति ॥ १ ॥

अनुवाद—देवों के लिए स्वाहा शब्द के साथ काठ तक की आहुति दी जाती है, पितरों के लिए स्वधा शब्द के साथ जल तक की अंजलि अर्पित की जाती है, और स्वाध्याय ब्रह्मयज्ञ होता है।

टिप्पणी—आकाष्ठात् का अर्थ है कि अन्न भी हो तो काठ तक की आहुति देवों के लिए दी जाती है। इसका अर्थ यह भी लिया जाता है कि जिस किसी तरह वैश्वदेव कर्म करना चाहिए। कुछ अन्य धर्मज्ञों के अनुसार भोजन का अभाव होने पर वैश्वदेव नहीं करना चाहिए। पितरों के लिए अन्न आदि के अभाव में जल भी दिया जा सकता है। यह उदक पात्र में दिया जाना चाहिए। यह पितृयज्ञ है। स्वाध्याय ब्रह्मयज्ञ होता है, ये महायज्ञ होते हैं ॥ १ ॥

पूजां प्रसङ्गादाह—

पूजा वर्णज्यायसां कार्या ॥ २ ॥

वर्णतो[2] ये ज्यायांसः प्रशस्ततरा भवन्ति तेषामवरेण वर्णेन कार्या पूजा अध्वन्यनुगमनादिका उत्सवादिषु च गन्धलेपादिका ॥ २ ॥

अनु०—जो लोग वर्ण की दृष्टि से श्रेष्ठ हैं उनके प्रति आदर-पूजा का भाव रखना चाहिए ॥ २ ॥

वृद्धतराणां च ॥ ३ ॥

सजातीनामपि पूजा कार्या। तरपो निर्देशात्[3] विद्यावयःकर्मभिर्वृद्धानां ग्रहणम्। हीनानामपीत्येके। तथा च मनुः—

[4]'शूद्रोऽपि दशमीं गत' इति ॥ ३ ॥

अनु०—अपने ही वर्ण के विद्या तथा अवस्था में श्रेष्ठ व्यक्तियों का सम्मान करना चाहिए।

टिप्पणी—कुछ लोग अपने से हीन वर्ण के किन्तु विद्या तथा अवस्था में श्रेष्ठ व्यक्तियों के आदर का नियम स्वीकार करते हैं ॥ ३ ॥

---

१. शिष्टाचारोऽपि ब्रह्मयज्ञो देवयज्ञः पितृयज्ञो. भूतयज्ञो, मनुष्ययज्ञ, इत्येवम्। न तु ब्राह्मणोक्तेनैव क्रमेणानुष्ठानम्। च० पुस्तके देवयज्ञो, भूतयज्ञ, इति पाठक्रमः।

२. अत्र प्रथमान्तस्सर्वोऽप्येकवचनान्ततया पठ्यते क० पु०

३. वित्तं बन्धुर्वयः कर्म विद्या भवति पञ्चमी। एतानि मान्यस्थानानि गरीयो यद्यदुत्तरम्॥ इति मनूक्तेर्विद्यादिभिर्वृद्धानामित्यर्थः ॥

४. म० स्मृ० २. १३७. दशमीं गतः नवत्यधिकां अवस्थां गत इत्यर्थः। वर्षाणां शतस्य दशधा विभागे दशम्यवस्था नवत्यधिका भवति।

पूजा कार्येत्युक्तम् । तद्विरोधी हर्षो वर्ज्य इत्याह—

हृष्टो दर्पति दृप्तो धर्ममतिक्रामति धर्मातिक्रमे खलु पुनर्नरकः ॥ ४ ॥

अभिमतलाभादिनिमित्तश्चित्तविकारो हर्षः । तद्युक्तो हृष्टः । स दर्पति दृप्यति । दर्पो गर्वोऽभिमानः । दृप्तो धर्ममतिक्रामति, पूज्यपूजनादिकं प्रति स्तब्धत्वात् । खलुपुनश्शब्दौ वाक्यालङ्कारे । धर्मातिक्रमे खलु पुनर्नरको भवति निरयं प्रतिपद्यते । तस्माद्धर्मातिक्रममूलभूतो हर्षो न कर्तव्यः । यद्यपि भूतदाहीयेषु [1]दोषेषु वर्जनीयेषु हर्षोऽपि, [2]वक्ष्यते । तथापीह विशेषेण हर्षस्य वर्जनार्थोऽयमारम्भः । योगाङ्गत्वाद्वक्ष्यमाणस्य ॥ ४ ॥

अनु०—अभीष्ट वस्तु की उपलब्धि से हर्षयुक्त व्यक्ति दर्पान्वित हो जाता है और धर्म का उल्लंघन करता है । धर्म का उल्लंघन करने पर वह निश्चय ही नरक प्राप्त करता है ॥ ४ ॥

न समावृत्ते समादेशो विद्यते ॥ ५ ॥

समावृत्तं शिष्यं प्रति आचार्येण समादेशो न देयः—इदं त्वया कर्तव्यमिति । यथा असमावृत्तदशायामाज्ञा दीयते—उदकुम्भमाहरेत्यादि, नैवमिदानीम् । स्वेच्छया करणे न प्रतिषेध्यम् ॥ ५ ॥

अनु०—समावर्तन संस्कार के बाद शिष्य को आचार्य उपदेश न देवे ।

टि०—तात्पर्य यह है कि गुरु शिष्य का समावर्तन हो जाने के बाद उस प्रकार आदेश न दे जिस प्रकार वह असमावृत अवस्था में दे देता था ॥ ५ ॥

ओङ्कारस्स्वर्गद्वारं तस्माद्ब्रह्माऽध्येष्यमाण एतदादि प्रतिपद्येत ॥ ६ ॥

ओङ्कारः प्रणवः स्वर्गस्य द्वारमिव । यथा द्वारेण गृहाभ्यन्तरं प्राप्यते तथाऽनेन स्वर्गः । तस्मात् ब्रह्म वेदं स्वर्गसाधनमध्येष्यमाण एतदादि अनाम्नातमप्योङ्कारमादौ कृत्वा प्रतिपद्येत उपक्रमेताऽध्येतुम् ॥ ६ ॥

अनु०—ओंकार स्वर्ग का द्वार है, अतः वेद का अध्ययन आरम्भ करने के लिए इस ओंकार शब्द से ही आरम्भ करना चाहिए ॥ ६ ॥

विकथां चान्यां कृत्वैवं लौकिक्या वाचा व्यावर्तते ब्रह्म ॥ ७ ॥

अध्ययनेऽनुपयुक्ता कथा विकथा । तां चान्यां कृत्वा एतदादि प्रतिपद्येत । एवं सति ब्रह्म वेदः लौकिक्या वाचा व्यावर्तते तया मिश्रितं न भवति ॥ ७ ॥

अनु०—अध्ययन के समय किसी अन्य असंम्बद्ध बात को कहने के बाद फिर ओम् शब्द का उच्चारण करके ही अध्ययन करना चाहिये । इससे वेद लौकिक वाणी के साथ मिश्रित नहीं होता, अलग बना रहता है ॥ ७ ॥

---

१. दोषेषु वर्जनीयेषु इति नास्ति ख० पु० २. आप० ध० १. २३. ६

पुनरप्योङ्कारमेव स्तौति—

यज्ञेषु चैतदादयः प्रसवाः ॥ ८ ॥

यज्ञेषु दर्शपूर्णमासादिषु एतदादयः ओङ्कारादयः प्रसवा अनुज्ञावाक्यानि भवन्ति ब्रह्मादीनाम्—ॐ प्रणय, ॐ निर्वप, ॐ [1]स्तुध्वमिति ॥ ८ ॥

अनु०—यज्ञ में अनुज्ञा वाक्यों के आरम्भ में 'ओम्' शब्द का प्रयोग किया जाता है ॥ ८ ॥

लोके च भूतिकर्मस्वेतदादीन्येव वाक्यानि स्युर्यथा पुण्याहं स्वस्त्यृद्धिमिति ॥ ९ ॥

यथा यज्ञेष्वोङ्कारादयः प्रसवाः, लोके च भूतिकर्मसु पाणिग्रहणादिषु एतदादीन्येव वाक्यानि स्युः। तान्युदाहरति—यथेति। पुण्याहवाचने ॐ कर्मणः पुण्याहं भवन्तो ब्रुवन्त्वि' ति वाचयिता वदति। [2]ॐ पुण्याहं कर्मणोऽस्तु' इति प्रतिवक्तारः। [3]ॐ कर्मणे स्वस्ति भवन्तो ब्रुवन्तु' इति वाचयिता। [3]ॐ कर्मणे स्वस्ति' इतीतरे। [4] ॐ कर्मण ऋद्धिं भवन्तो ब्रुवन्तु'' इति वाचयिता। 'ॐ कर्मर्ध्यता'मितीतरे। तस्मादेवं प्रशस्त ॐकार इति ॥ ९ ॥

अनु०—लौकिक कार्यों में भी पुण्य कर्मों के करने के पहले ओम् का प्रयोग होवे, यथा 'ओम् पुण्याहम्' 'ओम् स्वस्ति ओम् ऋद्धिम्'। आदि वाक्यों में।

टि०—भूतिकर्म से उन कर्मों से तात्पर्य है जो सुख तथा कल्याण के लिए किये जाते हैं, यथा पाणिग्रहण आदि संस्कार ॥ ९ ॥

नाऽसमयेन कृच्छ्रं कुर्वीत त्रिःश्रावणं त्रिस्सहवचनमिति परिहाप्य ॥ १० ॥

समयः शुश्रूषा, तेन विना कृच्छ्रं दुःखं दुरवधारणं अपूर्वं ग्रन्थं न कुर्वीत। क्रियासामान्यवचनः करोतिरध्ययनेऽध्यायने च वर्तते। समयेन विना शिष्योऽपि कृच्छ्रं ग्रन्थं नाऽधीयीत। आचार्योऽपि नाध्यापयेत्। तथा च मनुः—

[5]'धर्मार्थौ यत्र न स्यातां शुश्रूषा वापि तद्विधा।
न तत्र विद्या वप्तव्या शुभं बीजमिवोषरे' ॥ इति।

---

१. सोमयागे उद्गातृप्रस्तोतृप्रतिहर्तांख्यान् छन्दोगान् प्रति गुणिनिष्ठगुणाभिधानरूपस्तोत्रारम्भार्थमध्वर्युणाऽनुज्ञादानमिदम्।

२. ॐ पुण्याहं इति क० पु० ३. ॐ कर्मणे स्वस्ति इति वाचयिता इति क० पु०
४. ॐ कर्मण ऋद्धिं इति क० पु० ५. म० स्मृ० २. ११२

किमविशेषेण ? नेत्याह—त्रिःश्रावणं त्रिस्सहवचनमिति परिहाप्य वर्जयित्वा । त्रिःश्रावणमात्रे त्रिस्सहवचनमात्रे चान्यतरापेक्षया क्रियमाणे शुश्रूषा नाऽपेक्ष्या । ततोऽधिके सर्वत्रापेक्ष्येति ॥ १० ॥

अनु०—समय अर्थात् शुश्रूषा के बिना किसी अपठित कठिन ग्रन्थ का अध्ययन न करे, और अध्यापन भी न करे । त्रिश्रावण तथा त्रिस्सहवचन नाम के पाठ इसके अपवाद हैं, उनका अध्ययन तथा अध्यापन बिना समय के किया जा सकता है ॥ १० ॥

अविचिकित्सा यावद्ब्रह्म निगन्तव्यमिति हारीतः ॥ ११ ॥

विचिकित्सा संशयः । तदभावोऽविचिकित्सा सा यावदुत्पद्यते तावद्ब्रह्म निगन्तव्यं नियमपूर्वमधिगन्तव्यमिति हारीतः आचार्यो मन्यते । अत्र पक्षे त्रिःश्रावणत्रिस्सहवचनयोरपि शुश्रूषितव्यम् । ब्रह्मग्रहणादङ्गेषु नायं विधिः ॥ ११ ॥

अनु०—हारीत का मत है कि सम्पूर्ण वेद का अध्ययन व्रतपूर्वक करना चाहिए, जब तक कि उसके विषय में किसी प्रकार की जिज्ञासा बनी हुई है ।

टि०—हारीत के इस मत के अनुसार ऊपर त्रिश्रावण तथा त्रिस्सहवचन के विषय में जो अपवाद का नियम बताया गया था वह लागू नहीं होगा, अपितु इनके विषय में भी व्रत आवश्यक हो जायगा । चूंकी इस सूत्र में ब्रह्म का ही प्रयोग है, अतः वेदांग के विषय में समय के नियम को नहीं समझना चाहिए ॥ ११ ॥

न बहिर्वेदे गतिर्विद्यते ॥ १२ ॥

वेदाद्बहिर्भूते काव्यनाटकादिश्रवणे । गतिः शुश्रूषा न विद्यते यद्यपि तदुपयुक्तं वेदार्थज्ञाने ॥ १२ ॥

अनु०—वेद से भिन्न ग्रन्थों के विषय में शुश्रूषा का नियम नहीं होता ।

टि०—वेद से भिन्न ग्रन्थों के अन्यगंत काव्य, नाटक आदि बताये गये हैं ॥१२॥

समादिष्टमध्यापयन्तं यावदध्ययनमुपसंगृह्णीयात् ॥ १३ ॥

य आचार्येण समादिष्टोऽयध्यापयति तं यावदध्ययनं यावदसावध्यापयते तावदुपसंगृह्णीयात् । तथा [1]'समादिष्टेऽध्यापयती' त्यत्राऽऽचार्यदारवद्वृत्तिरुक्ता । तत्र[2]चा'न्यत्रोपसङ्ग्रहणादि'ति वर्तते [3]अत उपसङ्ग्रहणार्थोऽयामारम्भः॥१३॥

---

१. आप० ध० १. ७. २८ २. आप० ध० १. ७. २७

३. ततः इति क० पु०

अनु०—जो व्यक्ति गुरु के आदेश से अध्यापन कर रहा हो, उसके चरण का उस समय तक उपसंग्रहण करना चाहिए, जब तक वह अध्यापन करे ।। १३ ।।

नित्यमर्हन्तमित्येके ।। १४ ।।

स चेत्समादिष्टोऽर्हन् भवति[1] विद्यासदाचारादिना । ततो नित्यमुपसंगृह्णीयात्, इत्येके मन्यन्ते । स्वमतं तु यावदध्ययनमिति ।। १४ ।।

अनु०—कुछ धर्मज्ञों का मत है कि यदि वह व्यक्ति योग्य हो तो सदैव उसके चरण का उपसंग्रहण करे ।

टि०—आपस्तम्ब का मत यही है कि उस व्यक्ति के चरण का उपसंग्रहण उसी समय तक करना चाहिए जब तक वह अध्यापन करे ।। १४ ।।

न गतिर्विद्यते ।। १५ ।।

यद्यप्यसावर्हन् भवति तथाप्याचार्ये या गतिः शुश्रूषा सा तस्मिन्न कर्तव्या ।। १५ ।।

अनु०—वह व्यक्ति विद्वान् भी हो तो भी उसके प्रति शुश्रूषा नहीं होती ।।१५।।

वृद्धानां तु ।। १६ ।।

तुश्चार्थे । वृद्धानां चान्तेवासिनां न गतिर्विद्यते । पूर्ववयसाऽन्तेवासिना अवरवया आचार्यो न शुश्रूषितव्यः । अध्ययनादूर्ध्वमित्येके । अध्ययनकालेऽपीत्यन्ये । केचिदवरवयसाऽप्यन्तेवासिना न वार्धके गतिः कर्तव्येत्याहुः ।।१६।।

अनु०—अधिक अवस्था वाले अन्तेवासियों के लिए भी शुश्रूषा का नियम नहीं होता ।

टि०—इसका तात्पर्य यह है कि यदि अन्तेवासी आचार्य से अधिक आयु का हो तो आचार्य की शुश्रूषा न करे । कुछ धर्मज्ञों के अनुसार यह नियम अध्ययन के बाद ही होता है किन्तु कुछ आचार्य अध्ययन काल में भी ऐसा नियम मानते हैं । कुछ इसका यह अर्थ लगाते हैं कि आचार्य से अल्प आयु का अन्तेवासी भी वृद्धावस्था में आचार्य के प्रति शुश्रूषा न करे ।। १६ ।।

ब्रह्मणि मिथो विनियोगे न गतिर्विद्यते ।। १७ ।।

ब्रह्मणि वेदविषये यदा मिथो विनियोगः क्रियते बह्वृचो यजुर्वेदिनः सकाशाद्यजुर्वेदमधीते सोऽपि तस्मादृग्वेदम् । तदाऽपि परस्परं शुश्रूषा न कर्तव्या ।। १७ ।।

अनु०—यदि दो व्यक्ति परस्पर एक दूसरे को वेद का अध्यापन करते हों तो उनमें परस्पर शुश्रूषा का नियम नहीं होता ।। १७ ।।

---

१. विद्यासदाचारादिना इति नास्ति. ख० पु०

अत्र हेतुं स्वयमेवाह—

ब्रह्म वर्धत इत्युपदिशन्ति ॥ १८ ॥

द्वयोरपि ब्रह्म वर्धते। सैव ब्रह्मवृद्धिः शुश्रूषेत्युपदिशन्त्याचार्याः ॥ १८ ॥

अनु०—क्योंकि माना जाता है कि दोनों का वेदज्ञान बढ़ता है और उन दोनों के लिए यही पारस्परिक शुश्रूषा है ॥ १८ ॥

निवेशे वृत्ते संवत्सरे संवत्सरे द्वौ द्वौ मासौ समाहित आचार्यकुले वसेद्भूयः श्रुतिमिच्छन्निति श्वेतकेतुः ॥ १९ ॥

भूयःश्रवणमिच्छन् पुरुषो निवेशे दारकर्मणि वृत्तेऽपि प्रतिसंवत्सरं द्वौ द्वौ मासौ समाहितो भूत्वाऽचार्यकुले वसेदिति श्वेतकेतुराचार्यो मन्यते ॥ १९ ॥

अनु०—श्वेतकेतु का कथन है कि गृहस्थाश्रम रहते हुए भी जो और अधिक अध्ययन करना चाहता है वह प्रत्येक वर्ष में दो मास के लिये समाहित मन से आचार्य के कुल में निवास करे ॥ १९ ॥

अत्र हेतुत्वेन श्वेतकेतोरेव शिष्यान्प्रति वचनम्—

एतेन ह्यहं योगेन भूयः पूर्वस्मात्कालाच्छ्रुतमकुर्वीति ॥ २० ॥

एतेनानन्तरोक्तेन योगेनोपायेन अहं पूर्वस्मात् ब्रह्मचर्यकालात् भूयः [1]बहुतरं श्रुतमकुर्वीति कृतवानस्मि। अतो यूयमपि तथा कुरुध्वमिति ॥ २० ॥

अनु०—श्वेतकेतु ने (अपने शिष्यों से) कहा है–'इस विधि से मैंने पहले (ब्रह्मचर्य काल) की अपेक्षा अधिक वेद का अध्ययन किया है ॥ २० ॥

तच्छास्त्रैर्विप्रतिषिद्धम् ॥ २१ ॥

तदिदं श्वेतकेतोर्वचनं श्रुत्यादिभिः शास्त्रैर्विरुद्धम् ॥ २१ ॥

अनु०—श्वेतकेतु का यह वचन शास्त्र के विपरीत है ॥ २१ ॥

कथमित्यत आह—

निवेशे हि वृत्ते नैयमिकानि श्रूयन्ते ॥ २२ ॥

हिशब्दो हेतौ। यस्मात् निवेशे वृत्ते नैयमिकानि नियमेन कर्तव्यानि नित्यानि कर्माणि श्रूयन्ते ॥ २२ ॥

अनु०—क्योंकि गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने के बाद वेद के अनुसार दैनिक कर्मों के सम्पादन का विधान किया गया है ॥ २२ ॥

इति त्रयोदशी कण्डिका

---

१. अधिकतरं इति ख० पु०

कानि पुस्तकानि ?

'अग्निहोत्रमतिथयो यच्चान्यदेवं युक्तम् ॥ १ ॥

अग्निहोत्रम्, अतिथयः अतिथिपूजा ।

[2]"यथा मातरमाश्रित्य सर्वे जीवन्ति जन्तवः ।
एवं गृहस्थमाश्रित्य सर्वे जीवन्ति भिक्षवः ॥' इति ।

यच्चान्यदेवं युक्तं एवंविधं श्राद्धसन्ध्योपासनादि । एवमेतैः कर्मभिरहरहराक्रान्तस्य न [3]शरीरकण्डूयनेष्वप्यवसरो भवति । स कथं द्वौद्वौ मासौ गुरुकुले वसेदिति ॥ १ ॥

अनु०—अग्निहोत्र, अतिथिपूजा, तथा अन्य जो कुछ भी उचित कर्तव्य (श्राद्ध सन्ध्योपासनादि) हैं (वे गृहस्थाश्रम में करने होते हैं) ॥ १ ॥

अध्ययनार्थेन यं चोदयेन्न चैनं प्रत्याचक्षीत ॥ २ ॥

यमाचार्यं माणवकोऽध्ययनं प्रयोजनमुद्दिश्य चोदयेत्—'शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्न'मिति, स एनं माणवकं नैव प्रत्याचक्षीत । चशब्दोऽवधारणे ॥ २ ॥

अनु०—शिष्य जिस गुरु से अध्ययन कराने के लिये आग्रह करे वह अस्वीकार न करे ॥ २ ॥

किमविशेण ? नेत्याह—

न चास्मिन् दोषं पश्येत् ॥ ३ ॥

चणिति निपातोऽस्ति—[4]'निपातैर्यद्यदिहन्तकुविन्नेच्चेच्चण्कच्चिद्यत्रयुक्त'मिति । स चेदर्थे वर्तते । [5]'इन्द्रश्च मृडयाति न' इत्यादौ दर्शनात् । तस्यायं प्रयोगः—न चेदस्मिन् माणवके दोषमनध्याप्यताहेतुं पश्येत् ॥ ३ ॥

अनु०—यदि उस शिष्य में दोष न देखे तो अध्यापन करने से अस्वीकार न करे ॥ ३ ॥

---

१. अग्निहोत्रमतिथयः । यच्चान्यदेवं युक्तम् । इति सूत्रद्वयत्वेन परिगणितं ख० च० पुस्तकयोः ।

२. वसि० स्मृ० ८. १६. वचनमिदं स्मृतिमुक्ताफले 'दक्षः'—इत्यारभ्य पठितेषु वचनेषु मध्ये पठितम् । इदानीमुपलभ्यमानमुद्रितदक्षस्मृतिपुस्तके तु नोपलभ्यते । वसिष्ठस्मृतावेवोपलभ्यते ।

३. शिरःकण्डूयने इति ख० पु०

४. पा० सू० ८. ३. १०

५. ऋ० सं० २. ४१. ११

यदृच्छायामसंवृत्तौ गतिरेव तस्मिन् ॥ ४ ॥

समानमधीयानेषु माणवकेषु यदि कस्यचिद्यदृच्छया दृष्टहेतुमन्तरेण बुद्धिमान्द्यादिनाऽध्ययनस्या [1]संवृत्तिस्स्यात् अधीतो भागो माणवकान्तरवन्नागच्छेत् तदा तस्यां यदृच्छायामसंवृत्तौ तस्मिन्नाचार्ये गतिरेव शुश्रूषैव माणवकस्य शरणम् । तथा च मनुः—

[2]'यथा खनन् खनित्रेण नरो वार्यधिगच्छति ।

तथा गुरुगतां विद्यां शुश्रूषुरधिगच्छति ॥" इति ।

अधिकं शुश्रूषितो हि गुरुस्सर्वात्मना तं शिक्षयेदिति ॥ ४ ॥

अनु०—यदि शिष्य के (मन्दबुद्धि होने से) अध्ययन पूरा न हो तो उसके लिए गुरु की शुश्रूषा ही करनी होती है ॥ ४ ॥

मातरि पितर्याचार्यवच्छुश्रूषा ॥ ५ ॥

मातृग्रहणेन पितामहीप्रपितामह्योरपि ग्रहणम् । पितृग्रहणेन पितामहप्रपितामहयोः । सर्वे एते आचार्यवच्छुश्रूषितव्याः ॥ ५ ॥

अनु०—माता तथा पिता के प्रति आचार्य की तरह शुश्रूषा करनी चाहिए ।

टि०—माता से पितामही, प्रपितामही आदि से भी तात्पर्य है । इसी प्रकार पिता शब्द से पितामह, प्रपितामह से भी तात्पर्य है । इन सभी के प्रति उसी प्रकार की शुश्रूषा विहित है जिस प्रकार की गुरु के लिए ॥ ५ ॥

समावृत्तेन सर्वे गुरव उपसङ्ग्राह्याः ॥ ६ ॥

उक्ताश्चानुक्ताश्च ज्येष्टभ्रातृमातुलादयः सर्वे गुरवः समावृत्तेनाहरहरुपसंग्राह्याः ॥ ६ ॥

अनु०—जिस शिष्य का समावर्तन हो चुका हो वह सभी गुरुजनों के चरणों का उपसंग्रहण करे ।

टि०—ज्येष्ठ भ्राता, मामा, सभी गुरु के अन्तर्गत आते हैं ॥ ६ ॥

प्रोष्य च समागमे ॥ ७ ॥

यदि स्वयं प्रोष्य समागतो भवति । गुरवो वा प्रोष्य समागताः । तदापि ते उपसङ्ग्राह्याः ॥ ७ ॥

अनु०—यात्रा से लौटने के बाद भी उनके चरणों का उपसंग्रहण करे ॥ ७ ॥

---

१. समावृत्तिः इति क० पु० २. म० स्मृ० २. २१८

भ्रातृषु भगिनीषु च यथापूर्वमुपसङ्ग्रहणम् ॥ ८ ॥

पूर्वेणैव सिद्धे क्रमार्थं वचनम्—यथापूर्वं ज्येष्ठक्रमेणेति ॥ ८ ॥

अनु०—बड़े भाइयों और बड़ी बहनों का चरण उनकी ज्येष्ठता के क्रम से छूने चाहिये ॥ ८ ॥

नित्या च पूजा यथोपदेशम् ॥ ९ ॥

[1]'पूजा वर्णज्यायसां कार्या, वृद्धतराणां चे'त्युपदेशानुरोधेन या नित्या पूजा सा यथापूर्वं वृद्धक्रमेण ॥ ९ ॥

अनु०—(वर्ण से श्रेष्ठ एवं आयु से वृद्धतर लोगों की) नित्य की जाने वाली पूजा निर्दिष्ट नियम के अनुसार करनी चाहिए। (अर्थात् उनकी श्रेष्ठता तथा अधिक अवस्था के क्रम से करनी चाहिए) ॥ ९ ॥

ऋत्विक्श्वशुरपितृव्यमातुलानवरवयसः प्रत्युत्थायाऽभिवदेत् ॥ १० ॥

[2]'त्रिवर्षपूर्वः श्रोत्रियोऽभिवादनमर्हती'ति वक्ष्यति। तेनावरवयस ऋत्विगादयोऽप्यभिवाद्यन्ते। तानभिवादयमानान् प्रत्युत्थायाऽभिवदेत्। नान्येष्विव सुखमासीनोऽभिवदति। वयस्त उत्कृष्टानां तेषामियमेव पूजा ॥ १० ॥

अनु०—ऋत्विज्, श्वशुर, चाचा, मामा यदि अपने से कम अवस्था के हों तो भी उठकर उनका अभिवादन करे ॥ १० ॥

तूष्णीं वोपसंगृह्णीयात् ॥ ११ ॥

अथवा प्रत्युत्थाय स्वयमपि तांस्तूष्णीमुपसंगृह्णीयात्। विद्याचारित्राद्यपेक्षो विकल्पः ॥ ११ ॥

अनु०—अथवा चुपचाप उनके चरण का स्पर्श करे ॥ ११ ॥

अथाभिवाद्या उच्यन्ते—

दशवर्षं पौरसख्यं पञ्चवर्षं तु चारणम्।
त्रिवर्षपूर्वः श्रोत्रियोऽभिवादनमर्हति ॥ १२ ॥

पुरभवं पौरम्। पौरं च तत्सख्यं च पौरसख्यं सेवादिनिबन्धनं बान्धवं तदभिवादनस्य निमित्तम्। कीदृशम्? दशवर्षान्तरालं, दशवर्षाधिकः पौरस्सखा अश्रोत्रियोऽप्यभिवाद्य इति विवक्षितम्। पञ्चवर्षं तु चारणम्। सख्यमित्युपसमस्तमप्यपेक्ष्यते। चारणशब्दः शाखाध्यायिषु रूढः। तेषां सख्यं पञ्चवर्षमभिवा-

---

१. आप० ध० १. १३. २, ३   २ आप० ध० १. १४, १३

दनस्य निमित्तम्। [1]श्रोत्रियं वक्ष्यति। त्रिवर्षपूर्वः श्रोत्रियोऽभिवादनमर्हति स त्रिवर्षपूर्वतामात्रेणाभिवादनमर्हति, न पूर्वसंस्तवमपेक्षते ॥ १२ ॥

अनु०—दस वर्ष तक किसी पुरवासी के साथ मित्रता, पाँच वर्ष तक एक शाखा के अध्ययन से उत्पन्न मित्रता अभिवादन का कारण होती है किन्तु श्रोत्रिय यदि तीन वर्ष से कम समय का परिचित हो तो भी उसे अभिवादन करना चाहिए ॥१२॥

ज्ञायमाने वयोविशेषे वृद्धतरायाऽभिवाद्यम् ॥ १३ ॥

क्रमार्थमिदम् [2]वयोविशेषे ज्ञायमाने पूर्वं वृद्धतरायाऽभिवाद्यम् अभिवादनं कर्तव्यम्। पश्चाद्वृद्धायेति ॥ १३ ॥

अनु०—अवस्था ज्ञात होने पर अनेक व्यक्तियों में जो सबसे वृद्ध हो उसका पहले अभिवादन करना चाहिए ॥ १३ ॥

विषमगतायाऽगुरवे नाभिवाद्यम् ॥ १४ ॥

उच्चैस्थाने नीचैस्स्थाने वाऽवस्थितो विषमगतः। तस्मै गुरुव्यतिरिक्ताय नाभिवाद्यम्। गुरवे त्वभिवाद्यमेव, दर्शने सति तूष्णीमवस्थानस्याऽयुक्तत्वात् ॥ १४ ॥

अनु०—ऊँचे या नीचे स्थान पर स्थित किसी ऐसे व्यक्ति को जो गुरु नहीं है अभिवादन न करे ॥ १४ ॥

अन्वारुह्य वाभिवादयीत ॥ १५ ॥

इदमगुरुविषयम्। यत्रासावभिवादनीयः स्थितः तत्रान्वारुह्याभिवादयीत अभिवदेत्। अन्ववरुह्येत्यपि द्रष्टव्यम्, न्यायस्य तुल्यत्वात्, गुरौ तु दृष्टमात्र एवाभिवादनमित्युक्तम् ॥ १५ ॥

अनु०—अथवा (यदि वह नीचे स्थित हो तो) उतरकर या (ऊपर स्थित हो तो) ऊपर जाकर उसका अभिवादन करे ॥ १५ ॥

सर्वत्र तु प्रत्युत्थायाभिवादनम् ॥ १६ ॥

सर्वत्र गुरावगुरौ च प्रत्युत्थायैवाभिवादनं कर्तव्यम् ॥ १६ ॥

अनु०—किन्तु (गुरु या अगुरु) सभी के लिए (अपने स्थान से) उठकर अभिवादन करे ॥ १६ ॥

उत्तरे द्वे सूत्रे निगदसिद्धे ॥

[3]अप्रयतेन नाभिवाद्यं, तथाऽप्रयताया,ऽप्रयतश्च न प्रत्यभिवदेत् ॥१७॥

---

१. आप० ध० २. ३. ४

२. 'वचन'मित्यधिकं ख० पु०   ३. इदं सूत्रं त्रिधा विभक्तं ख० च० पु०

यत्त्वज्ञानादप्रयताय कश्चिदभिवादयेत् तथापि सोऽप्रयतो न प्रत्यभिवदेत् ॥ १७ ॥

अनु०—अपवित्र होने पर अभिवादन न करे। अपवित्र व्यक्ति को प्रणाम न करे और न स्वयं अपवित्र होने पर किसी के अभिवादन का उत्तर दे ॥ १७ ॥

पतिवयसः स्त्रियः ॥ १८ ॥

पत्युर्यद्वयस्तदेव स्त्रीणां वयः। तेन तदनुरोधेन ज्येष्ठभार्यादिष्वभिवादनम् ॥ १८ ॥

अनु०—विवाहिता स्त्रियों को उनके पति की आयु के अनुसार प्रणाम करे ॥१८॥

न सोपानद्वेष्टितशिरा अवहितपाणिर्वाभिवादयीत ॥ १९ ॥

अवहितपाणिः समित्कुसादिहस्तः, दात्रादिहस्तो वा। अन्यत्प्रसिद्धम् ॥१९॥

अनु०— जूते पहने हुए, या सिर को ढके हुए अथवा हाथ में कुछ लिए हुए अभिवादन न करे ॥ १९ ॥

सर्वनाम्ना स्त्रियो राजन्यवैश्यौ च[1] न नाम्ना ॥ २० ॥

स्त्रियः सर्वनाम्नैवाभिवादयीत अभिवादयेऽहमिति न नाम्ना[2]ऽसाधारणेन देवदत्तोऽहमभिवादय इति। एवं राजन्यवैश्यौ च ॥ २० ॥

अनु०—स्त्रियों का तथा क्षत्रिय और वैश्य का अभिवादन करते समय अपने लिए सर्वनाम का प्रयोग करते हुए अभिवादन करे, अपने नाम का उच्चारण न करे ॥ २० ॥

मातरमाचार्यदारं चेत्येके ॥ २१ ॥

मातरमाचार्यदारं चैते अपि द्वे सर्वनाम्नैवाऽभिवादयीत। न नाम्नाभिवादयीतेके मन्यन्ते। स्वमतं तु नाम्नैवेति ॥ २१ ॥

अनु०—कुछ लोगों का मत है कि अपनी माता को तथा आचार्य की पत्नी को भी इसी प्रकार (सर्वनाम का प्रयोग करके) प्रणाम करे।

टि०—किन्तु आपस्तम्ब को यह मान्य नहीं। उनके अनुसार माता तथा आचार्य पत्नी को अपना नाम लेकर ही प्रणाम करना चाहिए ॥ २१ ॥

---

१. 'न नाम्ना' इति पृथक् सूत्रं कृतं क० पु०

२. असाधारणेन देवदत्तोऽहमभिवादये' इति क० पुस्तके नास्ति।

वयोविशेषेणाभिवादनं हीनवर्णे नास्तीत्याह—

दशवर्षश्च ब्राह्मणः शतवर्षश्च क्षत्रियः।

पितापुत्रौ स्म तौ विद्धि तयोस्तु ब्राह्मणः पिता ॥२२॥

शिष्यं प्रत्याचार्यस्याऽयमुपदेशः। स्मशब्दः श्लोकपूरणो निपातः। ब्राह्मणः क्षत्रिय इत्युपलक्षणमुत्तमाधमवर्णानाम्। विद्धि जानीहि। [1]शिष्टं स्पष्टम् ॥ २२ ॥

अनु०—दस वर्ष की आयु का ब्राह्मण तथा सौ वर्ष की आयु का क्षत्रिय परस्पर पिता और पुत्र के संबन्ध जैसी स्थिति में हैं इनमें ब्राह्मण क्षत्रिय के लिए पितातुल्य पूज्य होता है ॥ २२ ॥

कुशलमवरवयसं वयस्यं वा पृच्छेत् ॥ २३ ॥

ब्राह्मणविषयमिदम्।[2] क्षत्रियादिषु विशेषस्य वक्ष्यमाणत्वात्। वयसा तुल्यो वयस्यः। अवरवयसं वयस्यं वा ब्राह्मणं पथ्यादिषु सङ्गतं कुशलं पृच्छेत्–'अपि कुशल'मिति ॥ २३ ॥

अनु०—अपने से कम आयु वाले अथवा समान आयु वाले व्यक्ति से कुशल के विषय में प्रश्न करे।

टि०—यह ब्राह्मण के विषय में है, क्योंकि क्षत्रिय के सन्दर्भ में आगे नियम विवक्षित है ॥ २३ ॥

अनामयं क्षत्रियम् ॥ २४ ॥

पृच्छेत् 'अप्यनामयं भवत' इति। आमयो रोगः तदभावोऽनामयम् ॥२४॥

अनु०—क्षत्रिय से अनामय (स्वास्थ्य) के विषय में प्रश्न करे ॥ २४ ॥

अनष्टं वैश्यम् ॥ २५ ॥

'अप्यनष्टपशुधनोऽसी'ति ॥ २५ ॥

अनु०—वैश्य से अनष्ट का प्रयोग करते हुए कुछ खोये न होने के विषय में प्रश्न करे ॥ २५ ॥

आरोग्यं शूद्रम् ॥ २६ ॥

शूद्रमारोग्यं पृच्छेत्–'अप्यरोगो भवा'निति ॥ २६ ॥

अनु०—शूद्र से आरोग्य के विषय में प्रश्न करे ॥ २६ ॥

---

१. 'स्पष्टमन्य'दिति क० ख० च० पु० २. इतरेषु० इति क० पु०

नाऽसम्भाष्य श्रोत्रियं व्यतिव्रजेत् ॥ २७ ॥

श्रोत्रियं पथि सङ्गतमसम्भाष्य न व्यतिव्रजेत् न व्यतिक्रामेत् ॥ २७ ॥

अनु०—मार्ग में श्रोत्रिय ब्राह्मण के मिलने पर उससे संभाषण किये बिना आगे न बढ़े ॥ २७ ॥

अरण्ये च स्त्रियम् ॥ २८ ॥

अरण्यग्रहणं [1]सभयस्य देशस्योपलक्षणम्। तत्र स्त्रियमेकाकिनीं दृष्ट्वा असम्भाष्य न व्यतिव्रजेत्। सम्भाषणं च मातृवद्भगिनीवच्च—'भगिनि किं ते करवाणि न भेतव्यम्' इति ॥ २८ ॥

इति चापस्तम्बधर्मसूत्रवृत्तौ हरदत्तमिश्रविरचितायामु-
ज्ज्वलायां प्रथमप्रश्ने चतुर्थः पटलः ॥ ४ ॥

अनु०—वन में किसी स्त्री को अकेली देखकर उससे संभाषण किये बिना आगे न बढ़े।

टि०—ऐसी स्त्री से 'बहन, मैं आपकी क्या सहायता करूं, डरिये मत' ('भगिनी, कि ते करवाणि, न भेतव्यम्') संभाषण की विधि है ॥ २८ ॥

इत्यापस्तम्बधर्मसूत्रवृत्तौ चतुर्दशी कण्डिका ॥

१. सहायरहितस्य' इति पाठान्तरम्। इति ख० पुस्तकटिप्पण्याम्।

अथ पञ्चमः पटलः

सर्वेषामेव कर्मणां शेषभूतमाचमनं विधास्यंस्तदुपयोगिनो विधीनाह—

उपासने गुरूणां वृद्धानामतिथीनां होमे जप्यकर्मणि भोजन आचमने स्वाध्याये च यज्ञोपवीती स्यात् ॥ १ ॥

गुरूणामाचार्यादीनाम्, अन्येषां च वृद्धानां पूज्यानामतिथीनां च उपासने यदा तानुपास्ते तदा, होमे साङ्गे पित्र्यादन्यत्र, जप्यकर्मणि जपक्रियायां भोजनाचमनयोश्च, स्वाध्यायाध्ययने च, यज्ञोपवीती स्यात् यज्ञोपवीती भवेत्। वासोविन्यासविशेषो यज्ञोपवीतम्[1] 'दक्षिणं बाहुमुद्धरतेऽवधत्ते सव्यमिति यज्ञोपवीतम्, इति ब्राह्मणम्। वाससोऽसम्भवेऽनुकल्पं वक्ष्यति 'अपि वा सूत्रमेवोपवीतार्थे' (२–४–२२) इति। मनुरप्याह—

[2]'कार्पासमुपवीतं स्याद्विप्रस्योर्ध्ववृतं त्रिवृत् इति ॥

[3]'उद्धृते दक्षिणे पाणावुपवीत्युच्यते बुधैः ॥' इति च।

एषु कर्मसु यज्ञोपवीतविधानात्कालान्तरे नावश्यम्भावः ॥ १ ॥

अनु०—गुरुओं की उपासना के समय, श्रेष्ठ व्यक्तियों अथवा अतितिथियों का सम्मान करते समय, होम करते समय, जप करते समय, भोजन और आचमन के समय, तथा दैनिक वेदाध्ययन के समय यज्ञोपवीती होवे (अर्थात् यज्ञ-सूत्र को बाएँ कंधे के ऊपर से दाहिनी भुजा के नीचे तक धारण करे) ॥ १ ॥

भूमिगतास्वप्स्वाचम्य प्रयतो भवति ॥ २ ॥

[4]'आपः शुद्धा भूमिगता वैतृष्ण्यं यासु गोर्भवेत्।
अव्याप्ताश्चेदमेध्येन गन्धवर्णरसान्विताः [5]॥ इति मनुः।
'शुचि गोतृप्तिकृत्तोयं प्रकृतिस्थं महीगतम्' इति। याज्ञवल्क्यः
[6]'अजा गावो महिष्यश्च ब्राह्मणी च प्रसूतिका।

---

१. तै० आ० २. १. २. म० स्मृ० २. ४४
३. म० स्मृ० २. ६३ 'द्विजः' इति ख० च० पुस्तकयोः मुद्रितमनुस्मृतिपुस्तके च।
४. यज्ञोपवीतविधानात् इति. ख० पु० ५. म० स्मृ० ५. १२७. या० स्मृ० १. १९२
६. अयं श्लोको मुद्रितमनुस्मृतिपुस्तकेषु नोपलभ्यते।

दशरात्रेण शुध्यन्ति भूमिष्ठं च नवोदकम्[1] ॥' इति।
श्रावणे मासि सम्प्राप्ते सर्वा नद्या रजस्वलाः[2] ।'

इति स्मृत्यन्तरम्। एवंभूतदोषरहितास्वप्स्वाचम्य प्रयतो भवति। प्रायत्यार्थमाचमनं भूमिगतास्वप्सु कर्तव्यमिति ॥ २ ॥

अनु०—(शुद्ध) पृथ्वी पर एकत्र जल से आचमन करने पर शुद्धि होती है ॥२॥

यं वा प्रयत आचमयेत् ॥ ३ ॥

यं वा प्रयतोऽन्य आचमयेत् सोऽपि प्रयतो भवति। सर्वथा स्वयं वामहस्तावर्जिताभिरद्भिराचमनं न भवति। एतेन शास्त्रान्तरोक्तं कमण्डलुधारणमप्याचार्यस्याऽनभिमतं लक्ष्यते। अलाबुपात्रेण नालिकेरपात्रेण वा स्वयमाचमनमाचरन्ति शिष्टाः ॥ ३ ॥

अनु०—अथवा किसी शुद्ध व्यक्ति द्वारा आचमन कराये जाने पर भी शुद्धि होती है।

टि०—इस प्रकार आचमन के लिए नदी आदि का जल ही उत्तम है। दूसरा व्यक्ति भी आचमन करा सकता है। स्वयं अपने बाएँ हाथ में कोई पात्र लेकर उससे जल गिराकर आचमन नहीं करना चाहिए, ऐसा आपस्तम्ब का मत है। आपस्तम्ब के अनुसार दोनों हाथों से आचमन की विधि सम्पादित होनी चाहिए ॥३॥

न वर्षधारास्वाचामेत् ॥ ४ ॥

पूर्वोक्तेन प्रकारेण प्रायत्यार्थस्याचमनस्य वर्षधारासु प्रसङ्गाभावात् पिपासितस्य पानप्रतिषेधार्थमिति केचित्। अपर आह-अस्मादेव प्रतिषेधाच्छिक्यादिस्थकरकादेर्या धारा तत्र प्रायत्यार्थमाचमनं [3]भवतीति ॥ ४ ॥

अनु०—वर्षा की धाराओं से आचमन न करे।

टि०—इस नियम के कारण ही कुछ लोग प्यासे होने पर भी वर्षा का पानी न पीने का नियम मानते है। कुछ लोग ऐसा स्वीकार करते हैं कि यह सूत्र सिकहर आदि पर रखे हुए पात्र की धारा से आचमन का निषेध नहीं करता। क्योंकि सूत्र में वर्षा के जल का ही निषेध किया गया है ॥ ४ ॥

तथा[4] प्रदरोदके ॥ ५ ॥

---

१. मनुः' इति क० पु०

२. एतदन्तरं 'त्रिदिनं च चतुर्थेऽह्नि शुद्धास्स्युर्जाह्नवी यथा' इत्यर्धमधिकं दृश्यते ग. पु. स्मृत्यन्तरं इति च नास्ति ३. न भवत्येव इति ख० ग० पु०

४. तस्मात् प्रदरादुदकं नाचामेत्' इति तैत्तिरीयब्राह्मणम्।

भूमेः स्वयं दीर्णः प्रदेशः प्रदरः तत्र यदुदकं तस्मिन् भूमिगतेऽपि नाऽऽचामेत् ॥ ५ ॥

अनु०—पृथ्वी में स्वयं बने हुए गर्त से जल लेकर आचमन न करे ॥ ५ ॥

तप्ताभिश्चाऽकारणात् ॥ ६ ॥

तप्ताभिरद्भिर्नाचामेत् अकारणात् ज्वरादौ कारणे सति न दोषः । 'तप्ताभि' रिति वचनात् शृतशीताभिरदोषः । तथा चोष्णानामेव प्रतिषेध स्मृतिषु[1]प्रायो भवति ॥ ६ ॥

अनु०—बिना कारण के गरम किये गये जल से आचमन न करे ॥ ६ ॥

रिक्तपाणिर्वयस उद्यम्याऽप उपस्पृशेत् ॥ ७ ॥

वय इति पक्षिनाम । यो रिक्तपाणिस्सन् वयसे पक्षिण उद्यम्य तस्य प्रोत्सारणाय पाणिमुद्यच्छते स तत्कृत्वाऽप उपस्पृशेत् तेनैव पाणिना । 'रिक्तपाणि' रिति वचनात् काष्ठलोष्टादिसहितस्य पाणेरुद्यमने न दोषः । केचिदुपस्पर्शनमाचमनमाहुः ॥ ७ ॥

अनु०—खाली हाथ पक्षियों को उड़ाने के लिए हाथ उठाने के बाद जल से हाथ धोवे ।

टि०—इस नियम के अनुसार हाथ में कुछ लेकर पक्षी को उड़ाने में कोई दोष नहीं है । कुछ उपस्पर्शन से आचमन का ही अर्थ लेते हैं ॥ ७ ॥

शक्तिविषये न मुहूर्तमप्यप्रयतः स्यात् ॥ ८ ॥

शक्तौ सत्यां मुहूर्तमप्यप्रयतो न स्यात् । आचमनयोग्यजलं दृष्ट्वैव मूत्रपुरीषादिकं कुर्यात् यदि तावन्तं कालं[2] वेगं धारयितुं शक्नुयात् इति ॥ ८ ॥

अनु०—(आचमन करने के लिए जल पाने में) समर्थ हो, तो एक क्षण भी अपवित्र न रहे ॥ ८ ॥

नग्नो वा ॥ ९ ॥

न मुहूर्तमपि स्यादिति सम्बध्यते, शक्तिविषय इति च । व्रणादिना कौपीनाच्छादनाशक्तौ न दोषः ॥ ९ ॥

अनु०—(यदि शरीर आच्छादन में) समर्थ हो तो एक क्षण भी नग्न न रहे ॥९॥

---

१. प्रायशः इति ख० पु० स्मृतिषु । इत्यन्तमेव च० पुस्तके ।

२. तावन्तं कालं इति नास्ति क० पु०

नाप्सु सतः प्रयमणं विद्यते ॥ १० ॥

येन प्रयतो भवति तत्प्रयमणमाचमनम्। करणे ल्युट्। तदप्सु सतो वर्तमानस्य न भवति। जलमध्ये आसीनोऽपि नाचामेत् ॥ १० ॥

अनु०—जल में रहने पर आचमन करके शुद्धि न करे ॥ १० ॥

उत्तीर्य त्वाचामेत् ॥ ११ ॥

तीरं उत्तीर्याचामेत् न जल इति। अयमर्थो न विधेयः। पूर्वेण गतत्वात्। तस्मादयमर्थः—यदा नदीमुत्तरति नावा प्रकारान्तरेण वा तदा तामुत्तीर्य तीरान्तरं गतः प्रयतोऽप्याचामेत्। नद्यादेरुत्तरणमाचमनस्य निमित्तमिति [1]तुरप्यर्थः ॥ ११ ॥

अनु०—नदी को (नौका आदि से या किसी अन्य प्रकार से पार करके) (शुद्ध होने पर भी) आचमन करे ॥ ११ ॥

नाऽप्रोक्षितमिन्धनमग्नावादध्यात् ॥ १२ ॥

श्रौते स्मार्ते लौकिके वाऽग्नौ अप्रोक्षितमिन्धनं नाऽदध्यात् क्षिपेत्। केचिल्लौकिके नेच्छन्ति ॥ १२ ॥

अनु०—ईंधन पर जल छिड़के विना उसे (श्रौत, स्मार्त या लौकिक) अग्नि के ऊपर न रखे।

टि०—कुछ लोग लौकिक अग्नि के लिए यह नियम नहीं मानते ॥ १२ ॥

मूढस्वस्तरे चासंस्पृशन्नन्यानप्रयतान्प्रयतो मन्येत ॥ १३ ॥

[2]पतितचण्डालसूतिकाद्यैकाशनस्पृष्टितत्स्पृष्ट्युपस्पर्शने सचेलमिति। गौतमः। [3]तस्मिन्विषय इदमुच्यते आसनतया शयनतया वा सुष्ठ्वास्तीर्णः पलालादिसङ्घातः स्वस्तरः। पृषोदरादिषु दर्शनाद्रूपसिद्धिः। यत्रातिश्लक्ष्णतया पलालादेर्मूलाग्रविभागो न ज्ञायते स मूढः। मूढश्चासौ स्वस्तरश्च मूढस्वस्तरः तस्मिन् पतितादिष्वप्रयतेष्वासीनेषु यः कश्चित्प्रयत उपविशेत् न च तान् संस्पृशेत्। तदा स प्रयतो मन्येत। यथा प्रयतमात्मानं मन्यते प्रयतोऽस्मीति तथैव मन्येत नैवंविधे विषये तत्स्पृष्टिन्यायः प्रवर्तते इति ॥ १३ ॥

अनु०—(पुआल आदि जैसी वस्तुओं के बने हुए) मिले जुले ढेर के ऊपर अपवित्र लोगों के साथ बैठा हो और उनका स्पर्श न किए हो तो अपने को पवित्र समझे ॥ १३ ॥

---

१. तुशब्दोऽप्यर्थ इति. क० पु० २. गौ० ध० १४. ३०. उदक्या रजस्वला.

३. तत्रेदमुच्यते इति, ग० पु० पाठस्समीचीनः।

तथा तृणकाष्ठेषु निखातेषु ॥ १४ ॥

तृणकाष्ठेष्वपि भूमौ निखातेषु तत्स्पृष्टिन्यायो न भवति ॥ १४ ॥

अनु०—पृथ्वी में गड़े हुए तृणों और गड़ी हुई लकड़ी के ऊपर (अपवित्र लोगों के साथ, बिना उनका स्पर्श किए) बैठने पर भी ऐसा ही समझना चाहिए (अर्थात् स्वयं को पवित्र मानना चाहिए ॥ १४ ॥

प्रोक्ष्य वास उपयोजयेत् ॥ १५ ॥

शुद्धमपि वासः प्रोक्ष्यैवोपयोजयेत् वसीत । अपर आह–अशुद्धस्यापि वाससः प्रोक्षणमेव शुद्धिहेतुरिति ॥ १५ ॥

अनु०—वस्त्र के ऊपर जल छिड़क कर ही पहनना चाहिए (भले ही वह वस्त्र शुद्ध, स्वच्छ क्यों न हो) ॥ १५ ॥

शुनोपहतः सचेलोऽवगाहेत ॥ १६ ॥

शुना उपहतः स्पृष्टः । यद्यपि चेलं न शुना स्पृष्टं तथापि सचेलोऽवगाहेत भूमिगतास्वप्सु स्नायात् नोद्धृतादिभिः । दष्टस्यतु स्मृत्यन्तरे प्रायश्चित्तम् । तत्र वसिष्ठः[1]

ब्राह्मणस्तु शुना दष्टो नदीं गत्वा समुद्रगाम् ।
प्राणायामशतं कृत्वा घृतं प्राश्य विशुध्यति ॥"

अङ्गिराः—

[2]'ब्रह्मचारी शुना दष्टस्त्रिरात्रेणैव शुध्यति ।
गृहस्थस्तु द्विरात्रेण ह्येकाहेनाऽग्निहोत्रवान् ॥
नाभेरूर्ध्वं तु दष्टस्य तदेव द्विगुणं भवेत् ।
तदेव त्रिगुणं वक्त्रे मूर्ध्नि चेत्स्याच्चतुर्गुणम् ॥
क्षत्रविट्छूद्रयोनिस्तु स्नानेनैव शुचिर्भवेत् ।
द्विगुणं तु वनस्थस्य तथा प्रव्रजितस्य च ॥
ब्राह्मणी तु शुना दष्टा सोमे दृष्टिं निपातयेत् ।
यदा न दृश्यते सोमः प्रायश्चित्तं तदा कथम् ।
यां दिशं तु गतस्सोमस्तां दिशं त्ववलोकयेत् ॥
सोममार्गेण सा पूता पञ्चगव्येन शुध्यति ॥' इति ॥ १६ ॥

---

१. वचनमिदं न वसिष्ठस्मृतावुपलभ्यते ।

२. वचनानीमानि स्मृतिमुक्ताफलकारेणापि प्रायश्चित्तकाण्डे अङ्गिरोवचनत्वेनैवोपन्यस्तानि । परन्तु इदानीमुपलभ्यमानमुद्रिताङ्गिरःस्मृतिपुस्तके नोपलभ्यन्ते । वासिष्ठत्वेन तु लिखितं ख० च० पुस्तकयोष्टिप्पण्याम् ।

अनु०—कुत्ते द्वारा छुए जाने पर वस्त्रों को पहने हुए ही स्नान करे ॥ १६ ॥

प्रक्षाल्य वा तं देशमग्निना संस्पृश्य पुनः प्रक्षाल्य
पादौ चाऽऽचम्य प्रयतो भवति ॥ १७ ॥

शुना स्पृष्टं प्रदेशं प्रक्षाल्याग्निना च संस्पृश्य पुनश्च प्रक्षाल्य पादौ च प्रक्षाल्य पश्चादाचम्य प्रयतो भवति। व्यवस्थितविकल्पोऽयम् ॥

'ऊर्ध्वं नाभेः करौ मुक्त्वा यदङ्गमुपहन्यते।
तत्र स्नानविधिः प्रोक्तो ह्यधः प्रक्षालनं स्मृतम् ॥'

इति मानवे दर्शनात् ॥ १७ ॥

अनु०—अथवा कुत्ते द्वारा छुए स्थान को धोकर, उससे अग्नि का स्पर्श कराके, फिर उसे धोकर तथा पैरों को धोकर आचमन करने के बाद शुद्ध होता है ॥१७॥

अग्निं नाप्रयत आसीदेत् ॥ १८ ॥

अप्रयतस्सन्नग्निं नासीदेत् अग्नेरासन्नो न भवेत्, यावति देशे ऊष्मोपलम्भः। तत्राप्यशक्तौ न दोषः ॥ १८ ॥

अनु०—अशुद्ध होने पर अग्नि के निकट न जावे।

टि०—इतना समीप भी न जावे जहाँ से उसकी ऊष्मा का अनुभव होता हो। अशक्त होने पर कोई दोष नहीं ॥ १८ ॥

इषुमात्रादित्येके ॥ १९ ॥

इषुमात्रादर्वाङ्नासीदेत्। ऊष्मोपलम्भो भवतु वा मा भूदित्येके मन्यन्ते ॥ १९ ॥

अनु०—कुछ धर्मज्ञ ऐसा मानते हैं कि अपवित्र होने पर अग्नि से एक बाण की दूरी से कम दूरी पर न बैठे ॥ १९ ॥

न चैनमुपधमेत् ॥ २० ॥

अप्रयत इत्येव। एनमग्निमप्रयतो नोपधमेत्। प्रयतस्य न दोषः।

'मुखेनोपधमेदग्निं मुखाद्ध्यग्निरजायत।'

इति स्मृत्यन्तरे दर्शनात्।

'नाग्निं मुखेनोपधमे' दिति मानवे दर्शनादुभयोर्विकल्पः। अपर आह—वाजसनेये श्रौतप्रकरणे 'मुखाद्ध्यग्निरजायत। तस्मान्मुखेनोपसमिन्ध्या' दिति दर्शनात् श्रौतेषु मुखेनोपसमन्धिनम्, अन्यत्र स्मार्ते प्रतिषेध इति।

---

१. म० स्मृ० मुद्रितमनुस्मृतिपुस्तकेषु नायं श्लोक उपलभ्यते।
२. म० स्मृ० ४. ५३

अन्ये तु वैणवेनायसेन वा सुषिरेणोपसमिन्धनमिच्छन्ति। एवं हि मुखव्यापारस्यान्वयाच्छ्रुतिरप्यनुगृहीता भवति, आस्यबिन्दूनां पतनशङ्काभयात् प्रतिषेधस्मृतिरपीति ॥ २० ॥

अनु०—(अपवित्र होने पर) अग्नि को फूँककर प्रज्वलित न करे।

टि०—पवित्र होने पर अग्नि को फूँका जा सकता है। 'मुखादग्निरजायत' के कारण कुछ धर्मज्ञ मुख से अग्नि का फूंका जाना उचित मानते हैं, कुछ केवल यज्ञ में ही मुख से अग्नि को फूँकना उचित ठहराते हैं। किन्तु फूँकते समय अग्नि पर थूक के कण गिरने के भय से कुछ स्मृतियों में इसका विरोध किया गया है ॥२०॥

खट्वायां च नोपदध्यात् ॥ २१ ॥

खट्वायां खट्वाया अधोऽग्निं नोपदध्यात्। अत्राप्यशक्तौ न दोषः ॥ २१ ॥

अनु०—चारपाई के नीचे अग्नि न रखे।

टि०—अशक्त होने पर दोष नहीं होता ॥ २१ ॥

प्रभूतैधोदके ग्रामे यत्राऽऽत्माधीनं प्रयमणं तत्र वासो धार्म्यो ब्राह्मणस्य ॥ २२ ॥

प्रभूतं एधः उदकं च यस्मिन् ग्रामे तत्र वासो धार्म्यः धर्म्यः। अत्रापि न सर्वत्र। किं तर्हि? यत्रात्माधीनं प्रयमणं प्रायत्यं मूत्रपुरीषप्रक्षालनादीनि यत्रात्माधीनानि तत्र। यत्र तु कूपेष्वेवोदकं तत्र बहुकूपेऽपि न वस्तव्यम्। ब्राह्मणग्रहणाद्वर्णान्तरस्य न दोषः। ग्रामग्रहणादेवंभूतेषु घोषादिष्वपि न वस्तव्यम् ॥ २२ ॥

अनु०—ब्राह्मण को ऐसे ग्राम में रहना चाहिए जहाँ इंधन तथा जल प्रचुर मात्रा में हो तथा अपने को शुद्ध करने का कार्य स्वेच्छा से कर सकता हो ॥ २२ ॥

मूत्रं कृत्वा पुरीषं वा मूत्रपुरीषलेपानन्नलेपानुच्छिष्टलेपान् रेतसश्च ये लेपास्तान्प्रक्षाल्य पादौ चाऽऽचम्य प्रयतो भवति ॥ २३ ॥

मूत्रं पुरीषं वा कृत्वा उत्सृज्य तयोर्मूत्रपुरीषयोर्ये लेपास्तस्मिन्प्रदेशे स्थिताः प्रदेशान्तरे वा पतिताः तान् सर्वान्।[1] अन्नलेपांश्चानुच्छिष्टानपि उच्छिष्टलेपांश्चानन्नलेपानपि। तथा रेतसश्च ये लेपाः स्वप्नादौ मैथुने वा तान् सर्वानद्भिर्मृदा च प्रक्षाल्य पादौ च लेपवर्जितावपि प्रक्षाल्य पश्चादाचम्य प्रयतो भवति। अत्र

१. अन्नलेपानुच्छिष्टलेपानन्नलेपानपि. इति ख० पुस्तकेऽपपाठः।

मृत्प्रमाणस्य सङ्ख्यायाश्चानुक्तत्वात् यावता गन्धलेपक्षयो भवति तावदेव विवक्षितम्। तथा च याज्ञवल्क्यः—

[1]'गन्धलेपक्षयकरं शौचं कुर्यादतन्द्रितः।' इति।

देवलस्तु व्यक्तमाह—

[2]"यावत्स शुद्धिं मन्येत तावच्छौचं समाचरेत्।
प्रमाणं शौचसङ्ख्याया न शिष्टैरुपदिश्यते॥' इति।

पैठीनसीः—

'मूत्रोच्चारे कृते शौचं न स्यादन्तर्जलाशये।
अन्यत्रोद्धृत्य कुर्यात्तु सर्वदैव समाहितः।' इति॥ २३॥

इत्यापस्तम्बधर्मसूत्रवृत्तौ पञ्चदशी कण्डिका॥

अनु०—मूत्र और मलत्याग के बाद मूत्र मल के लेप से युक्त अंगों को, भोजन के उच्छिष्ट से युक्त अंगों को वीर्य के लेप को (जल और मिट्टी से) धोकर, पैरों को धोकर आचमन करने के बाद शुद्धि होती है॥ २३॥

तिष्ठन्नाऽऽचामेत् प्रह्वो वा॥ १॥

तिष्ठन् प्रह्वो वा नाचामेत्। नायं प्रतिषेधः शक्यो वक्तुम। कथम्? 'आसीनस्त्रिराचामे' (१६.२.) दिति वक्ष्यति। ततश्च यथा शयानस्याचमनं न भवति तथा तिष्ठतः प्रह्वस्य च न भवति। एवं तर्हि शौचार्थस्याचमनस्य नायं प्रतिषेधः। किं तर्हि? पानीयपानस्य प्रतिषेधः। तथा गौतमः-[3] 'नाञ्जलिना जलं पिबेत्। न तिष्ठ' न्निति। अपर आह-अस्मादेव प्रतिषेधात्कचित्तिष्ठतः प्रह्वस्य चाऽऽचमनमभ्यनुज्ञातं भवति। तेन 'भूमिगतास्वप्सि' त्यत्र तीरस्याऽयोग्यत्वे ऊरुदघ्ने[4] जानुदघ्ने वा जले स्थितस्याऽऽचमनं भवति। गौतमीयेऽपि[5] न तिष्ठन्नुद्धृतोदकेनाचामे' दिति सूत्रच्छेदादुद्धृतोदकेनैव तिष्ठतः प्रतिषेध इति॥ १॥

अनु०—खड़े होकर अथवा आगे झुककर आचमन न करे।

---

१. या० स्मृ० १. १७ २. मुद्रितदेवलस्मृताविदं वचनं नोपलभ्यते।
३. गौ० ध० ९. ९, १० ४. नाभिदघ्ने, इति. च० पु०
५. गौ० ९. १०. गौतमोऽपि न तिष्ठन्नुद्धृतोदकेनाचामेत् इति सूत्रभेदादुद्धृतोदकेनैव तिष्ठतः प्रतिषेधमाह" इति क० पु०

टि०—हरदत्त के अनुसार आचमन के सन्दर्भ में इस सूत्र की कोई आवश्यकता नहीं थी, क्योंकि आगे ही कहा गया है (आसीनस्त्रिराचामेत्)' उस नियम से लेटे-लेटे खड़े-खड़े आचमन करने का निषेध हो ही जाता है। अतः उनके अनुसार यह शौचार्थ आचमन का निषेध नही है अपितु खड़े-खड़े अथवा आगे झुककर जल पीने का निषेध किया गया है। गौतम धर्म सूत्र में भी इस प्रकार का नियम बताया गया है कि अञ्जलि से जल अथवा खड़े होकर जल न पीए ॥ १ ॥

अथाऽऽचमनविधिः—

आसीनस्त्रिराचामेद्धृदयङ्गमाभिरद्भिः ॥ २ ॥

अद्भिः तृतीया द्वितीयार्थे। अत्रानुक्तं स्मृत्यन्तरवशा[1] दुपस्क्रियते। आसीनः शुचौ देशे, नासने, भौजनान्ते त्वासने। दक्षिणं बाहुं[2] जान्वन्तरे कृत्वा प्राङ्मुख उपविष्टः उदङ्मुखो वा हृदयङ्गमा[3] अपः करतलस्थासु यावतीषु माषो निमज्जति तावतीः फेनबुद्बुदरहिताः वीक्षितास्त्रिराचामेत् पिबेत्, ब्राह्मणः हृदयङ्गमाः, क्षत्रियः कण्ठगताः, वैश्यस्तालुगताः, शुद्रो जिह्वास्पृष्टास्सकृत् ॥२॥

अनु०—बैठकर हृदय तक पहुँचने वाले जल से तीन बार आचमन करे।

टि०—क्षत्रिय के लिए यह जल कण्ठगत होता हैं, वैश्य के लिए तालुगत तथा शूद्र के लिए जिह्वा का ही स्पर्श करता है ॥ २ ॥

[4]त्रिरोष्ठौ परिमृजेत् ॥ ३ ॥

परिमृज्यात् ॥ ३ ॥

अनु०–तीन बार ओठों को पोछे ॥ ३ ॥

द्विरित्येके ॥ ४ ॥

तुल्यविकल्पः ॥ ४ ॥

अनु०—कुछ धर्मज्ञों के अनुसार केवल दो वार आचमन करे ॥ ४ ॥

सकृदुपस्पृशेत् ॥ ५ ॥

मध्यमाभिस्तिसृभिरङ्गुलीभिरोष्ठौ ॥ ५ ॥

अनु०—(बीच की तीन अंगुलियों से ओठों) का एक बार स्पर्श करे ॥ ५ ॥

द्विरित्येके ॥ ६ ॥

तुल्यविकल्पः ॥ ६ ॥

अनु०—कुछ आचार्य दो बार स्पर्श करने का नियम बताते हैं ॥ ६ ॥

---

१. 'उपस्तूयते' इति ग० पु० २. ऊर्वन्तरे इति. ख० ग० पु०

३. आपः इति. ख० ग० पु० ४. इदमग्रिमं च सूत्रमेकीकृतं. ग० पुस्तके,

दक्षिणेन पाणिना सव्यं प्रोक्ष्य पादौ शिरश्चेन्द्रियाण्युपस्पृशेत् चक्षुषी नासिके श्रोत्रे च ॥ ७ ॥

दक्षिणेन पाणिना सव्यं पाणिं प्रोक्ष्य तथा पादौ शिरश्च, इन्द्रियाण्युपस्पृशेत् अङ्गुलीभिः। सर्वेषामिन्द्रियाणां प्रसङ्गे परिसङ्ख्यष्टे—चक्षुषी नासिके श्रोत्रे चे' ति। इन्द्रियाणीति वचनं स्वरूपकथमात्रम्। तत्राऽङ्गुष्ठानामिकाभ्यां चक्षुषी। केचिद्युगपत्, केचित्पृथक्। अङ्गुष्ठप्रदेशिनीभ्यां नासिके। अङ्गुष्ठकनिष्ठिकाभ्यां श्रोत्रे। [1]अत्र सहभावस्याऽशक्यत्वात् पृथग्भावस्य निश्चितत्वात् पूर्वत्रापि पृथगेवेति युक्तम् ॥ ७ ॥

अनु०—दाहिने हाथ से बाँए हाथ पर जल डालकर पैरों, शिर तथा नेत्र, नासिका, कान—इन तीनों इन्द्रियों का स्पर्श करे।

टि०—अंगूठे तथा अनामिका से आंखों का स्पर्श करे। कुछ लोगों दोनों से एक साथ स्पर्श करने का विधान करते हैं, कुछ अलग-अलग अंगूठा तथा प्रदेशिनी अंगुली से नासिका का स्पर्श करे तथा अंगूठा और कनिष्ठिका से कानों का स्पर्श करे ॥ ७ ॥

अथाऽप उपस्पृशेत् ॥ ८ ॥

इन्द्रियस्पर्शनानन्तरं हस्तौ प्रक्षालयेत् ॥ ८ ॥

अनु०—(इन्द्रियों के स्पर्श के बाद जल से हाथों को धोवे ॥ ८ ॥

भोक्ष्यमाणस्तु प्रयतोऽपि द्विराचामेद्द्विः परिमृजेत्सकृदुपस्पृशेत् ॥ ९ ॥

भोजनं करिष्यन् प्रयतोऽपि द्विराचमनं कुर्यात्। अत्र विशेषः—द्विः परिमृजेत्, न विकल्पेन त्रिः। सकृदुपस्पृशेत्, न विकल्पेन द्विः। 'प्रयतोऽपी'ति वचनादप्रायत्ये सर्वत्र द्विराचमनमाचार्यस्याऽभिप्रेतम्।

तत्र स्मृत्यन्तरम्—

'भुक्त्वा क्षुत्त्वा च सुप्त्वा च ष्ठीवित्वोक्त्वाऽनृतं वचः।
आचान्तः पुनराचामेद्वासो विपरिधाय च' ॥ ९ ॥

अनु०—भोजन करने के पूर्व शुद्ध होने पर भी दो बार आचमन करे, दो बार अपने मुख को पोछे तथा एक बार अपने ओठों का स्पर्श करे ॥ ९ ॥

श्यावान्तपर्यन्तावोष्ठावुपस्पृश्याऽऽचामेत् ॥ १० ॥

दन्तमूलात्प्रभृत्योष्ठौ। तत्राऽलोमकः प्रदेशः श्यावः। तस्यान्तः सलोमकः। तत्पर्यन्तावोष्ठावुपस्पृश्याऽऽचामेत्। ओष्ठयोरलोमकप्रदेशमङ्गुल्या[2] काष्ठादिना

---

१. अत्र सहभावस्याशक्यत्वात् पृथगपिक्रियते। अत्र पृथक्भावस्य निश्चितत्वात् पूर्वत्रापि पृथगेवेति युक्तम् इति. ख० च० पु०। युक्तमित्यन्ये' इति. क०पु०

२. अङ्गुल्याऽऽत्मकनिष्ठादिना वेति क० पुस्तकेऽपपाठः।

चोपस्पृश्याऽऽचामेदिति ॥ १० ॥

अनु०—दन्तमूल सहित ओठों को (अंगुलि या काष्ठ से) रगड़ने के बाद आचमन करे ॥ १० ॥

न श्मश्रुभिरुच्छिष्टो भवत्यन्तरास्ये सद्भिर्यावन्न हस्तेनोपस्पृशति ॥ ११ ॥

श्मश्रूणि यदा आस्यस्यान्तर्भवन्ति तदा तैरन्तरास्ये सद्भिरुच्छिष्टो न भवति यावन्न हस्तेनोपस्पृशति । [1]उपस्पर्शने तूच्छिष्टो भवति । ततश्चाऽऽचामेदिति । अस्मादेव प्रतिषेधात् ज्ञायते—यत्किञ्चिदपि द्रव्यमन्तरास्ये [2]सदुच्छिष्टताया निमित्तमिति ॥ ११ ॥

अनु०—मूंछ के बाल यदि मुंह में आ जाँय तो जब तक उनका हाथ से स्पर्श नहीं किया जाता तब तक अशुद्धि नहीं होती ॥ ११ ॥

य आस्याद्बिन्दवः पतन्त उपलभ्यन्ते तेष्वाचमनं विहितम् ॥ १२ ॥

भाषमाणस्याऽऽस्यात् पतन्तो ये लालाबिन्दव उपलभ्यन्ते चक्षुषा स्पर्शनाद्वा उपलब्धुं योग्यास्तेष्वाचमनं विहितम् । वेदोच्चारणे तु गौतमः—[3]"मन्त्रब्राह्मणमुच्चारयतो ये बिन्दवः शरीर उपलभ्यन्ते न तेष्वाचमन' मिति ॥१२॥

अनु०—(बात-चीत करने में) यदि थूक के कण गिरते हुए दिखाई पड़ें तब आचमन करने का विधान होता है ॥ १२ ॥

ये भूमौ न तेष्वाचामेदित्येके ॥ १३ ॥

ये बिन्दवो भूमौ पतन्ति, न शरीरे, तेषु नाचमेदित्येके मन्यन्ते । स्वमतं तु तेष्वप्याचामेदिति ॥ १३ ॥

अनु०—कुछ धर्मशास्त्रज्ञों का मत है कि जो थूक के कण पृथ्वी पर गिरे हों शरीर पर न पड़े हों तो उनसे अशुद्धि नहीं होती तथा आचमन नहीं करना चाहिए ।

टि०—आपस्तम्ब का मत है कि इस स्थिति में भी आचमन करना चाहिए ॥ १३ ॥

स्वप्ने क्षवथौ [4]शिङ्घाणिकाश्र्वालम्भे लोहितस्य केशानामग्नेर्गवां ब्राह्मणस्य स्त्रियाश्चालम्भे महापथं च गत्वाऽमेध्यं चोपस्पृश्याऽप्रयतं च

---

१. स्पर्शने इति क० पु० १. सत् तदुच्छिष्टतायां निमित्तमिति क० पु०

३. नास्ति वचनमिदं मुद्रितगौतमधर्मकोशेषु मदीये लिखितपुस्तके च ।

४. श्रृङ्घाणिका श्रृङ्खाणिका श्रृङ्घाणिका इत्यपिपाठाः ।

मनुष्यं नीवीं च परिधायाऽप उपस्पृशेत् ॥ १४ ॥

स्वप्नः [1]स्वापः । क्षवथुः क्षुतम्, तयोः कृतयोः । शिङ्घाणिका नासिकामलम् । अश्रु नेत्रलजम्, तयोरालम्भे स्पर्शे । लोहितस्य रुधिरस्य । केशानां शिरोगतानां भूमिगतानां च । अग्न्यादीनां चतुर्णामालम्भे । महापथं च गत्वा । अमेध्यं च गोव्यतिरिक्तानां मूत्रपुरीषादि । ताम्बूलनिषेकादि चोपस्पृश्य । अप्रयतं च मनुष्यमुपस्पृश्य । नीवी प्रसिद्धा तद्योगादधोवासो लक्ष्यते । तच्च परिधायाप उपस्पृशेत् । केषुचित् स्नानं केषुचिदाचमनं केषुचित् स्पर्शनमात्रं यावता प्रयोत मन्यते ॥ १४ ॥

अनु०—नींद में या छींक आने पर नाक की गन्दगी, आँखों के अश्रु आदि को छूने पर, रुधिर, केश, अग्नि, गाय, ब्राह्मण, स्त्री का स्पर्श करने पर, राजमार्ग पर जाकर लौटने पर, अमेध्य (गौ के अतिरिक्त अन्य प्राणियों का मल, मूत्र) स्पर्श करने पर, अपवित्र वस्तु या व्यक्ति को छूने पर, अपने अधोवस्त्र को धारण करके या तो स्नान करे अथवा आचमन करे अथवा केवल जल का स्पर्श करे ॥ १४ ॥

आर्द्रं वा शकृदोषधीर्भूमिं वा ॥ १५ ॥

[2]उपस्पृशेदित्येव । त्रिष्वार्द्रंशब्दस्सम्बध्यते लिङ्गवचनादिविपरिणामेन । आर्द्रं वा शकृदुपस्पृशेत् ओषधीर्वा आर्द्राः, भूमिं वा आर्द्राम् । पूर्वोक्तेष्वेव [3]कल्पेषु वैकल्पिकमिदम् ॥ १५ ॥

अनु०—अथवा गीले गोबर, गीले पौधे या गीली पृथ्वी का स्पर्श करे ॥ १५ ॥

एवमाचनं [4]सह निमित्तैरुक्तम् । अथाऽभक्ष्याधिकारः—

हिंसार्थेनाऽसिना मांसं छिन्नमभोज्यम् ॥ १६ ॥

असिग्रहणं क्षुरादेरुपलक्षम् । यन्मांसं पाककाले हिंसार्थेनाऽसिना छिन्नं तदभोज्यम् ॥ १६ ॥

अनु०—हिंसा के लिए प्रयुक्त तलवार या चाकू से काटे गए मांस का भक्षण न करे ॥ १६ ॥

दद्भिरपूपस्य नाऽपच्छिन्द्यात् ॥ १७ ॥

अपूपग्रहणं मूलफलादेरप्युपलक्षणम् । द्वितीयार्थे षष्ठी । दन्तैरपूपं नावच्छिन्द्यात् । किं तु हस्तादिभिरपच्छिद्य भक्षयेत् ॥ १७ ॥

---

१. स्वापनं इति ख० पु०

२. उपस्पृशेदिति विपरिणामेनेत्यन्तो भागः क० पुस्तके नास्ति ।

३. 'सर्वेषु' इति ख०च० पु० । स्वल्पेषु इति ग०पु० । ४.'सनिमित्त'मिति ख०पु०

अनु०—रोटियों, फल, मूल आदि के टुकड़े अपने दांतों से न करे।

टि०—हाथ आदि से ही तोड़कर या काटकर इनका भक्षण करे ॥ १७ ॥

यस्य कुले म्रियेत न तत्राऽनिर्दशे भोक्तव्यम् ॥ १८ ॥

यस्य कुले कश्चिन्म्रियते असपिण्डतायां सत्यां [1]'तत्राऽनिर्गते दशाहे न भोक्तव्यम्। 'अनिर्दशे' इत्याशौचकालस्योपलक्षणम्। तेन क्षत्रियादिष्वधिकं पक्षिण्यादिषु न्यूनम् ॥ १८ ॥

अनु०—किसी (छः पीढ़ी के भीतर के सवन्ध वाले) व्यक्ति के कुल में कोई मर गया हो और उसके बाद अशौच का (दस दिन का) समय न बीता हो तो उसके घर भोजन न करे ॥ १८ ॥

तथाऽनुत्थितायां सूतकायाम् ॥ १९ ॥

सूतका सूतिका। तस्यामनुत्थितायाम्। उत्थानं नाम सूतिकागारे निवेशितानामुदकुम्भादीनामपनयनम्। तच्च दशमेऽहनि भवति। [2]'दशम्यामुत्थिताया' मिति गृह्ये उक्तत्वात्। अत्राप्याशौचकालोपलक्षणत्वाद्यावदाशौचम भोजनम्।

अत्राऽङ्गिराः—

'ब्रह्मक्षत्रविशां भुक्त्वा न दोषस्त्वग्निहोत्रिणाम्।
सूतके शाव अशौचे त्वस्थिसञ्चयनात्परम् ॥ इति ॥ १९ ॥

अनु०—इसी प्रकार ऐसे घर में भोजन न करे जहाँ सूतिका स्त्री सूतिकागृह से अभी निकली न हो (और आशौच हो) ॥ १९ ॥

अन्तः शवे च ॥ २० ॥

याव [3]द्ग्रामान्न निर्ह्रियते शवः तावत्तत्र न भोक्तव्यम्। आचारस्तु धनुश्शतादर्वाक्। तत्रापि प्रदीपमारोप्य उदकुम्भं चोपनिधाय भुञ्जते यदि [4]'समानवंशं गृहं न भवति ॥ २० ॥

अनु०—जिस घर के भीतर शव हो उस घर में भोजन न करे ॥ २० ॥

अप्रयतोपहतमन्नमप्रयतं न त्वभोज्यम् ॥ २१ ॥

अप्रयतेना ऽशुचिना उपहतं स्पृष्टमप्रयतं भवति। किंतु अशुद्धमप्यभोज्यं न भवति। कः पुनरप्रयतस्याऽभोज्यस्य च विशेषः? उच्यते—अप्रयतमन्नमग्ना-

---

१. 'तत्रातीते दशाहे भोक्तव्यम्' इति ग० पु० २. आप० गृ० १५. ८

३. ग्रामान्तं न इति क० पु०

४. समानवंशत्वं गृहाणां इति ख० पु०। समानं वंशगृहं न भवति इति क० पुस्तकेऽपाठः।

वधिश्रितमद्भिः प्रोक्षितं भस्मना मृदा वा संस्पृष्टं वाचा च प्रशस्तं प्रयतं भवति भोज्यं च । अभोज्यं तु लशुनादि न कथञ्चिदपीति ॥ २१ ॥

अनु०—अपवित्र ब्राह्मण (या अन्य उच्चवर्ण के व्यक्ति द्वारा) छुआ गया अन्न अपवित्र हो जाता है किन्तु अभोज्य नहीं होता ।

टि०—वह भोजन अग्नि में रखने पर, जल छिड़कने पर या भस्म अथवा मिट्टी से स्पर्श कराने पर अथवा वाणी से ही शुद्ध कहने पर शुद्ध हो जाता है ॥ २१ ॥

अप्रयतेन तु शूद्रेणोपहृतमभोज्यम् ॥ २२ ॥

अप्रयतेन तू शूद्रेणोपहृतमनीतमन्नं न भोज्यम् , स्पृष्टंमस्पृष्टं च स्पृष्टमेवेत्यन्ये ॥ २२ ॥

अनु०—किन्तु अपवित्र शूद्र द्वारा लाया गया भोजन अभोज्य हो जाता है । (भले ही वह छुआ गया हो या नहीं) ॥ २२ ॥

यस्मिंश्चाऽन्ने केशस्स्यात् ॥ २३ ॥

तदप्यभोज्यम् । एतच्च पाकदशायामेव पतितेन केशेन सह यत्पक्वमन्नं तद्विषयम् । [1]पश्चात् केशसंसर्गे तु धृतप्रक्षेपादिना संस्कृतस्य भोज्यत्वं स्मृत्यन्तरोक्तम् ॥ २३ ॥

अनु०—जिस अन्न में केश पड़ गया हो वह अभोज्य होता है ।

टि०—हरदत्त की व्याख्या के अनुसार यदि पकाते समय ही केश पड़ा हो तब वह भोजन अभोज्य होता है, बाद में केश पड़ा हो तो घृत डाल देने से वह भोजन शुद्ध हो जाता है ॥ २३ ॥

अन्यद्वाऽमेध्यम् ॥ २४ ॥

अन्यद्वाऽमेध्यं नखादि यस्मिन्नन्ने स्यात् तदप्यभोज्यम् । इदमपि पूर्ववत् ।

अत्र बौधायनः :—

[2]'केशकीटनखरोमाखुपुरीषाणि दृष्ट्वा तावन्मात्रमन्नमुद्धृत्य शेषं भोज्य' मिति । वसिष्ठस्तु [3]'कामं तु केशकीटानुत्सृज्याद्भिः प्रोक्ष्य भस्मनाऽवकीर्य वाचा प्रशस्तमुपयुञ्जीते' ति ॥ २४ ॥

अनु०—अथवा किसी अन्य (नख आदि) अपवित्र वस्तु के पड़ने पर भी वह भोजन अभोज्य हो जाता ॥ २४ ॥

---

१. भोजनकाले नु केशपाते धृतप्रक्षेपादिना तु संस्कृतं भोज्यम् । इति० घ० पु०

२. बौ० ध० २. १२. ६ ३. वा० ध० १४. २३. उपभुञ्जीत इति ग० पु०

अमेध्यैरवमृष्टम् ॥ २५ ॥

अमेध्यैः कलञ्जपलाण्ड्वादिभिरवमृष्टं स्पृष्टमभोज्यम् ॥ २५ ॥

अनु०—अथवा अपवित्र वस्तु के स्पर्श से दूषित भोजन भी अभोज्य होता है ॥ २५ ॥

कीटो वाऽमेध्यसेवी ॥ २६ ॥

'यस्मिंश्चान्ने केशः स्या' दिति व्यवहितमपि सम्बध्यते। अमेध्यसेवी कीटः पूत्यण्डाख्यः ॥ २६ ॥

अनु०—जिस भोजन में गन्दगी का सेवन करने वाला कीड़ा पड़ा हो उसे भी नहीं खाना चाहिए ॥ २६ ॥

मूषिकलाङ्गं वा ॥ २७ ॥

पूर्ववत्सम्बन्धः। मूषिकला मूषिकपुरीषम्। अङ्गं वा। समस्तमपि मूषिकग्रहणं सम्बध्यते। यस्मिन्नन्ने मूषिकस्याङ्गं पुच्छपादादि भवति तदप्यभोज्यम् ॥ २७ ॥

अनु०—जिस भोजन में चूहे का मल अथवा उसके अंग का टुकड़ा पड़ा हो वह अभोज्य होता है ॥ २७ ॥

पदा वोपहतम् ॥ २८ ॥

प्रयतेनाऽपि पदा यत्स्पृष्टं तदप्यभोज्यम् ॥ २८ ॥

अनु०—पैर से छुए गये भोजन को भी नहीं खाना चाहिए ॥ २८ ॥

सिचा वा ॥ २९ ॥

सिक् वस्त्रदशा। परिहितस्य वाससः सिचा यत् स्पृष्टं यदप्यभोज्यम् ॥ २९ ॥

अनु०—पहने हुए वस्त्र के छोर से स्पृष्ट भोजन भी अभोज्य होता है ॥ २९ ॥

शुना वाऽपपात्रेण वा दृष्टम् ॥ ३० ॥

दृष्टमिति प्रत्येकमभिसम्बध्यते। शुना वा दृष्टमपपात्रेण वा दृष्टं यत्तदप्यभोज्यम्। पतितसूतिकाचण्डालोदक्यादयोऽपपात्राः, अपगताः पात्रेभ्यः। न हि ते पात्रे भोक्तुं लभन्ते ॥ ३० ॥

अनु०—कुत्ते के द्वारा अथवा गन्दे पात्र के द्वारा छुए गए भोजन को भी नहीं खाना चाहिए ॥ ३० ॥

सिचा वोपहृतम् ॥ ३१ ॥

अपरिहितस्य शुद्धस्यापि वाससस्सिचा यदुपहृतमानीतं तदप्यभोज्यम्॥३१॥

अनु०—(न पहने गए, शुद्ध) वस्त्र के आंचल में बाँधकर लाया गया भोजन भी अभोज्य होता है ॥ ३१ ॥

दास्या वा नक्तमाहृतम् ॥ ३२ ॥

दास्या रात्रावाहृतमभोज्यम्। स्त्रीलिङ्गनिर्देशात् दासेना ऽऽहृते न दोषः। अन्ये लिङ्गमविवक्षितं मन्यन्ते। 'नक्त' मिति वचनाद्दिवा न दोषः ॥ ३२ ॥

अनु०—रात्रि में दासी के द्वारा लाया गया भोजन अभोज्य होता है ॥३२॥

भुञ्जानं वा ॥ ३३ ॥

॥ इत्यापस्तम्बधर्मसूत्रवृत्तौ षोडशो कण्डिका ॥

अनु०—भोजन करते समय ॥ ३३ ॥

यत्र शूद्र उपस्पृशेत् ॥ १ ॥

भोजनदशायां यदा शूद्र उपस्पृशेत् तदापि न भुञ्जीत। अत्र भुञ्जानग्रहणादन्यदा शूद्रस्पर्शे नाऽप्रायत्यमिति केचित्। अन्ये तु—सदा भवत्येवाऽप्रायत्यम्, भोजनदशायां त्वाधिक्यप्रतिपादनाय निषेध इति ॥ १ ॥

अनु०—यदि शूद्र उसे छू ले तो भोजन न करे ॥ १ ॥

अनर्हद्भिर्वा समानपङ्क्तौ ॥ २ ॥

सर्वत्र वाशब्दः समुच्चये। अभिजनविद्यावृत्तरहिता अनर्हन्तः। तैस्सह समानायां पङ्क्तौ न भुञ्जीत ॥ २ ॥

अनु०—अयोग्य (कुल, विद्या, आचरणहीन) लोगों के साथ एक पंक्ति में भोजन न करे ॥ २ ॥

भुञ्जानेषु वा तत्राऽनूत्थायोच्छिष्टं प्रयच्छेदाचामेद्वा ॥ ३ ॥

समानपङ्क्ताविति वर्तते। समानङ्क्तौ बहुषु भुञ्जानेषु यद्येको ऽनूत्थाय भोजनाद्विरम्य उच्छिष्टं शिष्यादिभ्यः प्रयच्छेत् आचामेद्वा, तस्यां पङ्क्तावितरेषां न भोक्तव्यम्। अतो बहुषु भुञ्जानेषु[1] एको मध्ये न विरमेत्। भोजनकण्टक इति हि तमाचक्षते ॥ ३ ॥

---

१. कोऽपि. इति. ग० पु०।

अनु०—जब अनेक लोग एक साथ भोजन कर रहे हों तो यदि उनमें एक व्यक्ति भोजन से विराम करके अपने उच्छिष्ट को बिना उठे ही शिष्य को देकर अथवा आचमन कर ले तो उन व्यक्तियों के साथ एक पंक्ति में बैठकर भोजन न करे ॥ ३ ॥

कुत्सयित्वा वा यत्राऽन्नं दद्युः ॥ ४ ॥

मूर्ख, वैधवेय, विषं भुङ्क्ष्वेति, एवं कुत्सयित्वा यत्रान्नं दद्युस्तदप्यभोज्यम् ॥ ४ ॥

अनु०—जहाँ तिरस्कार करके अन्न दिया गया हो वहाँ भोजन न करे ॥४॥

मनुष्यैरवघ्रातमन्यैर्वाऽमेध्यैः ॥ ५ ॥

मनुष्यैरन्यैर्वा मार्जारादिभिरमेध्यैरवघ्रातमन्नमभोज्यम्। [१]अवेत्युपसर्गयोगात् दूरस्थैर्गन्धाघ्राणे न दोषः ॥ ५ ॥

अनु०—मनुष्यों के द्वारा अथवा (बिल्ली आदि अन्य) अपवित्र प्राणियों द्वारा निकट से सूंघे गये अन्न को न खावे।

टि०—हरदत्त मिश्र ने व्याख्या में स्पष्ट किया है कि दूर से सूंघे गये अन्न को खाने में कोई दोष नही है ॥ ५ ॥

न नावि भुञ्जीत ॥ ६ ॥

नाव्यासीनो न भुञ्जीत, शुद्धेऽपि पात्रे ॥ ६ ॥

अनु०—नौका में बैठकर भोजन न करे ॥ ६ ॥

तथा प्रासादे ॥ ७ ॥

प्रासादो दारुमयो मञ्चः। तत्रापि न भुञ्जीत ॥ ७ ॥

अनु०—लकड़ी के मंच के ऊपर बैठकर भी भोजन न करे ॥ ७ ॥

कृतभूमौ तु भुञ्जीत ॥ ८ ॥

भूमावपि भुञ्जानः कृतायां गोमयादिना संस्कृतायां भुञ्जीत। [२]अपर आह—प्रासादोऽपि यदा मृदा कृतभूमिर्भवति, न केवलं दारुमयः, तदा तत्र भुञ्जीतैवेति ॥ ८ ॥

अनु०—स्वच्छ लिपे-पुते भूमि के ऊपर बैठकर भोजन करे ॥ ८ ॥

---

१. अवोपसर्गयोगात् इति क० पु०।

२. इदं व्याख्यान्तरं नास्ति० ग० पुस्तके।

अनाप्रीते मृण्मये भोक्तव्यम् ॥ ९ ॥

यदि मृण्मये भुञ्जीत तदाऽनाप्रीते भोक्तव्यम्। आप्रीतं कचित्कार्ये पाकादावुपयुक्तम् ॥ ९ ॥

अनु०—मिट्टी के पात्र में भोजन करना हो तो ऐसे पात्र में भोजन करे जिसका पहले भोजन आदि पकाने के लिए उपयोग न किया गया हो ॥ ९ ॥

आप्रीतं चेदभिदग्धे ॥ १० ॥

आप्रीतमेव चेल्लभ्यते, तदाऽग्निनाऽभितो दग्ध्वा तत्र भोक्तव्यम् ॥ १० ॥

अनु०—यदि पहले प्रयोग में लाया हुआ मिट्टी का पात्र ही मिले तो उसे अच्छी प्रकार अग्नि में तपाकर भोजनका पात्र बनावे ॥ १० ॥

परिमृष्टं लौहं प्रयतम् ॥ ११ ॥

लौहं लोहविकारभूतं कांस्यादि भोजनपात्रं भस्मादिभिः परिमृष्टं सत् प्रयतं भवति। तत्र भस्मना कांस्यम्। आम्लेन ताम्रम्। राजतं शकृता। सौवर्णमद्भिरेवत्यादि स्मृत्यन्तरवशाद्द्रष्टव्यम् ॥ ११ ॥

अनु०—लोहे आदि का (तथा काँसे आदि का) भोजनपात्र भस्म आदि से रगड़ने पर पवित्र हो जाता है ॥ ११ ॥

निर्लिखितं दारुमयम् ॥ १२ ॥

दारुमयं भाजनं निर्लिखितं तष्टं सत् प्रयतं भवति ॥ १२ ॥

अनु०—लकड़ी का पात्र छिलने पर पवित्रहो जाता है ॥ १२ ॥

यथागमं यज्ञे ॥ १३ ॥

यज्ञपात्रं तु यथागमं शोधितं प्रयतं भवति। तद्यथा अग्निहोत्रहवणी दर्भैरद्भिः प्रक्षालिता, सोमपात्राणि [1]मार्जालीये प्रक्षालितानि, आज्यपात्राण्युष्णेन वारिणा ॥ १३ ॥

अनु०—यज्ञ में' पात्र वेद के आदेश के अनुसार विधि से पवित्र होता है ॥१३॥

नाऽऽपणीयमन्नमश्नीयात् ॥ १४ ॥

आपणः पण्यवीथी। तत्र यत्क्रीतं लब्धं वा। तदापणीयम्। तच्च कृतान्नं नाश्नीयात्। व्रीह्यादिषु न दोषः ॥ १४ ॥

अनु०—बाजार से खरीदकर अथवा बना हुआ प्राप्त भोजन न खाए ॥ १४ ॥

---

१. मार्जालीयः सोमयागे सदोनामकमण्डपस्याग्नेयकोणे स्थितः स्थानविशेषः।

तथा रसानामाममांसमधुलवणानीति परिहाप्य ॥ १५ ॥

रसाः रसद्रव्याणि। तानप्यापणीयान्नाश्नीयात्। [1]आममांसादि वर्जयित्वा ॥ १५ ॥

अनु०—कच्चे मांस, मधु तथा नमक को छोड़कर बाजार से लाये गये अन्य रसयुक्त भोज्य पदार्थ भी न खाए ॥ १५ ॥

तैलसर्पिषी तूपयोजयेदुदकेऽवधाय ॥ १६ ॥

तैलसर्पिषी त्वापणीये अप्युपयोजयेत्। उदकेऽवधाय निषिच्य पाकेन तैलसर्पिषी [2]शोधयित्वा कार्यविरोधो यथा न भवति तथा उदकेन संसृज्येत्यन्ये[3] ॥ १६ ॥

अनु०—(बाजार से खरीदे गए) तेल तथा घृत का जल छिड़ककर शुद्ध करके प्रयोग कर सकता है ॥ १६ ॥

कृतान्नं पर्युषितमखाद्यापेयानाद्यम् ॥ १७ ॥

कृतान्नं पक्वान्नं तत्पर्युषितं पूर्वेद्युः पक्वं सत्अखाद्यम्। अपेयमनाद्यं च यथायोगं खरविशदं द्रवं मृदुविशदं सिद्धं च ॥ १७ ॥

अनु०—रातभर रखा गया बना हुआ भोजन न खाए तथा इस प्रकार का नरम खाद्यपदार्थ न खाए ॥ १७ ॥

शुक्तं च ॥ १८ ॥

शुक्तं यत्कालपाकेनाऽम्लीभूतं तदपर्युषितमपि आखाद्यापेयानाद्यम् ॥ १८ ॥

नुअ०—खट्टे बने हुए भोजन को न ग्रहण करे ॥ १८ ॥

फाणितपृथुकतण्डुलकरम्ब[4] भरूजसक्तुशाकमांसपिष्टक्षीरविकारौषधिवनस्पतिमूलफलवर्जम् ॥ १९ ॥

अनन्तरोक्तं विधिद्वयं फाणितादीन् वर्जयित्वा द्रष्टव्यम। फाणितं पानविशेषः। इक्षुरस इति केचित्।[5] भ्रष्टानां व्रीहीणां तण्डुलाः पृथूकृताः पृथुकाः। करम्बो दधिशक्तुसमाहारः यः करम्भ इति प्रसिद्धः वेदेऽप्युभयं

---

१. आममांसादीनि परिहाप्य. इति ग० पु० २. शोषयित्वा. इति ग० पु०

३. व्याचक्षते इत्यधिकं ख० ग० पु०

४. भरुजे'ति ख० पु० भरिजेति क. पु. ५. भर्जितानां इति. ख. पु.

भवति[1] 'यत्करम्बैर्जुहोति' ।[2] "धानाः करम्भः परिवापः" इति । भरूजाः भ्रष्टा यवाः । क्षीरविकारो दध्यादि । प्रसिद्धमन्यत् ॥ १९ ॥

अनु०—फाणित (कुछ लोगों के अनुसार, ईख का रस सिरका) चिउड़ा, सक्तु तथा दधि मिश्रित करम्भ, भुना हुआ यव, सक्तु, शाक, मांस, आटा, दूध तथा दूध से निर्मित पदार्थ दही आदि, वृक्षों के फल और मूल के विषय में उपर्युक्त नियम नहीं होता (अर्थात् इन्हें खाने के काम में लाया जा सकता है ॥ १९ ॥

अथ 'शुक्तं चे'त्यस्य विधेः शेषः—

शुक्तं चाऽपरयोगम् ॥ २० ॥

परेण द्रव्यान्तरेण योगो यस्य तत् परयोगं, ततोऽन्यदपरयोगम् । तदेव शुक्तं वर्ज्यम् । यत्तु दध्यादि द्रव्यान्तरसंसृष्टं शुक्तं तद्भोज्यमेव । एवं च पूर्वत्रैवाऽपरयोगमिति विशेषणं वक्तव्यम् । इदमेव वा सूत्रमस्तु । सूत्रद्वयकरणं त्वाचार्यप्रवृत्तिकृतम् । यथा 'सलावृक्येकसृकोलूकशब्दा'[3] इति पूर्वं सामान्येनाऽभिधाय 'सलावृक्यामेकसृक इति स्वप्नपर्यन्त'[4] मिति पश्चाद्विशेष उक्तः ॥ २० ॥

अनु०—किन्तु दूसरी वस्तु के साथ मिलाये बिना ही जो वस्तु खट्टी हो गई हो उसे नहीं खाना चाहिए ॥ २० ॥

सर्वं मद्यमपेयम् ॥ २१ ॥

मद्यं मदकरं तत्सर्वमपेयम् । अत्र स्मृत्यन्तरवशाद्व्यवस्था ।

तत्र मनुः—

[3]'गौडी पैष्टी च माध्वी च विज्ञेया त्रिविधा सुरा ।
यथैवैका न पातव्या[4] तथा सर्वा द्विजोत्तमैः ॥' इति ।

सुराव्यतिरिक्तं तु मद्यं ब्राह्मणस्य नित्यमपेयम् ।

तथा च गौतमः—

[5]'मद्यं नित्यं ब्राह्मणस्य क्षत्रियवैश्ययोस्तु ब्रह्मचारिणो'रिति ॥ २१ ॥

अनु०—सभी मादक वस्तुएँ अपेय होती हैं ॥ २१ ॥

तथैलकं पयः ॥ २२ ॥

अविः एलका । तस्याः पयः क्षीरमपेयम् ॥ २२ ॥

---

१. तै० ब्रा० ३. ८. १४
२ तै० सं० ६. ५. ११
३. म० स्मृ० ११. ९४
४ 'तथैवान्या' इति ग० पु०
५ गौ० ध० २. २० मद्यं नित्यं ब्राह्मणः, इत्येव सूत्रम् ॥
९ आ० ध०

अनु०—भेंड़ का दूध भी अपेय होता है ॥ २२ ॥

उष्ट्रीक्षीरमृगीक्षीरसन्धिनीक्षीरयमसूक्षीराणीति ॥ २३ ॥

उष्ट्रीमृग्यौ प्रसिद्धे। या गर्भिणी दुग्धे सा सन्धिनीति शास्त्रान्तरे प्रसिद्धा। एककालदोहेत्यन्ये। एकस्मिन् प्रसवे या अनेकं गर्भं सूते, सा यमसूः। उष्ट्र्या-दीनां क्षीराण्यपेयानि। इतिकरणमेवं प्रकाराणामन्येषामेकशफादीनां क्षीरम-पेयमिति।

तथा च मनुः—

[1]"आरण्यानां च सर्वेषां मृगाणां महिषीं विना।
स्त्रीक्षीरं चैव वर्ज्यानि सर्वशुक्तानि चैव हि ॥
अनिर्दशाया गोः क्षीरमौष्ट्रमैकशफं तथा।
आविकं सन्धिनीक्षीरं विवत्सायाश्च गोः पयः ॥ इति ॥ २३ ॥

अनु०—ऊँटनी, हिरणी का दूध, सन्धिनी (गर्भिणी होते हुए भी दूध देने वाली) (अथवा एक समय दूध देने वाली) गाय भैंस आदि का, एक बार में कई बच्चे देने वाली, एक खुर वाली मादा पशु का दूध अपेय होता है

टि०—सूत्र में 'इति' शब्द एक खुर वाले पशुओं का निर्देश करता है ॥ २३ ॥

धेनोश्चाऽनिर्दशायाः ॥ २४ ॥

धेनुर्नवप्रसूता गौः। चकारादजामहिष्योश्च। [2]"अजा गावो महिष्यश्चे'ति मानवे दर्शनात् ॥ २४ ॥

अनु०—गाय (भैंस तथा बकरी) का दूध ब्याने के दस दिन के भीतर अपेय होता है ॥ २४ ॥

तथा कीलालौषधीनां च ॥ २५ ॥

कीलालौषधयः सुरार्था ओषधयः। तासां च विकारभूतमन्नमनाद्यम् ॥२५॥

अनु०—सुरा बनाने के लिए प्रयोग में लाई जाने वाली औषधियों से संयुक्त भोजन नहीं खाना चाहिए ॥ २५ ॥

---

१ म० स्मृ० ५. ९, ८

२ म० स्मृ० नायंश्लोको मानवे उपलभ्यते। प्रत्युत 'अनिर्दशाया गोः क्षीरं' (५. ८) इति श्लोकव्याख्यानावसरे कुल्लूकभट्टेन "गोरिति पेयक्षीरोपलक्षणार्थम्। तेनाजामहिष्यो-रपि दशाहमध्ये प्रतिषेधः, इति लेखनात् 'अजा गावो महिष्यश्च'त्यस्याऽमानवत्वमेवाऽनु-मीयते। वस्तुतस्तु पाराशरीयं वचनमिदम्। (परा० स्मृ० ३. ७) तत्रैव दर्शनात् ॥

[1]करञ्जपलण्डुपरारीकाः ॥ २६ ॥

[2]करञ्जं रक्तलशुनम् । पलण्डु श्वेतम् । परारीका कृष्णम् । [3]मण्डुमाख्यया म्लेच्छानां प्रसिद्धम् । एते चाऽभक्ष्याः ॥ २६ ॥

अनु०—प्याज, सफेद लहसुन तथा परारीका (शलजम ?) अभक्ष्य होते हैं ॥ २६ ॥

अभक्ष्यानां प्रतिपद्पाठो न शक्यते इति समासेनाह—

यच्चाऽन्यत् परिचक्षते ॥ २७ ॥

यच्चान्यदेवंयुक्तं शिष्टाः परिचक्षते वर्जयन्ति तदप्यभक्ष्यम् । तत्राह मनुः—

[4]'लशुनं गृञ्जनं चैव पलण्डु कवकानि च ॥
अभक्ष्याणि द्विजातीनाममेध्यप्रभवानि च ॥' इति ॥ २७ ॥

अनु०—दूसरी अन्य वस्तुएँ भी जिनका (धर्मज्ञ लोग) निषेध करते हैं अभक्ष्य होती हैं ॥ २७ ॥

क्याक्वभोज्यमिति हि ब्राह्मणम् ॥ २८ ॥

क्याकु छत्राकं तदभोज्यमभक्ष्यम् । ब्राह्मणग्रहणमुक्तार्थम् ॥ २८ ॥

अनु०—क्याक (कुकुरमुत्ता) अभोज्य है, ऐसा ब्राह्मण ग्रन्थ में कहा गया है ॥ २८ ॥

एकखुरोष्ट्रगवयग्रामसूकरशरभगवाम् ॥ २९ ॥

एकखुरा अश्वादयः । गवयो गोसदृशः पशुः । शरभोऽष्टपाद आरण्यो मृगः । अन्ये प्रसिद्धाः । एतेषां मांसमभक्ष्यम् ॥ २९ ॥

अनु०—एक खुर वाले पशुओं का, ऊँट का, गवय, ग्राम्य सूअर, शरभ का मांस अभोज्य होता है ॥ २९ ॥

धेन्वनडुहोर्भक्ष्यम् ॥ ३० ॥

---

१. कलञ्जपलाण्डुपरारीकाः इति क० पु० परारिकाः इति. घ० पु०

२. अनेनैव प्रमाणेन 'न कलञ्जं भक्षयेत्' इत्यादौ कलञ्जशब्दो रक्तलशुनपर इत्यस्माभिर्व्याख्यातं नञर्थनिरूपणावसरे मीमांसान्यायप्रकाशव्याख्यायां सारविवेचिन्याम् । तत्र प्रमाणान्तरमप्युपन्यस्तं तत्रैव द्रष्टव्यम् ॥

३. डुण्डुभाख्यया इति ख० पु० मुहण्डुभाख्यया इति. क० पु०

४. म० स्मृ० ५. ५

धेन्वनडुहोर्मांसं भक्ष्यम् । गोप्रतिषेधस्य प्रतिप्रसवः ॥ ३० ॥

अनु०—गाय का तथा बैल का मांस भक्ष्य हो सकता है ॥ ३० ॥

मेध्यमानडुहमिति वाजसनेयकम् ॥ ३१ ॥

[1]अनुडुहो मांसं न केवलं भक्ष्यम् , किं तर्हि ? मेध्यमपीति वाजसनेयिनः समामनन्ति ॥ ३१ ॥

अनु०—वाजसनेयक के अनुसार बैल का मांस यज्ञ में अर्पित करने योग्य भी होता है ॥ ३१ ॥

कुक्कुटो विकिराणाम् ॥ ३२ ॥

व्यवहितमप्यभोज्यमिति सन्बध्यते । पादाभ्यां विकीर्य कीटधान्यादि ये भक्षयन्ति ते मयूरादयो विकिरास्तेषां मध्ये कुक्कुटो न भक्ष्यः । स्मृत्यन्तरवशात् ग्राम्यो, नाऽऽरण्यः ॥ ३२ ॥

अनु०—पक्षियों में जो पैरों से खुरच कर कीड़ों को खाते हैं, उनमें मुर्गा भक्ष्य नहीं होता ॥ ३२ ॥

प्लवः प्रतुदाम् ॥ ३३ ॥

तुण्डेन प्रतुद्य ये भक्षयन्ति ते दार्वाघाटादयः प्रतुदाः । तेषां मध्ये प्लव एवाऽभक्ष्यः । प्लवः [2]शकटवलाख्यो बकविशेषः ॥ ३३ ॥

अनु०—जो पक्षी चोंच से अन्न इत्यादि फोड़कर खाते हैं उनमें प्लव अभक्ष्य होता है । (प्लव 'शकटबल' नाम का बगला जैसा पक्षी है) ॥ ३३ ॥

[3]क्रव्यादः ॥ ३४ ॥

क्रव्यं मांसं तदेव केवलं येऽदन्ति ते क्रव्यादाः गृध्रादयः । तेऽप्यभक्ष्याः ॥ ३४ ॥

अनु०—शव का भक्षण करने वाले पक्षी अभक्ष्य होते हैं ॥ ३४ ॥

हंसभासचक्रवाकसुपर्णाश्च ॥ ३५ ॥

हंसः प्रसिद्धः । भासः श्येनाकृतिः पीनतुण्डः । चक्रवाकः मिथुनचरः । सुपर्णः श्येनः । एते चाऽभक्ष्याः ॥ ३५ ॥

अनु०—हंस, भास, चक्रवाक और बाज पक्षी अभक्ष्य होते हैं ॥ ३५ ॥

क्रुञ्चक्रौञ्चं वार्ध्राणसलक्ष्मणवर्जम् ॥ ३६ ॥

---

१. आनडुहं मांसं० इति ख० ग० पु०

२ शकटविलाख्यः इति. ख० पु० शकावलाख्यः इति ग० पु० शकवलाख्य इति- घ० ङ० पुस्तकयोः । ३. एतदादि सूत्रत्रयमेकीकृतं क० पु०

कुञ्चा वृन्दचाराः। क्रौञ्चा मिथुनचराः। ते चाऽभक्ष्याः। सूत्रे क्रौञ्चेति विभक्तिलोपश्छान्दसः। किमविशेषेण कुञ्चक्रौञ्चा अभक्ष्याः। नेत्याह—वार्ध्राणसलक्ष्मणवर्जम्। श्वेतो लोहितो वा मूर्धा येषां ते लक्ष्मणाः त एव विशेष्यन्ते—वार्ध्राणसा इति। वार्ध्रं चर्म तदाकारा नासिका येषां ते वार्ध्राणसाः। एवंभूतान् लक्ष्मणान् वर्जयित्वा कुञ्चक्रौञ्चा न भक्ष्या इति।

अन्ये त्वाहुः—'क्रव्याद' इति प्राप्तस्य प्रतिषेधस्य कुञ्चादिषु चतुर्ष्वप्रतिषेध इति। तत्र लक्ष्मणा सारसी लक्ष्मणवर्जमिति 'ङ्यापोस्संज्ञाच्छन्दसो' रिति ह्रस्वः। एवं कुञ्चादिशब्दस्याऽप्यजादिटाबन्तस्य ॥ ३६ ॥

अनु०—इनमें से कुञ्च, क्रौञ्च पक्षी अभक्ष्य होते हैं किन्तु (श्वेत या लाल सिर वाले) चर्मनासिका वाले लक्ष्मण पक्षी भक्ष्य होते हैं ॥ ३६ ॥

पञ्चनखानां[2] गोधाकच्छपश्वाविट्छ्यर्यकखड्गशशपूतिखषवर्जम् ॥३७॥

पञ्चनखा नरवानरमार्जारादयः। तेषां मध्ये गोधादीन् सप्त वर्जयित्वा अन्ये अभक्ष्याः। गोधा कृकलासाकृतिर्महाकाया। कच्छपः कूर्मः। श्वाविट् वराहविशेषः, यस्य नाराचाकाराणि लोमानि। शर्यकः शल्यकः, यस्य चर्मणा तनुत्राणं क्रियते। श्वाविट्शर्यक इति युक्तः पाठः। एके तु छकारं पठन्ति। छकारात्पूर्वमिकारम्। खड्गो मृगविशेषः, यस्य शृङ्गं तैलभाजनम्। शशः प्रसिद्धः। पूतिखषः। शशाकृतिः हिमवति प्रसिद्धः ॥ ३७ ॥

अनु०—पाँच नखवाले पशुओं का भक्षण नहीं करना चाहिये, किन्तु इनमें गोधा कछुआ, श्वाविट्, शल्यक, खड्ग नाम का मृग, खरगोश, पूतिखष अपवाद हैं। (अर्थात् इन सातों के मांस का भक्षण किया जा सकता है ॥ ३७ ॥

अभक्ष्यश्चेटो मत्स्यानाम् ॥ ३८ ॥

मत्स्यानां मध्ये चेटाख्यो मत्स्यो न भक्ष्यः ॥ ३८ ॥

अनु०—मछलियों में चेटक नामकी मछली अभक्ष्य होती है ॥ ३८ ॥

सर्पशीर्षी मृदुरः क्रव्यादो ये चाऽन्ये विकृता यथा मनुष्यशिरसः ॥३९॥

सर्पस्येव शिरो यस्य सोऽपि मत्स्यो न भक्ष्यः। मृदुरो मकरः ये च क्रव्यमेवाऽदन्ति शिशुमारादयः तेऽप्यभक्ष्याः। ये च उक्तेभ्योऽन्ये मत्स्या विकृताकाराः। तत्रोदाहरणम्—यथा मनुष्यशिरसः जलमनुष्याख्या जलहस्त्यादयश्च। तेऽपि सर्वे न भक्ष्याः। अत्र मनुः—

---

१. पा० सू० ६ ३. ६३. २. पञ्चपञ्चनखा भक्ष्याः, इत्यत्र द्वितीयसप्तमवर्जितानां ग्रहणम्।

[1]अनुमन्ता विशसिता निहन्ता क्रयविक्रयी ।
संस्कर्ता चोपहर्ता च खादकश्चेति घातकाः ॥
[2]मांसभक्षयिताऽमुत्र यस्य मांसमिहाद्म्यहम् ।
एतन्मांसस्य मांसत्वं प्रवदन्ति मनीषिणः ॥
न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने ।
प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला ॥' इति ।

[3]अप्रतिषिद्धेष्वपि भक्षणान्निवृत्तिरेव ज्यायसीत्यर्थः ॥ ३९ ॥

इत्यापस्तम्बधर्मसूत्रे सप्तदशी कण्डिका ॥

इति चापस्तम्बधर्मसूत्रवृत्तौ हरदत्तमिश्रविरचितायामुज्ज्वलायां प्रथमप्रश्ने पञ्चमः पटलः ॥ ५ ॥

अनु०—साँप की तरह सिखाली मछली, मकर केवल मृत शरीर का मांस खाकर रहनेवाले तथा विकृत आकार वाले यथा मनुष्य के सिर की तरह सिर वाले प्राणी भक्ष्य नहीं होते ॥ ३९ ॥

---

१. म० स्मृ० ५.५१ २. श्लोकोऽयं नास्ति क० पु०

३. 'अत्राप्रतिषिद्धेष्वपि निवृत्तिरेव ज्यायसी भक्षणपानमैथुनादिभ्यः इत्यर्थः' इति ग० पु०

अथ षष्ठः पटलः

एवं तावन्निमित्तदुष्टं जातिदुष्टं कालदुष्टं चाऽभोज्यमुक्तम्। तत्र निमित्तदुष्टं यस्य कुले म्रियेते(पृ. ९२.) 'इत्यादि। जातिदुष्टं कलञ्जादि। कालदुष्टं पर्युषितादि। इदानीं प्रतिग्रहाशुचीनि कानिचिदनुज्ञाय कानिचित् प्रतिषेधति—

मध्वामं मार्गं मांसं भूमिर्मूलफलानि रक्षा गव्यूतिर्निवेशनं युग्यघासश्चोग्रतः प्रतिगृह्याणि ॥ १ ॥

मधु पक्वमपक्वं वा। आमं तण्डुलादि। मृगस्य विकारो मार्गं मांसम्। भूमिः शालेयादिक्षेत्रम्। विश्रमस्थानमित्यन्ये। मूलफलानि [1]मूलकाम्रादीनि। रक्षा अभयदानम्। गव्यूतिर्गोमार्गः। निवेशनं गृहम्। युगं वहतीति युग्यो बलीवर्दः। तस्य घासो भक्ष्यं पलालादि। एतान्युग्रतोऽपि प्रतिगृह्याणि प्रतिग्राह्याणि अदुर्भिक्षेऽपि। उग्रः पापकर्मा द्विजातिः, वैश्याद्वा शूद्रायां जातः। उग्रग्रहणं तादृशानामुपलक्षणम्॥ १॥

अनु०—मधु, चावल आदि (बिना पके हुए अन्न), मृगका मांस, भूमि, मूल फल, अभयदान, गाय के लिए चारागाह, घर, बैल, पशुओं के लिए चारा, उग्र (पाप कर्मा द्विजाति अथवा वैश्य पुरुष और शूद्रा स्त्री का पुत्र) से भी लिया जा सकता है॥ १ ॥

एतान्यपि नाऽनन्तेवास्याहृतानीति हारीतः ॥ २ ॥

एतानि मध्वादीन्यपि अन्तेवास्याहृतान्येव प्रतिग्राह्याणि, न स्वयमुग्रत इति हारीत आचार्यो मन्यते॥ २॥

अनु०—हारीत का ही कथन है कि ये वस्तुएँ भी तभी स्वीकार करनी चाहिए जब शिष्य द्वारा लाई गई हो (आचार्य स्वयं इन्हें न स्वीकार करे)॥ २॥

आमं वा गृह्णीरन् ॥ ३ ॥

पूर्वोक्तेष्वामं स्वयमेव वा गृह्णीरन् द्विजा इति [2]हारीतस्यैव पक्षः॥ ३॥

अनु०—पूर्वोक्त वस्तुओं में चावल आदि स्वयं भी ग्रहण कर सकता है॥ ३॥

कृतान्नस्य वा विरसस्य ॥ ४ ॥

आमस्याऽलाभे कृतान्नस्याऽपि विरसस्य लवणादिरसासंयुक्तस्य। षष्ठीनिर्देशात् स्तोकम्। स्वयमन्तेवास्याहृतं वा गृह्णीरन्॥ ४॥

---

१. मूलकन्दादीनि इति क० पु०   २. हारीताचार्यस्य, इति क० पु०

अनु०—(हारित का मत है कि) ब्राह्मण उग्र से विना पकाया हुआ अथवा नमक आदि से असंयुक्त उबाला हुआ मांस ग्रहण कर सकता है ॥ ४ ॥

न सुभिक्षाः स्युः ॥ ५ ॥

अनन्तरोक्तविधानद्वये यद्गृहीतमन्नं तेन सुभिक्षाः सुहिता न भवेयुरेव। यावता प्राणयात्रा भवति तावदेव गृह्णीरन्, न यावता सौहित्यं तावदिति॥५॥

अनु०—इस प्रकार का अन्न उतना ही ग्रहण करे जितने से जीविका निर्वाह हो। (जितना मिल सके उतना सब ग्रहण न करे) ॥ ५॥

स्वयमप्यवृत्तौ सुवर्णं दत्वा पशुं वा भुञ्जीत ॥ ६ ॥

यदि तु दुर्भिक्षतया आत्मनोऽपि वृत्तिर्न लभ्यते प्रागेव पोष्यवर्गस्य, तदा स्वयमप्यवृत्तौ यत्रैव लभ्यते तत्रैव कृतान्नमपि भुञ्जीत। तत्र गुणविधिः—सुवर्णं दत्वा सकृदेवोपक्लृप्तमुपरिष्टात्सुवर्णेन स्पृष्ट्वा। एतेन पशुं वा दत्वेत्यपि व्याख्यातम्। 'पशुरग्निः, '[1]अग्निः पशुरासी' दिति मन्त्रलिङ्गात् [2]गोसूक्तेनाऽग्नेरुपस्थानदर्शनाच्च ॥ ६ ॥

अनु०—दुर्भिक्ष के समय में (यदि जीविका निर्वाह संभव न हो तो) किसी से भी प्राप्त भोजन खा सकता, है किन्तु उसके पूर्व उसको सोने से स्पर्श कराये अथवा अग्नि से स्पर्श कराये।

टि०—इसका अर्थ यह भी लिया जाता है कि खरीदकर अथवा किसी पशु को देकर ॥ ६ ॥

नाऽत्यन्तमन्ववस्येत् ॥ ७ ॥

न पुनरत्यन्तमन्ववसीदेत् ॥ ७ ॥

अनु०—इस प्रकार की जीवनवृत्ति में अधिक रुचि न रखे ॥ ७ ॥

वृत्तिं प्राप्य विरमेत् ॥ ८ ॥

यदा विहिता वृत्तिर्लभ्यते तदा निषिद्धाया विरमेत्। न पुन 'स्सकृत्प्रवृत्तायाः किमवकुण्ठनेने''ति न्यायेन तत्रैव रमेत॥ अत्र छान्दोग्योपनिषत्—'[3]मटचीहतेषु कुरुष्वाटिक्या सह जाययोषस्तिर्ह चाक्रायण इभ्यग्रामे

---

१. तै० सं० ५. ७. २६ २. ऋ० सं० ३. २८. १

३. छा० उ० १. १० "मटचीहतेषु मटच्यः अशनयः ताभिर्हतेषु नाशितेषु कुरुषु सस्येष्वित्यर्थः। ततो दुर्भिक्षे जाते आटिक्या अनुपजातपयोधरादिस्त्रीव्यञ्जनया जायया उषस्तिर्ह नामतः चक्रस्यापत्यं चाक्रायणः इभः हस्ती तमर्हतीतीभ्यः ईश्वरः हस्त्यारोहो वा। तस्य ग्रामः इभ्यग्रामः तस्मिन् प्रद्राणकः अन्नालाभात्। द्रा कुत्सायां गतौ। कुत्सितां गतिं गतः। अन्त्यावस्थां प्राप्त इत्यर्थः। उवास उषितवान् कस्यचिद्गृहमाश्रित्य। सोऽन्नार्थमटन्निभ्यं कुल्माषान् कुत्सितान्माषान् खादन्तं भक्षयन्तं यदृच्छयोपलभ्य बिभिक्षे" इति शाङ्करभाष्यम्।

प्रद्राणक उवास। स हेभ्यं कुल्माषान् खादन्तं बिभिक्षे' इत्यादि। मन्त्रवर्णश्च भवति[1] 'अवर्त्त्या शुन अन्त्राणि पेच' इति। अवर्त्त्या वृत्यभावेन। अपर आह—दुर्भिक्षे स्वयमप्यवृत्तौ आ तन्निवृत्तेर्यत्र कुत्रचिन्नीचेऽपि दातरि भुञ्जानो वसेत् यां च यावतीं च स्वर्णमात्रां यं कञ्चन पशुं वा तस्मै दत्वा। न पुनरत्यन्तमन्ववस्येत् वृत्तिं प्राप्य विरमेदिति ॥ ८ ॥

अनु०—जब वर्णानुसार यथोचित जीवनवृत्ति प्राप्त हो तब निषिद्ध जीवनवृत्ति का परित्याग करे।

टि०—इस सन्दर्भ में व्याख्याकार ने छान्दोग्योपनिषद् तथा ऋग्वेद के दो अंशों का उद्धरण दिया है जिनके अनुसार आपत्काल में कुत्ते की अतड़ियाँ पकाकर खाना भी अधर्म नहीं है ॥ ८ ॥

एवमापदि वृत्तिमुक्त्वा सुभिक्षेऽनापदि वृत्तिमाह—

त्रयाणां वर्णानां क्षत्रियप्रभृतीनां समावृत्तेन न भोक्तव्यम् ॥ ९ ॥

समावृत्तो द्विजातिः क्षत्रियादीनां त्रयाणां वर्णानां गृहे न भुञ्जीत ॥ ९ ॥

अनु०—समावर्तन के बाद ब्राह्मण तीन वर्णों—क्षत्रिय आदि के घर में भोजन न करे ॥ ९ ॥

प्रकृत्या ब्राह्मणस्य भोक्तव्यमकारणादभोज्यम् ॥ १० ॥

ब्राह्मणस्यान्नं प्रकृत्या स्वभावेनैव भोक्तव्यम्। कारणादेव त्वभोज्यम् ॥१०॥

अनु०—ब्राह्मण द्वारा प्रदत्त भोजन स्वभावतः ग्रहण करे, किसी विशेषकारण से ही उसके भोजन को अस्वीकार करे ॥ १० ॥

कारणमाह—

यत्राऽप्रायश्चित्तं कर्माऽऽसेवते प्रायश्चित्तवति ॥ ११ ॥

[2]यत्र यदा वैश्वदेवाग्निहोत्रादीनि नित्यमाभ्युदयिकं वाऽप्रायश्चित्तं कर्माऽऽसेवते तात्पर्येण करोति प्रायश्चित्तवत्यात्मनि चोदितं प्रायश्चित्तं [3]प्राणायामोपवासविधिकृच्छ्रादि न करोति तदा एतस्मात् कारणात् ब्राह्मणस्याऽन्नमभोज्यमिति ॥ ११ ॥

अनु०—जब ब्राह्मण प्रायश्चित्त न करके कोई ऐसा अन्य (वैश्वदेव, अग्निहोत्र-आदि) कर्म करे जो प्रायश्चित्त नहीं है, तो उस ब्राह्मण द्वारा दिया गया भोजन न ग्रहण करे ॥ ११ ॥

---

१. ऋ० सं० ४. १८. १३

२. यत्र यदा अग्निहोत्रवैश्वदेवाद्यकरणे प्रायश्चित्तं मुक्त्वा तदनुरूपं; नित्यमाभ्युदयिकं वा कर्मासेवते तात्पर्येण करोति न प्रायश्चित्तवत्यात्मनि चोदिते प्रायश्चित्तं तदेतस्मात्कारणादभोज्यमिति इति - क० पु०। ३. प्राणायामपथिकृदादि इति. ख० पु०

चरितनिर्वेषस्य भोक्तव्यम् ॥ १२ ॥

चरितो निर्वेशः प्रायश्चित्तं येन तस्याऽन्नं भोक्तव्यम्। तद्भोजने न दोषः। निष्ठया भूतकालस्याऽभिधानाच्चर्यमाणेऽपि निर्वेषे न भोक्तव्यम्। किं तर्हि? चरिते ॥ १२ ॥

अनु०—किन्तु उसके प्रायश्चि का तप कर लेने पर उसके घर भोजन करे।

टि०—हरदत्त ने 'चरितनिर्वेषस्य' के चरित की ओर निर्देश करते हुए यह स्पष्ट किया है कि प्रायश्चित्त के काल में भी उसका अन्न न ग्रहण करे ॥ १२ ॥

सर्ववर्णानां स्वधर्मे वर्तमानानां भोक्तव्यं शूद्रवर्जमित्येके ॥ १३ ॥

शूद्रवर्जितानां स्वधर्मे वर्तमानानां त्रयाणां वर्णानामन्नं भोज्यम्। न ब्राह्मणस्यैवेत्येके मन्यन्ते ॥ १३ ॥

अनु०—शूद्र को छोड़कर अपने धर्म में वर्तमान सभी तीन वर्णों का अन्न भोज्य होता है ॥ १३ ॥

तस्याऽपिधर्मोपनतस्य ॥ १४ ॥

तस्याऽपि शूद्रस्याऽन्नं भोज्यम् , यद्यसौ धर्मार्थमुपनतः आश्रितो भवति। धर्मग्रहणादर्थार्थमुपनतस्याऽभोज्यम्। आपत्कल्पश्चाऽयम् ॥ १४ ॥

अनु०—(आपत्ति के समय में) यदि शूद्र भी धर्म के लिए आश्रित हो तो उसका अन्न भोज्य होता है ॥ १४ ॥

सुवर्णं दत्वा पशुं वा भुञ्जीत नात्यन्तमन्ववस्येद्वृत्तिं प्राप्य विरमेत् ॥ १५ ॥

गतम् ॥ १५ ॥

अनु०—सोने से या अग्नि से स्पर्श कराकर भोजन करे उस भोजन में विशेष रुचि न ले और अपनी यथोचित जीवनवृत्ति प्राप्त कर लेने पर शूद्र का अन्न खाना बन्द कर दे।

टि०—'सुवर्णं दत्वा पशुं वा' से यह भी अर्थ लगाया जाता है कि सोना या पशु देकर उस अन्न को ग्रहण करे ॥ १५ ॥

सङ्घान्नमभोज्यम् ॥ १६ ॥

सङ्घो गणः तस्य यत् स्वमन्नं न त्वेकस्य। तदभोज्यं यद्यपि ते सर्वे दद्युः ॥ १६ ॥

अ०—बहुत से व्यक्तियों के समूह से प्राप्त अन्न न खाये ॥ १६ ॥

परिक्रुष्टं च ॥ १७ ॥

'भोक्तुकामा आगच्छत' इत्येवं परिक्रुश्य सर्वत आहूय यद्दीयते तत्परिक्रुष्टं तद्भोज्यम् ॥ १७ ॥

अनु०—चारो ओर पुकारकर दिये गये अन्न को न खाये ॥ १७ ॥

सर्वेषां च शिल्पाजीवानाम् ॥ १८ ॥

चित्रनिर्माणादिकं शिल्पं ये आजीवन्ति[1] तेषां सर्वेषामपि ब्राह्मणादीनामन्नमभोज्यम् ॥ १८ ॥

अनु०—(चित्र निर्माण आदि) शिल्प कला से जीविका चलाने वाले व्यक्तियों का भोजन न ग्रहण करे ॥ १८ ॥

ये च शस्त्रमाजीवन्ति ॥ १९ ॥

ये च शस्त्रेण जीवन्ति तेषामप्यन्नमभोज्यम् । क्षत्रियवर्जम्, [2]तस्य विहितत्वात् ॥ १९ ॥

अनु०—(क्षत्रिय के अतिरिक्त) शस्त्र से जीविका निर्वाह करने वाले व्यक्तियों का अन्न अभोज्य होता है ॥ १९ ॥

ये चाऽऽधिम् ॥ २० ॥

आजीवन्तीत्यपेक्षते । स्वगृहे परान् वासयित्वा तेभ्यो भृतिग्रहणमाधिः, यः स्तोम इति प्रसिद्धः ।

परभूमौ कुटिं कृत्वा स्तोमं दत्वा वसेत्तु यः' इति ।

तं चाऽऽधिं ये आजीवन्ति तेषामप्यन्नमभोज्यम् । ये तु प्रसिद्धमाधिमाजीवन्ति तेषां वार्धुषिकत्वादेव[3]सिद्धो निषेधः ॥ २० ॥

अनु०—मकान या भूमि किराए पर देने वालों का अन्न अभोज्य होता है ॥२०

भिषक् ॥ २१ ॥

अभोज्यान्न इति प्रकारणाद्गम्यते । भिषक् भैषज्यवृतिः । धर्मार्थं तु ये सर्पदृष्टादींश्चिकित्सन्ति ते भोज्यान्ना एव ॥ २१ ॥

अनु०—व्यवसायतः दवा आदि देकर जीविका निर्वाह करने वाले व्यक्तिका अन्न अभोज्य होता है ॥ २१ ॥

वार्धुषिकः ॥ २२ ॥

वृद्ध्याजीवी । सोऽप्यभोज्यान्नः ॥ २२ ॥

अनु० ब्याज लेने वाले व्यक्ति का अन्न अभोज्य होता है ॥ २२ ॥

---

१. आजीवन्ति इत्यनन्तरं 'आजीवन्ति तेन ये जीवन्ति' इत्यधिकं क० पु०

२. तस्य विहितत्वात्, इति नास्ति क० पु०

३. अभोज्यान्नत्वं सिद्धम्, इति ख० ग० पु०

दीक्षितोऽक्रीतराजकः ॥ २३ ॥

दीक्षितो दीक्षणीयेष्टया संस्कृतः सोऽपि यावत् क्रीतराजको न भवति सोमक्रयं न करोति तावदभोज्यान्नः ॥ २३ ॥

अनु०—सोमयज्ञ में दीक्षणीया इष्टि करने वाले का भोजन उस समय तक अभोज्य होता है जब तक उसने सोम का क्रय नहीं किया है ॥ २३ ॥

अग्नीषोमीयसंस्थायामेव ॥ २४ ॥

भोक्तव्यमिति वक्ष्यमाणमपेक्षते । अग्नीषोमीये पशौ संस्थिते समाप्त एव भोक्तव्यम् । न प्रागिति ॥ २४ ॥

अनु०—(दीक्षणीया इष्टि करने वाले यजमान का अन्न) उस समय भोज्य होता है जब अग्नि तथा सोम के लिए पशुओं को बलि दी जा चुकी हो ॥ २४ ॥

पक्षान्तरमाह—

हुतायां वपायां दीक्षितस्य भोक्तव्यम् ॥ २५ ॥

अग्निषोमीयस्य वपायां हुतायां वा दीक्षितस्यान्नं भोक्तव्यम् । तथा च बह्वृचब्राह्मणम्—'अशितव्यं वपायां हुतायाम्' इति ॥ २५ ॥

अनु०—अथवा जब अग्नि और सोम के लिए वपा का होम कर दिया गया हो तब दीक्षित का अन्न ग्रहण किया जा सकता है ॥ २५ ॥

पक्षान्तरमाह—

[2]यज्ञार्थे वा निर्दिष्टे शेषाद्भुञ्जीरन्निति हि ब्राह्मणम् ॥ २६ ॥

इदं यज्ञार्थमिति व्यादेशे कृते शेषाद्भुञ्जीरन्निति ब्राह्मणं भवति । ब्राह्मणग्रहणं प्रीत्युपलब्धितः प्रवृत्तेरपरस्मृतिता मा भूदिति प्रत्यक्षमेवाऽत्र ब्राह्मणमिति ॥ २६ ॥

अनु०—एक ब्राह्मण ग्रन्थ में यह कहा गया है कि यज्ञ के लिए अलग निकाल कर शेष भाग का भक्षण किया जा सकता है ॥ २६ ॥

---

१. ज्योतिष्टोमे—'आग्नावैष्णवमेकादशकपालं निर्वपेत् दीक्षिष्यमाणः,' इत्यनेन दक्षिणीयेष्टिर्नाम काचिदिष्टिर्विहिता । सा च यजमानसंस्कारार्था, इति निर्णीतं पूर्वमीमांसायां पञ्चमाध्याये । तया संस्कृतो यजमानो यावत् यागार्थद्रव्यं सोमलतां न क्रीणाति तावत्पर्यन्तमित्यर्थः । प्रथमदिने ' अपराह्णे दीक्षयेत्' इति अपराह्णे दीक्षा विहिता । ततः पूर्वं दीक्षणीयेष्टिः । तत्समनन्तरदिने सोमक्रयणं विहितम् । ततश्च प्रथमदिनेऽपराह्णादनन्तरं द्वितीयदिनमध्याह्नात् पूर्वं दीक्षितान्नं न भोक्तव्यमिति फलितम् । इदं चैकदीक्षापक्षे । अनेकदीक्षापक्षे तु तदनुरोधेन दिनसंख्यावृद्धिः प्रत्येतव्या ।

२. Cf. आप० श्रौ० १०. १५. १६

क्लीबः ॥ २७ ॥

षण्डकः । सोऽप्यभोज्यान्नः ॥ २७ ॥

अनु०—नपुंसक का अन्न अभोज्य होता है ॥ २७ ॥

राज्ञांप्रैषकरः ॥ २८ ॥

राज्ञामिति बहुवचनात् ग्रामादेर्यः प्रैषकरः तस्याऽपि प्रतिषेधः ॥२८॥

अनु०—राजा आदि के संदेशवाहक का अन्न अभोज्य होता है ॥ २८ ॥

अहविर्याजी ॥ २९ ॥

यश्चाऽहविषा नररुधिरादिना यजतेऽभिचारादौ यथा 'यमभिचरेत्तस्य लोहितमवदानं कृत्वे' ति सोऽप्यभोज्यान्नः ॥ २९ ॥

अनु०—ऐसे ब्राह्मण का भोजन भी अभोज्य होता है जो यज्ञकी हवि के लिए अनुपयुक्त पदार्थ से यज्ञ करता है।

टि०—इस प्रकार की हवि से आचारिक क्रियाओं में दी जाने वाली मनुष्य के रक्त आदि की आहुति से तात्पर्य है ॥ २९ ॥

चारी ॥ ३० ॥

चारो गूढचरः स्पशः । सोऽप्यभोज्यान्नः ॥ ३० ॥

अनु०—गुप्तचर का अन्न अभोज्य होता है ॥ ३० ॥

अविधिना च प्रव्रजितः ॥ ३१ ॥

यश्चाऽविधिना प्रव्रजितः शाक्यादिस्सोऽप्यभोज्यान्नः ॥ ३१ ॥

अनु०—बिना विधि सन्यास ग्रहण करने वाले व्यक्तिका अन्न अभोज्य होता है।

टि०—हरदत्त ने इस प्रकार के प्रव्रजित लोगों से शाक्य अर्थात् बौद्धों का अर्थ लिया है सम्भव है कि आपस्तम्ब ने बौद्धों की ओर ही संकेत किया। किन्तु मूलतः यह सूत्र धर्मशास्त्र विहित नियम का उल्लंङ्घन कर सन्यास लेनेवाले का निर्देश करता है ॥ ३१ ॥

यश्चाऽग्नीनपास्यति ॥ ३२ ॥

[1](योऽनापद्यग्निं त्यक्त्वा प्रायश्चित्तं न करोति सोऽप्यभोज्यान्नः। अपि च) अविधिनेत्येव। यश्चाऽविधिना उत्सर्गेष्ट्या विनाऽग्नीनपास्यति सोऽप्यभोज्यान्नः ॥ ३२ ॥

अनु०—जो व्यक्ति अग्नि का परित्याग करदेता है उसका अन्न अभोज्य होता है ॥ ३२ ॥

---

१. कुण्डलान्तर्गतोऽधिकः क० पु०

यश्च सर्वान् वर्जयते सर्वान्नी च श्रोत्रियो निराकृतिर्वृषलीपतिः ॥३३॥

यश्च सर्वान् वर्जयते भोजने न कचिद्भुङ्क्ते न कञ्चिद्भोजयति स सर्ववर्जी। यश्च सर्वान्नी सर्वेषामन्नं तावुभावप्यभोज्यान्नौ। श्रोत्रियः इत्युभयोश्शेषः। श्रोत्रियोऽपि सन्नभोज्यान्न एवेति। निराकृतिःनिःस्वाध्यायः। निर्व्रत इत्यन्ये। सोऽप्यभोज्यान्नः। वृषलीपतिः क्रमविवाहे यस्य वृषली पत्नी जीवति इतरा मृताः स वृषलीपतिः। स श्रोत्रियोऽप्यभोज्यान्न इति ॥ ३३ ॥

इत्यापस्तम्बधर्मसूत्रवृत्तावाष्टादशी कण्डिका ॥ १८ ॥

अनु०—जो विद्वान् ब्राह्मण सबके भोजन का परित्याग करता है अर्थात् न किसी को भोजन कराता है और न किसी के यहाँ भोजन करता है अथवा जिस किसी का अन्न ग्रहण करता है उस व्यक्ति द्वारा दिया गया भोजन अभोज्य होता है। स्वाध्याय न करने वाले ब्राह्मण का तथा जिस ब्राह्मण की केवल शूद्रा पत्नी जीवित हो उसका अन्न अभोज्य होता है, भले ही, वेद का विद्वान हो ॥ ३३ ॥

मत्त उन्मत्तो बद्धोऽणिकः प्रत्युपविष्टो यश्च प्रत्युपवेशयते तावन्तं कालम् ॥ १ ॥

मदकरद्रव्यसेवया[1]विकृतिं गतो मत्तः उन्मतो भ्रान्तः। बद्धो निगलितः। अणिकः पुत्रात् श्रुतग्राही, पुत्राचार्य इति शास्त्रेषु निन्दितः। प्रत्युपविष्टः ऋणादिना कारणेनाऽधमर्णादिकं निरुध्य तत्पार्श्व उपविष्टः। प्रत्युपेवशयिता त्वितरः, तस्य परिहारमकुर्वंस्तेन सह कामं सुचिरमास्यतामित्यासीनः। ता एते मत्तादयस्तावन्तं कालमभोज्यान्नाः, यावन्मदाद्यनुवृत्तिः। अपर आह— अणिकः ऋणस्य दाता प्रत्युपवेष्टुरिदं विशेषणमिति ॥ १ ॥

अनु०—मदपान से मत्त बने हुए, पागल, बन्दी, अपने पुत्र से वेद का अध्ययन करने वाले, ऋणी को ऋण लेने के लिए रोक कर बैठने वाले तथा इसप्रकार रोक कर बैठाये गये ऋणी का अन्न उतने समय तक अभोज्य होता है जब तक इन व्यक्तियों की तत्तत् अवस्था हो ॥ १ ॥

क आश्यान्नः ॥ २ ॥

यद्येते अभोज्यान्नः कस्तर्हि आश्यान्नः! कस्य तर्ह्यन्नमशनीयमिति। यद्यप्यते अभोज्यान्ना इत्युक्ते परिशिष्टा भोज्यान्ना इति गम्यते। तथाप्यनेक मतोपन्यासार्थं प्रश्नपूर्वक आरम्भः ॥ २ ॥

अनु०—किन व्यक्तियों का भोजन भोज्य होता है ॥ २ ॥

---

१. अप्रकृतिं इति. ख० पु० ।

य ईप्सेदिति कण्वः ॥ ३ ॥

य एव प्रार्थयते स एवाऽऽश्यान्न इति कण्व ऋषिर्मन्यते [1]प्रतिसिद्धवर्जम् ॥ ३ ॥

अनु०—कण्व ऋषि का मत है कि जो व्यक्ति भोजन के लिए प्रार्थना करता है उसी का अन्न भोज्य होता है ॥ ३ ॥

पुण्य इति कौत्सः ॥ ४ ॥

सर्ववर्णानां स्वधर्मे वर्तमानाना' (१८.१३-) मित्युक्तत्वात् भोज्यान्नास्सर्वे पुण्या एव। इह पुनः पुण्यग्रहणमतिशयार्थम्। तपोहोमजप्यैः स्वधर्मेण च युक्तः पुण्यः। स स्वयमप्रार्थयमानोऽपि भोज्यान्न इतिकौत्सस्य पक्षः ॥ ४ ॥

अनु०—कौत्स ऋषि का मत है कि सभी पुण्य आचरण वाले व्यक्तियों का अन्न भोज्य होता है।

टि०—पुण्य से तात्पर्य तप, होम जप आदि कर्मों को करते हुए अपने धर्म में स्थित रहने वाले व्यक्ति से तात्पर्य है। यदि ऐसा व्यक्ति स्वयं प्रार्थना न करे तब भी उसका अन्न भोज्य होता है। ४ ॥

यः कश्चिद्दद्यादिति वार्ष्यायणिः ॥ ५ ॥

यः कश्चित्पुण्योऽपुण्यो वा सततं दानशीलः। स भोज्यान्न इति वार्ष्यायणिराह।

तथा च मनुः—

[2]श्रद्धापूतं वदान्यस्य हतमश्रद्धयेतरत्।' इति ॥ ५ ॥

अनु०—वार्ष्यायणि का मत है कि प्रत्येक दानशील व्यक्ति का अन्न भोज्य होता (चाहे वह पुण्य आचरण वाला हो या न हो ॥ ५ ॥

अत्रोपपत्तिः—

यदि हि रजः स्थावरं पुरुषे भोक्तव्यमथ चेच्चलं दानेन निर्दोषो भवति ॥ ६ ॥

रजः पापम्। तद्यपि पुरुषे कर्तरि स्थावरं स्थिरं नोपभोगमन्तरेण क्षीयते तदा ततः प्रतिग्रहेऽपि भोक्तरि संक्रमाभावात् भोक्तव्यम्। अथ चेच्चलमुपभोगमन्तरेणाऽपि क्षीयते तदा सततदानशीले न मुहूर्तमपि पापमवतिष्ठत इति कुतो भोक्तुर्दोष इति ॥ ६ ॥

---

१. प्रतिषिद्धवर्जम्, इति नास्ति क० पुस्तके। २. म० स्मृ० ४. २२८.

अनु०—यदि कोई पाप, पापकरने वाले पर स्थिर लगा हुआ है तो वह उस पापी व्यक्ति का भी अन्न खाया जा सकता है क्योंकि पाप, पापी को छोड़कर उसके अन्न का भोजन करने वाले पर नहीं जा सकता और यदि पाप पापी को छोड़ सकता है तब भी उसका अन्न खाया जा सकता हैं क्योंकि इस प्रकार वह दान के द्वारा निर्दोष हो जाता है ॥ ६ ॥

शुद्धा भिक्षा भोक्तव्यैककुणिकौ काण्वकुत्सौ तथा पुष्करसादिः ॥७॥

धार्मिकेणोद्यता आहृता भिक्षा शुद्धा । सा भोज्येत्येकादीनां पञ्चानां पक्षः । पुष्करसादिः[1] पौष्करसादिः । आदिवृद्धयभावश्छान्दसः ॥ ७ ॥

अनु०—शुद्ध मिली हुइ भिक्षा भोज्य होती है, ऐसा एक, कुणिक, काण्व, कुत्स तथा पुष्करसादि का मत है ॥ ७ ॥

सर्वतोपेतं वार्ष्यायणीयम् ॥ ८ ॥

सर्वत उपेतं सर्वतोपेतम् । छान्दसो गुणः । उपेतमयाचितोपपन्नम् । तत्सर्वतोऽपि भोज्यमिति वार्ष्यायणीयं मतम् ॥ ८ ॥

अनु०—वार्ष्यायण का मत है कि बिना मांगे किसी से भी प्राप्त अन्न भोज्य होता है ॥ ८ ॥

इदानीं स्वमतमाह—

पुण्यस्येप्सतो भोक्तव्यम् ॥ ९ ॥

कण्वकुत्सयोः पक्षौ समुच्चितावाचार्यस्य पक्षः[2] ॥ ९ ॥

अनु०—पुण्य आचरण करने वाले व्यक्ति द्वारा स्वयं दिया हुआ भोजन खाना चाहिए ॥ ९ ॥

पुण्यस्याऽप्यनीप्सतो न भोक्तव्यम् ॥ १० ॥

यः प्रार्थितोऽपि नेत्यसकृदुक्त्वा कथंचिदापादितेप्सः[3] सोऽनीप्सन्नित्युच्यते, तस्य पुण्यस्याऽप्यभोज्यमिति । अपर आह—अनीप्सत इति कर्तरि षष्ठी । पुण्यस्याप्यन्नं न भोज्यं, यदि भिक्षमाणः पूर्ववैरादिना स्वयमीप्सन्न भवतीति ॥ १० ॥

अनु०—पवित्र आचरण वाले व्यक्ति द्वारा अन चाहे दिया गया भोजन अभोज्य होता है ॥ १० ॥

यतः कुतश्चाऽभ्युद्यतं भोक्तव्यम् ॥ ११ ॥

'सर्वतोपेत' (१९.८) मित्युक्तमेव पुनरुच्यते विशेषविवक्षया ॥ ११ ॥

---

१. आचार्यः' इत्यधिकं क० पुस्तके । २. 'आचार्यस्थ पक्षेण' इति. क० पु०

३. सोऽल्पेप्सुस्सन्ननीप्सन्नित्युच्यते' इति क० पु०

अनु०—जिस किसी व्यक्ति से बिना माँगे अर्पित अन्न भोज्य होता है ॥ ११ ॥

तमाह—

नाऽननियोगपूर्वमिति हारीतः ॥ १२ ॥

'अद्य तुभ्यमिदमाहरिष्यामि तदत्रभवता ग्राह्य'मिति निवेदनं नियोगः। तदभावः अनियोगः। पुनर्नञ्समासः। द्वौ नञौ प्रकृतमर्थं गमयतः। अननियोगो नियोगः तत्पूर्वं चेदभ्युद्यतं न भोज्यमिति ॥ १२ ॥

अनु०—किन्तु हारीत का मत है कि यदि वह भोजन बिना पूर्व निवेदन के दिया गया हो तो भोज्य नहीं होता है ॥ १२ ॥

अथ पुराणे श्लोकावुदाहरन्ति—

[1]'उद्यतामाहृतां भिक्षां पुरस्तादप्रवेदिताम्।
भोज्यां मेने प्रजापतिरपि दुष्कृतकारिणः ॥
न तस्य पितरोऽश्नन्ति दश वर्षाणि पञ्च च।
न च हव्यं वहत्यग्निर्यस्तामभ्यधिमन्यते ॥ इति ॥१३॥

अथ अपि च पुराणे—

[2]'सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशमन्वन्तराणि च।
वंशानुचरितं चैव पुराणं पञ्चलक्षणम् ॥'

इत्येवंलक्षणे भविष्यदादौ। उद्यतां हस्ताभ्यामुद्यम्य धारिताम्। आहृतां स्वयमानीताम्। पूर्वमनिवेदितां भिक्षाम्। दुष्कृतकारिणोऽपि सकाशात् भोज्यां मेने प्रजापतिर्मनुः, मनुः प्रजापतिरस्मीति [3]दर्शनात्। यस्तु तामभ्यधिमन्यते प्रत्याचष्टे तस्य पितरः कव्यं नाश्नन्ति। कियन्तं कालम्? दश वर्षाणि पञ्च च। अग्निश्च हव्यं न वहति। तावन्तमेव कालमिति प्रत्याख्यातुर्निन्दार्थवादः ॥ १३ ॥

अनु०—पुराण के निम्नलिखित दो श्लोक उद्धृत किये जाते हैं—प्रजापति ने बिना माँगे मिली हुई दाता के द्वारा स्वयं लाकर अर्पित की गई भिक्षा को भोज्य

---

१. नाद्यतनभविष्यत्पुराणीयमिदं वचनम्। Cf मनु० ४. २५१. २५२

२. अमरको० १. वा० ५

३. मनुः प्रजापतिर्यस्मिन्निति दक्षे दर्शनात्, इति क० पु० प्रजापतिर्यस्मिन्निति मानवे दर्शनात्' इति ख० पु०

मान। है, भले ही वह भिक्षा पाप कर्म करने वाले व्यक्ति द्वारा दी गई हो। किन्तु इस प्रकार की भिक्षा का पहले से देने की घोषणा न की गई हो। जो व्यक्ति इस प्रकार के अन्न को अस्वीकार कर देता है उसके पितर पन्द्रह वर्ष तक उसकी श्राद्ध-बलि का भक्षण नहीं करते और अग्नि भी उनकी आहुति को देवताओं तक नहीं पहुँचाता ॥ १३ ॥

[1]चिकित्सकस्य मृगयोश्शल्यकृन्तस्य पाशिनः।
कुलटायाष्षण्डकस्य च तेषामन्नमनाद्यम् ॥ १४ ॥

चिकित्सको भिषक्। मृगयुर्मृगघाती लुब्धकः। शल्यकृन्तः शस्त्रेण ग्रन्थ्यादीनां छेत्ता अम्बष्ठः। पाशी पाशवान् पाशजालेन मृगादीनां ग्राहकः। कुलात्कुलमटतीति कुलटा व्यभिचारिणी। षण्डकः तृतीयाप्रकृतिः। एतेषां चिकित्सकादीनामन्नमनाद्यम्। चिकित्सकषण्डकयोः पुनर्वचनमुद्यतस्याऽपि प्रतिषेधार्थम्। [2]पूर्वत्र तर्हि ग्रहणं शक्यमकर्तुम्। एवं तर्हि सूत्रकारस्य स प्रतिषेधः। अयं तु पुराणश्लोके प्रतिषेध इत्यपौनरुक्त्यम् ॥ १४ ॥

अनु०—(पुराण के एक दूसरे पद्य में भी कहा गया है कि) चिकित्सक, बहेलिया, चीड़-फाड़ करने वाले (शल्यकृन्त, अम्बष्ठ), जाल से मृग इत्यादि को पकड़ने वाले, कुलटा स्त्री, और नपुंसक का अन्न अभोज्य होता है ॥ १४ ॥

अथाऽप्युदाहरन्ति—

अन्नादे भ्रूणहा मार्ष्टि अनेना अभिशंसति।
स्तेनः प्रमुक्तो राजनि याचन्ननृतसङ्करे ॥ इति ॥ १५ ॥

षडङ्गस्य वेदस्यऽध्येता भ्रूणः। तं यो हतवान् स भ्रूणहा। सोऽन्नादे मार्ष्टि लिम्पति। किम् (?) प्रकरणादेन इति गम्यते। भ्रूणघ्नो योऽन्नमत्ति तस्मिंस्तदेनः संक्रामति। तस्मात्तस्योद्यतमप्यभोज्यमिति प्रकरणसङ्गतः पादः। इतरत् पुराणश्लोके पठ्यमाने पठितम्। अनेनसं योऽभिशंसतिमिथ्यैव ब्रूते-इदं त्वया कृतमिति। स तस्मिन्नभिशंसति तदेनो मार्ष्टि। मनुस्तु—

[3]पतितं पतितेत्युक्त्वा चोरं चोरेति वा पुनः।
वचनात्तुल्यदोषस्यान्मिथ्या द्विर्दोषभाग्भवेत् ॥

१. Cf मनु० ४. २११. २१२ २. पूर्वत्र तर्हि ग्रहणस्य वैयर्थ्यम्।
३. म० स्मृ० श्लोकोऽयमिदीनां मुद्रितकोशेषु नोपलभ्यते।

इति द्वैगुण्यमाह। तदभ्यासे द्रष्टव्यम्। 'स्तेनः प्रकीर्णकेश' (२५.४.) इति वक्ष्यति। स एव तृतीयस्य पादस्यार्थः। कर्तृभेदादपौनरुक्त्यम्। सङ्करः प्रतिज्ञा प्रतिश्रवः। सत्यसङ्कर इति यथा। यः प्रतिश्रुत्य न ददाति सोऽनृतसङ्कर इति। ककारस्तु छान्दसः। तस्मिन् याचकः स्वयमेनो मार्ष्टि। तस्मात्प्रतिश्रुतं देयमिति ॥ १५ ॥

इत्यापस्तम्बसूत्रवृत्तावेकोनविंशी कण्डिका ॥ १९ ॥

ति चापस्तम्बधर्मसूत्रवृत्तौ हरदत्तमिश्रविरचितायामु-

ज्ज्वलायां प्रथमप्रश्ने षष्ठः पटलः ॥ ६ ॥

अनु०—(एक और पद्य भी उद्धृत किया जाता है) वेद का अध्ययन करने वाले ब्राह्मण (भ्रूण) का वध करने वाले अपना पाप अपना अन्न खाने वाले के ऊपर संक्रमित कर देता है। निर्दोष व्यक्ति का पाप उस पर झूठा दोषारोपण करने वाले व्यक्ति को मिल जाता है। मुक्त किये गये चोर का पाप राजा के ऊपर तथा याचक का पाप दान देने की मिथ्या प्रतिज्ञा करने वाले के ऊपर चला जाता है ॥१५॥

अथ सप्तमः पटलः

नेमं लौकिकमर्थं पुरस्कृत्य धर्मांश्चरेत् ॥ १ ॥

इमं लौकिकं लोके विदितं ख्यातिलाभपूजात्मकम्, अर्थं प्रयोजनम्। पुरस्कृत्य अभिसन्धाय। धर्मान्न चरेत् ॥ १ ॥

अनु०—धर्म का आचरण केवल सांसारिक उद्देश्य से (यश, लाभ, सम्मान के लिए) ही नहीं करना चाहिए ॥ १ ॥

किं कारणम् ?

निष्फला ह्यभ्युदये भवन्ति ॥ २ ॥

हि यस्मादेवं क्रियमाणा धर्मा अभ्युदये फलकाले निष्फला भवन्ति।[1] लोकार्थं ह्यसौ धर्मं चरति, न कर्तव्यमिति श्रद्धया। न च श्रद्धया विना धर्मः फलं साधयति।[2] 'यो वै श्रद्धामनारभ्ये'ति श्रुतेः॥२२॥ किमत्रेदानीं दृष्टं फलंत्याज्यमेव ? नेत्याह—

अनु०—क्योंकि जब धर्म का आचरण इस ध्येय से किया जाता है तब वह फल देने के समय निष्फल हो जाता है ॥ २ ॥

तद्यथाऽऽम्रे फलार्थे[3] निमित्ते छाया गन्ध इत्यनूत्पद्येते, एवं धर्मं चर्यमाणमर्था अनूत्पद्यन्ते ॥ ३ ॥

तदिति वाक्योपन्यासे। फलार्थं ह्याम्रवृक्षो निर्मीयते आरोप्यते। तस्मिन् फलार्थे[4] निमित्ते छाया गन्धश्चाऽनूत्पद्यते। एवं धर्मं चर्यमाणमर्थाः ख्यात्यादयोऽनूत्पद्यन्ते अनुनिष्पद्यन्ते। तथैव स्वीकार्याः[5]। न चोद्देश्यतया। तथा चाह—

'यथेक्षुहेतोः सलिलं प्रसेचयंस्तृणानि वल्लीरपि च प्रसिञ्चति।
तथा नरो धर्मपथेन वर्तयन् यशश्च कामांश्च वसूनि चाऽश्नुते॥' इति ॥ ३ ॥

अनु०—जिस प्रकार फल के लिए आम का पेड़ लगाया जाता किन्तु उससे छाया और सुगन्धि भी प्राप्त होती है, इसी प्रकार धर्म का आचरण करने पर लौकिक फल भी गौण रूप से उत्पन्न होते हैं। (उन्हें गौण रूप में ही स्वीकार करना चाहिए, प्रमुख फल के रूप में नहीं) ॥ ३ ॥

---

१ लोकभक्त्या. इति. क० पु०

२. तै० सं० १. ६. ८ यो वै श्रद्धामनारभ्य यज्ञेन यजते नास्येष्टाय श्रद्दधते, इति श्रुतिः। अस्या अयमर्थः—

३. ४. निमिते इति. क० पु०   ५. नचोद्देश्यतया इति नास्ति क०

नो चेदनूत्पद्यन्ते न धर्महानिर्भवति ॥ ४ ॥

यद्यपि दैवादर्था नाऽनूत्पद्यन्ते तथापि धर्मस्तावद्भवति । स च स्वतन्त्रः पुरुषार्थः । किमन्यैरर्थैरिति ॥ ४ ॥

अनु०—यदि धर्मों के आचरण से लौकिक फल नहीं भी उत्पन्न होते तो भी धर्म की हानि नहीं होती। (अर्थात् धर्म का आचरण स्वयं धर्म के लिए करना चाहिए ॥ ४ ॥

अनसूयुर्दुष्प्रलम्भः स्यात् कुहकशठनास्तिकबालवादेषु ॥५॥

कुहकः प्रकाशे शुचिरेकान्ते यथेष्टचारी । शठः वक्रचित्तः । नास्तिकः 'प्रेत्यभावापवादी[1] । बालः श्रुतरहितः । एतेषां वादेषु अनसूयुः स्यात् । असूयया द्वेषो लक्ष्यते । द्वेष्टा न स्यात् । तान् विषयीकृत्य द्वेषमपि न कुर्यात् । तथा दुष्प्रलम्भश्च स्यात् । प्रलम्भनं विसंवादनं मिथ्याफलाख्यानम् ।[2] गृधिवञ्च्योः प्रलम्भन' इति दर्शनात् । दुष्प्रलम्भो विसंवादयितुं मिथ्याफलाख्यानेन प्रवर्तयितुमशक्यः । कुहकादिवादेषु वञ्चितो न स्यात् । तद्वशो स्यादित्यर्थः ॥५॥

अनु०—दुष्टों, शठों नास्तिक, वेदज्ञानहीन व्यक्तियों के वचनों से कुपित नहीं होना चाहिए और उनके धोखे में भी नहीं पड़ना चाहिए ॥ ५ ॥

वञ्चनस्य सम्भवमाह—

न धर्माधर्मौ चरत 'आवं स्व' इति, न देवगन्धर्वा न पितर इत्याचक्षते'ऽयं धर्मोऽयमधर्म, इति ॥ ६ ॥

आवमिति छान्दसं रूपम् । भाषायां तु[3] 'प्रथमायाश्च द्विवचने भाषाया'-मित्यात्वं प्राप्नोति । यदि हि धर्माधर्मौ विग्रहवन्तौ गोव्याघ्रवच्चरेतामावां स्व इति ब्रुवाणौ, यदि वा देवादयः प्रकृष्टज्ञाना ब्रूयुरिमौ धर्माधर्माविति ततः कुहकादिवादेषु न स्याद्वञ्चना । तदभावात्तु वञ्चनासम्भव इति । इदं चात्र द्रष्टव्यम्—प्रत्यक्षादेर्न गोचरौ धर्माधर्मौ । किन्तुनित्यनिर्दोषवेदगम्यौ । तदभावे तन्मूलधर्मशास्त्रगम्याविति ॥ ६ ॥

अनु०—धर्म-अधर्म स्वयं आकर इस प्रकार नहीं कहते कि हम यहाँ हैं (अर्थात् धर्म और अधर्म अपना परिचय स्वयं नहीं देते) । देवता, गन्धर्व और पितृगण भी यह नहीं बताते कि यह धर्म है और यह अधर्म । (इसलिए कपट आचरण करने वालों के

---

१. प्रेत्याभाववादी इति. क० पु० २. पा० सू० १. ३. ६९

३. पा० सू० ७. २. ८८

वचनों से सावधान रहना चाहिए) धर्म और अधर्म का स्वरूप प्रत्यक्ष आदि से नहीं जाना जाता, किन्तु वेद से ही जाना जा सकता है जो नित्य निर्दोष है ॥ ६ ॥

यत्र तु प्रायश्चित्तादौ विषयव्यवस्था दुष्करा तत्र निर्णयमाह—

यं त्वार्याः क्रियमाणं प्रशंसन्ति स धर्मो, यं गर्हन्ते सोऽधर्मः ॥ ७ ॥

आर्याः शिष्टास्त्रैवर्णिकाः । बहुवचनाच्चत्वारस्त्रयो वा । यथाऽऽह याज्ञवल्क्यः—

'चत्वारो वेदधर्मज्ञाः पर्षत्त्रैविद्यमेव वा ।
सा ब्रूते यं स धर्मस्स्यादेको वाऽध्यात्मवित्तमः ॥' इति ॥ ७ ॥

अनु०—जिस कार्य को आर्य लोग (तीन उच्च वर्णों के) उत्तम कहते हैं, वह धर्म है और जिस कार्य की निन्दा करते हैं वह अधर्म है ॥ ७ ॥

इदानीं श्रुतिस्मृत्योः प्रत्यक्षयोरदर्शने शिष्टाचारादप्यवगम्य धर्मः कार्य इत्याह—

सर्वजनपदेष्वेकान्तसमाहितमार्याणां वृत्तं सम्यग्विनीतानां वृद्धानामात्मवतामलोलुपानामदाम्भिकानां वृत्तसादृश्यं भजेत ॥ ८ ॥

सम्यग्विनीताः । आचार्याधीनः स्या' (२. १९.) दित्यादिना विनयनसम्पन्नाः । वृद्धाः परिणतवयसः । यौवने विषयवश्यताऽपि स्यादितीदमुक्तम् । आत्मवन्तो जितेन्द्रियाः । अलोलुपा अकृपणाः । अदाम्भिका अधर्मध्वजाः, एकान्तप्रकाशयोरेकवृत्ताः । एवंभूतानामार्याणां सर्वजनपदेषु यदेकान्तेनाऽव्यभिचारेण समाहितमनुमतं वृत्तमनुष्ठानम्, न मातुलसुतापरिणयनवत्कतिपयविषयम् , तद्वृत्तसादृश्यं भजेत । तदनुरूपं चेष्टेत । न तेषामनुष्ठानं निर्मूलम् । सम्भवति च वैदिकानामुत्सन्नपाठब्राह्मणानुभव इति ॥ ८ ॥

अनु०—अपना आचरण उसी आचरण के अनुरूप बनाना चाहिए जो सभी देशों में एकमत से निरन्तर विनयशील, वृद्ध, जितेन्द्रिय, लोभहीन, दम्भहीन आर्यों के द्वारा एकमत से स्वीकार किया गया हो ॥ ८ ॥

एवमुभौ लोकावभिजयति । ९ ॥

एवं श्रुतिस्मृतिसदाचारमूलमनुष्ठानं कुर्वन् उभौ लोकावभिजयति इमं चाऽमुं च ॥ ९ ॥

अनु०—इस प्रकार आचरण करके वह लोक और परलोक दोनों को प्राप्त करता है ॥ ९ ॥

अविहिता ब्राह्मणस्य वणिज्या ॥ १० ॥

---

१. या० स्मृ० १. ९

क्रयविक्रयव्यवहारो वणिज्या। सा स्वयं कृता ब्राह्मणस्य वृत्तिर्न विहिता प्राप्तानुवादोऽ[1]यमपवादविधानार्थः ॥ १० ॥

अनु०—ब्राह्मण के लिए वाणिज्य विहित नहीं है ॥ १० ॥

आपदि व्यवहरेत पण्यानामपण्यानि व्युदस्यन् ॥ ११ ॥

ब्राह्मणवृत्तेरभाव आपत्। तस्यां सत्याम्। पण्यानाम्। [2]'व्यवहृपणोः समर्थयो'रिति कर्मणि षष्ठी। व्यवहरेत। क्रयश्च विक्रयश्च व्यवहारः, पण्यानि क्रीणीयात् विक्रीणीत चेत्यर्थः। अपण्यानि वक्ष्यमाणानि व्युदस्यन् वर्जयन्। कृत्स्नाया वैश्यवृत्तेरुपलक्षणमिदम्। क्षत्रियवृत्तिश्च[3] दण्डापूपिकया सिद्धा। तथा च गौतमः—[4]"तदलाभे क्षत्रियवृत्तिस्तदलाभे वैश्यवृत्ति' रिति ॥ ११ ॥

अनु०—आपत्ति के समय में वह उन्हीं वस्तुओं का व्यापार कर सकता है जिनका विक्रय करना विहित है। किन्तु जिन वस्तुओं का क्रय विक्रय विहित नहीं है उनका व्यापार न करें ॥ ११ ॥

अपण्यान्याह—

मनुष्यान् रसान् रागान् गन्धानन्नं चर्म गवां वशां श्लेष्मोदके तोक्मकिण्वे पिप्पलीमरीचे धान्यं मांसमायुधं सुकृताशां च ॥ १२ ॥

मनुष्या दारदासादयः। रसा गुडलवणादयः, क्षीरादयो वा। रागाः कुसुम्भादयः रज्यन्तेऽनेनेति। रज्यन्त इति वा रागा वस्त्रादयः। गन्धाश्चन्दनादयः। गवां मध्ये वशा वन्ध्या गौः। श्लेष्म जतुवज्रादिः, येन विश्लिष्टं चर्मादि सन्धीयते। 'यथा [5]श्लेष्मणा चर्मण्यं वाऽन्यद्वा विश्लिष्टं संश्लेषये' दिति बह्वृचब्राह्मणे दर्शनात्। उदकं कुम्भजलम्। तोक्मं ईषदङ्कुरितानि व्रीह्यादीनि। किण्वं सुराप्रकृतिद्रव्यम्। सुकृतं पुण्यं तस्य फलं सुकृताशा। शिष्टानि प्रसिद्धानि। [6]एतान्यपण्यानि वर्जयित्वा अन्येषां पण्यानां व्यवहरेत। मनुष्यादीन्वर्जयित्वेत्येव सिद्धे 'अपण्यानी'ति वचनमन्येषामप्यपण्यानां व्युदासार्थम्। तत्र मनुः

---

१. नापदि विधानार्थः इति क० पु० २. पा० सू० २. ३. ५७

३. कश्चित् दण्डे प्रोतान् अपूपान् कस्यचित् निकटे निक्षिप्य बहिर्गत्वा पुनः प्रतिनिवृत्य तं पृष्ठवान् क्व मे दण्ड इति। तेनोक्तम् -मूषिकैर्भक्षित इति। तदा तेनाऽर्थापत्त्या कल्पितं यदा दण्डोऽपि मूषिकैर्भक्षितः तदा किमु वक्तव्यमपूपास्तैर्भक्षिता इति। अयं दण्डापूपिकान्यायः ॥

४. गौ० ध० ७. ६, ७ ५. ऐ० ब्रा० ५. पं० ३२ ख०

६. आपणीयानि इति क० पु०

'सर्वान् रसानपोहेत कृतान्नं च तिलैस्सह ।
अश्मनो लवणं चैव पशवो ये च मानुषाः ॥
सर्वं च तान्तवं रक्तं शाणक्षौमाविकानि च ।
अपि चेत्स्युररक्तानि फलमूले तथौषधीः ॥
अपः शस्त्रं विषं मांसं सोमं गन्धांश्च सर्वशः ।
क्षीरं क्षौद्रं दधि घृतं तैलं मधु गुडं कुशान् ॥
आरण्यांश्च पशून् सर्वान् दंष्ट्रिणश्च वयांसि च ।
मद्यं नीलीं च लाक्षां च सर्वांश्चैकशफान् पशून्॥'

इति ॥ १२ ॥

अनु०--मनुष्य (अर्थात् दास-दासी), रस (जैसे गुड़, नमक, दूध), रंग, सुगन्धि (चन्दन इत्यादि), अन्न, चमड़ा (वन्ध्या) गौ, लाख, जल, हरा (अर्थात् बिना पका) अन्न, सुरा की तरह के पदार्थ और पीपर, मरिच, अनाज, मांस, हथियार और अपने पुण्यफल नहीं बेचना चाहिए ॥ १२ ॥

तिलतण्डुलांस्त्वेव धान्यस्य विशेषेण न विक्रीणीयात् ॥ १३ ॥

धान्यानां मध्ये तिलतण्डुलानेव विशेषतोऽतिशयेन न विक्रीणीयात् न विक्रीणीत । अन्येषां विकल्पः । स्वयमुत्पादितेषु नाऽयं प्रतिषेधः । मानवे हि श्रुतम्[2]—

'काममुत्पाद्य कृष्यां तु स्वयमेव कृषीवलः ।
विक्रीणीत तिलाञ्छुद्धान् धर्मार्थमचिरस्थितान् ॥' इति ॥ १३ ॥

अनु०—विशेष रूप से तिल और चावल का तो क्रय-विक्रय न करें ।

टि०—हरदत्त व्याख्या में यह स्पष्ट किया है कि स्वयं उगाये गये तिल और चावल के विषय में प्रतिषेध का नियम नहीं है ॥ १३ ॥

अविहितश्चैतेषां मिथो विनिमयः ॥ १४ ॥

विनिमयः परिवर्तनम् । येषां विक्रयःप्र तिषिद्धः तेषां परस्परेण विनिमयोऽप्यविहितः प्रतिषिद्धः, न कर्तव्य इत्यर्थः ॥ १४ ॥

अनु०—इनमें भी किसी एक का दूसरे के साथ विनिमय भी नहीं करना चाहिए ॥ १४ ॥

तेष्वेव केषां चिद्विनिमयोऽनुज्ञायते—

अन्नेन चाऽन्नस्य मनुष्याणां च मनुष्यै रसानां च रसैर्गन्धानां च गन्धैर्विद्यया च विद्यानाम् ॥ १५ ॥

---

१. म० स्मृ० १०. ८६, ८९   २. म० स्मृ० १०.९०

अन्नादीनां विद्यान्तानां विनिमयो भवत्येवेत्यर्थः। तथा च वसिष्ठः[1]—'रसा रसैस्समतो हीनतो वा ......। तिलतण्डुलपक्वान्नं विद्यामनुष्याश्च विहिताः परिवर्तनेन' इति। मानवे तु विशेषः—

[2]रसा रसैर्निमातव्या न त्वेव लवणं रसः।

कृतान्नं चाऽकृतान्नेन तिला धान्येन तत्समाः ॥' इति।

गौतमीये तु—[3]विनिमयस्तु। रसानां रसैः। पशूनां च। न लवणकृतान्नयोः। तिलानां च। समेनाऽऽमेन तु पक्वस्य सम्प्रत्यर्थ' इति। तस्मादत्र प्रतिषेधानुवृत्तिर्न शङ्कनीया। पूर्वत्र चोक्तं 'ब्राह्मणि मिथो विनियोगे न गतिर्विद्यत' (१३.१७) इति। [4]'विनिमयाभ्यनुज्ञानादेव विद्यादीनां विक्रयोऽपि प्रतिषिद्धो वेदितव्यः ॥ १५ ॥

अनु०—किन्तु अन्न से अन्न का, मनुष्यों से मनुष्यों का रसों से रसों का, गन्धों से गन्धों का तथा विद्या से विद्या का विनिमय किया जा सकता है ॥ १५ ॥

अक्रीतपण्यैर्व्यवहरेत ॥१६॥

॥ इत्यापस्तम्बधर्मसूत्रवृत्तौ विंशतितमी कण्डिका ॥ २० ॥

अक्रीतानि स्वयमुत्पादितानि अरण्यादाहृतानि वा यानि पण्यानि तैर्व्यवहरेत मुञ्जादिभिः ॥ १६ ॥

अनु०—जिन विहित वस्तुओं को खरीदा न गया हो उनका विक्रय किया जा सकता है ॥ १६ ॥

मुञ्जबल्बजैर्मूलफलैः ॥ १ ॥

मुञ्जबल्बजास्तृणविशेषाः ॥ १ ॥

अनु०–(स्वयं उत्पादित) मूँज, बल्वज घास, मूल और फल का विक्रय कर सकता है ॥ १ ॥

तृणकाष्ठैरविकृतैः ॥ २ ॥

तृणानां विकारो रज्ज्वादिभावः। काष्ठानां विकारः स्थूणादिभावः। तृणत्वादेव सिद्धे मुञ्जबल्बजग्रहणं विकारार्थम् ॥ २ ॥

अनु०—अन्य प्रकार के भी तृणों और काठ का, जिनसे काँट-छाँट कर कोई उपयोगी वस्तु न बनायी गयी हो, विक्रय कर सकता है ॥ २ ॥

---

१. व० ध० २-३२—३९ २. म० स्मृ० १०. ९४
३. गौ० ध० ७. १६—२१ ४. नियमाभ्य. इति क० पु०

नाऽत्यन्तमन्ववस्येत् ॥ ३ ॥

प्रतिषिद्धानामपि विक्रयविनिमयाभ्यां जीवेत् । न पुनरत्यन्तमन्ववस्येत् अवसीदेत् । तथा च गौतमः[1] 'सर्वथा तु वृत्तिरशक्तावशौद्रेण । तदप्येके प्राणसंशय' इति । मनुरपि—

[2]'जीवितात्ययमापन्नो योऽन्नमत्ति यतस्ततः ।
आकाशमिव पङ्केन न स दोषेण लिप्यते' ॥ इति ॥ ३ ॥

अनु०—किन्तु इस प्रकार के जीवन में बहुत रुचि न रखे ॥ ३ ॥

वृत्तिं प्राप्य विरमेत् ॥ ४ ॥

गतम् ॥ ४ ॥

अनु०—अपने योग्य जीवनवृत्ति सुलभ होते ही इस प्रकार के व्यापार का परित्याग कर दे ॥ ४ ॥

न पतितैस्संव्यवहारो विद्यते ॥ ५ ॥

पतिताः स्तेनादयो वक्ष्यमाणास्तैः सह न कश्चिदपि व्यवहारः कर्तव्यः । तत्र मनुः—[3]

संवत्सरेण पतति पतितेन सहाऽऽचरन् ।
याजनाध्यापनाद्यौनान्न तु यानासनाशनात् ॥' इति ।

यानादिभिस्संवत्सरेण पतति । याजनादिभिस्तु सद्य एव ॥ ५ ॥

अनु०—पतितों के साथ किसी भी प्रकार का व्यवहार नहीं करना चाहिए ॥५॥

तथाऽपपात्रैः ॥ ६ ॥

अपपात्राश्चण्डालादयः । तैश्च संव्यवहारो न कर्त्तव्यः ॥ ६ ॥

अनु०—(चण्डाल आदि) अयोग्य पात्रों के साथ भी व्यवहार न करे ॥ ६ ॥

अथ पतनीयानि ॥ ७ ॥

द्विजातिकर्मभ्यो हानिः पतनं, तस्य निमित्तानि कर्माणि वक्ष्यन्ते ॥ ७ ॥

अनु०—अब पतनीय कर्मों का उल्लेख किया जाता है ॥ ७ ॥

स्तेयमाभिशस्त्यं पुरुषवधो ब्रह्मोज्झं गर्भशातनं मातुः पितुरिति योनिसम्बन्धे सहापत्ये स्त्रीगमनं सुरापानमसंयोगसंयोगः ॥ ८ ॥

---

१. गौ० ध० ७. २२, २३ २. म० स्मृ० १०-१०४
३. म० स्मृ० ११. १८०

स्तेयं सुवर्णचौर्यम्। आभिशस्त्यं ब्रह्महत्या। 'ब्राह्मणमात्रं च हत्वाभिशस्त' (२४.७.) इति वक्ष्यमाणत्वात्। पुरुषवधो मनुष्यजातिवधः। तेन स्त्रीवधोऽपि गृह्यते। ब्रह्मोज्झं उज्झ उत्सर्गे। भावे घञ्। छान्दसो लिङ्गव्यत्ययः। ब्रह्म वेदः तस्याऽधीतस्य नाशनं ब्रह्मोज्झम्। औषधादिप्रयोगेण गर्भस्य वधो गर्भशातनम्। मातुर्योनिसम्बन्धे मातृष्वस्रादौ। पितुर्योनिसम्बन्धे पितृष्वस्रादौ सहापत्ये अपत्येन सहिते स्त्रीगमनं मातृष्वसृगमनं तत्सुतागमनं मातुलसुतागमनं चेत्यर्थः।

[1]गौडी पैष्टी च माध्वी च विज्ञेया त्रिविधा सुरा।
यथैवैका न पातव्या तथा सर्वा द्विजोत्तमैः॥

इति मानवे निषिद्धायाः सुरायाः, पानं सुरापानम्। असंयोगाः संयोगानर्हाः प्रतिलोमादयः। तैः संयोग एकगृहवासादिः असंयोगसंयोगः। एतानि पतनीयानि॥ ८॥

अनु—सुवर्ण की चोरी, ब्राह्मण की हत्या, पुरुष का वध, वेदाध्ययन का त्याग, गर्भ की हत्या, माता और पिता के योनिसंबन्ध वाली स्त्रियों (माता की बहन, पिता की बहन) तथा उनकी पुत्रियों (मौसी की पुत्री, मामा की पुत्री, बुआ की पुत्री, चाचा की पुत्री) के साथ मैथुन, सुरापान तथा उन लोगों के साथ संयोग' जिनसे संयोग करना निषिद्ध है—ये सभी पतन कराने वाले दुराचरण हैं॥ ८॥

गुर्वीसखिं गुरुसखिं च गत्वाऽन्यांश्च परतल्पान्॥ ९॥

सखीशब्दस्य छान्दसो ह्रस्वः। गुर्वीसखी मात्रादीनां सखी। गुरुसखी पित्रादिनां सखी तां गत्वा। किम्? पततीत्युत्तरत्र श्रुतमपेक्ष्यते। अन्यांश्च परतल्पान् गत्वा पतति। तल्पशब्देन शयनवाचिना दारा लक्ष्यन्ते॥ ९॥

अनु०—माता, (बड़ी बहन आदि), श्रेष्ठ स्त्रियों की सखियों तथा पिता आदि की प्रिय स्त्रियों अथवा दूसरे व्यक्ति की विवाहिता पत्नी के साथ मैथुन पतन का कारण होता है॥ ९॥

नाऽगुरुतल्पे पततीत्येके॥ १०॥

गुरुदारव्यतिरेकेण परतल्पगमने पातित्यं नास्तीत्येके मन्यन्ते। यद्यपि सामान्येन पतनीयानीत्युक्तम्, प्रायश्चित्ते तु गुरुलघुभावो द्रष्टव्यः॥ १०॥

अनु०—कुछ आचार्यों का मत है कि गुरु पत्नियों के अतिरिक्त अन्य विवाहिता स्त्रियों से मैथुन पतन का कारण नहीं होता॥ १०॥

---

१. म० स्मृ० ११. ९४

अधर्माणां तु सततमाचारः ॥ ११ ॥

तुश्चार्थे । उक्तव्यतिरिक्तानामप्यधर्माणां सततमाचारः पतनहेतुः ॥ ११ ॥

अनु०–इनके अतिरिक्त अन्य अधर्मों का निरन्तर आचरण भी पतन का कारण होता है ॥ ११ ॥

अथाऽशुचिकराणि ॥ १२ ॥

अशुचिं पुरुषं कुर्वन्तीत्यशुचिकराणि, तानि वक्ष्यन्ते ॥ १२ ॥

अनु०—अब मनुष्य को अपवित्र बनाने वाले कर्मों का उल्लेख किया जाता है ॥ १२ ॥

शूद्रगमनमार्यस्त्रीणाम् ॥ १३ ॥

त्रैवर्णिकस्त्रीणां शूद्रगमनमशुचिकरम् ॥ १३ ॥

अनु०—तीन उच्च वर्णों की स्त्रियों का शूद्रों के साथ यौन संबन्ध अपवित्रता का कारण होता है ॥ १३ ॥

प्रतिषिद्धानां मांसभक्षणम् ॥ १४ ॥

येषां मांसं प्रतिषिद्धं तेषां मांसस्य भक्षणमशुचिकरम् ॥ १४ ॥

अनु०—जिनके मांस का भक्षण निषिद्ध है उनके मांस का भक्षण अशुचिकर होता है ॥ १४ ॥

तत्रोदाहरणम्—

शुनो मनुष्यस्य च कुक्कुटसूकराणां ग्राम्याणां क्रव्यादसाम् ॥ १५ ॥

ग्राम्याणा'मिति वचनादारण्यानामप्रतिषेधः । अदनमदः, भावेऽसुन्प्रत्ययः । क्रव्यविषयमदनं येषां ते क्रव्यादसः केवलं मांसवृत्तयो गृध्रादयः ॥ १५ ॥

अनु—कुत्ते का, मनुष्य का, गाँव के मुर्गों, सूअरों और शवभक्षी पशु पक्षियों का मांसभक्षण अशुचिकर होता है ॥ १५ ॥

मनुष्याणां मूत्रपुरीषप्राशनम् ॥ १६ ॥

मूत्रपुरीषग्रहणं तादृशस्य रेतसोऽप्युपलक्षणम् ॥ १६ ॥

अनु०—मनुष्य के मल-मूत्र को खाना अशुचिकर होता है ॥ १६ ॥

शूद्रोच्छिष्टमपपात्रगमनं चाऽऽर्याणाम् ॥ १७ ॥

शूद्रोच्छिष्टं भुक्तमार्याणां त्रैवर्णिकानामशुचिकरम् । अपपात्राः प्रतिलोमस्त्रियः तासां च गमनम् ॥ १७ ॥

अनु०—शूद्र का उच्छिष्ट खाना, आर्यों का अपपात्र स्त्रियों से मैथुन अशुचि का कारण होता है।

टिप्पणी—हरदत्त ने अपपात्र से प्रतिलोम स्त्रियों का अर्थ ग्रहण किया है। अपपात्र से चाण्डाल आदि का भी अर्थ है॥ १७॥

एतान्यपि पतनीयानीत्येके॥ १८॥

यान्येतान्यशुचिकरत्वेनाऽनुक्रान्तानि एतान्यपि पतनीयान्येवेत्येके मन्यन्ते॥ १८॥

अनु०—कुछ धर्मज्ञ इन कर्मों को भी पतनीय आचरण मानते हैं॥ १८॥

अतोऽन्यानि दोषवन्त्यशुचिकराणि भवन्ति॥ १९॥

उक्तव्यतिरिक्तानि दोषवन्ति कर्माणि दुष्प्रतिग्रहहिंसादीनि तान्यशुचिकराणि भवन्ति॥ १९॥

अनु०—इनके अतिरिक्त दूसरे भी दोष उत्पन्न करने वाले कर्म होते हैं॥ १९॥

दोषं बुध्वा न पूर्वः परेभ्यः पतितस्य समाख्याने स्याद्वर्जयेत्त्वेनं धर्मेषु॥ २०॥

पतितस्य दोषं परैरविदितं बुध्वा परस्य समाख्याने पूर्वो न स्यात्। परैरविदितं स्वयं विद्वानपि न परेभ्यः पूर्वमाचक्षीत। किं तु स्वयं धर्मकृत्येष्वेनं वर्जयेत्, यथा परे न जानन्ति। अन्यथा दोषवान् स्यात्॥ २०॥

इत्यपस्तम्बधर्मसूत्रवृत्तावेकविंशी कण्डिका॥ २१॥

इति चापस्तम्बधर्मसूत्रवृत्तौ हरदत्तमिश्रविरचितायामुज्ज्वलायां प्रथमप्रश्ने सप्तमः पटलः॥ ७॥

अनु०—किसी पतित व्यक्ति के दोष को जानकर सबसे पहले दूसरों को उसके पतित होने की बात न कहे। किन्तु धार्मिक कार्यों को करते समय उस व्यक्ति का परिवर्जन करे (उसे किसी कार्य में नियुक्त न करे और स्वयं भी उसके साथ कोई व्यवहार न करे)॥ २०॥

अथाऽष्टमः पटलः

(अध्यात्मपटलः)

अध्यात्मिकान योगाननुतिष्ठेन्न्यायसंहितानैश्चारिकान् ॥ १ ॥

अनु०—उपपत्ति से युक्त, इन्द्रियों के विषयों के बहिर्विक्षेप को रोकने वाले आध्यात्मिक योग के साधनों का अनुष्ठान करे ॥ १ ॥

टिप्पणी—योग से तात्पर्य है चित्त के समाधान के हेतु। क्रोध आदि दोषों के समाप्त होने पर उन हेतुओं की उत्पत्ति होती है अतः उन्हे न्यायसंहित अर्थात् उपपत्तिसमन्वित कहा गया है। चित्त के बाहर विषयों पर भटकने को निश्चार कहते हैं, इस चित्तविक्षेप से उत्पन्न क्रोध आदि को नैश्चारिक कहते हैं। उनसे शून्य योग के साधन का ही अनुष्ठान विहित है। इस पटल पर हरदत्त ने शंकराचार्य का विवरण भाष्य उद्धृत किया है ॥ १ ॥

श्रीमच्छङ्करभगवत्पादप्रणीतं विवरणम्

अथ 'अध्यात्मिकान् योगान्'—इत्याद्यध्यात्मपटलस्य संक्षेपतो विवरणं प्रस्तूयते। किमिह प्रायश्चित्तप्रकरणे समाम्नानस्य प्रयोजनमिति। उच्यते—कर्मक्षयहेतुत्वसामान्यात्। अनिष्टकर्मक्षयहेतूनि हि प्रायश्चित्तानि भवन्ति। सर्वं च कर्म वर्णाश्रमविहितमनिष्टमेव विवेकिनः, देहग्रहणहेतुत्वात्। तत्क्षयकारणं चाऽऽत्मज्ञानम्, प्रवृत्तिहेतुदोषनिवर्तकत्वात्। दोषाणां च निर्घाते आत्मज्ञानवतः पण्डितस्य धर्माधर्मक्षये क्षेमप्राप्तिरिह विवक्षितेत्यात्मज्ञानार्थमध्यात्म[1]पटलमारभ्यते, कर्मक्षयहेतुत्वसामान्यात्।

ननु वर्णाश्रमविहितानां कर्मणामफलहेतुत्वात् तत्क्षयो नेष्ट इति, न, "सर्ववर्णानां स्वधर्मानुष्ठाने परमपरिमितं सुखम्" (२. २. २) इत्यादिश्रवणात्। अपरिमितवचनात् क्षेमप्राप्तिरेवेति चेन्न, 'तत्परिवृत्तौ कर्मफलशेषेण' (२. २. ३) इत्यादिश्रवणात्। गौतमश्च—

---

१. अत्र पटलशब्दो नपुंसकलिंगः प्रयुक्तः। 'समूहे पटलं न ना' (अमरको० ३. ३. २००) इत्यमरकोशात्तु समूहवाचिनः पटलशब्दस्यैव क्लीबत्वम्। 'तिलके च परिच्छेदपटलः' इति शेषकोशात् परिच्छेदवाचकस्य पटलशब्दस्य तु पुंल्लिंगतैवेत्यवगम्यते। अत एव च सर्वे ग्रन्थकाराः 'इति प्रथमः पटलः, इत्येव लिखन्ति। अतोऽत्रापि पुंल्लिंगेनैव भाव्यं यद्यपि पटलशब्देन तथापि भेदाविवक्षया प्रयोगः कृत इति भाति॥

"वर्णा आश्रमाश्च स्वकर्मनिष्ठाः प्रेत्य कर्मफलमनुभूय" इत्यादिना संसारगमनमेव दर्शयति कर्मणां फलम्। सर्वाश्रमाणां हि दोषनिर्घातलक्षणानि समयपदानि विधिनाऽनुतिष्ठन् सार्वगामी भवति, न तु स्वधर्मानुष्ठानात्। वक्ष्यति च—

'विधूय कविः' (२२. ५) 'सत्यानृते सुखदुःखे वेदानिमं लोकममुं च परित्यज्याऽत्मानमन्विच्छेद्" (२. २१. १३) इत्यादि।

"तेषु सर्वेषु यथोपदेशमव्यग्रो वर्तमानः क्षेमं गच्छति" (२. २१. २.) इति वचनात् क्षेमशब्दस्य चाऽपवर्गार्थत्वात् सर्वाश्रमकर्मणां ज्ञानरहितानामेव फलार्थत्वं, ज्ञानसंयुक्तानि तु क्षेमप्रापकाणि,यथा विषदध्यादीनि मन्त्रशर्करादिसंयुक्तानि कार्यान्तरारम्भकाणि, तद्वदिति चेत्—न; अनारभ्यत्वात् क्षेमप्राप्तेः। यदि हि क्षेमप्राप्तिः कार्या स्यात् तत इदं चिन्त्यम्—किं केवलैः कर्मभिरारभ्या? ज्ञानसहितैर्वा?ज्ञानकर्मभ्यां वा? केवलेन ज्ञानेन कर्मासंयुक्तेन वेति। न त्वारभ्या केनचिदपि; क्षेमप्राप्तेः नित्यत्वात्। अतोऽसदिदम्—ज्ञानसंयुक्तानि कर्माणि क्षेमप्राप्तिमारभन्ते इति। ज्ञानसंयुक्तानां ज्ञानवदेव क्षेमप्राप्तिप्रतिबन्धापनयकर्तृत्वमिति चेत्—न, सकार्यकारणानामेव कर्मणां क्षेमप्राप्तिप्रतिबन्धकत्वात्। अविद्यादोषहेतूनि हि सर्वकर्माणि सहफलैः कार्यभूतैः क्षेमप्राप्तिप्रतिबन्धकानि। तदभावमात्रमेव हि क्षेमप्राप्तिः। न च तदभाव आत्मज्ञानादन्यतः कुतश्चिदुपलभ्यते। तथाह्युक्तम्—

"निर्हृत्य भूतदाहान् क्षेमं गच्छति पण्डितः" (२२.११.) इति। पाण्डित्यं चेहात्मज्ञानं, प्रकृतत्वात्। श्रुतेश्च[१] "आनन्दं ब्राह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चनेति" इति। अभयं हि क्षेमप्राप्तिः। [३]'अभयं वै जनक! प्राप्तोऽसि' इति श्रुत्यन्तरात्।

"तेषु सर्वेषु यथोपदेशमव्यग्रो वर्तमानः क्षेमं गच्छति" (२.२१.२.) इत्याचार्यवचनमन्यार्थम्। कथम्? यथोपदिष्टेष्वाश्रमधर्मेष्वव्यग्रो निष्कामस्सन् प्रवर्तमानो ज्ञानेऽधिकृतो भवति, न यथेष्टं[४] चेष्टन् कामकामी जायापुत्रवित्तादिकामापहृतव्यग्रचेताः। ज्ञानी च सन् सर्वसन्न्यासक्रमेण क्षेमं गच्छतीत्येषोऽर्थः। न हि दोषनिर्घातः कदाचिदपि कर्मभ्य उपपद्यते। समिथ्याज्ञानानां

---

१. गौ० ध० ११. २९

२. तैत्ति० उ० २. ९ ३. बृ० उ० ४. २. ४

४. 'चेष्टन्' इति शत्रन्तः प्रयोगस्साधुरिति न प्रतीमः।

हि दोषाणां प्रवृत्तौ सत्यां प्राबल्यमिहोपलभ्यते। 'सङ्कल्पमूलः कामः' इति च स्मृतेः। प्रवृत्तिमान्द्ये च' दोषतनुत्वदर्शनात्। न चाऽनिर्हृत्य समिथ्याज्ञानान् दोषान् क्षेमं प्राप्नोति कश्चित्। न च जन्मान्तरसञ्चितानां शुभकर्मणां विहितकर्मभ्यो निवृत्तिरुपपद्यते, शुद्धिसामान्ये विरोधाभावात्। सत्सु च तेषु तत्फलोपभोगाय शरीरग्रहणं; ततो धर्माधर्मप्रवृत्तरागद्वेषौ, पुनः शरीरग्रहणं चेति संसारः केन वार्यते ? तस्मान्न कर्मभ्यः क्षेमप्राप्तिस्तत्प्रतिबन्धनिवृत्तिर्वा।

कर्मसहिताज्ज्ञानादविद्यानिवृत्तिरिति चेत्! यद्यपि ज्ञानकर्मणोर्भिन्नकार्यत्वाद् विरोधः तथापि तैलवर्त्यग्नीनामिव संहत्य कर्मणा ज्ञानमविद्यादि संसारकारणं निवर्तयतीति चेन्न। क्रियाकारकफलापनुमर्दनाऽऽत्मलाभाभावात् ज्ञानस्य कर्मभिः संहतत्वानुपपत्तेः। तैलवर्त्यग्नीनां तु सहभावित्वोपपत्तेरितरेतरोपकार्योपकारकत्वोपपत्तेश्च संहतत्वं स्यात्। न तु ज्ञानकर्मणोस्तदुभयानुपपत्तेः संहतत्वं कदाचिदपि सम्भवति। केवलज्ञानपक्षे शास्त्रप्रतिषेधवचनादयुक्तमिति चेन्न। ज्ञानकार्यानिवर्तकत्वाच्छास्त्रप्रतिषेधवचनस्य।

योऽयं कर्मविधिपरैः केवलज्ञानपक्षस्य सर्वसंन्यासस्य विप्रतिषेधो विरोधः, स नैव ज्ञानकार्यमविद्यादोषक्षयं वारयति [1]"भिद्यते हृदयग्रन्थिः' [2]'तस्य तावदेव चिरम्'[3]'मृत्युमुखात् प्रमुच्यते' इत्येवमादिश्रुतिस्मृतिशतसिद्धम्, कर्मविधिपरत्वात् प्रवृत्तिशास्त्रस्य। न च (तत्) ज्ञानस्वरूपं ब्रह्मात्मैकत्वविषयं वारयति, सर्वोपनिषदामप्रामाण्यानर्थक्यप्रसङ्गात्, 'पूः प्राणिनः' (२२.४.) 'आत्मा वै देवता' इत्यादिस्मृतीनां च। तस्माद्यद्यपि बहुभिः प्रवृत्तिशास्त्रैर्विप्रतिषिद्धं केवलज्ञानशास्त्रमात्मैकत्वविषयमल्पं, तथापि सकार्यस्य ज्ञानस्य बलवत्तरत्वान्न केनिद्वारयितुं शक्यम्।

जीवतो दुःखानितर्कत्वाज्ज्ञानस्याऽनैकान्तिकं क्षेमप्रापकत्वमिति चेत्, न, 'भिद्यते हृदयग्रन्थिः' 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्, 'निचाय्य तं मृत्युमुखात् प्रमुच्यते' [4]'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' इत्यादिश्रुतिस्मृतिन्यायेभ्यः। बहुभिर्विप्रतिषिद्धत्वात् सर्वत्यागशास्त्रस्य लोकवत् त्याज्यत्वमिति चेन्न, तुल्यप्रमाणत्वात्। मानसान्तानि सर्वाणि कर्माण्युक्त्वा। [5]"तानि वा एतान्यवराणि तपांसि न्यास एवात्यरेचयत्" इति तपःशब्दवाच्यानां कर्मणामवरत्वेन संसराविषय-

---

१. मु० उ० २. २. ८ २. छा० उ० ६. १४. २ ३. कठो० २.३. १५
४. मुण्ड० उ० ३. २. ९ ५. नारा० उ० ७८

त्वमुक्त्वा न्यासशब्दवाच्यस्य ज्ञानस्य केवलस्य 'न्यास एवात्यरेचयत्' [1]"त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः' इत्यमृतत्वफलं दर्शयति शास्त्रम् ।

[2]"तस्यैवं विदुषो यज्ञस्याऽऽत्मा यजमानः" इत्यादिना च विदुषः सर्वक (र्म?र्मा) भावं दर्शयति;

"द्वौ पन्थानावनुनिष्क्रान्ततरौ कर्मपथश्चैव पुरस्तात् सन्न्यासश्च, तयोः सन्न्यास एवातिरेचयति"

इति च। विप्रतिषेधवचनस्य निन्दापरत्वादयुक्तमिति चेन्न अविद्वद्विषयस्य कर्मणः स्तुत्यर्थत्वोपपत्तेः। मन्दबुद्धयो हि लोकेऽदृष्टप्रयोजनाः प्ररोचनेन प्रवर्तयितव्याः कर्मसु। न दृष्टप्रयोजना विद्वांसः। परनिन्दा हि परस्तुतिरिति केवलज्ञाननिन्दया कर्मस्तुतिपरमाचार्यवचनम्।

यत्तु "बुद्धे चेत् क्षेमप्रापणम्, इहैव न दुःखमुपलभेत" (२.१.१६) इति ज्ञानस्य साधनत्वानैकान्तिकवचनं, तद् [3]'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' इत्यादिवाक्येभ्यः प्रत्युक्तम्; आचार्यान्तरवचनाच्च 'त्यज धर्ममधर्मं च' 'न तत्र क्रमते बुद्धिः' 'नैष्कर्म्यमाचरेत्' 'तस्मात् कर्म न कुर्वन्ति' इत्यादेः। तस्मात् केवलादेव ज्ञानात् क्षेमप्राप्तिः ॥

अध्यात्मिकान् योगानिति। अध्यात्मं भवन्तीत्यध्यात्मिकाः। छान्दसं ह्रस्वत्वम्। के ते अध्यात्मिका योगाः? वक्ष्यमाणा अक्रोधादयः। ते हि चित्तसमाधानहेतुत्वाद् योगाः। बाह्यनिमित्तनिरपेक्षत्वाच्चाध्यात्मिकाः। तानध्यात्मिकान् योगान्। न्यायसंहितान् उपपत्तिसमन्वितान्। ते हि क्रोधादिषु दोषनिर्घातं प्रति समर्था उपपद्यन्ते न्यायतः। अनैश्चारिकान् निश्चारयन्ति मनोऽन्तःस्थं बहिर्विषयेभ्य इति नैश्चारिकाः क्रोधादयो दोषाः, तत्प्रतिपक्षभूता ह्येतेऽनैश्चारिकाः। अक्रोधादिषु हि सत्सु चित्तमनिश्चरणस्वरूपं प्रसन्नमात्मावलम्बनं तिष्ठति। अतस्ताननुतिष्ठेत् सेवेत। अक्रोधादिलक्षणं चित्तसमाधानं कुर्यादित्यर्थः। तथा हि परः स्व आत्मा लभ्यते। क्रोधादिदोषापहृतचेतस्तया हि स्वोऽपि पर आत्माऽविज्ञातोऽलब्ध इव सर्वस्य यतः, अतस्तल्लाभाय योगानुष्ठानं कुर्यात् ॥ १ ॥

उज्ज्वला

उक्तानि पतनीयान्यशुचिकराणि च कर्माणि। तेषां प्रायश्चित्तानि वक्ष्यन्नादित आत्मज्ञानं तदुपयोगिनश्च योगानधिकुरुते। तस्यापि सर्वपापहरत्वेन मुख्यप्रायश्चित्तत्वात्। श्रूयते हि—

१. नारा० उ० ३ २. नारा० उ० ८०

३. तै. उ २. १.

'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥'[1] इति।

'[2]तद्यथेषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवं हाऽस्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्त' इति च। याज्ञवल्क्योऽप्याह—

'[3]इज्याचारदमाहिंसादानस्वाध्यायकर्मणाम्।
अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनाऽऽत्मदर्शनम् ॥' इति।

अध्यात्मनि भवानध्यात्मिकान्। छान्दसो वृद्ध्यभावः। आत्मनो लम्भयितॄन्। योगान् चित्तसमाधानहेतून् वक्ष्यमाणानक्रोधादीनुपायान्। अनुतिष्ठेत् सेवेत न्यायसंहितान् उपपत्तिसमान्वितान्, उपपद्यन्ते हि ते न्यायतः क्रोधादीनां दोषाणां निवृत्ते। अनैश्चारिकान् निश्चारश्चित्तस्य बहिर्विक्षेपः, तस्मै ये प्रभवन्ति क्रोधादयो वक्ष्यमाणाः ते नैश्चारिकाः तत्प्रतिपक्षभूतान्। अक्रोधादिषु सत्सु चित्तमनिश्चरणशीलमात्मालम्बनं निश्चलं तिष्ठति तस्मात्ताननुतिष्ठेत्। आत्मानं लब्धुमक्रोधादिलक्षणं चित्तसमाधानं कुर्यादिति ॥ १ ॥

विवरणम्

पुत्रवित्तादिलाभो हि परो दृष्टो लोके। किमात्मलाभेन? इत्यत आह—

आत्मलाभान्न परं विद्यते ॥ २ ॥

अनु०—आत्मा के ज्ञान के लाभ से बढ़कर कोई अन्य लाभ नहीं है ॥ २ ॥

आत्मलाभाद् आत्मनः परस्य स्वरूपप्रतिपत्तेः न परं लाभान्तरं विद्यते। तथा विचारितं बृहदारण्यके[4] 'तदेतत् प्रेयः पुत्राद्' इत्यादिना ॥ २ ॥

उज्ज्वला

किंपुनरात्मा प्रयत्नेन लब्धव्यः? ओमित्याह—

आत्मलाभात्परमुत्कृष्टं लाभान्तरं नास्ति। तस्मात्तस्य लाभाय यत्न आस्थेय इति। कः पुनरसावात्मा? प्रत्यगात्मा। नन्वसौ नित्यलब्धः। न हि स्वयमेव स्वस्याऽलब्धो भवति। सत्यम्, प्रकृतिमेलनात्तद्धर्मतामुपगतो विनष्टस्वरूप इव भवति। प्रकृत्या हि नित्यसम्बद्धः पुरुषः। तथाविधश्च सम्बन्धो यथा परस्परं विवेको न ज्ञायते। अन्योन्यधर्मांश्चान्योऽन्यत्राऽध्यस्यन्ते। यथा क्षीरोदके सम्पृक्ते न ज्ञायते विवेकः—इयत् क्षीरमियदुदकमिति, अमुष्मिन्नवकाशे क्षीरममुष्मिन्नवकाश उदकमिति। यथा वा अग्न्ययोगोलकयोरभिसम्बद्धयोर्ये अग्नि धर्मा उष्णत्वभास्वरत्वादयः ते अयोगोलकेऽध्यस्यन्ते। ये वा अयोगोलकधर्माः काठिन्यदैर्घ्यादयः तेऽग्नावध्यस्यन्ते एवं हि तत्र प्रतिपत्तिः एकं वस्तु उष्णं दीर्घ

---

१. मुण्डकोप० २. २. ८ २. छा० उ० ५. २४. ३
३. या० स्मृ० १. ८. ४. बृह० उ० १. ४. ८

भास्वरं कठिनमिति। तद्वदिहापि पुरुषधर्माश्चैतन्यादयः प्रकृतावध्यस्यन्ते। प्रकृतिधर्माश्च सुखदुःखमोहपरिणामादयः पुरुषे। ततश्च एकं वस्तु चेतनं सुखादिकलिलं परिणामीति व्यवहारः।

वस्तुतस्तु तस्मिन् सङ्घाते अचेतनांशः परिणामी। चेतनांशस्तु तमनुधावति। येन येन रूपेण परिणमति तेन तेनाऽभेदाध्यासमापद्यते। यथा क्षीरावस्थागतं घृतं क्षीरे दध्यात्मना परिणमति तामप्यवस्थामनुप्रविशति तद्वदिहापि। तदिदमुच्यते—"तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविश"दिति[1]। सर्गेऽप्यात्मनः कर्तृत्वमिदमेव—यदुत भोक्तृतया निमित्तत्वम्। तदेवं स्वभावतः स्वच्छोऽप्यात्मा प्रकृत्या सहाभेदमापन्नः तद्धर्मा भवति। एवं तद्विकारेण महता तद्विकारेणाऽहङ्कारेण, इत्याशरीराद्द्रष्टव्यम्। स्थूलोऽहं कृशोऽहं देवोऽहं मनुष्योऽहं तिर्यगहमिति। तस्यैवंगतस्यापेक्षितव्यस्स्वरूपलाभः नीचैरिव वर्धितस्य राजपुत्रस्य। तद्यथा—शबरादिभिर्बाल्यात्प्रभृति स्वसुतैस्सह संवर्धितो राजपुत्रस्तज्जातीयमात्मानमवगयन्मात्रा स्वरूपे कथिते लब्धस्वरूप इव भवति। तथा प्रकृत्या [2]वेश्ययेव स्वरूपान्तरं नीत आत्मा मातृस्थानीयया[3]"तत्त्वमसो"ति श्रुत्या स्वभावं नीयते—यदेवंविधं परिशुद्ध वस्तु तदेव त्वमसि, यथा मन्यसे 'मनुष्योऽहं दुःख्यह' मित्यादि न तथेति। यथा य एवंभूतो राजा स त्वमसीति राजपुत्रः।

ननु तत्त्वमसीति ब्रह्मणा तादात्म्यमुच्यते। को ब्रूते? नेति। ब्रह्माऽपि नान्यदात्मनः। किं पुनरयमात्मा एकः? आहो स्विन्नाना? किमनेन ज्ञानेन? त्वं तावदेवंविधश्चिदेकरसो नित्यनिर्मलः संसर्गात्कलुषतामिव गतः। तद्वियोगश्च ते मोक्षः। त्वयि मुक्ते यद्यन्ये सन्ति ते संसरिष्यन्ति। का ते क्षतिः? अथ न सन्ति तथापि कस्ते लाभ इत्यलमियता। महत्येषा कथा। तदप्येते श्लोका भवन्ति—

नीचानां वसतौ तदीयतनयैः सार्धं चिरं वर्धित-
स्तज्जातीयमवैति राजतनयः स्वात्मानमप्यञ्जसा।
संघाते महदादिभिस्सहवसंस्तद्वत्परः पूरुषः
स्वात्मानं सुखदुःखमोहकलिलं मिथ्यैव धिङ्मन्यते॥ १॥
दाता भोगपरः समग्रविभवो यः शासिता दुष्कृतां
राजा स त्वमसीति मातृमुखतः श्रुत्वा यथावत्स तु।
राजीभूय [4]जयार्थमेव यतते तद्वत्पुमान् बोधितः
श्रुत्या तत्त्वमसीत्यपास्य दुरितं ब्रह्मैव सम्पद्यते॥ २॥
इत्येवं बहवोऽपि राजतनयाः प्राप्ता दशामीदृशीं

---

१ तै० उ० २. ६ २. वश्यया० इति. ख० पु०
३. छा० उ० ६. ९. ३ ४. यथार्थमेव क० पु०

नैवान्योन्यभिदामपास्य सहसा सर्वे भजन्त्येकताम् ।
किं तु स्वे परमे पदे पृथगमी तिष्ठन्ति भिन्नास्तथा
क्षेत्रज्ञा इति तत्त्वमादिवचसः का भेदवादे क्षतिः ॥ ३ ॥
तेष्वेको यदि जातु मातृवचनात् प्राप्तो निजं वैभवं
नान्येन क्षतिरस्य यत्किल परे सत्यन्यथा च स्थिताः ।
यद्वान्ये न भवेयुरेवमपि को लाभोऽस्य तद्वद्गतिः
पुंसामित्यभिदां भिदां च न वयं निर्बद्ध्य निश्चिन्महे ॥ ४ ॥ इति ॥

तत्राऽऽत्मलाभीयाञ्छ्लोकानुदाहरिष्यामः ॥ ३ ॥

अनु०—हम यहाँ आत्मा के ज्ञान की प्राप्ति का महत्त्व प्रतिपादित करने वाले उपनिषद् के श्लोकों को उद्धृत करेंगे ॥ ३ ॥

विवरणम्

सत्यं क्रोधादयो दोषा आत्मलाभप्रतिबन्धभूता अक्रोधादिभिर्निर्ह (न्य?ण्य) न्ते; तथापि न मूलोद्वर्तनेन निवृत्तिः क्रोधादीनाम्, सर्वदोषबीजभूतमज्ञानं न निवृत्तमिति तस्य चाऽनिवृत्तौ बीजस्याऽनिवर्तितत्वात् सकृन्निवृत्ता अपि क्रोधादयो दोषाः पुनरुद्भविष्यन्तीति संसारस्याऽऽत्यन्तिकोच्छेदो न स्यात् तद्दोषबीजभूतस्याऽज्ञानस्य मतान्, ज्ञानादन्यतो न निवृत्तिरित्यात्मस्वरूप-प्रकाशनायात्मज्ञानाय मतान् शाखान्तरोपनिषद्भ्यः, तत्र तस्मिन् आत्मलाभ-प्रयोजने निमित्ते । आत्मानं करतलन्यस्तमिव ल(म्भि ? म्भयि)तुं समर्थान् आत्मलाभीयान् श्लोकानुदाहरिष्यामः उद्धृत्याऽऽहरिष्यामः । ग्रन्थीकृत्य दर्शयिष्याम इत्यर्थः ॥ ३ ॥

उज्ज्वला

तदिहाऽपेक्षितमात्मज्ञानमुपदिश्यते । तच्च त्रिविधम्—श्रुतं मननं निदिध्यासनमिति । [1]'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य' इति श्रवणात् । तत्र श्रुतमुपनिषदादिशब्दजन्यं ज्ञानम् । मननमुपपत्तिभिर्निरूपणम् । एवं श्रुते मते चात्मनि साक्षात्कारहेतुरविक्षिप्तेन चेतसा निरन्तरं भावना [2]निदिध्यासनम् । तत्राऽऽत्मसिद्धये श्रौतं ज्ञानं तावदाह—

तत्रेति वाक्योपन्यासे । आत्मलाभीयानात्मलाभप्रयोजनान् । अनुप्रवचनादिषु दर्शनाच्छप्रत्ययः । श्लोकान् पादबद्धानौपनिषदान् मन्त्रान् । उदाहरिष्यामः उद्धृत्याहरिष्यामः ग्रन्थे निवेशयिष्यामः ॥ ३ ॥

पूः प्राणिनः सर्व एव गुहाशयस्याऽहन्यमानस्य विकल्मष-स्याऽचलं चलनिकेतं येऽनुतिष्ठन्ति तेऽमृताः ॥ ४

---

१. बृ० उ० २. ४. ५   २. ध्यानमिति० ख० च० पु०

अनु॰—सभी जीवित प्राणियों का शरीर उस आत्मा का निवास - स्थान होता है, जो बुद्धिरूपी गुफा में शयन करता है, जो पाप-रहित है, जरा-रोग इत्यादि सभी दोषों से मुक्त है, अमर है। जो व्यक्ति उस अचल तथा चंचल प्राण शरीर में विद्यमान आत्मा का साक्षात्कार कर लेता है वह अमर हो जाता है।

टि॰—गुहा शब्द प्रकृति का पर्यायवाची है। अहन्यमान का अर्थ यह है कि आत्मा शरीर के नाश होने पर भी नष्ट नहीं होता। जिस प्रकार राजा पुर में निवास करता है मन्त्रियों द्वारा लाये गये भोग का सुख प्राप्त करता है उसी प्रकार आत्मा भी शरीर में निवास करता हुआ भोगों का अनुभव करता है। चलनिकेत से अर्थ है कि जिसका निकेत अथवा निवासस्थान चल है अर्थात् आत्मा का निवासस्थान शरीर नाशवान है॥ ४॥

पूः पुरं शरीरम्। प्राणिनः प्राणवन्तः। सर्व एव ब्रह्मादीनि स्तम्बपर्यन्तानि प्राणिनः। पुरं पुरमिव राज्ञः उपलब्ध्यधिष्ठानम्। कस्य पुरम्? गुहाशयस्याऽऽत्मनः। यथा स्वकीयपुरे राजा सचिवादिपरिवृत उपलभ्यते, एवं देहष्वात्मा बुद्ध्यादिकरणसंयुक्त उपलभ्यते। उपलभते च बुद्ध्यादिकरणोपसंहृतान् भोगान्। अतोऽविद्यावरणात्मभूतायां बुद्धिगुहायां शेत इति गुहाशयः तस्य पुरम्। तस्यां बुद्धावविद्यादिदोषमलापनये विद्वद्भिस्त्यक्तैषणैरुपलभ्यते। इदमपरं विशेषणं गुहाशयस्याऽहन्यमानस्य, छेदनभेदनजरारोगादिभिर्हन्यमाने देहे न हन्यते। [1]"न वधेनाऽस्य हन्यते' इतिच्छान्दोग्ये। तस्य विकल्मषस्य, कल्मषं पापं तदस्य नास्तीति विकल्मषः। सर्वं ह्यविद्यादोषसहितं धर्माधर्माख्यं कर्म कल्मषं भवति, विकल्मषस्येति विशेषणेन तत् प्रतिषिध्यते तत्कार्यं जरारोगादिदुःखरूपमहन्यमानस्येति। एवं हेतुफलसम्बन्धरहितस्याऽसंसारिण उपलब्ध्यधिष्ठानं पूः सर्वे प्राणिनः। अतो न संसार्यन्योऽस्ति[2]। 'एको देवः सर्वभूतेषु 'गूढ' इति श्वेताश्वतरे। [3]"एष सर्वेषु भूतेषु गूढोऽत्मा न प्रकाशते" इति च काठके। [4]"नान्यदतोऽस्ति द्रष्टा' इत्यादि वाजसनेयके। [5]"स आत्मा तत्त्वमसो'ति च छान्दोग्ये। पूर्वार्धेन ब्रह्मणो याथात्म्यमुक्त्वोत्तरार्धेन तद्विज्ञानवतस्तद्विज्ञानफलमाह—यस्य सर्वे प्राणिनः पुरा अहन्यमानस्य विकल्मषस्य, तस्य सर्वप्राणिसम्बन्धादर्थसिद्धमाकाशवत् सर्वगतत्वम्' 'आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यं' इति च श्रुतेः। सर्वगतस्य चाऽचलत्वमर्थसिद्धमेव। तमचलं चलनिकेतं चलायां हि प्राणिगुहायां स्वयं

---

१. छा॰ उ॰ ८. १०. ४
२. श्वेता॰ उ॰ ६. ११
३. कठो॰ १. ३. १२
४. बृ॰ उ॰ ३. ८. २१
५. छा॰ ६. ८. ९

शेते तमचलं चलनिकेतम्। येऽनुतिष्ठन्ति ममात्मेति साक्षात् प्रतिपद्यन्ते, तेऽमृताः अमरणधर्माणो भवन्ति ॥ ४ ॥

उज्ज्वला

गुहेति प्रकृतिनाम।

'यत्तत्मृतं कारणमप्रमेयं ब्रह्म प्रधानं प्रकृतिप्रसूतिः।
आत्मा गुहा योनि[1]रनाद्यनन्तः क्षेत्रं तथैवामृतमक्षरं च ॥" इति

पुराणे दर्शनात्। तस्यां शेते तया सहाऽऽविभागमापन्नस्तिष्ठतीति गुहाशय आत्मा।

[2] 'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीं प्रजां जनयन्तीं सरूपाम्।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः, इति च मन्त्रान्तरम्। अहन्यमानस्य न ह्यसौ शरीरे हन्यमानेऽपि हन्यते[3] तथा चोक्तं भगवता—[4] 'न हन्यते हन्यमाने शरीर' इति। विकल्मषस्य निर्लेपस्य। सर्व एव हि धर्माधर्मादिरन्तःकरणस्य धर्मः, आत्मनि त्वध्यस्तः। एवंभूतस्यात्मनः सर्व एव प्राणिनः ब्रह्माद्यास्तिर्यगन्ताः प्राणादिमन्तः संघाताः पूः पुरं उपभोगस्थानम्। यथा राजा पुरमधिवसन् सचिवैरानीतान् भोगानुपभुङ्क्ते,तथाऽयं देवादिशरीरमधिवसन् करणैरुपस्थापितान् भोगानुपभुङ्क्ते, तथायं देवादिशरीरमधिवसन् करणैरुपस्थापितान् भोगानुपभुङ्क्ते। तमेवंभूतमचलं सर्वगतत्वेन निश्चलम्। चलनिकेतं निकेतं स्वस्थानं शरीरं तद्यस्य चलं तं येऽनुतिष्ठन्ति उपासते एवंभूतोऽहमिति प्रतिपद्यन्ते, तेऽमृताः मुक्ता भवन्तीति ॥ ४ ॥

विवरणम्

कथं तदनुष्ठानमिति? उच्यते—

यदिदमिदिहेदिह लोके विषयमुच्यते।
विधूय तत् कविरेतदनुतिष्ठेद्गुहाशयम् ॥ ५ ॥

अनु०—इस संसार में जो भी पदार्थ इन्द्रिय के विषय कहे गये हैं उन सभी का परित्याग करके विद्वान व्यक्ति गुहा में स्थित (बुद्धिरूपी गुफा में शयन करने वाले आत्मा का साक्षात्कार करने के लिए प्रयत्नशील होवे।

टि०—इस पद्य में इह का दो बार प्रयोग लोक और स्वर्ग लोक दोनों का वाचक है ॥ ५ ॥

---

१. अनाद्यनन्तं इति. ख० पुस्तके   २. तै० आ० (नारायणोपनिषदि) १०. १
३. 'तथा चोक्तं भगवता-'न हन्यते हन्यमाने शरीरे।' इति नास्ति क० पुस्तके।
४. भगवद्गी० २. २०

यदिदं प्रत्यक्षतोऽवगम्यमानं स्त्र्यन्नपानादिसंभोगलक्षणम्। इदिति किञ्चिदर्थे। यत्किञ्चिदिदं प्रत्यक्षम्। इहाऽस्मिन् लोके। विषयम्। इदंशब्दसामानाधिकरण्यान्नपुंसकलिङ्गप्रयोगो विषयमिति। उभयलिङ्गो वा विषयशब्दः। द्वितीय इच्छब्द इहशब्दश्च। तयोः क्वचिन्नियोगः। इच्छब्दश्चार्थे। इहशब्दोऽमुष्मिन्नर्थे। लोकशब्दः काकाक्षिवदुभयत्र सम्बध्यते। इह लोके इह च लोकेऽमुष्मिंश्च यदिदं विषयमुच्यते,स्वर्गादिलोके पार्श्वस्थमध्यस्थो व्यपदिशति इह लोके इति च लोके इत तत्सर्वं विधूय परित्यज्य। कविः क्रान्तदर्शी, मेधावीत्यर्थः। फलं साधनं च तद्विधूय एषणात्रयाद् व्युत्थायेत्यर्थः अनुतिष्ठेद् गुहाशयं यथोक्तलक्षणमात्मतत्त्वम् ॥ ५ ॥

उज्ज्वला

विषयसङ्गपरित्यागेनाऽयमुपास्य इत्याह—

यदिदं, विषयं, मेतदिति सर्वत्र लिङ्गव्यत्ययश्छान्दसः। एवमितिशब्दे तकारस्य दकारः। इतिशब्दः प्रसिद्धौ। हशब्द आश्चर्ये। इतिशब्देनावृत्तेन शब्दादिषु विषयेष्ववान्तरप्रकारभेदः प्रतिपाद्यते। विषयापहृतचेतसो हि वदन्ति-'इति ह तस्या गीतम्, इति ह तस्याः सुखस्पर्शः, इति ह तस्या रूपं निष्टप्तमिव कनकम्, इति ह तस्याः स्वादिष्ठोऽधरमणिः, इति ह तस्या गन्धो घ्राणतर्पण' इति। एवं दिव्यमानुषभेदोऽपि द्रष्टव्यः। अत्राऽनन्तरमपर इति शब्दोऽध्याहार्यः। इति ह इति हेति योऽयं लोके विषय उच्यते, सामान्यापेक्षमेकवचनम्, एतद्विधूय गुहाशयमनुतिष्ठेत्। कविर्मेधावी ॥ ५ ॥

विवरणम्

तत् क्वाऽनुष्ठातव्यमिति। उच्यते—

आत्मन्नेवाऽहमलब्ध्वैतद्धितं सेवस्व नाऽहितम्।
अथाऽन्येषु प्रतीच्छामि साधुष्ठानमनपेक्षया।
महान्तं तेजसस्कायं सर्वत्र निहितं प्रभुम् ॥ ६ ॥

अनु०—मैंने महान अनन्त तेज शरीर सर्वत्र व्याप्त प्रभु आत्मा का जिसका ज्ञान दूसरी वस्तुओं के ऊपर ध्यान न देकर एकाग्रचित्त होकर प्राप्त करना चाहिए, ज्ञान प्राप्त नहीं किया और दूसरी वस्तुओं (इन्द्रियों आदि) में उसे प्राप्त करने का प्रयत्न करता रहा। किन्तु अब परम ज्ञान प्राप्त कर वैसा नहीं रह गया। तुम लोग भी उस कल्याणकारी उत्तम मार्ग का सेवन करो विषयों के पीछे मत दौड़ो जो हितकारी मार्ग नहीं है ॥ ६ ॥

आत्मन्नेव आत्मन्येव। प्रत्यगात्मा हि परमात्मा। सर्वं ह्यत्रानुष्ठेयम्। यदि देहादन्यत्राऽनुष्ठीयेत, सोऽनात्मा कल्पितः स्यात्। तस्माद् देहादिसङ्घात आत्मन्येव विधूय बाह्यासङ्गं गुहाशयमात्मतत्त्वमनुष्ठेयम्। किमन्येष्वननुष्ठेयमिति भगवतो मतम्? बाढम्, प्रथममेव नान्येष्वनुष्ठेयमात्मतत्त्वम्। कथं तर्हि? सर्वप्रयत्नेनाऽपि स्वदेहादिसङ्घाते यथोक्तमात्मतत्त्वं न लभेत, अथाऽहमन्येष्वादित्यादिषु प्रतीच्छामि अभिवाञ्छामि। साधुष्ठानं साधोः परमात्मनः उपलब्धिस्थानं, यत्र गुहाशायं ब्रह्मतत्त्वमनुष्ठेयम्। अनपेक्षयाऽन्यत् पुत्रवित्तलोकादिसुखं छित्त्वा निःस्पृहतया। न ह्यात्मानुष्ठानं बाह्यार्थाकाङ्क्षा च सह सम्भवतः। कस्मात् पुनरनेकान्यन्यानि हितप्रकाराण्यनपेक्ष्याऽत्मानुष्ठानमेव यत्नत आस्थीयत इत्यत आहाऽऽचार्यः—यथान्यान्यहितानि हितबुद्ध्या परिगृहीतानि, न तथैवमात्मसेवनम्। किं तर्हि? (ए) तद्धितमेव। तस्मात् सेवस्वेति। किंविशिष्टश्चाऽऽत्मा सेवितव्य इत्याह—महान्तम् अमितान्तम् अनन्त (र) त्वादबाह्यत्वाच्च महानात्मा, तं महान्तम्। गुणैर्वोपाधिसहचारिभिर्महान्तं, बृंहणमिति यद्वत्। तेजसस्कायं तेजःशरीरमित्यर्थः। चैतन्यात्मज्योतिःस्वरूपम्। तद्धि तेजसां तेजः। [1]'येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः' [2]'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' इति श्रुतेः। सर्वत्र सर्वदेहेषु ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तेषु। निहितं स्थितम्, उपलब्धिरूपेणाभिव्यक्तमित्यर्थः। न हि ब्रह्मणोऽभिव्यक्तिनिमित्तत्वव्यतिरेकेण कस्यचिदाधारत्वसम्भवः। निराधारं हि ब्रह्म, सर्वगतत्वोपपत्तेः प्रभुं प्रभवति सर्वानीश्वरान् प्रति, अचिन्त्यशक्तित्वात्। एवमाद्यनन्तगुणविशिष्टमात्मानं सेवस्वेति ॥ ६ ॥

उज्ज्वला

विषयत्यागे हेतुमाह—

शिष्यं प्रत्याचार्यस्य वचनमेतत्। द्वौ चात्र हेतू विषयाणां त्यागे—पराधीनत्वमहितत्वं च। महान्तं गुणतः। तेजसस्कायं तेजसश्शरीरं तेजोराशिं स्वयंप्रकाशम्।[3] 'आत्मज्योतिः सम्राडिति होवाचे'ति बृहदारण्यकम्। सर्वत्र निहितं सर्वगतम्। प्रभुं स्वतन्त्रम्। एवंभूतं गुहाशयं एतावन्तं कालं अहमात्मन्, सप्तम्येकवचनस्य लुक् आत्मनि। अस्मिन् मदीये सङ्घाते अन्यानपेक्षयैव लब्धुं योग्यमलब्ध्वा अथान्येषु इन्द्रियादिषु तं तं विषयं प्रतीच्छामि लङर्थे लट्, प्रत्यैच्छम्। इदानीं तु तं लब्ध्वा न तथाविधोऽस्मि। त्वमप्येतदेव हितं साधुष्ठानं साधुमार्गं सेवस्व नाहितं विषयानुधावनमिति ॥ ६ ॥

---

१. तै० ब्रा० १३. ९. ७ २. मुण्ड० २. २. १०

३. बृह० उ० ४. ३. ६. अत्र पाठभेदो दृश्यते

सर्वभूतेषु यो नित्यो विपश्चिदमृतो ध्रुवः ।
अनङ्गोऽशब्दोऽशरीरोऽस्पर्शश्च महाञ्छुचिः ।
स सर्वं परमा काठा स वैषुवतं स वै वैभाजनं पुरम् ॥ ७ ॥

अनु०-वह आत्मा सभी प्राणियों में नित्य अर्थात् अनश्वर शाश्वत रूप में विद्यमान है, अमर है ध्रुव अर्थात् विकाररहित है, ज्ञानस्वरूप है, अंगहीन तथा शब्द और स्पर्श गुण से परे है। सूक्ष्म शरीर से भी वर्णित है। अत्यन्त शुद्ध है वही सम्पूर्ण विश्व है, परम लक्ष्य है। शरीर के भीतर उसी प्रकार से अवस्थित है जिस प्रकार सत्र यज्ञ में विषुवत नाम का दिन मध्य में होता है। आत्मा उसी प्रकार सभी लोगों द्वारा प्राप्य है जैसे अनेक मार्गों से युक्त नगर में सभी लोग आते हैं ॥ ७ ॥

विवरणम्

विशिष्टमात्मानं संवत्स्वेति क्रियापदमनुवर्तते। किं च सर्वभूतेषु ब्रह्मादिष्वनित्येषु यो नित्योऽविनाशो। विपश्चिन्मेधावी, सर्वज्ञ इत्यर्थः। अमृतोऽत एव यो ह्यनित्योऽसर्वज्ञः स मर्त्यो दृष्टः; अयं तु तद्विपरीतत्वादमृतः ध्रुवः। अविचलः। निष्कम्पस्वभाव इत्यर्थः। अनङ्गः स्थूलशरीररहित इत्यर्थः। स्थूले हि शरीरे शिरआद्यङ्गानि सम्भवन्ति। अशरीर इति लिङ्गशरीरवर्जित इत्येतत्। अशब्दः नाऽस्य शब्दगुणः सम्भवति। शब्दविद्धि सन् अन्यथा शब्दात्मकः शब्दात्मकमेव विजानीयात्। न चैतदस्ति। अतोऽशब्दः। तथा अस्पर्शः आकाशवायुभूतद्वयगुणप्रतिषेधेन शब्दादयो गन्धावसानाः सर्वभूतगुणाः प्रतिषिद्धा वेदितव्याः। तत इदं सिद्धमाकाशादपि सूक्ष्मत्वम्। शब्दादिगुणबाहुल्याद्वाय्वादिषु स्थौल्यतारतम्यमुपलभ्यते। शब्दादिगुणाभावान्निरतिशयसूक्ष्मत्वं सर्वगतत्वादि चाऽप्रतिबन्धेन धर्मजातं तर्केणाऽपि शक्यं स्थापयितुम्। महान्, अत एव शुचिर्निरञ्जनः। अथवा शुचिः पावन इत्यर्थः। शुचि हि वस्तु पावनं दृष्टम्, यथा लोके वाय्वग्न्यादि। किञ्च य आत्मा प्रकृतः, स सर्वम्। [1]"इदं सर्वं यदयमात्मे' ति हि वाजसनेयके। न ह्यात्मव्यतिरेकेण किञ्चिन्निरूप्यमाणमुपपद्यते। अत एव परमा प्रकृष्टा। काष्ठा अवसानम्। [2]"सा काष्ठा सा परा गतिरि'ति काठके। संसारगतीनां अवसानं निष्ठा समाप्तिरित्यर्थः। स वैषुवतं मध्यं सर्वस्य, सर्वान्तरश्रुतेः। विषुवत्सु वा [3]दिवाकीर्त्येषु मन्त्रेषु नित्यं प्रका-

---

१. बृह० उ० ४. ५. ७ २. काठ० १. ३. ११

३ गवामयनाख्यस्संवत्सरसाध्यस्सत्रविशेषः । स एकषष्ट्यधिकशतत्रयदिवस-(३६१) साध्यः। तत्राशीत्युत्तरशत (१८०) दिनानि पूर्वं पक्षः। तावन्त्येव दिनान्युत्तरं पक्षः। मध्यगं यदहरेकाशीत्युत्तरशततमरू (१८१) पं स विषुवान्। तत्र दिवाकीर्त्याख्यं साम ब्रह्मसाम भवति। तेन च साम्ना परमात्मा गीयते। अतो विषुवद्वत्-मध्यस्थानत्वात् तत्प्रतिपाद्यत्वाद्वा ब्रह्म वैषुवतमिति भावः।

श्यं भवतीति वैषुवतः। स परमात्मा।

ननु 'स सर्वं परमा काष्ठा स वैषुवत'मित्युक्तम्। कस्मात् पुनस्तदात्मतत्त्वं विभक्तमुपलभ्यत इति। उच्यते—स परमात्मा वैभाजनं,[1] विभक्तिर्विभजनं विवेक आत्मनो यस्मिन् देहे क्रियते, तत् विभाजनमेव वैभाजनम्। आत्मनो विवेकोपलब्ध्यधिष्ठानं हि शरीरम्। तच्चाऽनेकधा विभक्तम्। तदुपाध्यनुवर्तित्वाद् वैभाजनम् सर्वथा शुद्धमेव सर्वैर्नोपलभ्यते। किं तर्हि? विभक्तो विपरीतश्चोपलभ्यते ॥ ७ ॥

उज्ज्वला

पुनरप्यसौ कीदृश इत्याह—

सर्वभूतेषु मनुष्यादिषु सङ्घातेषु यो नित्यः विनश्यत्स्वपि न विनश्यति विपश्चित् मेधावी चित्स्वरूपः। अमृतः नित्यत्वादेवामरणधर्मा। अतः ध्रुवः एकरूपः, विकाररहितः। न प्रधानवद्विकारिणस्सतो धर्मिरूपेणाऽस्य नित्यत्वमित्यर्थः। अनङ्गः करचरणाद्यङ्गरहितः। अशब्दोऽस्पर्श इति भूतगुणानामुपलक्षणम्। शब्दादिगुणरहितः अशरीरः सूक्ष्मशरीरेणाऽपि वर्जितः। महाञ्छुचिः महत्त्वं शौचस्य विशेषणम्। परमार्थतोऽत्यन्तशुद्धः। स सर्वं प्रकृत्यभेदद्वारेण। स एव परमा काष्ठा, ततः परं गन्तव्याभावात्। स वैषुवतं विषुवान्नाम गवामयनस्य मध्ये भवमहः। 'एकविंशमेतदहरुपर्यन्ति विषुवन्तं मध्ये संवत्सरस्ये'ति दर्शनात्। विषुवानेव वैषुवतम्। तद्यथा संवत्सरस्य मध्ये भवति एवमङ्गानामेषमध्ये। "मध्यं ह्येषामङ्गानामात्मे'ति बह्वृचब्राह्मणम्। स एव च वैभाजनं पुरं विविधैर्मार्गैर्भजनीयं विभजनम्। तदेव वैभाजनं प्रज्ञादिरनुशतिकादिश्च। यथा समृद्धं पुरं सर्वैरर्थिभिः प्राप्यमेवमयमपीति ॥ ७ ॥

तं योऽनुतिष्ठेत्सर्वत्र प्राध्वं चाऽस्य सदाऽऽचरेत्।
दुर्दर्शं निपुणं युक्तो यः पश्येत्स मोदेत विष्टपे ॥ ८ ॥

अनु०— जो व्यक्ति उस आत्मा का चिन्तन करता है, सर्वत्र और सभी अवस्थाओं में उसके अनुकूल आचरण करता है, जो समाहित होकर सूक्ष्म से भी अत्यन्त सूक्ष्म कठिनाई से दीख पड़ने वाले आत्मा का दर्शन करता है, वह परमलोक में सभी दुखों से मुक्त होकर निरन्तर सुख का अनुभव करता है ॥ ८ ॥

विवरणम्

अतस्तदुपाध्यनुवर्तिस्वभावदर्शनमविद्याख्यं हित्वा विद्यया शास्त्रजनितदर्शनेन तं यथोक्तलक्षणमात्मानमनुतिष्ठेत्। सर्वत्र सर्वस्मिन् काले। किञ्च न

---

१. ऐ० ब्रा० ६. ५. ८. ख

केवलमनुष्ठानमात्रमस्य । प्राध्वं बन्धनम् आत्मैकत्वरसप्रज्ञतां स्थिरां बाह्यैषणाव्यावृत्तरूपां सर्वसंन्यासलक्षणाम् । तद्धि बन्धनं विदुषो ब्राह्मणि एवं हि बद्धो ब्रह्मणि । संसाराभिमुखो नाऽऽवर्तते । तस्माद् बन्धनं चाऽस्य सदाऽऽचरेत् । तदनुष्ठानबन्धने सदाचरतः किं स्यादिति ? उच्यते—दुर्दर्शं दुःखेन ह्येषणात्यागादिना स दृश्यत इति दुर्दर्शम् । निपुणं यस्माद्धि दुर्दर्शं तस्मान्निपुणम् । अत्यन्तकौशलेन समाहितचेतसा युक्तो यः पश्येत् साक्षादुपलभेत—अहमात्मेति, स मोदेत । एवं दृष्ट्वा हर्षमानन्दलक्षणं प्राप्नुयात् । विष्टपे विगतसन्तापलक्षणेऽस्मिन् ब्रह्मणीत्यर्थः ॥ ८ ॥

उज्ज्वला

तमेवंभूतमात्मानं योऽनुतिष्ठेदुपासीत यश्चाऽस्य सर्वत्र सर्वास्ववस्थासु सदा प्राध्वमानुकूल्यमाचरेत् । आनुकूल्यं प्रतिषिद्धवर्जनं नित्यनैमित्तिककर्मानुष्ठानं च । यश्च दुर्दर्शं निपुणं 'सूक्ष्मतः युक्तः समाहितो भूत्वा पश्येत् साक्षात्कुर्यात् । सः विष्टपे विगततापे स्वे महिम्नि स्थितो मोदेत सर्वदुःखवर्जितो भवति । संसारदशायां वा तिरोहितं निरतिशयं स्वमानन्दमनुभवतीति ॥ ८ ॥

॥ इत्यापस्तम्बसूत्रवृत्तावुज्ज्वलायां द्वाविंशी कण्डिका ॥ २२ ॥

आत्मन् पश्यन् सर्वभूतानि न मुह्येच्चिन्तयन्कविः । आत्मानं चैव सर्वत्र यः पश्यत्स वै ब्रह्मा नाकपृष्ठे विराजति ॥ ९ ॥ १ ॥

अनु०—सभी प्राणियों को अपने में स्थित देखता हुआ विद्वान् मोह न प्राप्त करे। (अथवा जो सभी प्राणियों को अपनी आत्मा में ध्यान करता हुआ देखता है वही मेधावी है) । जो आत्मा का दर्शन सभी वस्तुओं में करता है वह ब्राह्मण स्वर्ग लोक में प्रतिष्ठित और देदीप्यमान होता है ॥ १ ॥

विवरणम्

किञ्च आत्मन् पश्यन् आत्मनि पश्यन् उपलभमानः । सर्वभूतानि सर्वाणि (भूतानि) । सर्वेषां भूतानामात्मस्वरूपतामेव पश्यन्नित्यर्थः । सर्वत्राऽऽत्मानं च परम् । न मुह्येत् मोहं न गच्छेत् । न ह्यात्मैकत्वदर्शिनो मोहावतारः; ²'तत्र को मोह' इति च मन्त्रलिङ्गात् । कीदृग्विशिष्टमात्मदर्शनं मोहनिबर्हणमित्याह—चिन्तयन् उपसंहृतकरणः कविः मेधावी सन् ध्यायमानः । न शब्दजनितदर्शनमात्रेण मोहापगमः । सर्वभूतेष्वनुप्रविष्टमेकं संव्यवहारकाले यो हि युक्तः पश्येत्, स वै ब्रह्मा ब्राह्मणः । नाकपृष्ठे सुकरागौ (?) ब्रह्मणि । विराजति विविधं दीप्यते ॥ ९ ॥

१. सूक्ष्ममेतं इति क. ख. पु २. ईशा. उ. ७

उज्वला

सर्वाणि भूतानि आत्मन् आत्मनि शेषत्वेन स्थितानि पश्यन् उपनिषदादिभिर्जानन्। पश्चाच्चिन्तयन् युक्तिभिर्निरूपयन्, यो न मुह्येत् मध्ये मोहं न गच्छेत्। कविर्मेधावी। पश्चाच्च सर्वत्रैव शेषत्वेन स्थितमात्मानं पश्येत् साक्षात्कुर्यात् स वै ब्रह्मा ब्राह्मणः नाकपृष्ठे तत्सदृशे स्वे महिम्नि स्थितो विराजति स्वयं प्रकाशते ॥ १ ॥

निपुणोऽणीयान् बिसोर्णाया यस्सर्वमावृत्य तिष्ठति। वर्षीयांश्च पृथिव्या ध्रुवः सर्वमारभ्य तिष्ठति। स इन्द्रियैर्जगतोऽस्य ज्ञानादन्योऽनन्यस्य ज्ञयात्परमेष्ठी विभाजः। तस्मात्कायाः प्रभवन्ति सर्वे स मूलं शाश्वतिकः स नित्यः ॥ १० ॥ २ ॥

अनु०—वह ज्ञानवान् है, कमल-नाल के बिसतन्तु से भी सूक्ष्म है. जो सम्पूर्ण विश्व को व्याप्त करके स्थित है। जो पृथ्वी से अधिक भारी है, नित्य है, सम्पूर्ण विश्व को अपने में समाविष्ट किए हुए स्थित है। वह परमात्मा इन्द्रियों से उत्पन्न होने वाले इस संसार के ज्ञान से भिन्न है, जो ज्ञान इन्द्रिय-विषयों से अभिन्न होता है। वह अपने परम प्रकृष्ट लोक में स्थित होता है, वह सम्पूर्ण संसार को विविध रूपों में विभक्त करता है। उसी परमात्मा से ही शरीर उत्पन्न होते हैं. अतः वह सृष्टि का मूल कारण है, नित्य है, विकाररहित है ॥ २ ॥

विवरणम्

किञ्च निपुणः सर्ववित् अणीयान् अणुतरो बिसोर्णायाः बिसतन्तोरपि। कोऽसौ ? यः प्रकृत आत्मा सर्वं समस्तं जगदावृत्य संव्याप्य तिष्ठति। किञ्च वर्षीयान् वृद्धतरः स्थूलतरश्च पृथिव्याः। सर्वात्मको हि सः। ध्रुवः नित्यः सर्वं कृत्स्नमारभ्य संस्तम्भनं कृत्वा। तिष्ठति वर्तते। 'येन द्यौरुग्रा पृथवी च दृढा'[1] इति मन्त्रलिङ्गात्। स सर्वेश्वरः सर्वज्ञः एको विज्ञेय इत्यर्थः। स परमात्मा इन्द्रियैर्जन्यते यज्ज्ञानं जगतोऽस्य, तस्मात् ज्ञानादन्यो विलक्षणः 'लौकिकज्ञानादन्य इति विशेषणाज्ज्ञानात्मक इत्येतत् सिद्धम्। सत्यं ज्ञानमनन्तमि'ति च श्रुतेः। अस्य जगत इन्द्रियजन्यज्ञानादन्य इत्युक्तम्। अतश्च तद्व्यतिरिक्तं जगदिति प्राप्तम्। अतस्तन्माभूदित्याह—अनन्यस्य अपृथग्भूतस्य जगतः, ज्ञेयात् ज्ञातव्यात् परमार्थस्वरूपाद्व्यात् परमेश्वराद् घटादेरिव मृदः। स च परमेष्ठी परमे प्रकृष्टे स्वे महिम्नि हृदाकाशेऽवस्थातुं शीलमस्येति परमेष्ठी। स्वयमेव विभाजः विभक्तो देवपितृमनुष्यादिना ज्ञातृज्ञेयज्ञानभेदेन च, यस्मात् स एव ज्ञेय आत्मा स्वतो विभजति जगदनेकधा। तस्मादेवाऽऽत्मनः कायाः शारीरा-

1. ऋ ८. ७. ३

ण्याकाशादिक्रमेण प्रभवन्ति सर्वे ब्रह्मादिलक्षणाः। अतो मूलं स जगतः। "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" इति श्रुतेः। अत एव स शाश्वतिकः। यो हि पृथिव्यादिविकारः, सोऽबादिक्रमेण विनश्येत्, परं मूलकारणमापद्यते, सोऽशाश्वतिकोऽनित्यः। अयं चाऽऽत्मा परं मूलम्। न तस्याऽप्यन्यन्मूलमस्ति, यतो जातो विनश्येत्, मूलमापद्यते, ततस्तद्विलक्षणत्वाच्छाश्वतिकः शश्वदेकरूपः। अतो नित्यः एकत्वमहत्त्वमूलत्वेभ्यश्च ॥ १० ॥

उज्ज्वला

निपुणो मेधावी चित्स्वरूपः। बिसोर्णायाः बिसतन्तोरप्यणीयान् सूक्ष्मः। यः सर्वमावृत्य व्याप्य तिष्ठति। यश्च पृथिव्या अपि वर्षीयान् प्रवृद्धतरः सर्वगतत्वादेव सर्वमारभ्य विष्टभ्य शेषित्वेनाऽधिष्ठाय तिष्ठति। ध्रुवः एकरूपः। अस्य जगतो यदिन्द्रियैर्ज्ञानं ज्ञानं इन्द्रियजन्यं तस्मात्। कीदृशात्? अनन्यस्य ज्ञेयात्, पञ्चम्यर्थे षष्ठी, ज्ञेयात् नीलपीताद्याकारादनन्यभूतं नीलपीताद्याकारं, तस्माद्विषज्ञानादन्य इत्यर्थः। श्रूयते च [2]'तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयात्। अन्योऽन्तर आत्माऽऽनन्दमय' इति।

[3]'ज्ञानस्वरूपमत्यन्तनिर्मलं परमार्थतः।

तमेवार्थस्वरूपेण भ्रान्तिदर्शनतस्स्थितम् ॥' इति पुराणम्। स्वभावतः स्वच्छस्य चिद्रूपस्याऽऽत्मनो नीलपीताद्याकारकालुष्यं तद्रूपाया बुद्धेरनुरागकृतं भ्रान्तमित्यर्थः। वैषयिकज्ञानादन्य इति विशेषणेन ज्ञानात्मक इत्यपि सिद्धम्।[4] 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मे'ति च श्रुतिः। एवंभूतस्याऽऽत्मा परमेष्ठी परमे स्वरूपे तिष्ठतीति। विभाज इत्यस्य परेण सम्बन्धः। विभजत्यात्मानं देवमनुष्यादिरूपेण नानाशरीरानुप्रवेशेनेति विभाक्। तस्माद्विभाजो निमित्तभूतात् सर्वे काया देवमनुष्यशरीराणि प्रभवन्ति उत्पद्यन्ते। स मूलं प्रपञ्चसृष्टेर्भोक्तृतया मूलकारणम्। स नित्यः अविनाशी। शाश्वतिक एकरूपः अविकारः ॥ २ ॥

विवरणम्

एवं यथोक्तमात्मानं विदितवत आध्यात्मिका योगा न्यायसहिता अप्रतिबन्धेन भविष्यन्ति। मिथ्याप्रत्ययपूर्वका हि दोषाः। दोषनिमित्तश्च धर्माधर्मजनितः संसारः दोषनिवृत्तावत्यन्तं विनिवर्तते इत्येतमर्थं दर्शयिष्यन्नाह—

दोषाणां तु निर्घातो योगमूल इह जीविते।

निर्हृत्य भूतदाहीयान् क्षेमं गच्छति पण्डितः ॥ ११ ॥ ३ ॥

---

१. तै. उ. ३. १
२. तै. उ. २. ५
३. विष्णु पु. १. १. ६
४. तै. उ. २. १

अनु०—किन्तु इस जीवन में (क्रोध आदि) दोषों का विनाश योग से ही होता है। प्राणियों को जलाने वाले इन दोषों को नष्ट करके पण्डित (ब्रह्मविद्) कल्याण प्राप्त करता है ॥ ३ ॥

दोषाणां तु क्रोधादीनां निर्घातः विनाशः । योगा अक्रोधादयः, तन्मूलः तन्निमित्तमित्येतत् । अक्रोधादिषु हि सत्सु प्रतिद्वन्द्विनो दोषा दुर्बलत्वान्निर्हन्यन्ते । इह जीवत इति दोषप्रभवकर्मनिमित्तत्वाज्जीवितस्य देहधारणावसानो दोषव्यापार इत्येतद् दर्शयति । तत्प्रतिपक्षेष्वक्रोधादिषु कथं नु नाम मुमुक्षवः प्रयत्नातिशयं कुर्युरिति योगदोषयोरितरेतरविरोधित्वे सति स्थितिगतिवद् योगेभ्यो दोषाणामेव निर्घातः, न तु विपर्यय इत्येतत् । कथमिति चेत् ? उच्यते—सम्यग्दर्शनसचिवत्वाद् बलवन्तो योगाः । मिथ्याप्रत्ययसचिवत्वात् दुर्बलत्वान्निर्हन्यन्ते । निहन्तीत्येतदप्युक्तम् । बुद्धिबलवद्भ्यस्तद्धीनानां लोके निर्घातो दृष्टः । 'अक्रोधनः' (१. १. २३) 'क्रोधादींश्च—' (१. ११. २५) इति लिङ्गात् । निर्हृत्य अपहृत्य । भूतदाहान् दोषेषु (न?) ह्युद्भूतेषु भूतानि दह्यन्त इव अग्निना परितप्यन्ते । अतो भूतदाहा दोषा उच्यन्ते । तान् निर्हृत्य । क्षेमं निर्भयं मोक्षं गच्छति ।

"आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन" 'अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि' 'न भवति विदुषां ततो भयम्' इत्यादिश्रुतिस्मृतिभ्यः । न दोषप्रशममात्रेणाऽब्रह्मविदः क्षेमप्राप्तिरित्याह—पण्डित इति । ब्रह्मविदि ह्यत्र पण्डितशब्दः प्रयुक्तो, न शास्त्रविदि । [1]"तस्माद् ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य" इति श्रुतेः । इहाऽऽत्मविद्याधिकारात् ।

यदि तर्हि दोषनिर्हरणं पण्डितोऽप्यपेक्षेत, तं प्रति न हि ब्रह्मविद्या क्षेमप्राप्तिनिमित्तम् । यदि ब्रह्मविद्यैव क्षेमप्राप्तिनिमित्तं, ब्रह्मविद्यानन्तरमेव न दुःखमुपलभेत । नैष दोषः । उक्तो ह्यत्र परिहारः—सम्यग् ज्ञानबलावष्टम्भाद् बलिनो योगा दुर्बलान् दोषान् मिथ्याप्रत्ययभवान् निर्हन्तुमलमिति । तस्माद् ब्रह्मविद्ययैव क्षेमप्राप्तिः । अन्यथा दोषनिर्हरणकर्मक्षययोरसम्भवात् ।

विद्यया चेद् दोषनिर्हरणकर्मक्षयाववश्यं भवतः, तत इदमयत्नकार्यत्वाद् दोषनिर्हरणस्य नित्यानुवादरूपमनर्थकम् , निर्हृत्येति, न, प्रवृत्तकर्माक्षिप्तत्वाद् दोषाणाम् । द्विविधानि ह्यनेकजन्मान्तरकृतानि कर्माणि—फलदानाय प्रवृत्तान्यप्रवृत्तानि च । यत्तु प्रवृत्तं कर्म, तेनाक्षिप्ता दोषाः कर्त्तुः सुखदुःखादिफलदानाय, दोषाभावे फलारम्भकत्वानुपपत्तेः । न हि रागद्वेषादिशून्ये सुखदुःखं प्रवृत्तिलब्धिः कदाचित् कस्यचिदिह दृश्यते । तस्मात् फलदानाय प्रवृत्तेन कर्मणाऽऽ-

१. बृ. उ. ३. ५. १

क्षिप्ता दोषाः प्रसङ्गेन प्राप्तबला यत्नतो निर्हर्तव्याः। प्रवृत्त्याधिक्यहेतुत्वप्रसङ्गात्। अतएवेदमुक्तम्—दोषाणां तु निर्घातो योगमूले इह जीवित इति। मन्दमध्यमोत्तमापेक्षत्वाच्च। ब्रह्मविदामपि न सर्वेषां समा ब्रह्मप्रतिपत्तिः, विवेकातिशयदर्शनात् कस्यचित्। 'एष ब्रह्मविदां वरिष्ठ' इति च श्रुतेः सम्यग्दर्शनसम्पन्न' इति च स्मृतेः। मन्दमध्यमब्रह्मविदपेक्षया त्यागवैराग्येन्द्रियजयविवेरर्थवत्त्वम्, उत्तम ब्रह्मविदां त्वर्थप्राप्तमेतत् सर्वमित्यनुवादमात्रम्।[1] 'रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते, इति वचनात्, गुणातीतलक्षणवचनेभ्यश्च। प्रवृत्तकर्माक्षिप्तदोषात् तज्जनितचेष्टाभ्यश्च भवति विदुषोऽपि देहान्तरोत्पत्तिरिति चेद्—मुक्तेषुवत् प्रवृत्तकर्माक्षिप्तत्वाद् विद्वद्दोषचेष्टानां प्रवृत्तकर्मविभागेनैवोपक्षीणशक्तित्वात् प्रयोजनान्तराभावाच्च न जन्मान्तरारम्भकत्वमुपपद्यते। यद्यप्रवृत्तं कर्म, ततस्त्यवावस्थमेव ब्रह्मविद्याहुताशनदग्धबीजशक्तित्वान्नालं जन्मान्तरारम्भाय, 'क्षीयन्ते चाऽस्य कर्माणि' [2]'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि' इत्यादिश्रुतिस्मृतिभ्यः। अतः सिद्धा पण्डितस्य दोषनिर्हरणात् क्षेमप्राप्तिः॥ ११॥

उज्ज्वला

दोषाणां वक्ष्यमाणानां क्रोधादीनां निर्घातः निर्मूलनम्। इह जीविते योगमूलः योगा वक्ष्यमाणा अक्रोधादयः तन्मूलकः। अतश्च तान् भूतदाहीयान् भूतानि दहतः क्रोधादीन्दोषान् निहृत्य क्षेमं गच्छति आत्मत्राणद्वारेण। पण्डितो [3]लब्धज्ञानः आत्मसाक्षात्कारी। क्षेमं अभयं मोक्षम् [4]'अभयं वै जनक प्राप्तोऽसो'ति बृहदारण्यकम्॥ समाप्ताः श्लोकाः॥ ३॥

अथ भूतदाहीयान्दोषानुदाहरिष्यामः॥ १२॥ ४॥

अनु०—अब हम उन दोषों का उदाहरण प्रस्तुत करेंगे जो प्राणियों का नाश करते हैं॥ ४॥

भूतानां दाहो भूतदाहः तस्मै हिताः भूतदाहीयाः तस्मै हितमिति छः।

क्रोधो हर्षो रोषो लोभो मोहो दम्भो द्रोहो मृषो-
द्यमत्याशपरीवादावसूया काममन्यू अनात्म्यम-
योगस्तेषां योगमूलो निर्घातः॥ १३॥ ५॥

अनु०—क्रोध, हर्ष, रोष, लोभ, मोह, दम्भ, द्रोह अर्थात् दूसरे को अनिष्ट करने की इच्छा, असत्य भाषण, अतिभोजन, दूसरे पर मिथ्या दोष लगाना, दूसरे के गुणों से

---

१. श्रीभ० गीता २.५९. २. श्रीभगव. ४.३७.
३. लब्धज्ञानः आत्मसाक्षात्कारी इति क. ख. पु. ४. बृ. उ. ६. २. ४.

जड़ना, काम, द्वेष, इन्द्रियों को वश में न रखना, मन को समाहित न करना—ये प्राणियों का विनाश करने वाले दोष हैं और ये दोष योग के माध्यम से ही समाप्त होते हैं ॥ ५ ॥

विवरणम्

तत्र क्रोधस्ताडनाक्रोशनादिहेतुरन्तःकरणविक्षोभो गात्रस्वेदकम्पनादिलिङ्गः। हर्षस्तद्विपरीतोऽभीष्टलाभजनितो बाष्परोमाञ्चनादिलिङ्गः। रोषोऽनिष्टविषयो मानसो विक्रियाविशेषः। लोभः परद्रव्येप्सा, स्वद्रव्याविनियोगस्तीर्थे। मोहः वेकिता। दम्भ आत्मनो धार्मिकत्वप्रकाशनम्। द्रोहः परानिष्टचिकीर्षा। मृषोकार्याकार्याविद्यमनृतवचनम्। अत्याशपरीवादौ अत्याशोऽतिमात्रमशनम्। परीवादोऽसमक्षं परदोषाभिधानम्। असूया परगुणेष्वक्षमा। काममन्यू कामः स्त्रीव्यतिकराभिलाषः। मन्युस्तद्विघातकृत्सु द्वेषः। अनात्म्यम् अनात्मवत्ता। एष क्रोधादिरयोगः, असमाधानलक्षणो ह्येष चेतसो विक्षेपप्रकारः। तेषां योगमूलो निर्घातः ॥ १२ ॥ १३ ॥

उज्ज्वला

[1]ताडनाक्रोशादिहेतुकोऽन्तःकरणविक्षोभः स्वेदकम्पादिलिङ्गः क्रोधः। हर्षः इष्टलाभाच्चेतस उद्रेको रोमाञ्चादिलिङ्गः। रोषः क्रोधस्यैव कियानपि भेदो मित्रादिषु प्रतिकूलेषु मनसो वैलोम्यमात्रकार्यकरः। लोभो द्रव्यसङ्गः, यो धर्मव्ययमपि रुणद्धि। मोहः कार्याकार्ययोरविवेकः। स च प्रायेण क्रोधादिजन्योऽपि पृथगुपदिश्यते कदाचित्तदभावेऽपि सम्भवतीति। दम्भो धार्मिकत्व[2] प्रकाशनेन लोकवञ्चनम्। द्रोहोऽपकारः। मृषोद्यमनृतवादः। अत्याशोऽत्यशनम्। परीवादः परदोषाभिधानम्। असूया परगुणे[3]ष्वक्षमा। कामः स्त्रीसंसर्गः। मन्युः गूढो द्वेषः अनात्म्यं अजितेन्द्रियत्वं जिह्वाचापलादि। अयोगो विक्षिप्तचित्तता। एते भूतदाहीया दोषाः। तेषां योगमूलो निर्घातः ॥ ५ ॥

के पुनस्ते योगा इति, उच्यते—

अक्रोधोऽहर्षोऽरोषोऽलोभोऽमोहोऽदम्भोऽद्रोहः सत्यवचनमनत्याशोऽपैशुनमनसूया संविभागस्त्याग आर्जवं मार्दवं शमो दमः सर्वभूतैरविरोधो योग आर्यमानृशंसं तुष्टिरिति सर्वाश्रमाणां समयपदानि तान्यनुतिष्ठन् विधिना [4]सार्वगामी भवति ॥ १४ ॥ ६॥

---

१. आक्रोशादि इति ख० पु० २. प्रदर्शनेन इति क० पु० ३. अक्षमता इति क० पु०
४. सर्वगामी इति विवरणानुमतः पाठः।

अनु०—क्रोधहीनता, हर्ष का अभाव, रोष न करना, अलोभ, मोह का अभाव, दम्भ का न होना, द्रोह न करना, सत्य वचन, भोजन में संयम, परदोष कथन से विमुख होना, असूया का अभाव, स्वार्थहीन उदारता, दान आदि न लेना, सरलता, कोमलता, भावावेगों का शमन, इन्द्रियों को वश में करना, सभी प्राणियों के साथ प्रेम, आत्मा के चिन्तन में मन को समाहित करना, आर्यों के नियम के अनुसार आचरण, क्रूरता का त्याग, सन्तोष—इन उत्तम गुणों का विधान सभी चार आश्रमों के श्रेष्ठ जनों समयाचारपूर्वक किया है, जो इनका शास्त्रोक्त विधि से आचरण करता है वह विश्वात्मा को प्राप्त करता है ॥ ६ ॥

विवरणम्

अक्रोधोऽहर्षः इत्येवमाद्या अयोगविपरीताः । अतस्ते समाधिलक्षणत्वाद् योगः । संविभागः आत्मनो यात्रासाधनस्याऽर्थिभ्यः संविभजनम् । त्यागः । दृष्टादृष्टेष्टभोगानां शक्तितः परित्यजम्, तत्साधनानां च । आर्जवम् ऋजुता, अदुष्टाकलनपूर्विका वाङ्मनःकायानां प्रवृत्तिः । मार्दवं मृदुत्वम् । शमोऽन्तःकरणोपशमः । दमो बाह्यकरणापेशमः । इदमन्यद् योगलक्षणं संक्षेपत उच्यते–सर्वभूताविरोधो योगः,विरोधे हि भूतानां पीडा, तदभावेऽपीडा । स एव सर्वभूतापीडालक्षणो योगः । आर्यम् आर्याणां भावः अक्षुद्रता । आनृशंसम् आनृशंस्यम्, अक्रौर्यम् । तुष्टिः लब्धव्यस्याऽलाभेऽपि चेतसः प्रसन्नतयाऽवस्थानं लाभ इव । सर्वभूताविरोधलक्षणांहिसा परिव्राजकस्यैव सम्भवतीत्यार्यादीनां त्रयाणामन्येषां चाऽविरुद्धानां सर्वाश्रमान् प्रति प्राप्तिरितीतिशब्दसामर्थ्याद्, इतिशब्दस्य च प्रकारवचनत्वादार्यादीनीत्थंप्रकाराणि सर्वाश्रमान् प्रति गमयति सर्वाश्रमाणां समयपदानीति । 'समयस्थानातीत्येनत् । अवश्यानुष्ठेयानीत्यर्थः । तान्येतानि यथोक्तान्यनुतिष्ठन् विधिना सर्वगामी सर्वगमनशीलः, ज्ञानाभिव्यक्तिक्रमेण । भवति मुच्यते इत्यर्थः ॥

इति श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यस्य श्रीशङ्करभगवत्पादाचार्यस्य कृतिषु आपस्तम्बीयधर्मशास्त्राध्यात्मपटविविरणम् ॥ ❀ ॥

उज्वला

के पुनस्ते योगाः ? तानाह—

एते चाऽक्रोधादयोऽपि भावरूपाः न क्रोधाद्यभावमात्रम्, क्रोधादिनिर्घातहेतुतयोपदेशात् । के पुनस्ते ? अक्रोधः, क्रोधादिषु प्रसक्तेष्वपि मा कार्षमिति सङ्कल्पः । अहर्षः, इष्टलाभालाभेषु चेतस ऐकरूप्यम् । अरोपः मित्रादिषु प्रतिकूले-

ष्वपि मनोविकाराभावः। अलोभः सन्तोषोऽलम्बुद्धिः। अमोहोऽवधानम्। आदम्भो धर्मानुष्ठानम्। अद्रोहः परेष्वपकारिष्वप्यनपकारः। अनसूया परगुणेष्वभिमोदनम्। सत्यवचनं यथादृष्टार्थवादित्वम्। संविभागः आत्मान[1]मुपरुध्याऽप्यग्रादिदानम्। त्योगोऽपरिग्रहः। आर्जवं मनोवाक्कायानामेकरूपत्वम्। मार्दवं सूपगम्यता। शमः मन्युपरित्यागः। दमः[2]इन्द्रियजयः। एताभ्यामेव गतत्वात् पूर्वत्र स्वस्मिन् क्रमे अकामः, अमन्युः, आत्मवत्वमिति नोपदिष्टम्। सर्वभूतैरविरोधः। सर्वग्रहणं क्षुद्रैरविरोधार्थम्। योगः ऐकाग्र्यम्। आर्याणां भावः आर्यं शिष्टाचारानुपालनम्। आनृशंसं आनृशंस्यं व्यवहारपचनादौ प्रसक्तनैष्ठुर्यस्य वर्जनम्। तुष्टिरनिर्वेदः समयो व्यवस्था। सा च प्रकरणाद्धर्मज्ञानाम्। पदं विषयः। एते अक्रोधादयः सर्वेषामाश्रमाणां सेव्याः,न केवलं योगिनामेवेति धर्मज्ञानां समय इत्यर्थः। एते हि भाव्यमानाः क्रोधादीन् समूलघातं घ्नन्ति। अतश्च तान्यनुतिष्ठन् विधिना सार्वगामी भवतिः तान्यक्रोधादीनि तुष्टश्चन्तानि। विधिना यथाशास्त्रम्। अनुतिष्ठन् सार्वगामी सर्वस्मै हितः सार्वः आत्मा तं गच्छति प्राप्नोति। 'विधिने'ति वचनात्[3]''प्राणिनां तु वधो यत्र तत्र साक्ष्यनृतं वदेत्।' इत्यादिके विषये अनृतवचनादावपि न दोष इति ॥ ६ ॥

इति श्रीहरदत्तविरचितायामापस्तम्बधर्मसूत्रवृत्तावुज्वलायां त्रयोविंशी कण्डिका ॥ २३ ॥

इति चापस्तम्बधर्मसूत्रवृत्तौ हरदत्तमिश्रविरचितायामुज्ज्वलायां प्रथमप्रश्नेऽष्टमः पटलः ॥ ८ ॥

---

१. अवरुध्य इति क० पु० २. इन्द्रियनिग्रहः इति ग० पु०

३. द्वित्रेष्वप्यादर्शपुस्तकेषु 'प्राणिनां तु वधो यत्र'' इत्येव मुद्रितपुस्तकेषु पाठस्समस्ति। (या० स्मृ० २. ८३) किञ्च मनौ एतत्समानार्थकश्लोक एवमुपलभ्यते—

शूद्रविट्क्षत्रविप्राणां यत्रर्तोक्तौ भवेद्वधः।
तत्र वक्तव्यमनृतं तद्धि सत्याद्विशिष्यते ॥ इति। (म० स्मृ० ८. १०४)

अनयोरेकार्थत्वमभ्युपगम्यैव विज्ञानेश्वरेणाऽपि "यत्र वर्णिनां शूद्रविट्क्षत्रविप्राणां सत्यवचनेन वधस्सम्भाव्यते'' इति याज्ञवल्कीयं वचनं व्याख्यातम्। अन्यैरपि विश्वरूपापरार्कादिभिः 'वर्णिनाम्' इत्येवं पाठः स्वीकृतः। अतोऽत्रापि 'वर्णिनां' इत्येव पाठस्साधीयानिति युक्तमुत्पश्यामः।

अथ नवमः पटलः

क्षत्रियं हत्वा गवां सहस्रं वैरयातनार्थं दद्यात् ॥ १ ॥

क्षत्रियं हत्वा गवां सहस्रं ब्राह्मणेभ्यो दद्यात्। किमर्थम्? वैरयातनार्थं वैरं पापं तस्य यातनं निर्हरणं तदर्थम् ऋषभश्चात्राऽधिकः सर्वत्र प्रायश्चित्तार्थं" (२४.४) इति वक्ष्यति। तेन प्रायश्चित्तरूपमिदं दानम्। प्रायश्चित्तं च पापक्षयार्थम्। तत्किमर्थं वैरयातनार्थमित्युच्यते? केचिन्मन्यन्ते—नाऽभुक्तं क्षीयते कर्म पुण्यमपुण्ये च। प्रायश्चित्तं तु नैमित्तिकं कर्मान्तरं [1]यथा गृहदाहादौ क्षामवत्यादय इति। तान्निराकर्तुमिदमुक्तम्। श्रौतेऽप्युक्तं—[2]'दोषनिर्घातार्थानि भवन्ती'ति। अपर आह—यो येन हन्यते स हतो म्रियमाणस्तस्मिन्वैरं करोति—अपि नामाऽहमेनं जन्मान्तरेऽपि वध्यासमिति। तस्य वैरस्य यातनार्थमिदमिति प्रायश्चित्तार्थत्वमपि वक्ष्यमाणेन सिद्धमिति ॥ १ ॥

अनु०—क्षत्रिय की हत्या करने पर पाप को दूर करने के लिए एक सहस्र गायों का दान करे।

टि०—वैरयातनार्थम् का अर्थ हरदत्त ने 'पाप का निर्हरण-करने के लिए' किया है। प्रायश्चित्त पाप के नाश के लिए किया जाता है, तब 'वैरयातनार्थं' क्यों कहा गया है? प्रायश्चित्त नैमित्तिक कर्म होता है। कुछ लोगों के अनुसार वैरयातनार्थं का प्रयोग इस अर्थ से किया गया है कि मारा जाने वाला व्यक्ति मरते समय मरने वाले के प्रति वैर का भाव बना लेता है तथा दूसरे जन्म में बदला लेने का संकल्प करते हुए मरता है उसके इस वैर का शमन करने के लिए प्रायश्चित्त किया जाता है ॥ १ ॥

शतं वैश्ये ॥ २ ॥

वैश्ये हते गवां शतं दद्यात् ॥ २ ॥

अनु०—वैश्य का वध करने पर सौ गायों का दान करे ॥ २ ॥

दश शूद्रे ॥ ३ ॥

शूद्रे हते दश दद्यात्। गा इति प्रकरणाद्गम्यते ॥ ३ ॥

अनु०—शूद्र का वध करने पर दस गायों का दान करे ॥ ३ ॥

---

१. 'यस्य गृहान् दहत्यग्नये क्षामवते पुरोडाशमष्टाकपालं निर्वपेत् भागधेयेनैवैनं शमयति नाऽस्याऽपरं गृहान् दहति' (तै० सं० २. २. २) इति विहिता अहिताग्नेर्यजमानस्य गृहे दग्धे तादृशगृहदाहनिमित्तका क्षामवदग्निदेवताकेष्टिः क्षामवतीष्टिः।

२. आप० श्रौ० ९. १. ४

ऋषभश्चाऽत्राधिकः सर्वत्र प्रायश्चित्तार्थः ४

सर्वेष्वेतेषु निमित्तेषु ऋषभोऽत्यधिको देयः। न केवलं गा एव। इदं प्रायश्चित्तत्रयं मानवेन समानविषयम्। यथाऽऽह—

'अकामतस्तु राजन्यं विनिपात्य द्विजोत्तमः।
ऋषभैकसहस्रा गा दद्याच्छुद्ध्यर्थमात्मनः॥
त्र्यब्दं चरेद्वा नियतो जटी ब्रह्महणो व्रतम्।
वसन् दूरतरे ग्रामाद्वृक्षमूलनिकेतनः॥
एतदेव चरेदब्दं प्रायश्चित्तं द्विजोत्तमः।
प्रमाप्य वैश्यं वृत्तस्थं दद्याद्वैकशतं गवाम्॥
एतदेव व्रतं कृत्स्नं षण्मासान्शूद्रहा चरेत्।
ऋषभैकादशा वाऽपि दद्याद्विप्राय गास्सिताः॥' इति॥ ४॥

अनु०—इन सभी निमित्तों में प्रायश्चित के लिए गायों के अतिरिक्त एक साँड़ का भी दान करे॥ ४॥

स्त्रीषु चैतेषामेवम्॥ ५॥

एतेषां क्षत्रियादीनां स्त्रीषु च हतासु एवमेव प्रायश्चित्तं यथा पुरुषेषु॥ ५॥

अनु०—इन (क्षत्रिय आदि) वर्णों की स्त्रियों का वध करने पर भी वैसा ही प्रायश्चित्त करना होता है जैसा इन वर्णों के पुरुषों के वध के संबद्ध में विहित है॥ ५॥

पूर्वयोर्वर्णयोर्वेदाध्यायं हत्वा सवनगतं वाऽभिशस्तः॥ ६॥

उक्तेषु यौ पूर्वौ वर्णौ क्षत्रियवैश्यौ तयोर्यो वेदाध्यायः अधीतवेदः तं हत्वा अभिशस्तो भवति अभिशस्त इति ब्रह्मघ्नोऽभिधानम् सवनगतं वा,तयोरेव वर्णयोः यः सवनगतः सवनशब्देन न प्रातस्सवनादीन्युच्यन्ते,नापि यागमात्रम्। किं तर्हि? सोमयागः। तत्र यो दीक्षितः सवनगतः'ब्राह्मणो वा एष जायते यो दीक्षित'इति दर्शनात्। तं च हत्वाऽभिशस्तो भवति। पूर्वयोर्वर्णयोरिति किम्! ब्राह्मण मा भूत्। इष्यते ब्राह्मणे। वक्ष्यति च 'ब्राह्मणमात्रं 'चे'(२४.७.)ति। एवं तर्हि शूद्रे भूत्। न शूद्रो वेदाध्यायः सवनगतो वा भवति। इदं तर्हि प्रयोजनं पूर्वयोर्वर्णयोरेव यथा स्यात्तयोरेव यावनुलोमौ[2]करणाम्बष्ठौ तयोर्मा भूदिति। तेनान्ये वर्णधर्मा अनुलोमानामपि भवन्ति॥ ६॥

१, म० स्मृ० ११. १२७-१३०

२. इतरपुस्तकेषु "सवर्णाम्बष्ठौ'; इत्येव पाठः।

अनु०—प्रथम दो (क्षत्रिय और वैश्य) वर्णों के वेद के विद्वान् पुरुषों का अथवा इन दोनों वर्णों के सोमयाग में दीक्षित पुरुष का वध करने वाला अभिशस्त होता है।

टि०—अभिशस्त का अर्थ है 'ब्रह्मघ्न' महापातकी। यह नियम इन दोनों वर्णों के अनुलोम सम्बन्ध से उत्पन्न करण और अम्बष्ठ के विषय में नहीं होता—हरदत्त की व्याख्या ॥ ६ ॥

ब्राह्मणमात्रं च ॥ ७ ॥

हत्वाऽभिशस्तो भवति। मात्रग्रहणान्नाऽभिजनविद्यासंस्काराद्यपेक्षा ॥

अनु०—वर्णमात्र से ही ब्राह्मण पुरुष की हत्या करने वाला अभिशस्त होता है।

टि०—मात्र का व्यवहार इस अर्थ से किया गया है कि उसका वेदज्ञ या विद्वान होना या संस्कार युक्त होना आवश्यक नहीं है ॥ ७ ॥

गर्भं च तस्याऽविज्ञातम् ॥ ८ ॥

तस्य ब्राह्मणमात्रस्य। गर्भं च स्त्रीपुन्नपुंसकभेदेनाऽविज्ञातम्। हत्वाभिशस्तो भवति ॥ ८ ॥

अनु०—वर्णमात्र से ही ब्राह्मण पुरुष की या गर्भ की, चाहे उस गर्भ का लिङ्ग अज्ञात क्यों न हो, हत्या करने वाला अभिशस्त होता है ॥ ८ ॥

आत्रेयीं च स्त्रियम् ॥ ९ ॥

"ऋतुस्नातामात्रेयीमाहु'रिति[1] वसिष्ठः। तस्येति वर्तते। आत्रेयीं च ब्राह्मणस्त्रियं हत्वाऽभिशस्तो भवति। ब्रह्महा भवति। सम्भवत्यस्यां ब्राह्मणगर्भ इति। अत्रिगोत्रजा आत्रेयीत्यन्ये ॥ ९ ॥

अनु०- आत्रेयी (ऋतुस्नाता) ब्राह्मणस्त्री का वध करने वाला अभिशस्त होता है।

टि०—कुछ लोग आत्रेयी का अर्थ अत्रिगोत्र में उत्पन्न स्त्री करते हैं ॥ ९ ॥

तस्य निर्वेषः ॥ १० ॥

तस्य सर्वप्रकाराभिशस्तस्य निर्वेषः प्रायश्चित्तं वक्ष्यते ॥ १० ॥

अनु०—अब अभिशस्त व्यक्ति के प्रायश्चित्त का विधान किया जायगा ॥ १० ॥

अरण्ये कुटिं कृत्वा वाग्यतः शवशिरध्वजोऽर्धशाणोपक्षमधोनाभ्युपरिजान्वाच्छाद्य ॥ ११ ॥

कृत्वेति वचनान्न परकृता कुटी ग्राह्या। वाक् यता नियता येन स वाग्यतः वाचंयमः। आहिताग्न्यादिषु दर्शनात् निष्ठान्तस्य परनिपातः। शवशिरः

---

१. वि० ध० १०. ९४

ध्वजो यस्य स शवशिरोध्वजः। सकारलोपश्छान्दसः। स्वव्यापादितस्य शिरो ध्वजदण्डस्याग्रे प्रोतं कृत्वेत्यर्थः। यस्य कस्य चिच्छवस्येत्यन्ये। शणस्य विकारः शाणी पटी तस्या अर्धमर्धशाणी तस्याः पक्षमर्धशाणीपक्षं आयामविस्तारयोरुभयोरप्यर्धम्। अधो नाभि उपरिजानु च यथा भवति तथा तावन्तं प्रदेशमाच्छाद्य। सापेक्षत्वात् 'ग्रामे प्रतिष्ठेते' (२४.१४)ति वक्ष्यमाणेन सम्बन्धः। मध्ये क्रियान्तरविधिः ॥ ११ ॥

अनु०—वन में एक कुटी बनाकर, वाणी को रोककर, कुण्डे के ऊपर मनुष्य की खोपड़ी रखकर तथा शरीर का नाभि से घुटने तक का भाग सन के वस्त्र के चौथाई भाग से आच्छादित कर रहे ॥ ११ ॥

तस्य पन्था अन्तरा वर्त्मनी ॥ १२ ॥

तस्य ग्रामं प्रविशतः वर्त्मनी अन्तरा शकटादेर्गत्मनोर्मध्ये पन्था वेदितव्यः। अपर आह—यत्र रथ्यादावुभयोः पार्श्वयोर्वर्त्मनी भवतः तत्र तयोर्मध्येन सूकरादिपथेन सञ्चरेदिति ॥ १२ ॥

अनु०—(ग्राम में प्रवेश करते समय गाड़ी इत्यादि की) दोनों लीकों के बीच का भाग उसका मार्ग होवे ॥ १२ ॥

दृष्ट्वा चाऽन्यमुत्क्रामेत् ॥ १३ ॥

अन्यमार्यं दृष्ट्वा पथ उत्क्रामेत्। तत्र कौटिल्यः[1] 'पञ्चारत्नयो रथपथश्चत्वारो हस्तिपथः द्वौ क्षुद्रपशुमनुष्याणा'मिति। तेन मनुष्येषु द्वौ हस्तावुत्क्रामेदिति॥१३॥

अनु०—दूसरे (आर्य) व्यक्ति को देखकर मार्ग छोड़कर हट जावे।

टि०—कौटिल्य के अनुसार दो हाथ दूर हो जावे ॥ १३ ॥

खण्डेन लोहितकेन शरावेण ग्रामे प्रतिष्ठेत ॥ १४ ॥

खर्परमात्रं खण्डम्। [2]लोहितकमनाप्रीतम्। एवम्भूतं शरावं भिक्षापात्रं गृहीत्वा ग्रामे प्रतिष्ठेत। ग्रामं गच्छेत् ॥ १४ ॥

अनु०—घटिया किस्म की धातु के पात्र का खर्पर (भिक्षापात्र के रूप में) लेकर गाँव में प्रवेश करे ॥ १४ ॥

कोऽभिशस्ताया भिक्षामिति[3] सप्ताऽगारं चरेत् ॥ १५ ॥

[4]अभिशस्तो ब्रह्महा। तस्मै मह्यं को धार्मिको भिक्षां ददातीति उच्चैर्ब्रुवाणः सप्ताऽगाराणि चरेत्। सप्तग्रहणमधिकनिवृत्त्यर्थम्। द्वित्रेष्वेवागारेषु यदि पर्याप्तं लभ्यते तदा तावत्स्येव ॥ १५ ॥

---

१. कौटि० अर्थ० २. ४. २२ २. लोहितं मनाक्ताम्रम् इति० क० पु०
३. सप्तागाराणि इति क० पु० ४. अभिशस्ते को धार्मिकः, इत्येव पाठः ग० पु०

अनु०—'मुझ अभिशप्त को कौन भिक्षा देगा' ऐसी पुकार लगाते हुए सात घरों में भिक्षाटन करे ॥ १५ ॥

सा वृत्तिः ॥ १६ ॥

सप्तस्वगारेषु या च यावती लभ्यते सैव वृत्तिः अपर्याप्ताऽपि ॥ १६ ॥

अनु०—इस प्रकार जो कुछ मिले उसी से जीविका निर्वाह करे (भले ही इस प्रकार प्राप्त भोजन अपर्याप्त होवे ॥ १६ ॥

अलब्ध्वोपवासः ॥ १७ ॥

यदि सप्तागारेषु न किञ्चिल्लभ्यते तदोपवास एव तस्मिन्नहनि ॥

अनु०—(यदि सात घरों में भिक्षाटन करने पर) कुछ भी न प्राप्त हो तो उपवास करे ॥ १७ ॥

गाश्च रक्षेत् ॥ १८ ॥

एवं प्रायश्चित्तं कुर्वन्नहरहर्गाश्च रक्षेत् ॥ १८ ॥

अनु०—इस प्रकार प्रायश्चित्त करते हुए गायों की रक्षा करे ॥ १८ ॥

तासां निष्क्रमणप्रवेशने द्वितीयो ग्रामेऽर्थः ॥ १९ ॥

तासां गवां निष्क्रमणसमये प्रवेशनसमये च द्वितीयो ग्रामेऽर्थः प्रयोजनम् । भिक्षार्थं प्रथममुक्तम् । नाऽन्यथा ग्रामं प्रविशेदित्युक्तं भवति ॥

अनु०—जब गायें गाँव से निकलती हैं और प्रवेश करती हैं वह उसके लिए भिक्षार्थ ग्राम में दुबारा प्रवेश करने का समय होता है ॥ १९ ॥

द्वादश वर्षाणि[1] चरित्वा सिद्धः सद्भिस्सम्प्रयोगः ॥ २० ॥

एवं द्वादश वर्षाणि व्रतमेतच्चरित्वा सद्भिः सम्प्रयोगः कर्तव्यः । सद्भिः सह सम्प्रयुज्यते येन विधिना स कर्तव्यः । स शिष्टाचारे शास्त्रान्तरे च सिद्धः स उच्यते—कृतप्रायश्चित्तः स्वहस्ते यवसं गृहीत्वा गामाह्वयेत् । सा यद्यागत्य श्रद्धाना भक्षयति तदा सम्यगनेन व्रतं चरितमिति जानीयात्, अन्यथा नेति ॥ २० ॥

अनु०—बारह वर्ष तक यह प्रायश्चित्त करने के बाद उस शास्त्रोक्त शिष्टाचार को करे जिसके द्वारा वह पुनः सज्जनों के समाज में प्रवेश योग्य हो जाय ॥२०॥

आजिपथे वा कुटिं कृत्वा ब्राह्मणगव्योऽपजिगीषमाणो
वसेत्त्रिः प्रतिराद्धोऽपजित्य वा मुक्तः ॥ २१ ॥

---

१. 'व्रतमेतदिति अधिकं पुस्तके०

सङ्ग्रामेण जेतव्या दस्युवो येन पथा ग्रामं प्रविश्य गवादिकमपहृत्याऽपसरन्ति स आजिपथः। तस्मिन्वा कुटिं कृत्वा वसेत्। किं चिकीर्षन्! ब्राह्मणगव्यः[1] 'वा छन्दसी'ति पूर्वसवर्णाभावे यणादेशः। ब्राह्मणगवीरपजिगीषमाणः दस्यूनपजित्य प्रत्याहर्तुमिच्छन्। एवं वसन् दस्युभिर्ह्रियमाणं गवादिकमुद्दिश्य तैर्युद्धं कुर्वन् त्रिः प्रतिराद्धः तैरपजितः अपजित्य वा तान् गवादिकं प्रत्याहृत्य ब्राह्मणेभ्यो दत्त्वा मुक्तो भवति तस्मादेनसः। द्वादशवार्षिके प्रवृत्तस्येदम्। एवमुत्तरमपि ॥ २१ ॥

अनु०—अथवा (बारह वर्ष तक उपर्युक्त प्रायश्चित्त करने के बाद) चोरों के मार्ग में कुटी बनावे और चोरों से ब्राह्मणों की अपहृत गायों को छुड़ाने का प्रयत्न करता रहे, तीन बार परास्त होने पर अथवा उन पर विजय पाने पर वह पाप से मुक्त हो जाता है ॥ २१ ॥

आश्वमेधिकं वाऽवभृथमवेत्य मुच्यते ॥ २२ ॥

अथ वाऽश्वमेधावभृथे स्नात्वा मुच्यते ॥ २२ ॥

अनु०—अथवा अश्वमेध का अवभृथ स्नान करने पर पाप दूर होता है ॥ २२ ॥

धर्मार्थसन्निपातेऽर्थग्राहिण एतदेव ॥ २३ ॥

धर्मस्याऽग्निहोत्रादेः, अर्थस्य च कुड्यकरणादेः[2] युगपद्यत्र सन्निपातः तत्रोभयानुग्रहासम्भवे धर्मलोपेन योऽर्थं गृह्णाति तस्याऽप्येतदेव प्रायश्चित्तम्। अथवा धर्मं हित्वाऽर्थहेतोः कौटसाक्ष्यादिं करोति तद्विषयमेतत् अत्र गौतमः—

[3]'कौटसाक्ष्यं राजगामि पैशुनं गुरोरनृताभिशंसनं महापातकसमानी'ति। मनुरपि—

[4]'अनृतं च समुत्कर्षे राजगामि च पैशुनम्।
गुरोश्चाऽलीकनिर्बन्धः समानि ब्रह्महत्यया' ॥ इति ॥ २३ ॥

अनु०—धर्म और अर्थ दोनों का अन्तर्द्वन्द्व उपस्थित होने पर जो व्यक्ति अर्थ अर्थात् भौतिक लाभ का चयन करता है (और धर्म की उपेक्षा कर देता है) उसके लिए भी यही प्रायश्चित्त होता है ॥ २३ ॥

गुरुं हत्वा श्रोत्रियं वा कर्मसमाप्तमेतेनैव विधिनोत्तमादुच्छ्वासाच्चरेत् ॥ २४ ॥

गुरुः पित्राचार्यादिः। श्रोत्रियोऽधीतवेदः। स यदि कर्मसमाप्तो भवति सोमान्तानि कर्माणि समाप्तानि यस्य स कर्मसमाप्तः। तौ हत्वा एतेनैवाऽनन्त-

---

१. पा० सु० ६. १. १०६ २. कुड्यकरणादेः इति नास्ति क०च० पु०

३. गौ० ध० २०. ९ ४, म० स्मृ० ११. ५६

रोक्तेन विधिना ओत्तमादुच्छ्वासात् । उत्तम उच्छ्वासः प्राणवियोगः । आ तस्माच्चरेत् ॥ २४ ॥

अनु०—गुरु (पिता, आचार्य आदि), वेद के विद्वान् तथा सोमयज्ञ का अन्तिम कर्म समाप्त कर लेने वाले श्रोत्रिय का वध करने वाला व्यक्ति इसी प्रायश्चित्त का आचरण अन्तिमश्वास रहते समय तक करे ॥ २४ ॥

नास्याऽस्मिँल्लोके प्रत्यापत्तिर्विद्यते ॥ २५ ॥

अश्वमेधावभृथादिषु सम्भवत्स्वपि अस्याऽस्मिंल्लोके अस्मिन् जीविते प्रत्यापत्तिः शुद्धिर्नास्तीत्यर्थः ।

अनु०—उसको पाप से मुक्ति इस संसार में नहीं होती ॥ २५ ॥

कल्मषं तु निर्हण्यते ॥ २६ ॥

मृतस्य कल्मषं निर्हण्यते । [1]तेन पुत्रादिभिः संस्कारादिः कर्तव्य इति भावः । अन्ये तु पूर्वं सूत्रे तन्निवृत्त्यर्थं मन्यन्ते । प्रत्यापत्तिः पुत्रादिभिः पित्रादिभावेन सम्बन्ध इति ॥ २६ ॥

अनु०—मृत्यु के बाद उस व्यक्ति के पाप दूर हो जाते हैं ॥ २६ ॥

इति हरदत्तविरचितायामापस्तम्बसूत्रवृत्तौ चतुर्विंशी कण्डिका ॥ २४ ॥

अथ पञ्चविंशी कण्डिका

गुरुतल्पगामी सवृषणं शिश्नं परिवास्याऽञ्जलावाधाय दक्षिणां दिशमनावृत्ति व्रजेत् ॥ १ ॥

गुरुरत्र पिता, नाऽऽचार्यादिः । तल्पशब्देन शयनवाचिना भार्या लक्ष्यते । सा च साक्षाज्जननी[2] । न तत्सपत्नी । तां गत्वा सवृषणं साण्डं शिश्नं परिवास्य क्षुरादिना छित्वाऽञ्जलावाधाय दक्षिणां दिशं व्रजेत् । अनावृत्तिम् आवृत्तिर्न क्रियते यस्यां तां दिशमनावर्तमानो गच्छेत् । अथ ये [3]दक्षिणस्योदधेस्तीरे वसन्ति तेऽपि यावद्देशं गत्वा उदधिमेव प्रवेक्ष्यन्ति । मरणं ह्यत्र विवक्षितम् । अत्र संवर्तः—

[4]पितृदारान् समारुह्य मातृवर्जं नराधमः ।
भगिनीं मातुराप्तां वा स्वसारं वाऽन्यमातृजाम् ॥
एता गत्वा स्त्रियो मोहात्[5] तप्तकृच्छ्रं समाचरेत् ॥ इति ।

---

१. तेन पुत्रादिभिस्संस्काराद्यौर्ध्वदेहिकाः कार्या इति भावः० इति ख० पु०
२. तत्सपत्नी वा इति ग० पु०
३. अथेति नास्ति ग० पु०
४. संव० स्मृ० १५८. १५९
५. तप्तकृच्छ्रान् षडाचरेत्, इति. छ० पु०

नारदस्तु—

'माता मातृष्वसा श्वश्रूर्मातुलानी पितृष्वसा।
[1]पितृव्यपत्नी शिष्यस्त्री भगिनी तत्सखी स्नुषा॥
दुहिताऽऽचार्यभार्या च सगोत्रा शरणागता।
राज्ञी प्रव्रजिता धात्री साध्वी वर्णोत्तमा च या॥
आसामन्यतमां गत्वा गुरुतल्पग उच्यते।
शिश्नस्योत्कृन्तनं तत्र नाऽन्यो दण्डो विधीयते॥ इति॥ १॥

अनु०—गुरु पत्नी से मैथुन करने वाला महापातकी आण्डकोष सहित जननेन्द्रिय को काटकर अपनी अञ्जलि में रखकर बिना रुके दक्षिण दिशा को तब तक चलता जाय जब तक गिर कर मृत्यु नहीं प्राप्त कर लेता।

टि०—गुरु से यहाँ पिता से तात्पर्य है। आचार्यादि से नहीं। तल्प का लाक्षणिक अर्थ भार्या है। यहाँ साक्षात् मातृगमन से अभिप्राय है, पिता की सपत्नियों से भी नहीं। दक्षिण समुद्र के किनारे निवास करने वाला व्यक्ति भी दक्षिण की ओर ही चले और समुद्र में प्रवेश करके मृत्यु प्राप्त करे॥ १॥

ज्वलितां वा सूर्मिं परिष्वज्य समाप्नुयात्॥ २॥

आयसी ताम्रमयी वा अन्तस्सुषिरा स्त्रीप्रकृतिरत्र सूर्मिः। तां ज्वलितामग्नौ तप्ताम्। परिष्वज्य समाप्नुयात् समाप्तिं गच्छेत् म्रियेत॥ २॥

अनु०—अथवा जलती हुई (लोह या ताँबे की) स्त्री प्रतिमा का आलिङ्गन करके जीवन को समाप्त करे॥ २॥

सुरापोऽग्निस्पर्शां सुरां पिबेत्॥ ३॥

'गौडी पैष्टी च माध्वी च विज्ञेया त्रिविधा सुरा।'

तस्याः पाता सुरापः। सः अग्निस्पर्शां [2]अग्निकथितां सुरां पिबेत्। तया दग्धकायः शुद्ध्यति॥ ३॥

अनु०—सुरापान करने वाला अग्नि पर खौलायी गई सुरा पिए॥ ३॥

स्तेनः प्रकीर्णकेशोंऽसे मुसलमाधाय राजानं गत्वा कर्माऽऽचक्षीत। तेनैनं हन्याद्वधे मोक्षः॥ ४॥

स्तेनो ब्राह्मणस्वर्णहारी। अंसे स्वे स्कन्धे। मुसलमाधाय आयसं खादिरं वा धारयन्। राजानं गत्वा कर्माऽऽचक्षीत—एवंकर्माऽस्मि, शाधि मामिति। स तेन मुसलेन एनं स्तेनं हन्यात्, यथा मृतो भवति।[3] वधेन स्तेयात् मोक्षो भवति॥ ४॥

---

१ पितृव्यसखिशिष्यस्त्री इति. क० पु० ६ २ अतिश्रपितां इति. ख० ग० ८० [?]

३. वधे सति स्तेनस्य मोक्षो मुक्तिर्भवत्येनसो नान्यथा इति. क० च० पु०

अनु०—चोर अपने केश बिखेरे हुए तथा कंधे पर मुसल रखकर राजा के पास जावे और उससे अपना कर्म बतावे। राजा उस मुसल से चोर के ऊपर प्रहार करे, उससे यदि उसका वध हो जाय तो चोरी के पाप से मुक्ति हो जाती है ॥४॥

अनुज्ञातेऽनुज्ञातारमेनः स्पृशति ॥ ५ ॥

यदि राजा दयादिना तमनुजानीयात् गच्छेति, तदा तमनुज्ञातारं राजनमेव तदेनः स्पृशति ॥ ५ ॥

अनु०—यदि राजा उसे क्षमा कर दे तो उसका पाप क्षमा करने वाले राजा को ही लग जाता है ॥ ५ ॥

अग्निं वा प्रविशेत् ॥ ६ ॥

उत्तरमृजु ॥ ६ ॥

अनु०—अथवा स्वयं को अग्नि में झोंक दे ॥ ६ ॥

तीक्ष्णं वा तप आयच्छेत् ॥ ७ ॥

तीक्ष्णं तपः महापराकादि। तद्वा आयच्छेत् आवर्तयेत् ॥ ७ ॥

अनु०—अथवा (महापराक आदि) कठोर तप का बार बार आचरण करे ॥७॥

भक्तापचयेन वाऽऽत्मानं समाप्नुयात् ॥ ८ ॥

भक्तमन्नम्। तस्याऽपचयो ह्रासः। प्रथमे दिने यावन्तो ग्रासाः ते एकेन न्यूना द्वितीये। एवं तृतीयादिष्वपि आ एकस्माद् ग्रासात्। तत्रापि यदि न समाप्तिः ततस्तत्रैव ग्रासपरिमाणापचयः कर्त्तव्यः। एवं भक्तापचयेनाऽऽत्मानं समाप्नुयात् समापयेत् ॥ ८ ॥

अनु०—अथवा भोजन में प्रतिदिन ह्रास करते हुए अपना जीवन समाप्त कर दे ॥ ८ ॥

कृच्छ्रसंवत्सरं वा चरेत् ॥ ९ ॥

अथ वा संवत्सरमेकं नैरन्तर्येण कृच्छ्रांश्चरेत्। एषामेनस्सु गुरुषु गुरूणि, लघुषु लघूनीति व्यवस्था ॥ ९ ॥

अनु०—अथवा एक वर्ष तक निरन्तर कृच्छ्र व्रत करे ॥ ९ ॥

अथाऽप्युदाहरन्ति ॥ १० ॥

अस्मिन्नेव विषये पुराणश्लोकमप्युदाहरन्तीत्यर्थः ॥ १० ॥

अनु०—इस विषय में इन श्लोकों को भी उद्धृत किया जाता है ॥ १० ॥

स्तेयं कृत्वा सुरां पीत्वा गुरुदारं च गत्वा ब्रह्महत्यामकृत्वा।
चतुर्थकाला मितभोजिनः स्यु[1]रपोऽभ्यवेयुः सवनानुकल्पम्।

---

१. अपोऽभ्युपेयुः इति. क० छ० पु०

स्थानासनभ्यां विहरन्त एते त्रिभिर्वर्षैरप पापं नुदन्ते ॥ ११ ॥

ब्रह्महत्याव्यतिरिक्तानि स्तेयादीनि कृत्वा चतुर्थकालाश्चतुर्थो भोजनकालो येषाम्। यथा—अद्य दिवा भुङ्क्ते श्वो नक्तमिति, ते तथोक्ताः। तथापि मितभोजिनः न मृष्टाशिनः। 'अपोऽभ्यवेयुः[1] भूमिगतास्वप्सु स्नानं कुर्युः। सवनानुकल्पं; तथा सवनानि प्रातस्सवनादीन्यनुक्लृप्तानि अनुसृतान्यनुष्ठितानि भवन्ति तथा[2] त्रिषवणमित्यर्थः। तिष्ठेयुरहनि, रात्रावासीरन्। एवं स्थानासनाभ्यां विहरन्तः कालक्षेपं कुर्वन्तः। एते त्रिभिर्वर्षैस्तत्पापमपनुदन्ते ॥ ११ ॥

अनु०—चोरी करने वाला सुरा पान करनेवाला गुरुपत्नीगामी प्रत्येक चौथे भोजन के समय थोड़ा भोजन करें तीन सवनों के समय स्नान करे, दिन खड़े होकर तथा रात्रि बैठे-बैठे बितावे। तीन वर्ष में ये कर्म उसके पाप को दूर कर देते हैं किन्तु ब्राह्मण की हत्या करने वाला इसका अपवाद होता है ॥ ११ ॥

प्रथमं वर्णं परिहाप्य प्रथमं वर्णं हत्वा सङ्ग्रामं गत्वाऽवतिष्ठेत तत्रैनं हन्युः ॥ १२ ॥

प्रथमो वर्णो ब्राह्मणः। तं हत्वा सङ्ग्रामं गत्वा सेनयोर्मध्येऽवतिष्ठेत। किं सर्वे? नेत्याह—प्रथमं वर्णं परिहाप्य ब्राह्मणवर्जमितरो वर्णः क्षत्रियादिरित्यर्थः। तत्र स्थितमेनं ते सैनिका हन्युः, त एनं हतं विदध्युः। अघ्नन्त एनस्विनः स्युः, यथा राजा स्तेनम्। स मृतश्शुद्ध्यति ॥ १२ ॥

अनु०—यदि प्रथम वर्ण को छोड़कर किसी अन्य वर्ण के व्यक्ति ने प्रथम वर्ण अर्थात् ब्राह्मण का वध किया है, तो वह युद्ध में जाकर दोनों पक्षों के बीच खड़ा हो जाय वहाँ सैनिक उसका वध करे तो मरने पर वह पाप से शुद्ध हो जाता है ॥१२॥

अपि वा लोमानि त्वचं मांसमिति हावयित्वाऽग्निं प्रविशेत् ॥ १३ ॥

अनन्तरोक्त एव विषये प्रायश्चित्तान्तरम्। इतिशब्दो लोहितादीनामप्युपलक्षणार्थः। आत्मनो लोमादीन्युत्कृत्य पुरोहितेन हावयित्वा होमं कारयित्वा पश्चात् स्वयं तस्मिन्नग्नौ प्रविशेत्, मृतः शुद्ध्यति। तत्राग्निमुपसमाधाय जुहुयात्[3] "लोमानि मृत्योर्जुहोमि, लोमभिर्मृत्युं वासये स्वाहा। त्वचं मृत्योर्जुहोमि त्वचा मृत्युं वासये स्वाहा ॥ लोहितं मृत्योर्जुहोमि लोहितेन मृत्युं

---

१. अपोऽभ्युपेयुः इति. छ० पु०

२. सोमयागे प्रातर्मध्यन्दिने सायमिति त्रिषु कालेषु प्रातस्सवनं माध्यन्दिनं सवनं तृतीयसवनं इति सवनत्रयमनुस्यूततयाऽनुष्ठीयते तद्वत् कालत्रयेऽपि स्नानं कुर्युरित्यर्थः।

३ व० ध० २० २६

वासये स्वाहा । स्नावानि मृत्योर्जुहोमि स्नावभिर्मृत्युं वासये स्वाहा । मांसानि मृत्योर्जुहोमि मांसैर्मृत्युं वासये स्वाहा । अस्थीनि मृत्योर्जुहोमि अस्थभिर्मृत्युं वासये स्वाहा । मज्जानं मृत्योर्जुहोमि मज्जभिर्मृत्युं वासये स्वाहा । मेदो मृत्योर्जुहोमि मेदसा मृत्युं वासये स्वाहा" । इत्येते मन्त्राः वसिष्ठेन पठिताः ॥१३॥

अनु०—अथवा अपने शरीर से रोम त्वचा मांस निकलवाकर अग्नि से हवन कराये और स्वयं को अग्नि में झोक दे ॥ १३ ॥

वायसप्रचलाकबर्हिणचक्रवाकहंसभासमण्डूकनकुलडेरिका-श्वहिंसायां शूद्रवत्प्रायश्चित्तम् ॥ १४ ॥

वायसः काकः । प्रचलाकः कामरूपी कृकालासः । बर्हिणो मयूरः । चक्रवाको दिवा मिथुनचरः,रात्रो विरही । हंसो मानसवासी । भासो गृध्रविशेषः । नकुलमण्डूकादयः प्रसिद्धाः । डेरिका गन्धमूषिका । एतेषां समुदितानां वधे शूद्रवत्प्रायश्चित्तम् । प्रत्येकं वधे तु कल्प्यम् । केचित् प्रत्येकं वध एतत्प्रायश्चित्तमित्याहुः ॥ १४ ॥

अनु—कौआ गिरगिट मोर चक्रवाक हंस भासनाम का पक्षी मेढक नेवला डेरिका अथवा कुत्ते की हत्या करने पर वही प्रायश्चित्त करे जो शूद्र की हत्या पर किया जाता है ।

टि०—कुछ धर्मज्ञ इनके सबका वध करने पर शूद्रवध के समान प्रायश्चित्त मानते हैं कुछ लोगों के अनुसार इनमें से प्रत्येक के वध पर शूद्रवध के समान प्रायश्चित्त विहित है ॥ १४ ॥

॥ इत्यापस्तम्बधर्मसूत्रवृत्तौ प्रथमप्रश्ने पञ्चविंशी कण्डिका ॥ २५ ॥

अथ षड्विंशी कण्डिका

धेन्वनडुहोश्चाऽकारणात् ॥ १ ॥

धेनुः पयस्विनी गौः । अनड्वान् अनोवहनयोग्यो बलीवर्दः । तयोः कारणमन्तरेण हिंसायां शूद्रवत्प्रायश्चित्तं कर्तव्यम् । कारणं कोपो मांसेच्छा वा । ताभ्यां विना, अबुद्धिपूर्वमित्यर्थः । बुद्धिपूर्वं तु[1] 'गाश्च वैश्यव'दित्यादि स्मृत्यन्तरे द्रष्टव्यम् ॥ १ ॥

अनु०—विना कारण के दूध देने वाली गौ या बैल की हत्या करने पर शूद्र की हत्या के प्रायश्चित्त के समान ही प्रायश्चित्त करना होता है ।

धुर्यवाहप्रवृत्तो चेतरेषां प्राणिनाम् ॥ २ ॥

---

१. गौ० ध० २३. १८

धुरं वहतीति धुर्यो बलीवर्दः। तेन वोढुं शक्त्या धुर्यवाहः। तावत्सु हिंसायाः प्रवृत्तौ सत्याम् इतरेषां प्राणिनां केवलं प्राणा एव येषां नाऽस्थीनि तेषां हिंसायां शूद्रवत्प्रायश्चित्तमिति। अत्र गौतमः [1]"अस्थन्वतां सहस्रं हत्वा अनस्थिमतामनुडुद्भारे चे'ति ॥ २ ॥

अनु०—अन्य दूसरे केवल प्राणियों का (जिसमें अस्थियाँ न होंवे) बैल के बोझ जितनी मात्रा में वध करने पर शूद्र के वध के प्रायश्चित्त के बराबर प्रायश्चित्त करना होता है ॥ २ ॥

अनाक्रोश्यमाक्रुश्याऽनृतं वोक्त्वा त्रिरात्रम-
क्षीराक्षारलवणभोजनम् ॥ ३ ॥

येन यो न कथञ्चनाऽऽक्रोशमर्हति स पित्राचार्यादिरनाक्रोश्यः। तमाक्रुश्य अनृतं वोक्त्वा पातकोपातकवर्जं, त्रिरात्रं क्षीरादि भोजने वर्जयेत्। क्षीरग्रहणेन तद्विकाराणां दध्यादीनामपि[2] ग्रहणमित्याहुः ॥ ३ ॥

अनु०—जिस व्यक्ति के ऊपर किसी प्रकार आक्रोश नहीं करना चाहिए ऐसे पूज्य व्यक्ति पर आक्रोश करने वाला. (छोटी बात पर) असत्य भाषण करने वाला तीन दिन तक दूध मसाले और नमक के भोजन का परहेज करे ॥ ३ ॥

शूद्रस्य सप्तरात्रमभोजनम् ॥ ४ ॥

शूद्रस्त्वनन्तरोक्तविषये सप्तरात्रमुपवसेत् ॥ ४ ॥

अनु०—यदि शूद्र वर्ण का व्यक्ति यही अपराध करे तो वह सात दिन तक उपवास करे ॥ ४ ॥

स्त्रीणां चैवम् ॥ ५ ॥

क्षत्रियं हत्वे' (२४.१.) त्यादिषु अनृतवचनान्तेषु निमित्तेषु यानि प्रायश्चित्तान्युक्तानि तानि स्त्रीणामप्येवमेव कर्तव्यानि। एतत् 'चत्वारो वर्णा' इति जात्याभिधानादेव प्राप्तं[3] सन्नियमार्थमुच्यते—अत ऊर्ध्वं पुरुषस्यैव न स्त्रीणामिति। अपर आह—जात्याभिधानादेव सिद्धे अतिदेशार्थं वचनम्। अतिदेशेषु चाऽर्धं प्राप्यते इति स्मार्तो न्यायः। तेन स्त्रीणामर्धप्राप्त्यर्थं वचनमिति। तथा च भार्गवः—

अशीतिर्यस्य वर्षाणि बालो वाप्यूनषोडशः।
प्रायश्चित्तार्धमर्हन्ति स्त्रियो व्याधित एव च ॥' इति ॥ ५ ॥

अनु०—स्त्रियां भी उपर्युक्त प्रायश्चित करे।

---

१. गौ० ध० २३. २० २. वर्जनमाहुः इति क० पु०
३. प्रायश्चित्तं प्राप्तम्. तन्नियम्' इति क० पु०

टि०—इसके बाद के प्रायश्चित्त पुरुष ही करें स्त्रियां नहीं ॥ ५ ॥

येष्वाभिशस्त्यं तेषामेकाङ्गं छित्वाऽप्राणिहिंसायाम् ॥ ६ ॥

येषु हतेषु 'सवनगतं वाऽभिशस्त, (३४.९) इत्यादिना अभिशस्तत्वमुक्तं तेषामेकाङ्गं छित्वा शूद्रवत्प्रायश्चित्तं कुर्यात्। अप्राणिहिंसायां यदि छेदनेन तस्याङ्गस्य शक्ति[1]र्न हन्यते ॥ ६ ॥

अनु०—जिन पुरुषों की हत्या करने पर हत्या करने वाला अभिशस्त हो जाता है, उन व्यक्तियों के शरीर का एक अंग काटने पर, यदि उनका प्राण संकटापन्न नहीं होता (उस अंग की शक्ति नष्ट नहीं होती) तो शूद्र के वध के समान प्रायश्चित्त करना होता है ॥ ६ ॥

[2]अनार्यवपैशुनप्रतिषिद्धाचारेष्वभक्ष्या भोज्यापेयप्राशने शूद्रायां च रेतस्सिक्त्वाऽयोनौ च दोषवच्च कर्माभिसन्धिपूर्वं कृत्वाऽनभिसन्धिपूर्वं वाऽब्लिङ्गाभिरप उपस्पृशेद्वारुणीभिर्वाऽन्यैर्वा पवित्रमन्त्रैर्यथा कर्माभ्यासः ॥ ७ ॥

आर्याणां भाव आर्यम्। तद् यस्मिन्नाचारेऽस्ति तदार्यवम्।मत्वर्थीयो वप्रत्ययः। ततोऽन्यदनार्यवम्। असत्यभाषणादि। पैशुनं परदोषकथनं राजगामि प्रतिषिद्धाचारः 'ष्ठीवनमैथुनयोः कर्माऽप्सुपर्जये' (३०.१९) दित्यादेरनुष्ठानम्। अभक्ष्यं वृथाकृसरादि। अभोज्यं केशकीटाद्युपहतम्। अपेयम् अनिर्दशायाः गोः क्षीरादि। एतेषां प्राशने शूद्रायां च वेश्याप्रभृतौ रेतः सिक्त्वा। अयोनौ च जलादौ रेतः सिक्त्वा। दोषवच्च कर्म श्रौतमाभिचारिकम्। अभिसन्धिपूर्वं बुद्धिपूर्वं कृत्वा अनभिसन्धिपूर्वं वा परपीडादिकरं कर्म कृत्वा। अब्लिङ्गाभिः [3]''आपो हि ष्ठा मयोभुव' इति तिसृभि[4] हिरण्य वर्णाश्शुचयः पावका' इति चतसृभिरप उपस्पृशेत्। तूष्णीं प्रथमं स्नात्वा पश्चादेतैर्मन्त्रैर्मार्जनं कुर्यात्। वारुणभिर्वा ''इमं मे वरुण, तत्त्वा यामि;'त्वन्नो अग्ने' इत्येताभिरन्यैर्वा पवित्रैः [5]'पवमानस्सुवर्जनः' इत्येतेनानुवाकेन [6]शुद्धवतीभिः [7]तरत्समन्दीयेन च। यथा

---

१. न भज्यते. इति. घ० पु०। २. गौतमीये २३. १५ सूत्रं द्रष्टव्यम्।

३. तै० ५. ६. १० यो वश्शिवतमो रसः, तस्मा अरं गमाम वः, इत्यग्रिमे ऋचौ।

४. तै० सं० ६. ६. १ यासां राजा वरुणः, यसां देवा दिवि शिवेन मा चक्षुषा इत्यग्रियं ऋक्त्रयम्।

५. तै० सं० ४. २. ११ ६. तै० ब्रा० १. ४. ८

७. ऋ० सं० ८. ९५. ६ ८. ऋ० सं० ८. ९५. ७.

कर्माभ्यासः[1] कृतः तावत्कृत्वो उपस्पृशेत्। रहस्यप्रायश्चित्तमेतदित्याहुः ॥७॥

अनु०—अनार्य आचरण का दोषी, दूसरों पर दोष लगाने वाला, निषिद्ध आचार का अनुसरण करने वाला, वर्जित वस्तु का भक्षण और पान करने वाला, शूद्रा स्त्री से मैथुन करके, योनि के अतिरिक्त अन्यत्र (अस्वाभाविक) वीर्य स्खलन करके दोषयुक्त जानबूझकर (शत्रु आदि के नाश के लिए अथवा अनजान ही अभिचारिक कर्म करने पर, आपोहिष्ठा मयोभुव' आदि तीन मन्त्रों से तथा 'हिरण्यवर्णाश्शुचयः पावकाः' आदि चार मन्त्रों से स्नान तथा जल से अभिषेक करे, अथवा वरुण के मन्त्रों 'इमं मे वरुण,' 'तत्त्वा यामि' 'त्वन्नो अग्ने' आदि मन्त्रों या ''पवमानस्सुवर्जनः'' अनुवाक से अपराध की मात्रा के अनुसार स्नान करे ॥ ७ ॥

गर्दभेनाऽवकीर्णी निर्ऋतिं पाकयज्ञेन यजेत ॥ ८ ॥

यो ब्रह्मचारी स्त्रियमुपेयात् सोऽवकीर्णी गर्दभेन निर्ऋतिं यजेत पाकयज्ञेन स्थालीपाकविधानेन। अत्र मनुः—

[2]'अवकीर्णी तु काणेन गर्दभेन चतुष्पथे।
पाकयज्ञविधानेन, यजेत निर्ऋतिं निशि ॥' इति।

हारीतस्तु—

'स्त्रोऽवपकीर्णी निर्ऋत्यै चतुष्पथे गर्दभं पशुमालभेत पाकयज्ञधर्मेण। भूमौ पशुपुरोडाशश्रवणमप्स्ववदानैः प्रचार्याऽऽज्यं जुहोति 'कामावकीर्णोऽऽस्म्यवकीर्णोऽस्मि कामकामाय स्वाहा। कामाभिद्रुग्धोस्म्यभिद्रुग्धोऽस्मि कामकामाय स्वाहा'' इति ॥ ८ ॥

अनु०—(स्त्री सम्पर्क से) ब्रह्मचर्य को भंग करने वाला अवकीर्णी ब्रह्मचारी निर्ऋति के लिए पाकयज्ञ की विधि से गदहे की बलि प्रदान करे ॥ ८ ॥

तस्य शूद्रः प्राश्नीयात् ॥ ९ ॥

तस्य गर्दभस्य सर्पिष्मद्धविरुच्छिष्टं शूद्रः प्राश्नीयात् [3]'तेन सर्पिष्मता ब्राह्मण' मित्यस्याऽपवादः ॥ ९ ॥

अनु०—उस गर्दभ की बलि का हवन करने से अवशिष्ट मांस का शूद्र पुरुष को भक्षण करावे ॥ ९ ॥

मिथ्याधीतप्रायश्चित्तम् ॥ १० ॥

नियमातिक्रमेणाऽधीतं मिथ्याधीतम्। तद्दोषनिर्हरणाय प्रायश्चित्तं वक्ष्यते ॥ १० ॥

---

१. कृतः तथोपस्पृशेत्० इति क० पु० २. म० स्मृ० ११. ११८
३. आप० गृ० ७. १५

अनु०—नियम का उल्लंघन करके अध्ययन करने वाले ब्रह्मचारी के दोष का प्रायश्चित्त आगे बताया जायगा ॥ १० ॥

संवत्सरमाचार्यहिते वर्तमानो वाचं यच्छेत्स्वाध्याय एवोत्सृजमानो वाचमाचार्य आचार्यदारे वा भिक्षाचर्ये च ॥ ११ ॥

आचार्यहिते वर्तमानो वचंयमः स्यात्। '[1]स्वाध्यायादिष्वेषु वाचमुत्सृजमानः। आचार्ये तं प्रति कार्यनिवेदने। एवमाचार्यदारे। भिक्षाचर्यं भिक्षाचरणम्। तत्र च 'भवति भिक्षां देही'ति। अस्मादेव ज्ञायते—असमावृत्तविषयमेतदिति ॥ ११ ॥

अनु०—एक वर्ष तक चुपचाप गुरु की सेवा करे, और केवल प्रतिदिन के स्वाध्याय के समय आचार्य, आचार्यपत्नी से किसी आवश्यक कार्य का निवेदन करते समय, और भिक्षाचरण के समय ही बोले ॥ ११ ॥

एवमन्येष्वपि दोषवत्स्वपतनीयेषूत्तराणि यानि वक्ष्यामः ॥ १२ ॥

यथा मिथ्याधीतस्येदं प्रायश्चित्तमेवमुत्तराणि यानि प्रायश्चित्तानि वक्ष्यामः तान्यन्येष्वपि। अपिशब्दान्मिथ्याधीतेऽपि। दोषवत्स्वपतनीयेषु पतनीयव्यतिरिक्तेषु कर्मसु येष्वाहत्य प्रायश्चित्तं नोक्तं तद्विषयाणि द्रष्टव्यानि ॥ १२ ॥

अनु०—इसी प्रकार उन्हीं दोषों के लिए तथा अन्य दोषयुक्त कर्मों के लिए भी आगे बताये जाने वाले प्रायश्चित्त करने चाहिए ॥ १२ ॥

काममन्युभ्यां वा जुहुयात्कामोऽकार्षीन्मन्युरकार्षीदिति ॥ १३ ॥

स्वाहाकारान्ताभ्यां होमः। आज्यं द्रव्यम् ॥ १३ ॥

अनु०—काम और मन्यु के लिए 'कामोऽकार्षीत्' (ऐसा काम ने किया है) 'मन्युरकार्षीत्' (ऐसा मन्यु ने किया है) कहते हुए हवन करे ॥ १३ ॥

जपेद्वा ॥ १४ ॥

अस्मिन् पक्षे न स्वाहाकारः। केचित्तु 'कामाय स्वाहा' 'मन्यवे स्वाहे'ति होममिच्छन्ति। जपपक्षे तु सूत्रोपदिष्टौ मन्त्राविति। दोषाभ्यासानुरूपं जपहोमयोरावृत्तिः ॥ १४ ॥

अनु०—अथवा काम और मन्यु के मन्त्र का केवल जप करे ॥ १४ ॥

पर्वणि वा तिलभक्ष उपोष्य वा श्वोभूत उदकमुपस्पृश्य सावित्रीं प्राणायामशस्सहस्रकृत्व आवर्तयेदप्राणायामशो वा ॥ १५ ॥

---

१. वागुत्सर्गस्स्वाध्याय एव इति. ख० पु०

पर्वणि पौर्णमास्याममावास्यायां वा। तिलानेव भक्षयति नान्यदोदनादिकमिति तिलभक्षः। श्वोभूते उदकमुपस्पृश्य स्नात्वा सावित्रीं प्राणायामशः प्राणायामेन एकस्मिन्प्राणायामे यावत्कृत्व आवर्तयितुं शक्यं तावत्कृत्व आवर्तयेत्। एवमा सहस्रपूर्तेः प्राणायामावृत्तिः। अप्राणायामशो वा [1]जपकाले प्राणानायच्छेत्, तूष्णीं जपेद्वेति ॥ १५ ॥

अनु०—अथवा पर्वों पर (पौर्णमासी तथा अमावस्या को) तिल का भक्षण करके अथवा उपवास करके, दूसरे दिन स्नान करे, प्राणायाम करके गायत्री मन्त्र का एक हजार बार जप करे अथवा विना प्राणायाम किये ही गायत्री मन्त्र का एक हजार बार जप करे ॥ १५ ॥

॥ इत्यापस्तम्बधर्मसूत्रवृत्तौ प्रथमप्रश्ने षड्विंशी कण्डिका ॥ २६ ॥

श्रावण्यां वा पौर्णमास्यां तिलभक्ष उपोष्य वा श्वो भूते [2]माहानदमुदकमुपस्पृश्य सावित्र्या समित्सहस्रमादध्याज्जपेद्वा ॥ १ ॥

गिरिप्रभवा समुद्रगामिनी नदी महानदो तत्र भवं महानदम्। समित्सहस्रं याज्ञिकस्य वृक्षस्य 'आदध्या'दिति वचनान्न होमधर्मः स्वाहाकारः[3] 'जुहोतिचोदना स्वाहाकारप्रदान,' इत्युक्तत्वात्। जपेद्वा ॥ १ ॥

अनु०—अथवा श्रावण महीने की पौर्णमासी को तिल का भक्षण करके या उपवास करके दूसरे दिन किसी बड़ी नदी में स्नान करे और एक सहस्र याज्ञिक वृक्ष की समिधाएँ गायत्री मन्त्र का जप करते हुए अग्नि पर रखे अथवा एक सहस्र वार गायत्री मन्त्र का जप करे ॥ १ ॥

इष्टियज्ञक्रतूनवा पवित्रार्थानाहरेत् ॥ २ ॥

पवित्रार्थाः शुद्ध्यर्थाः [4]मृगाराद्या इष्टयः। [5]यज्ञक्रतवः सोमयागा अग्निष्टोमादयः। तान्येतानि षट् प्रायश्चित्तानि एनस्सु गुरुषु गुरूणि, लघुषु लघूनि ।२।

अनु०—अथवा अपनी शुद्धि के लिए (मृगरादि) इष्टियाँ, सोमयाग अग्निष्टोम आदि यज्ञ करे।

---

१. जपकाल इत्यादि नास्ति ख० च० पु०   २. महानदं इति छ० पु०

३. (आप० प० ३. ४.) "जुहोतिचोदना स्वहाकारप्रदान इत्युक्तत्वात्। जपेद्वा" इति नास्ति० क० छ० पु०

४. अग्नयेऽहोमुचेऽष्टाकपालः (तै० सं० ७. ५. २२) इति विहितोष्टिर्मृगोरिष्टिदर्शहविष्का।

५. यज्ञाः क्रतवः। इति क० छ० पु०

टि०—इस प्रकार छः विविध प्रायश्चित्त बताये गये हैं, अधिक दोष होने पर कठिन प्रायश्चित्त करे और कम दोष होने पर इनमें से सरल प्रायश्चित्त करे।—हरदत्त की व्याख्या ॥२॥

अभोज्यं भुक्त्वा नैष्पुरीष्यम् ॥ ३ ॥

अभोज्यस्य मार्जारादिमांसस्य भक्षणे निष्पुरीषभावः कर्तव्यः। यावदुदरं निष्पुरीषं भवति तावदुपवस्तव्यम् ॥ ३ ॥

अनु०—निषिद्ध भोजन का भक्षण करने पर तब तक उपवास करे जब तक पेट मलरहित नहीं हो जाता ॥ ३ ॥

तत्कियता कालेनाऽवाप्यते ? तदाह—

तत्सप्तरात्रेणाऽवाप्यते ॥ ४ ॥

तत् नैष्पुरीष्यम्। सप्तरात्रेणाऽवाप्यते सप्तरात्रमुपवस्तव्यमित्यर्थः। सप्तरात्रमुपवसेदिति व सिद्धे नैष्पुरीष्यवचनाद्येषां त्रिरात्रेणैव तदवाप्यते तेषां तावतैव शुद्धिः। तथा च गौतमः—[1]"अभोज्यभोजने निष्पुरीषभावः त्रिरात्रावरमभोजनं सप्तरात्रं वे"ति ॥ ४ ॥

अनु०—पेट में मल का पूर्णतः अभाव सामान्यतः सात रात्रियों में होता है ॥४॥

हेमन्तशिशिरयोर्वोभयोस्सन्ध्योर्वोदकमुपस्पृशेत् ॥ ५ ॥

उभयोः सन्ध्ययोः सायं प्रातश्च। उदकमुपस्पृशेत् भूमिगतास्वप्सु स्नायात्। उद्धृताभिर्वा शीताभिः ॥ ५ ॥

अनु०—अथवा हेमन्त और शिशिर ऋतुओं में प्रातः और सायं ठण्डे जल से स्नान करे ॥ ५ ॥

कृच्छ्रद्वादशरात्रं वा चरेत् ॥ ६ ॥

द्वादशरात्रसाध्यो व्रतविशेषः कृच्छ्रद्वादशरात्रः ॥ ६ ॥

अनु०—अथवा बारह दिन का कृच्छ्र व्रत करे ॥ ६ ॥

तस्य विधिमाह[2]—

त्र्यहमनक्ताश्यदिवाशी ततस्त्र्यहम्, त्र्यहमयाचितव्रतस्त्र्यहं नाश्नाति किञ्चनेति कृच्छ्रद्वादशरात्रस्य विधिः ॥ ७ ॥

आदितस्त्रिष्वहस्सु नक्तं नाऽश्नीयात्। दिवैव भुञ्जीत। ततस्त्र्यहमदिवाशी रात्रावेव भुञ्जीत। न दिवा। ततस्त्र्यहमयाचितमेव भुञ्जीत। याच्ञाप्रतिषेधोऽयम्। तेन स्वद्रव्यस्याऽप्रतिषेधः। तथा च गौतमः [3]"अथाऽपरं त्र्यहं न कंचन

१. गौ० ध० २६. ४

२. मनौ० ११. २११ श्लोको द्रष्टव्यः। ३. गौ० ध० २६. ४

याचे'दिति। ततश्यहं नाश्नाति कञ्चन फलादिकमपीति। एवं कृच्छ्राद्वादशरात्रस्य विधिः। तत्र स्मृत्यन्तरवशाद्धविष्यमन्नं ब्रह्मचर्यं, स्त्रीशूद्रादिभिरसम्भाषणं च द्रष्टव्यम्॥ ७॥

अनु०—(कृच्छ्र व्रत का नियम इस प्रकार है) तीन दिनों सन्ध्या को भोजन न करे, फिर अगले तीन दिनों दिन में भोजन न करे, फिर तीन दिन विना माँगे प्राप्त अन्न खाकर रहे और उसके बाद तीन दिन तक कुछ न खावे। इस प्रकार बारह दिन के कृच्छ्र व्रत की विधि है॥ ७॥

एतमेवाऽभ्यस्येत् संवत्सरं स कृच्छ्रसंवत्सरः॥ ८॥

एतमेव विधिं संवत्सरं निरन्तरमभ्यस्येत्। स एष कृच्छ्रसंवत्सरो वेदितव्यः। यः पूर्वोक्तः 'कृच्छ्रसंवत्सरं वा चरे' (२५. ९.) दिति॥ ८॥

अनु०—यदि इसी व्रत की आवृत्ति वर्ष भर तक करे तो वह एक वर्ष का कृच्छ्र-व्रत (कृच्छ्रसंवत्सर) होता है॥ ८॥

अथाऽपरं बहून्यप्यपतनीयानि कृत्वा त्रिभिरनश्नन् पारायणैः कृतप्रायश्चित्तो भवति॥ ९॥

अथाऽपरं प्रायश्चित्तमुच्यते। अनश्नतैव निरन्तरं त्रीणि पारायणानि कर्तव्यानि। आदित आरभ्याऽऽसमाप्तेर्वेदस्याऽध्ययनं पारायणम्। बहून्यपि। अपिशब्दात्किं पुनरेकं द्वे वा॥ ९॥

अनु०—अब दूसरे व्रत का नियम इस प्रकार है। अनेक ऐसे दोष युक्त कर्म करने पर, जिन कर्मों से पतन नहीं होता, यदि उपवास करते हुए अपने वेद की सम्पूर्ण शाखा की निरन्तर तीन बार पारायण करे तो दोष से मुक्ति हो जाती है॥ ९॥

अनार्यां शयने बिभ्रद्ददद्वृद्धिं कषायपः। अब्राह्मण इव वन्दित्वा तृणेष्वासीत पृष्ठतप्॥ १०॥

अनार्यां शूद्रां तां शयने बिभ्रत् उपगच्छन्। ददद्वृद्धिं वृद्ध्यर्थं द्रव्यं ददत्। वृद्ध्याजीव इत्यर्थः। सुराव्यतिरिक्तं मद्यं कषायः।[1]तस्य पाता कषायपः। यश्चाऽब्राह्मण इव सर्वान् वन्दी भूत्वा स्तौति स सर्वोऽपि तृणेषूदयादारभ्याऽऽसीत। यावदस्याऽऽदित्यः पृष्ठं पश्चाद्भागं तपति। आदित्ये तपति तदानुगुण्याचरणात् स्वयमेव पृष्ठतबित्युच्यते। अभ्यासे अभ्यासो यावता शुद्धिं मन्यते॥ १०॥

अनु०—अनार्या अर्थात् शूद्रा से संभोग करने वाला, ब्याज पर धन देने वाले, (सुरा के अतिरिक्त अन्य) मादक द्रव का पान करने वाला, सबकी अब्राह्मण की तरह वन्दना करने वाला, घास पर (सूर्योदय के समय से) बैठकर अपनी पींठ को तपावे॥

---

१. 'तत् पिबतीति कषायपः' इति ग० पु०

यदेकरात्रेण करोति पापं कृष्णं वर्णं ब्राह्मणस्सेवमानः चतुर्थकाल
[1]उदकाभ्यवायी त्रिभिर्वर्षैस्तदपहन्ति पापम् ॥ ११ ॥

कृष्णो वर्णः शूद्रः। तमाज्ञाकरो भूत्वा वृत्त्यर्थं सेवमानः। शिष्टं स्पष्टं गतं च। अपर आह-- शूद्रां मैथुने सेवमान इति। अस्मिन्पक्षे ऋतावुपगमने अपत्योत्पत्ताविदं द्रष्टव्यम्। मनुः—

[2]वृषलीफेनपीतस्य निश्वासोपहतस्य च।
तस्यां चैव प्रसूतस्य निष्कृतिर्न विधीयते ॥' इति ॥ ११ ॥

इत्यापस्तम्बधर्मसूत्रवृत्तौ प्रथमप्रश्ने सप्तविंशी कण्डिका ॥ २७ ॥

अनु०—कृष्ण वर्ण (शूद्र) की एक दिन और एक रात सेवा करने के दोष को ब्राह्मण वर्ण का पुरुष प्रति चौथे भोजनकाल पर स्नान करके तीन वर्ष में दूर कर देता है।

टि०—कुछ लोगों ने सूत्र की व्याख्या इस प्रकार की है। ब्राह्मण शूद्रा से एक रात्रि में संभोग का दोष इस प्रायश्चित्त से दूर करता है।

इति चाऽऽपस्तम्बधर्मसूत्रवृत्तौ हरदत्तमिश्रविरचितायामु-
ज्ज्वलायां प्रथमप्रश्ने नवमः पटलः ॥ ९ ॥

१. उदकाभ्युपायी इति छ० पु०   २, म० स्मृ० ३. १९

अथ दशमः पटलः

यथा कथा च परपरिग्रहमभिमन्यते स्तेनो ह भवतीति कौत्सहरीतौ तथा काण्वपुष्करसादी ॥ १ ॥

[1]यथा कथा च आपद्यनापदि वा भूयांसमल्पं वा, परपरिग्रहं परस्वमभिमन्यते–ममेदमस्त्विति बुद्धौ कुरुते [2]सर्वथा स्तेन एव भवतीति कौत्सादयो मन्यन्ते ॥ १ ॥

अनु०—जिस किसी अवस्था में (आपत्ति में या सामान्य अवस्था में) जो व्यक्ति दूसरे की सम्पत्ति को प्राप्त कर लेने का लोभ करता है, वह स्तेन होता है, ऐसा कौत्स और हारीत का तथा काण्व और पुष्करसादी का मत है ॥ १ ॥

सन्त्यपवादाः परपरिग्रहेष्विति वार्ष्यायणिः ॥ २ ॥

वार्ष्यायणिस्तु मन्यते केषुचित्परपरिग्रहेषु स्तेयस्याऽपवादास्सन्तीति ॥ २ ॥

अनु०—दूसरे की वस्तु ग्रहण करने के विषय में अपवाद भी हैं, ऐसा वार्ष्यायणि का मत है ॥ २ ॥

तानेवोदाहरति—

शम्योषा युग्यघासो न स्वामिनः प्रतिषेधयन्ति ॥ ३ ॥

शमी बीजकोशी तस्यामुष्यन्ते दह्यन्ते कालवशेन पच्यन्ते इति शम्योषाः कोशीधान्यानि मुद्गमाषचणकादीनि । युगं वहतीति युग्यः शकटवाही बलीवर्दः, तस्य घासो भक्षस्तृणादिः युग्यघासः। एते आदीयमानाः स्वामिनो न प्रतिषेधयन्ति स्वामिभिः प्रतिषेधं न कारयन्ति। एतेष्वादीयमानेषु स्वामिनो न प्रतिषेद्धुमर्हन्तीत्यर्थः । स्वयंग्रहणेऽपि न स्तेयदोष इति यावत् । अत्र स्मृत्यन्तरे विशेषः—

'चणकव्रीहिगोधूमयवानां मुद्गमाषयोः ।
अनिषिद्धैर्ग्रहीतव्यो मुष्टिरेकाऽध्वनि स्थितैः ॥'

मनुस्तु—

[3]'द्विजोऽध्वगः क्षीणवृत्तिर्द्वाविक्षू द्वे च मूलके ।
आददानः परक्षेत्रान्न दण्डं दातुमर्हति ॥ ३ ॥

---

१. 'कथा' इति छान्दसं रूपं कथमित्यर्थ । दृष्टं च "तमब्रुवन् कथा हास्थाः" (तै० सं० २. ६. ३) "कथा मा निरभागिति" (तै० सं० ३. १. ९) इत्यादौ ।

२. बुद्धौ कृत्वाऽऽदत्त इत्यर्थः, इत्यधिकं क० छ० पु० ३. म० स्मृ० ८. ३४१

अनु०—बीज कोश के भीतर पकने वाले बीज (कोशीधान्य, मुद्ग, माष, चणक आदि), तथा बैल को खिलाने के लिए घास ग्रहण करने वाले को इन वस्तुओं का स्वामी मना न करे ॥ ३ ॥

अतिव्यवहारो व्यृद्धो भवति ॥ ४ ॥

शम्योषादिष्वपि अतिव्यवहारो व्यृद्धो दुष्टो भवति, अतिमात्रापहारे स्तेयदोषो भवतीत्यर्थः ॥ ४ ॥

अनु०—किन्तु इन वस्तुओं को भी बहुत अधिक मात्रामें लेना दोषयुक्त होता है।

सर्वत्राऽनुमतिपूर्वमिति हारीतः ॥ ५ ॥

सर्वेषु द्रव्येषु सर्वास्ववस्थासु स्वाम्यनुमतिपूर्वमेव ग्रहणमिति हारीत आचार्यो मन्यते ॥ ५ ॥

अनु०—हारीत का मत है कि सभी अवस्थाओं में वस्तु ग्रहण करने से पहले स्वामी की अनुमति ले लेनी चाहिए ॥ ५ ॥

न पतितमाचार्यं ज्ञातिं वा दर्शनार्थो गच्छेत् ॥ ६ ॥

'न पतितैः सव्यवहारो विद्यत' (२१.५) इत्युक्तेऽपि पुनरुच्यते-आचार्यादिषु विशेषं वक्ष्यामीति ॥ ६ ॥

अनु०—पतित आचार्य या निकट सम्बन्धी से मिलने के लिए न जावे ॥ ६ ॥

न चाऽस्माद्भोगानुपयुञ्जीत ॥ ७ ॥

अस्मात्पतितादाचार्यात् ज्ञातेर्वा पित्रादेः भोगान् भोगसाधनानि दायप्राप्तान्यपि नोपयुञ्जीत न गृह्णीयात् ॥ ७ ॥

अनु०—इस प्रकार के व्यक्तिसे अपने सुख की वस्तुएँ भी न ग्रहण करे ॥ ७ ॥

यदृच्छासन्निपात उपसंगृह्य तूष्णीं व्यतिव्रजेत् ॥ ८ ॥

यदि पतितैराचार्यादिभिर्यदृच्छया सन्निपातः सङ्गतिः स्यात् तदाऽविधिनोपसंगृह्य तूष्णीं तैस्सह किञ्चिदप्यसम्भाष्य व्यतिव्रजेत् गच्छेत्। न क्षणमपि सह तिष्ठेत् ॥ ८ ॥

अनु०—यदि सहसा वे मिल जाँय तो चुपचाप उनका चरणस्पर्श करके वहाँ से प्रस्थान कर देना चाहिए ॥ ८ ॥

माता पुत्रत्वस्य भूयांसि कर्माण्यारभते तस्यां शुश्रूषा नित्या पतितायामपि ॥ ९ ॥

पुत्रत्वस्य, स्वार्थिकस्त्वः। यथा 'देहत्वमेवान्य'दिति। पुत्रस्य कृते माता भूयांसि दृष्टार्थानि गर्भधारणाशुचिनिर्हरणस्तन्यदानप्रदक्षिणनमस्कारोपवासा

दीनि कर्माणि करोति तस्मात्तस्यां पतितायामपि शुश्रूषा अभ्यङ्गस्नापनादिका-नित्या नित्यमेव कर्तव्या ॥ ९ ॥

अनु०—माता पुत्र के लिए अनेक कर्म करती है, उसकी सेवा सदैव करनी चाहिए, भले ही वह पतिता हो गई हो ॥ ९ ॥

न तु धर्मसन्निवापः स्यात् ॥ १० ॥

एकस्मिन् धर्मे सहाऽन्वयो धर्मसन्निवापः। स पतितया मात्रा सह न कर्तव्यः। नामसुब्रह्मण्यां मातुर्नामग्रहणम्। वरुणप्रघासेषु 'यावन्तो यजमानस्याऽमात्याः सस्त्रीकास्तावन्त्येकातिरिक्तानी' त्येवमादिकमुदाहरणम्। किं पुनरेवमादिषु मातुरन्वयः शुश्रूषा ? ओमित्याह। अन्विता हि सा सम्मता मन्यते। निरस्ता तु विमता। वैश्वदेवार्थे च पाके सा न भोजयितव्या। मृतायास्तु तस्याः संस्कारादिकाः क्रियाः कर्तव्याः नेति विप्रतिपन्नाः ॥ १० ॥

अनु०—किन्तु धर्म के लिए किए जाने वाले कर्मों में पतिता माता के साथ किसी प्रकार का संबन्ध न रखे ॥ १० ॥

अधर्माहृतान् भोगाननुज्ञाय न वयं चाऽधर्मश्चेत्यभिव्याहृत्याऽधो नाभ्यु-परिजान्वाच्छाद्य त्रिषवणमुदकमुपस्पृशन्नक्षीराक्षारलवणं भुञ्जानो द्वादशवर्षाणि नाऽगारं प्रविशेत् ॥ ११ ॥

ब्राह्मणस्वहरणम्,

[2]'चण्डालान्त्यस्त्रियो गत्वा भुक्त्वा च प्रतिगृह्य च ।
पतत्यज्ञानतो विप्रो ज्ञानात्साम्यं तु गच्छति ॥

इत्येवमादिकमुदाहरणम्। ये अधर्माहृता भोगास्ताननुज्ञाय परित्यज्य 'न वयं चाऽधर्मश्चे'ति प्रैषं ब्रूयात्। तस्यार्थः—वयं चाऽधर्मश्च सह न वर्तामह इति। अधो नाभीत्यादि (२४..११,) गतम्। नात्राऽर्धशाणीपक्षो भिक्षाचर्यं वा ॥११॥

अनु०—अधर्म से उपलब्ध सुख की वस्तुओं का त्याग कर दे 'हम और अधर्म साथ नहीं रहेंगे' ऐसा कहकर, नाभि से लेकर घुटनों तक का वस्त्र धारण कर प्रतिदिन तीन सवनों के समय स्नान करे और दूध, मसाला, नमक से वर्जित अन्न का भोजन करे तथा बारह वर्षतक घर में प्रवेश न करे ॥ ११ ॥

ततस्सिद्धिः ॥ १२ ॥

---

१ आप० श्रौ० ८. ५. ४१ करम्भपात्रनिर्माणे संख्याविधिरयम्।

२. म० स्मृ० ११. १७६

एतस्य द्वादशवार्षिकस्याऽन्ते सिद्धिः शुद्धिर्भवति ॥ १२ ॥

अनु०—उसके बाद उसकी पाप से शुद्धि हो जाती है ॥ १२ ॥

अथ सम्प्रयोगस्स्यादार्यैः ॥ १३ ॥

प्रायश्चित्तोपदेशात् सिध्युपदेशाच्च सिद्धे पुनर्वचनं 'ज्ञानात्साम्यं तु गच्छती'त्यस्याऽपवादार्थम् ॥ १३ ॥

अनु०—इसके बाद वह आर्यों के साथ सम्पर्क कर सकता है ॥ १३ ॥

एतदेवाऽन्येषामपि पतनीयानाम् ॥ १४ ॥

उक्तव्यतिरिक्तानि यानि पतनीयानि पूर्वमुक्तानि तेषु यत्राऽऽहत्य प्रायश्चित्तं [1]नोक्तं तेषामप्येतदनन्तरोक्तमेव प्रायश्चित्तं वेदितव्यम्। उक्तविषये विकल्प इत्यन्ये। तत्र ज्ञानाज्ञानकृतो विकल्पः ॥ १४ ॥

अनु०—यह प्रायश्चित्त दूसरे भी पतनीय कर्मों के लिए करना चाहिए ॥ १४ ॥

गुरुतल्पगामी तु सुषिरां सूर्मिं प्रविश्योभयत आदीप्याऽभिदहेदात्मानम् ॥ १५ ॥

यस्तु गुरुतल्पगामी सोऽन्तः प्रवेशयोग्यां सुषिरां सूर्मिं कृत्वा प्रविशेत् प्रविश्योभयतः पार्श्वयो [2]र्वह्निमादीपयेत्। आदीप्याऽऽत्मानमभिदहेत्। "ज्वलितां वा सूर्मिं परिष्वज्य समाप्नुया (२५ २.)" दित्यत्रैव कियानपि विशेषः। अनन्तरोक्तस्य वैकल्पिकस्य निवृत्त्यर्थं वचनम् ॥ १५ ॥

अनु०—गुरुपत्नीगमन करने वाला भीतर प्रवेश करने योग्य खोखली, लोहे की बनी स्त्रीमूर्त्ति में प्रवेश करके दोनों ओर से अग्नि प्रज्वलित कराकर अपने को जला डाले ॥ १५ ॥

मिथ्यैतदिति हारीतः ॥ १६ ॥

हारीतस्त्वृषिर्मन्यते—एतदनन्तरोक्तं मरणान्तिकप्रायश्चित्तं मिथ्या न कर्तव्यमिति ॥ १६ ॥

अनु०—हारीत के अनुसार यह प्रायश्चित्त नहीं करना चाहिए ॥ १६ ॥

कुत इत्यत आह—

यो ह्यात्मानं परं वाऽभिमन्यतेऽभिशस्त एव स भवति ॥ १७ ॥

हिशब्दो हेतौ। यस्मात् य आत्मनं परं वाऽभिमन्यते मारयति सोऽभिशस्त एव भवति ब्रह्महैव भवति। [3]न च पतनीयापनोदनं चिकीर्षुरन्यत् पत-

---

१. अनुक्तं० इति. क० ख० पु० २. वह्निमिति नास्ति क० छ० पु०

३. न च महापातकस्य ब्रह्महत्या प्रायश्चित्तं भवितुमर्हतीति क० पुस्तके

नीयं कर्तुमर्हतीति। हेत्वभिधानादभिशस्तवचनाच्चाऽन्येषामपि मरणान्तिकानां ब्रह्मणविषये निवृत्तिः ॥ १७ ॥

अनु०—जो अपना या दूसरे का जीवन लेता है वह अभिशस्त ही होता है।१७।

किं तर्हि तस्य प्रायश्चित्तमिति ? आह—

एतेनैव विधिनोत्तमादुच्छ्वासाच्चरेन्नाऽस्यार्ऽस्मिल्लोके प्रत्यापत्तिर्विद्यते कल्मषं तु निर्हण्यते ॥१८॥

'अधोनाभ्युपरिजान्वि' (२८.११.) त्यादि यदनन्तरोक्तमेतेनैव विधिना। शिष्ट गतम् ॥ १८ ॥

अनु०—ऐसा (गुरुतल्पगामी) व्यक्ति इसी (सूत्र ११ की) विधि से अन्तिम श्वास तक आचरण करे। उसे पाप से शुद्धि इस जीवन में नहीं मिलती। मृत्यु के बाद उसका पाप दूर होता है ॥ १८ ॥

दारव्यतिक्रमी खराजिनं बहिर्लोम परिधाय 'दारव्यतिक्रमिणे भिक्षा' मिति सप्ताऽगाराणि चरेत्। सा वृत्तिः षण्मासान् ॥ १९ ॥

[1]यस्तु अन्तरेणैव निमित्तं कौमारान् दारान् परित्यजति स दारव्यतिक्रमी। खरस्य, गर्दभस्याऽजिनं बहिर्लोम परिधाय वसित्वा दारव्यतिक्रमिणे भिक्षां दत्तेति सप्तागाराणि भिक्षां चरेत्। [2]कौमारदारपरित्यागिने भिक्षां दत्ते'ति वासिष्ठे। [3]सा वृत्तिः षण्मासान्। ततः सिद्धिः ॥ १९ ॥

अनु०—जो विना कारण के पत्नी का परित्याग करता है वह गदहे का चमड़ा इस प्रकार धारण करे कि उसके रोएँ बाहर की ओर हों और सात घरों में यह कहते हुए भिक्षा माँगे 'पत्नी का परित्याग करने वाले को भिक्षा दो'। उसी भिक्षा से छः महीने तक जीविकानिर्वाह करते हुए रहे ॥ १९ ॥

स्त्रियास्तु भर्तृव्यतिक्रमे कृच्छ्रद्वादशरात्राभ्यासस्तावन्तं कालम् ॥२०॥

भर्तृव्यतिक्रम इति छान्दसो रेफलोपः। व्यतिक्रमः परित्यागः। या तु स्त्री भर्तारं परित्यजत्यन्तरेण निमित्तं, तस्यास्तावन्तं कालं षण्मासान् कृच्छ्रद्वादशरात्राभ्यासः प्रायश्चित्तम् ॥ २० ॥

अनु०—किन्तु यदि पत्नी ने पति को त्याग दिया हो तो वह बारह दिनों का कृच्छ्र व्रत करते हुए उतने ही समय तक (छः मास तक) प्रायश्चित्त करे ॥ २० ॥

---

१. धर्मप्रजादिकमन्तरेण कौमारान् दारान्' इति क० ख० पु०

२. व०ध० कौमारदारव्यतिक्रमिणे इति. ख०पु० कौमारदारपरित्यागिने इति क०पु०

३. षण्मासादूर्ध्वं शुद्धः इति. ग० पु० 'सा वृत्ति'रित्यादि पृथक्सूत्रं च।

अथ भ्रूणहा श्वाजिनं खराजिनं वा बहिर्लोम परिधाय
पुरुषशिरः प्रतीपानार्थमादाय ॥ २१ ॥

अनु०—वेद वेदाङ्ग के ज्ञाता ब्राह्मण की हत्या करने वाला कुत्ते का या गदहे का चर्म रोओं को बाहर करके धारण करे और भोजन तथा जल पीने के लिए मनुष्य की खोपड़ी लिए रहे।

इत्यापास्तम्बधर्मसूत्रवृत्तौ प्रथमप्रश्नेऽष्टाविंशी कण्डिका ॥ २८ ॥

खटाङ्गं दण्डार्थे कर्मनामधेयं प्रब्रुवाणश्चङ्क्रम्येत को भ्रूणघ्ने भिक्षामिति। ग्रामे प्राणवृत्तिं प्रतिलभ्य शून्यागारं वृक्षमूलं वाऽभ्युपाश्रये'न्न हि म आर्यैः सह सम्प्रयोगो विद्यते'। एतेनैव विधिनोत्तमादुच्छ्वासाच्चरेत्। नाऽस्यास्मिल्लोके प्रत्यापत्तिर्विद्यते। कल्मषं तु निर्हण्यते॥१॥

षडङ्गस्य वेदस्याऽध्येता, तदर्थवित्, प्रयोगशास्त्रस्य सव्याख्यस्यार्थवित् कर्मणामनुष्ठाताऽनुष्ठापयिता च ब्राह्मणो भ्रूणः। तथा च बौधायनः—[1]'वेदानां किञ्चिदधीत्य ब्राह्मणः। एकां शाखामधीत्य श्रोत्रियः। अङ्गाध्याय्यनूचानः। कल्पाध्याय्यृषिकल्पः। सूत्रप्रवचनाध्यायी भ्रूणः' इति। तं यो हतवान् स भ्रूणहा। सः शुनः खरस्य वाऽजिनं बहिर्लोमपरिधाय पुरुषस्य कस्यचिन्मृतस्य शिरः, प्रतीपानार्थम्। प्रतिधात्वर्थानुवादः [2]'उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये बहुल'मिति बाहुलको दीर्घः। पानमेव प्रतीपानम्। पानग्रहणमुपलक्षणम्। भोजनमपि तत्रैव। खटाङ्गं दण्डार्थे, खट्वाया अङ्गं खट्वाङ्गमीषादि तद्दण्डकृत्ये आदाय। 'भ्रूणहाऽस्मीत्येवं कर्मनिबन्धनमात्मनो नामधेयं प्रब्रुवाणश्चङ्क्रम्येत इतस्ततश्चरेत्। कापालिकतन्त्रप्रसिद्धस्य खट्वाङ्गस्य वा ग्रहणम् भिक्षाचरणकाले च को भ्रूणघ्ने भिक्षां ददातीति चरेत्। चरित्वा ग्रामे प्राणवृत्तिं प्राणयात्रामात्रं प्रतिलभ्य शून्यागारं वृक्षमूलं वा निवासार्थमभ्युपाश्रयेत्—'न हि म आर्यैः सह सम्प्रयोगो विद्यत'इत्येवंमन्यमानः। कियन्तं कालमेवं चरितव्यमित्यत आह—एतेनैवेत्यादि। गतम्। श्रोत्रियं वा कर्मसमाप्त (२४. २५.)' मित्यत्र यः श्रोत्रियः [3]ग्रन्थधारी अर्थज्ञश्च न भवति अनुष्ठापयिता च न भवति तस्य ग्रहणम् ॥१॥

अनु०—डण्डे के स्थान पर चारपाई का पाया लेकर अपने कर्म का नाम लेकर घोषणा करता हुआ यह कहते हुए घूमे कि वेद और वेदाङ्ग के विद्वान् ब्राह्मण की

---

१. बौधा० गृ० १. ११ २. पा० सू० ६. ३. १२२
३. श्रुतिधारी इति. क० पु०

हत्या करने वाले को कौन भिक्षा देगा ? इस प्रकार गाँव में ही जीविका निर्वाह करते हुए किसी सूने घर में या वृक्ष के नीचे निवास करे और यह जाने कि आर्यों के साथ उसे सम्पर्क की अनुमति नहीं है। इसी विधि से वह अन्तिम श्वास तक आचरण करे। इस लोक में उसकी शुद्धि नहीं होती है। किन्तु मृत्यु के बाद उसका पाप दूर हो जाता है ॥ १ ॥

यः प्रमत्तो हन्ति प्राप्तं दोषफलम् ॥ २ ॥

क्षत्रियं हत्वे'त्येवमादिकेऽनुक्रान्तेऽपि विषये यः प्रमत्तो हन्ति प्रमादेनाऽबुद्धिपूर्वं हन्ति तस्याऽपि दोषफलं प्राप्तमेव। न तु प्रमादकृतमिति दोषभावः॥२॥

अनु०—जो प्रमादवश अनजान में हत्या करता है उसका भी उतना ही दोष होता है ॥ २ ॥

सह सङ्कल्पेन भूयः ॥ ३ ॥

सङ्कल्पेन सह वधे कृते भूयः प्रभूततरं भवति। तेन प्रमादकृते लघुप्रायश्चित्तम्, बुद्धिपूर्वे तु गुर्विति। यत्पुनः पूर्वमुक्तं 'दोषवच्च कर्माभिसन्धिपूर्वं कृत्वाऽनभिसन्धिपूर्वं वे (२६.७.)' ति तत्र तेषु प्रायश्चित्तेषु विशेषाभावादिदमुक्तम् ॥ ३ ॥

अनु०—संकल्प के साथ वध करने पर और भी अधिक पाप होता है ॥ ३ ॥

एवमन्येष्वपि दोषवत्सु कर्मसु ॥ ४ ॥

अन्येष्वपि हननव्यतिरिक्तेषु दोषवत्सु कर्मसु एवमेव द्रष्टव्यम्—अबुद्धिपूर्वं कृतेऽल्पो दोषः, बुद्धिपूर्वे महानिति ॥ ४ ॥

अनु०—यही नियम दूसरे दोषयुक्त कर्मों के विषय में भी लागू होता है ॥ ४ ॥

तथा पुण्यक्रियासु ॥ ५ ॥

पुण्यक्रियास्वप्येष एव न्यायः—अबुद्धिपूर्वेऽल्पं फलम्, बुद्धिपूर्वे महदिति। तद्यथा—ब्राह्मणस्वान्यपहृत्य चोरेषु धावत्सु यदृच्छया कश्चिच्छूर आगतस्तान् हन्यात्, स्वयमेव वा शूरं दृष्ट्वा चोरा अपहृतानि द्रव्याण्युत्सृज्य पलायेरन् तदा शूरस्याऽल्पं पुण्यफलम्। यदा तु बुद्धिपूर्वं स्वयमेव चोरेभ्यः प्रत्याहृत्य स्वानि स्वामिभ्यो ददाति तदा महदिति। एवं स्वभार्याबुद्ध्या परदारगमनेऽल्पम्, अन्यत्र महदिति ॥ ५ ॥

अनु०—उत्तम कर्मों के विषय में भी यही नियम होता है ॥ ५ ॥

टि०—अनजान में उत्तम कर्म करने का पुण्य अल्प होता है और संकल्प के साथ उत्तम कर्म करने का पुण्य अधिक होता है ॥ ५ ॥

परीक्षार्थोऽपि ब्राह्मण आयुधं नाऽऽददीत ॥ ६ ॥

गुणदोषज्ञानं परीक्षा। तया अर्थः प्रयोजनं यस्य सः। एवंभूतोऽपि ब्राह्मण आयुधं न गृह्णीयात् किं पुनर्हिंसार्थं इत्यपिशब्दार्थः ॥ ६ ॥

अनु०—ब्राह्मण परीक्षा लेने के लिए भी हाथ में अस्त्र शस्त्र न ग्रहण करे ॥ ६ ॥

अस्य प्रतिप्रसवः—

यो हिंसार्थमभिक्रान्तं हन्ति मन्युरेव मन्युं स्पृशति न तस्मिन् दोष इति पुराणे ॥ ७ ॥

यस्तु हिंसार्थं मारणार्थमभिक्रान्तमभिपतितं हन्ति न तस्मिन् दोषो विद्यत इति पुराणे श्रुतम्। दोषाभावे हेतुः—यस्मान्मन्युरेव मन्युं स्पृशति न पुनः पुरुषः पुरुषम्। अत्र वसिष्ठबौधायनौ—

[1]स्वाध्यायिनं कुले जातं यो हन्यादाततायिनम्।
न तेन भ्रूणहा स स्यान्मन्युस्तं मन्युमृच्छति ॥ इति ॥

मनुरपि—

[2]शस्त्रं द्विजातिभिर्ग्राह्यं धर्मो यत्रोपरुध्यते।
द्विजातीनां च वर्णानां विप्लवे कालकारिते ॥
आत्मनश्च परित्राणे दक्षिणानां च सङ्गरे।
स्त्रीविप्राभ्युपपत्तौ च घ्नन् धर्मेण न दुष्यति ॥' इति ॥

गौतमः—[3]'प्राणसंशये ब्राह्मणोऽपि शस्त्रमाददीते'ति।

वसिष्ठः—

[4]अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः।
क्षेत्रदारहरश्चैव षडेते ह्याततायिनः ॥
आततायिनमायान्तमपि वेदान्तपारगम्।
जिघांसन्तं जिघांसीयान्न तेन भ्रूणहा भवेत् ॥' इति ॥ ७ ॥

अनु०—जो हिंसा करने के लिए आक्रमण करने वाले को मारता है उसमें उसका क्रोध ही दूसरे व्यक्ति के क्रोध का स्पर्श करता है उसमें किसी प्रकार का दोष नहीं होता, ऐसा एक पुराण में कहा गया है ॥ ७ ॥

पतितैरकृतप्रायश्चित्तैरुत्पादितानां पुत्राणामपि पातित्यमस्तीति प्रतिपादयितुं पूर्वपक्षमाह—

अथाऽभिशस्ताः समवसाय चरेयुर्धार्म्यमिति सांशित्येतरेतरयाजका इतरेतराध्यापका मिथो विवाहमानाः ॥ ८ ॥

---

१. व० ध० ३. १८ बौ० १. १०. १२ २. म० स्मृ० ८. ३४८-३४९
३. गौ० ध० ७. २५ ४. व० ध० ३. १६, १७

अथशब्दोऽर्थान्तरप्रस्तावं सूचयति। अभिशस्ताः पतिताः। समवसाय चेरयु। अवसानं गृहम्। समित्येकीभावे। ग्रामाद्बहिरेकस्मिन् प्रदेशे गृहाणि कृत्वा चरेयुः। धार्म्यं वक्ष्यमाणं वृत्तमिति। सांशित्य संशितां तीक्ष्णां बुद्धिं कृत्वा। निश्चित्येत्यर्थः। इतरेतरं याजयन्तः। इतरेतरमध्यापयन्तः परस्परं विवाहसम्बन्धं च कुर्वन्तश्चरेयुः वर्तेरन्निति ॥ ८ ॥

अनु०—जितने पतित लोग हों वे सभी गाँव से बाहर घर बनाकर एक साथ रहें और इसे अपनी धर्मसम्मत वृत्ति समझें। वे परस्पर एक दूसरे के यज्ञ कर्म करावें, एक दूसरे का अध्यापन करें और आपस में ही विवाह करें ॥ ८ ॥

पुत्रान् सन्निष्पाद्य ब्रूयुर्विप्रजताऽस्मदेवं ह्यस्मत्स्वार्याःसम्प्रत्य ऽत्स्यतेति ॥ ९ ॥

अथ ते पुत्रान् सन्निष्पाद्य ब्रूयुः हे पुत्राः अस्मन अस्मत्तः। विप्रव्रजत विविधं प्रकर्षेण च स्नेहमुत्सृज्याऽऽर्यसमीपं गच्छत। एवं ह्यस्मत्सु अस्मास्वार्याः शिष्टाः सम्प्रत्यपत्स्यत।[1]'आशंसायां भूतवच्चेति' भविष्यति लुङ्। सकारात्परो यकारोऽपपाठश्छान्दसो वा। सम्प्रतिपत्तिं करिष्यन्ति। आर्याणामप्येतदभिप्रेतं भविष्यति। यस्मादस्माभिरेव पतनीयं कर्माऽनुष्ठितं न भवद्भिः। न च पतितेनोत्पादितस्य पातित्यम्, अन्यत्वात् ॥ ९ ॥

अनु०—यदि उनके पुत्र उत्पन्न हो तो उनसे इस प्रकार कहें कि हमें हर प्रकार से त्याग कर तुम चले जाओ। इस प्रकार आर्य लोग हम पर दोष छोड़कर तुम्हें स्वीकार करेंगे ॥ ९ ॥

एतदेवोपपादयति—

अथाऽपि न सेन्द्रियः पतति ॥ १० ॥

न हि पतितो भवन् सहेन्द्रियेण पतति, पुरुष एव पतति, नेन्द्रियं शुक्लमिति। अथापिशब्दावपि चेत्यस्यार्थे ॥ १० ॥

अनु०—क्योंकि मनुष्य अपनी इन्द्रियों के साथ पतित नहीं होता ॥ १० ॥

कथं न सेन्द्रियः पततीत्याह—

तदेतेन वेदितव्यमङ्गहीनोऽपि साङ्गं जनयति ॥ ११ ॥

तदनन्तरोक्तमर्थरूपमेतेन वक्ष्यमाणेन निदर्शनेन वेदितव्यम्। चक्षुराद्यङ्गहीनोऽपि साङ्गं चक्षुरादिमन्तं जनयति, एवमधिकारविकलः साधिकारं जनयिष्यति। स्त्रिया अपि कारणत्वात् तस्याश्च दोषाभावात् ॥ ११ ॥

---

१. पा० सू० ३. ३. १३२

अनु०—यह बात इस उदाहरण से समझनी चाहिए कि अङ्गहीन व्यक्ति भी ऐसे पुत्र को उत्पन्न करता है जो सभी अङ्गों से पूर्ण होता है ॥ ११ ॥

दूषयति—

मिथ्यैतदिति हारीतः ॥ १२ ॥

एतदनन्तरोक्तमर्थरूपं मिथ्या न युक्तमिति हारीतो मन्यते ॥ १२ ॥

अनु०—हारीत के अनुसार यह ठीक नहीं है ॥ १२ ॥

कुत इत्याह—

दधिधानीसधर्मा स्त्री भवति ॥ १३ ॥

दधि धीयते यस्यां सा ददिधानो स्थाली । तया सधर्मा सदृशी स्त्री भवति ततः किम् ?

अनु०—स्त्री यज्ञ के उस स्थालीपात्र की तरह होती है जिसमें दधि रखा जाता है ॥ १३ ॥

यो हि दधिधान्यामप्रयतं पय आतञ्च्य मन्थति न तेन धर्मकृत्यं क्रियेत एवमशुचि शुक्लं यन्निर्वर्तते न तेन सह सम्प्रयोगो विद्यते ॥ १४ ॥

यो हि पुरुषः दधिधान्यां स्थाल्याम्, अप्रयतं श्वाद्युपहतम्, पय आतञ्च्यतक्राद्यातञ्चनेन संस्कृत्य मन्थति न तेन तदुत्पन्नेन घृतादिना धर्मकृत्यं यागादिकं क्रियते । एवं पतितसम्बन्धेनाऽशुचि शुल्कं स्त्रियां निषिक्तं शोणितेनाक्तं यन्निर्वर्तते येन रूपेण निष्पद्यते न तेन सह सम्प्रयोगो विद्यते शिष्टानाम् । अत्र चा 'शुचि शुक्ल' 'मित्येत 'दथापि न सेन्द्रियः पतती' त्यस्य दूषणम् । न हि वाचनिकेऽर्थे युक्तयः क्रमन्ते । तथा च समानायामप्युत्पत्तौ पुत्र एव पतति न दुहिता । यथाऽऽह वसिष्ठः—

[1]"पतितोत्पन्नः पतितो भवत्यन्यत्र स्त्रियाः । सा हि परगामिनी तामरिक्थामुपेयात्' ॥ इति ॥ १४ ॥

अनु०—जिस प्रकार कोई दधिधानी में अशुद्ध दूध को जल और तक्र मिलाकर मथे तो उससे उत्पन्न दधि से कोई यज्ञिय कर्म नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार (पतित पुरुष के) अपवित्र वीर्य से जो पुत्र उत्पन्न होता है उससे किसी प्रकार का सम्पर्क नहीं होना चाहिए ।

टि०—आपस्तम्ब हारीत के इस विचार से सहमत हैं ।

अभीचारा[2]नुव्याहारावशुचिकरावपतनीयौ ॥ १५ ॥

अभिचारः एवाऽभीचारः । [3]'उपसर्गस्य घञी'ति दीर्घः । अभीचारः श्ये-

१. व. ध. ३. २. अनुव्यवहार इति क. ३. पा. सू., ६, ३. ११२.

नादिः। अनुव्याहारः शापः तौ ब्राह्मणविषयेऽपि क्रियमाणावशुचिकरेविव, न तु पतनीयौ ॥ १५ ॥

अनु०—(किसी ब्राह्मण के विरुद्ध) आभिचारिक क्रिया या शाप का प्रयोग करने पर इनका प्रयोग करने वाला अशुद्ध होता है, पतित नहीं होता ॥ १५ ॥

पतनीयाविति हारीतः ॥ १६ ॥

हारीतस्तु तावपि पतनीयाविति मन्यते ॥ १६ ॥

अनु०—हारीत का मत है कि इन कर्मों से पतन होता है ॥ १६ ॥

पतनीयवृत्तिस्त्वशुचिकराणां द्वादश मासान् द्वादशाऽर्धमासान् द्वादश द्वादशाहान् द्वादश सप्ताहान् द्वादश त्र्यहान् द्वादश द्व्यहान् द्वादशाहं सप्ताहं त्र्यहं द्व्यहमेकाहम् ॥ १७ ॥

अशुचिकराणामपि कर्मणां येषामाहत्य प्रायश्चित्तं नोक्तं तेषामपि पतनीयेषु कर्मसु या वृत्तिः प्रायश्चित्तं सैव प्रायश्चित्तिः। कियन्तं कालम्? द्वादश मासाद्येकाहान्तम् ॥ १७ ॥

अनु०—अशुद्धि उत्पन्न करने वाले अपराधों के लिए भी पतनीय कर्मों का प्रायश्चित्त बारह मास तक, बारह अर्ध मास (पक्ष) तक, अथवा बारह बार बारह दिन, बारह सप्ताह, बारह बार तीन दिन, बारह बार दो दिन अथवा बारह दिन, एक सप्ताह, तीन दिन, दो दिन, अथवा एक दिन तक करे ॥ १७ ॥

किमविशेषेण सर्वेष्वेवाऽशुचिकरेष्वयं कालविकल्पः? नेत्याह—

इत्यशुचिकरनिर्वेषो यथा कर्माभ्यासः ॥ १८ ॥

इत्येषोऽशुचिकरनिर्वेषो यथा कर्माभ्यासस्तथा वेदितव्यः। बुद्धिपूर्वे सानुबन्धेऽभ्यासे च भूयांसं कालम्, विपरीते विपर्यय इति ॥ १८ ॥

॥ इत्यापस्तम्बसूत्र वृत्तौ प्रथमप्रश्ने एकोनत्रिंशी कण्डिका ॥ २९ ॥

अनु०—इस प्रकार अशुद्धि उत्पन्न करने वाले कर्मों का प्रायश्चित्त कर्म के अनुसार करना चाहिए ॥ १८ ॥

इति चाऽऽपस्तम्बधर्मसूत्रवृत्तौ हरदत्तमिश्रविरचितायामुज्ज्वलायां प्रथमप्रश्ने दशमः पटलः ॥ १० ॥

अथैकादशः पटलः

'न समावृत्ता वपेरन्' (८. ७.) स्नातस्तु काल' (१०.७.) इत्यादिषु प्रसक्तस्य स्नानस्य कालमाह—

विद्यया स्नातीत्येके ॥ १ ॥

वेदविद्या विद्या । तया सम्पन्नः स्नानं कुर्यादित्येके मन्यन्ते । मनुरित्याह—

[1]'वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वाऽपि यथाक्रमम् ।
अविप्लुतब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममावसेत्' ॥ इति ॥ १ ॥

अनु०—कुछ धर्मज्ञों का मत है कि ब्रह्मचारी विद्या का अध्ययन समाप्त करके स्नान करे । १ ॥

तथा व्रतेनाऽष्टाचत्वारिंशत्परीमाणेन ॥२॥

परिमाणमेव परिमाणम् । छान्दसो दीर्घः। अष्टाचत्वारिंशद्ग्रहणं [2]'पादूनम्, अर्धेने' (२.१३.१४) त्यादिपूर्वोक्तस्याप्युपलक्षणम् । अष्टाचत्वारिंशदादिपरिमाणेन व्रतेन [3]वा सम्पन्नः स्नायात् असम्पन्नोऽपि विद्यया ॥ २ ॥

अनु०—अथवा अड़तालिस वर्ष (छत्तीस या चौबीस वर्ष) का ब्रह्मचर्य पालन कर (विद्या से चाहे सम्पन्न हो या न हो) स्नान करे ॥ २ ॥

विद्या व्रतेन चेत्येके ॥ ३ ॥

विद्येति तृतीयैकवचनस्याकारस्य[4] 'सुपां सुलुक्' इत्यादिना लुक् । विद्यया व्रतेन चोभाभ्यां सम्पन्नः स्नायादित्येके मन्यते । एवं च [5]"वेदमधीत्य स्नास्य' न्नित्यत्र वेदमधीत्येत्युपलक्षणम् । अत्र याज्ञवल्क्यः—

[6]'वेदं व्रतानि वा पारं नीत्वा ह्युभयमेव वा ।
अविप्लुतब्रह्मचर्यो लक्षण्यां स्त्रियमुद्वहेत् ॥' इति ।

---

१. म० स्मृ० ३. २.

२, पादूनम् , अर्धेन, त्रिभिर्वा' इत्येतेषां पूर्वोक्तानामुपलक्षणम् । इति. क० पु०

३. अथ ब्रह्मचर्यविधिः' इत्यारभ्य प्रपञ्चितेन समिदाधानभिक्षाचरणगन्धादिवर्जनादिरूपेण । अस्ति च तेषु व्रतशब्दः 'यथा व्रतेषु समर्थः स्याद्यानि वक्ष्यामः" इति । इह तु समुदायाभिप्रायमेकवचनम् । तेन वा व्रतेन सम्पन्नस्स्नायात् । असम्पन्नोऽपि विद्यया । 'चत्वारि वेदव्रतानी' त्येषां तु ग्रहणमत्र नाऽऽशङ्कनीयम् । यथोक्तं विश्वरूपे । इत्यधिकः पाठो ग० पु०

४. पा० सू० ७. १. ३९ ५. आप गृ० १२. १ ६. याज्ञ० स्मृ० १. ५२

❀ अत्र व्रतशब्देनाऽग्नीन्धनभैक्षाचरणादयो ब्रह्मचारिधर्मा उच्यते। तेषु हि कालपरिमाणस्य श्रुतत्वात् पारं नीत्वेति युज्यते। दृश्यते च तेषु व्रतशब्दः। 'यथा व्रतेषु समर्थस्याद्यानि वक्ष्याम इति। न तु सावित्र्यादीनि वेदव्रतान्युच्यन्ते। तेषां तत्तत्प्रदेशाध्ययनशेषतया तदभावेऽभावाद्वेदं व्रतानि वेति विकल्पानुपपत्तेः। अतः कालविशेषावच्छिन्नानि व्रतानि वेदमुभयं पारं नीत्वेत्यर्थः*॥३॥

अनु० कुछ आचार्यों का मत है कि ब्रह्मचारी विद्या का ज्ञान प्राप्त करने तथा व्रत का समय समाप्त करने के बाद स्नान करे ॥ ३ ॥

तेषु सर्वेषु स्नातकवद्वृत्तिः ॥ ४ ॥

विद्यास्नातको व्रतस्नातक उभयस्नातक इति त्रयः स्नातका उक्ताः तेषु सर्वेषु स्नातकवत् 'तदर्हती'ति वतिः। स्नातकार्हा वृत्तिः पूजा[1] 'यत्राऽस्मा अपचिति' मित्यादिः कार्या। न तु व्रतस्नातके न्यूना, उभयस्नातकेऽधिकेति ॥ ४ ॥

अनु०—उपर्युक्त तीनों प्रकार से स्नान करने वालों के प्रति स्नातक के समान व्यवहार करना चाहिए ॥ ४ ॥

यद्यप्येवं तथाऽपि पूजयितुः फलविशेषोऽस्तीत्याह—

समाधिविशेषाच्छ्रुतिशेषाच्च पूजायां फलविशेषः ॥ ५ ॥

कर्तव्येषु कर्मस्ववधानं समाधिः श्रुतिः श्रुतम् ॥ ५ ॥

अनु०—स्नातक की पूजा का फल उसकी विशिष्ट कर्तव्यनिष्ठा तथा विशेष अध्ययन के अनुसार ही मिलता है ॥ ५ ॥

अथ स्नातकव्रतानि ॥ ६ ॥

इत उत्तरं स्नातकव्रतान्यधिकृतानि वेदितव्यानि। यद्यपि वक्ष्यमाणेषु कानिचित् साधारणान्यपि भवन्ति तथाऽपि भूम्ना स्नातकव्रतान्यधिक्रियन्ते ॥६॥

अनु०—अब स्नातक के व्रतों का निर्देश किया जायगा ॥ ६ ॥

पूर्वेण ग्रामान्निष्क्रमणप्रवेशनानि शीलयेदुत्तरेण वा ॥ ७ ॥

यदा ग्रामान्निष्क्रामपि ग्रामं वा प्रविशति तदा पूर्वेण द्वारेणोत्तरेण वा कुर्यात्, न द्वारान्तरेण। शीलयेदिति वचनाद्यदृच्छया द्वारान्तरेण निष्क्रमणप्रवेशनयोरपि न प्रायश्चित्तम् ॥ ७ ॥

---

* एतच्चिन्हान्तर्गतो भोगोऽधिकपाठतया परिगणितः ख० पुस्तके। ग० पुस्तके नास्ति पाठः। अन्यत्र तु यथायथमस्ति।

१. आप० गृ० १३. २.

अनु०—वह गाँव में सामान्यतः पूर्व को ओर से अथवा उत्तर की ओर से प्रवेश करे ॥ ७ ॥

सन्ध्योश्च बहिर्ग्रामादासनं वाग्यतश्च ॥ ८ ॥

अहोरात्रयोः सन्धानं सन्धिः । तो च द्वौ–सायं प्रातश्च । [1]'सज्जोतिष्या-ज्योतिषोऽदर्शनात्' इति गौतमः । तयोस्सन्ध्ययोर्ग्रामाद्बहिरासीत । वाग्यतश्च भवेत् । मनुः पुनराह—

[2]'पूर्वां सन्ध्यां जपंस्तिष्ठेत् सावित्रीमार्कदर्शनात् ।
पश्चिमां नु समासीत सम्यगृक्षविभावनात् ॥' इति

[3]तिष्ठेत् पूर्वामासीतोत्तराम्, इति गौतमः । एते ब्रह्मचारिविषये । स्नातके आसनस्य वाङ्निमनस्य चाऽत्र विधानात् ।

अन्ये तु–आसनग्रहणं स्थानस्याऽप्युपलक्षणम्, वाग्यमश्च लौकिक्या वाचो निवृत्तिः, न सावित्रीजपस्येति वर्णयन्ति ॥ ८ ॥

अनु०—प्रातःकाल तथा सायंकाल सन्ध्या के अवसरों पर ग्राम से बाहर बैठे और मौन रहे ॥ ८ ॥

टि०—'वाग्यतः' का यहाँ यह भी अर्थ लिया गया है कि लौकिक विषयों की चर्चा न करे ॥ ८ ॥

अहिताग्निविषयेऽस्याऽपवादः—

विप्रतिषेधे श्रुतिलक्षणं बलीयः ॥ ९ ॥

विरोधो विप्रतिषेधः अग्निहोत्रिणो बहिरासनमग्निहोत्रहोमश्च विरुध्येते । तथा च श्रूयते–'समुद्रो वा एष यदहो रात्रः 'तस्यैते गाथे तीर्थं यत्सन्धी तस्मात् सन्धौ होतव्यम्'' इति । तत्र श्रुतिलक्षणमग्निहोत्रमेव कर्तव्यम्, न स्मार्त बहिरासनम् । तस्य कल्प्यमूलत्वादितरस्य च क्लृप्तमूलत्वादिति । जैमिनिरप्याह-
[4]'विरोधे त्वनपेक्षं स्यादसति ह्यनुमानमिति ॥ ९ ॥

अनु०—(अग्निहोत्री स्नातक घर में अग्निहोत्र करे या गाँव से बाहर जाकर बैठे) इस प्रकार का विरोध उपस्थित होने पर वेद में आदिष्ट (अग्निहोत्र) ही प्रबल माना जायगा (स्मार्त नियम को वरीयता नहीं दी जायगी) ॥ ९ ॥

सर्वान्रागान्वाससि वर्जयेत् ॥ १० ॥

---

१. गौ० २. ११ 'सज्योतिषि' इत्यादि 'गौतम' इत्यन्तं नास्ति छ० पु०
२. म० स्मृ० २. १०१
३. गौ० ध० २. ११
४. इत्यादि नास्ति. छ० पु०
५. जै सू १० ३. ३

कुसुम्भादयस्सर्वे रागाः वाससि वर्जनीयाः, न केनचिद्रक्तं वासो बिभृयादिति ॥ १० ॥

अनु०—सभी प्रकार के रंगीन वस्त्रों का वर्जन करे ॥ १० ॥

कृष्णं च स्वाभाविकम् ॥ ११ ॥

यच्च स्वभावतः कृष्णं कम्बलादि तदपि न वसीत ॥ ११ ॥

अनु०—स्वभावतः कृष्ण वर्ण के वस्त्रों का भी वर्जन करे ॥ ११ ॥

अनूद्भासि वासो वसीत ॥ १२ ॥

उद्भासनशीलमुद्भासि उल्बणम्। ततोऽन्यदनूद्भासि। छान्दसो दीर्घः। एवंभूतं वासो वसीत आच्छादयेत् ॥ १२ ॥

अनु०—अधिक चमकीले वस्त्रों का परित्याग करे ॥ १२ ॥

अप्रतिकृष्टं च शक्तिविषये ॥ १३ ॥

प्रतिकृष्टं निकृष्टं जीर्णं मलवत् स्थूलं च। तद्विपरीतमप्रतिकृष्टम्। तादृशं च वासो वसीत शक्तौ सत्याम् ॥ १३ ॥

अनु०—और यथाशक्ति ऐसे वस्त्रों का भी वर्जन कर जो भद्दे और गन्दे हों ॥

दिवा च शिरसः प्रावरणं वर्जयेन्मूत्रपुरीषयोः कर्म परिहाप्य ॥ १४ ॥

चकारः पूर्वापेक्षया समुच्चयार्थः। दिवा शिरसः प्रावरणं पटादिना न कुर्यात्। किमविशेषेण ? नेत्याह—मूत्रपुरीषयोः कर्म क्रियां परिहाप्य वर्जयित्वा ॥ १४ ॥

अनु—दिन में मूत्र तथा मलत्याग के कर्मों के अवसर को छोड़कर अन्य समय में सिर न ढँके ॥ १४ ॥

शिरस्तु प्रावृत्य मूत्रपुरीषे कुर्यात् भूम्यां किञ्चिदन्तर्धाय ॥ १५ ॥

दिवा रात्रौ च मूत्रपुरीषे कुर्वन् शिरः प्रावृत्य कुर्यात्। भूम्यां किञ्चिदन्तर्धाय तृणादिकम्, न साक्षात् भूम्यामेव। इह कामचारे प्राप्ते 'दिवा च शिरसः प्रावरणं वर्जये' दित्युक्तम्। तस्य पर्युदासः कृतः—'मूत्रपुरीषयोः कर्म परिहाप्ये' ति। तत्र मूत्रपुरीषकाले स एव कामचारः स्थितः। अत आरभ्यते—शिरस्तु प्रावृत्येति। एवं तर्हीदमेवाऽस्तु। न पूर्वः पर्युदासः। सोऽप्यवश्यं कर्तव्यः अन्यथा 'शिरस्तु प्रावृत्ये'त्यस्य रात्रौ चरितार्थत्वात् दिवा प्रतिषेध एव स्यात्। गौतमस्तु रात्रौ सदैव प्रावरणमाह[1] 'न प्रावृत्त्य शिरोऽहनि पर्यटेत्, प्रावृत्य रात्रौ, मूत्रोच्चारे चे'ति ॥ १५ ॥

---

१. गौ० ध० ९. ३५, ३६, ३७

अनु०—सिर को ढँककर ही तथा पृथ्वी पर कुछ (तृण आदि) रखकर ही मूत्र और मल का त्याग करे ॥ १५ ॥

छायायां मूत्रपुरीषयोः कर्म वर्जयेत् ॥ १६ ॥

'न चोपजीव्यच्छायास्वि'ति स्मृत्यन्तरे दर्शनात् यस्यां पथिकादयो विश्राम्यन्ति सा गृह्यते। तेन छत्रच्छायादेरप्रतिषेधः मेघच्छायाया अप्यप्रतिषेधः, अवर्जनीयत्वात् ॥ १६ ॥

अनु०— (वृक्षों की) छाया में मल-मूत्र त्याग के कर्म न करे ॥ १६ ॥

स्वां तु छायामवमेहेत् ॥ १७ ॥

छान्दसस्तुगभावः। द्वितीयाश्रुतेः प्रतिशब्दाध्याहारः। अवमेहनं मूत्रकर्म। अनुपजीव्यत्वान्नायं पूर्वस्य प्रतिषेधस्य विषय इति प्रतिप्रसवोऽयं न भवति। तेन सति सम्भवे स्वामेव छायां प्रत्यवमेढव्यम् ॥ १७ ॥

अनु०—किन्तु अपनी छाया भूमि पर पड़ रही हो तो उसमें मूत्रत्याग कर्म किया जा सकता है ॥ १७ ॥

[1]न सोपानन्मूत्रपुरीषे कुर्यात् ॥१८॥ कृष्टे ॥१९॥ पथि ॥ २० ॥ अप्सु च ॥ २१ ॥ तथा[2]ष्ठेवनमैथुनयोः कर्माऽप्सु वर्जयेत् ॥ २२ ॥ अग्निमादित्यमपो ब्राह्मणं गा देवताश्चाऽभिमुखो मूत्रपुरीषयोः कर्म वर्जयेत् ।२३

स्पष्टानि चत्वारि। ष्ठेवनमास्यश्लेष्मादीनामुत्सर्गः। देवताः देवताप्रतिमाः ॥ १८-२३ ॥

अनु०—जूते पहनकर मूत्र और मल का त्याग न करें ॥ १८ ॥

अनु०—जोते गए खेत में मूत्र और मल का त्याग न करे ॥ १९ ॥

अनु०—मार्ग के ऊपर मूत्र और मल का त्याग न करे ॥ २० ॥

अनु०—और न ही जल में मूत्र और मल का त्याग करे ॥ २१ ॥

अनु०—जल में थूकने या मैथुन कर्म करने का भी वर्जन करे ॥ २२ ॥

अनु०—अग्नि, जल, ब्राह्मण, गौ, देव प्रतिमा की ओर मुख करके मूत्र तथा मल का त्याग न करे ॥ २३ ॥

अश्मानं लोष्टमार्द्रानोषधिवनस्पतीनूर्ध्वानाच्छिद्य मूत्रपुरीषयोः शुन्धने वर्जयेत् ॥ २४ ॥

फलपाकावसाना ओषधयः। ये पुष्पैर्विना फलन्ति ते वनस्पतयः। 'आर्द्रा'

---

१. एतदादौ 'कर्म वर्जये'दित्यन्तमेकसूत्रतया परिगणितं ख. पुस्तके। सूत्रद्वादशकतया छेदः कृतः क० पु०   २. ष्ठीवन इति. ख० पु०

निति वचनात् शुष्केषु न दोषः। 'उध्वा' निति वचनाद्वातादिनिमित्तेन भग्नेषु न दोषः। एतैरश्मादिभिर्मूत्रपुरीषयोश्शोधनं न कुर्यात् ॥

अनु०—पत्थर के टुकड़े से, मिट्टी के ढेले से, (फल देने वाले) वृक्षों तथा वनस्पतियों को तोड़े गये हर पत्तों से शरीर में लगे मूत्र और मल को न पोंछे ॥ २४ ॥

अग्निमादित्यमपो ब्राह्मणं गा देवताद्वारं प्रति पादं च शक्तिविषये नाऽभिप्रसारयोत ॥ २५ ॥

शक्तौ सत्यां अग्न्यादीन्प्रति पादौ न प्रसारयेत् ॥ २५ ॥

अनु०—अग्नि, सूर्य, जल, ब्राह्मण, गौ, देवमन्दिर के द्वार की ओर यथाशक्ति पैर न फैलावे ॥ २५ ॥

अथाऽप्युदाहरन्ति ॥ २६ ॥

अनु०—इस विषय में यह उद्धरण भ: दिया जाता है ॥ २६ ॥

इत्यापस्तम्बधर्मसूत्रे प्रथमप्रश्ने त्रिंशी कण्डिका ॥ ३० ॥

प्राङ्मुखोऽन्नानि भुञ्जीत्तोच्चरेद्दक्षिणामुखः।
उदङ्मुखो मूत्रं कुर्यात्प्रत्यक्पादावनेजनमिति ॥ १ ॥

उक्चारः पुरीषकर्म। पादावनेजनं पादप्रक्षालनम्। भोजनादिषु चतस्रो नियम्यन्ते। मनुस्तु--

"[1]आयुष्यं प्राङ्मुखो भुंक्ते यशस्यं दक्षिणामुखः।
श्रियं प्रत्यङ्मुखो भुङ्क्त [2]ऋतं भुङ्क्ते उदङ्मुखः' ॥ इति।

याज्ञल्क्यश्च—

[3]'दिवा सन्ध्यासु कर्णस्थब्रह्मसूत्र उदङ्मुखः।
कुर्यान्मूत्रपुरीषे तु रात्रौ चेद्दक्षिणामुखः ॥' इति ॥ १ ॥

अनु०—पूर्व की ओर मुख करके अन्न का भक्षण करे, तथा दक्षिण की ओर मुख करके मल त्याग करे, उत्तर की ओर मुख करके मूत्रत्याग करे और पश्चिम की ओर मुड़कर अपने पैरों को धोवे ॥ १ ॥

आराच्चाऽऽवसथान्मूत्रपुरीषे कुर्याद्दक्षिणां दिशं दक्षिणापरां वा ॥ २ ॥

आवसथो गृहम्। तस्य दूरतो मूत्रपुरीषे कुर्यात्, दक्षिणां दिशम्। द्वितीयानिर्देशादभिनिष्क्रम्येति गम्यते। दक्षिणापरा नैर्ऋती ॥ २ ॥

---

१. म० स्मृ० २. ५२ २. ऋतं सत्यं, तत्फलमिच्छन्।
३. या० स्मृ० १. १६

अनु०—निवास स्थान से दूर दक्षिण या दक्षिण-पश्चिम दिशा में जाकर मूत्र और मल का त्याग करे ॥ २ ॥

अस्तमिते च बहिर्ग्रामादारादावसथाद्वा मूत्रपुरीषयोः कर्म वर्जयेत् ॥३॥

अस्तमित आदित्ये बहिर्ग्रामान्मूत्रपुरीषे न कुर्यात्। तथा अन्तर्ग्रामेऽपि गृहस्य दूरतो न कुर्यात्। दृष्टार्थोऽयं प्रतिषेधश्चोरव्याघ्रादिशङ्कया। निर्भये देशे नाऽस्ति दोषः ॥ ३ ॥

अनु० – किन्तु सूर्यास्त हो जाने पर ग्राम से बाहर अथवा दूर जाकर मूत्र और मल का त्याग न करे ॥ ३ ॥

टि० – हरदत्त ने व्याख्या में संकेत किया है कि यह निषेध चोर और व्याघ्र आदि की शंका से किया गया है। जहाँ ऐसी शंका न हो वहाँ दूर जाया जा सकता है ॥३॥

देवताभिधानं चाऽप्रयतः ॥ ४ ॥

देवतानामग्न्यादीनामभिधानं चाऽप्रयतस्सन् वर्जयेत्। [1]अपिधानमित्यपि पाठे एष एवार्थः ॥ ४ ॥

अनु०—जब तक अपवित्र हो, तब तक किसी देवता का नाम न ले ॥ ४ ॥

परुषं चोभयोर्देवतानां राज्ञश्च ॥ ५ ॥

देवतानां राज्ञश्चेत्युभयोः। राज्यपेक्षया द्विवचनम्। परुषं निन्दां वर्जयेत् ॥ ५ ॥

अनु०—देवताओं तथा राजा के विषय में कोई निन्दापरक वचन भी न कहे ॥

ब्राह्मणस्य गोरिति पदोपस्पर्शनं वर्जयेत् ॥ ६ ॥

ब्राह्मणं गां च पादेन नोपस्पृशेत्। इतिशब्दः प्रकारे। तेन विद्यावयोवृद्धानामब्राह्मणानामपि वर्जनम् ॥ ६ ॥

अनु०—अपने चरण से ब्राह्मण, गौ अथवा किसी भी इस प्रकार के पूज्य वस्तु का स्पर्श न करे ॥ ६ ॥

हस्तेन चाऽकारणात् ॥ ७ ॥

कारणमभ्यङ्गकण्डूयनादि। तेन विना हस्तेनाऽप्युपस्पर्शनं वर्जयेत् पूर्वोक्तानाम् ॥ ७ ॥

अनु०—कोई विशेष कारण न रहने पर उन्हें हाथ से भी न छुवे ॥ ७ ॥

गोर्दक्षिणानां कुमार्याश्च परीवादान्वर्जयेत् ॥ ८ ॥

गोरदक्षिणाया अपि दक्षिणानामगवामपि हिरण्यादीनां कुमार्याः कन्या-

---

१. अपिधानमित्यपाठः। एष एवार्थः इति ख०ग०पु०

याश्च दोषान् सतोऽपि न कथयेत्। अध्यात्मप्रकरणे योगाङ्गतया परीवादः प्रतिषिद्धः। अनन्तरं च वक्ष्यति[1] 'क्रोधादींश्च भूतदाहीयान् वर्जयेदिति। इदं तु वचनं गवादिषु प्रायश्चित्तातिरेकार्थम् ॥ ८ ॥

अनु०—गौ का, यज्ञ की दक्षिणा का, किसी कुमारी कन्या का दोष न कहे ॥ ८ ॥

स्पृहतीं च गां नाऽऽचक्षीत ॥ ९ ॥

स्पृहतीं सस्यधान्यादिकं भक्षयन्तीं गां स्वामिने न ब्रूयात् ॥ ९ ॥

अनु०— गाय यदि फसल या अन्न खा रही हो तो स्वामी से न कहे ॥ ९ ॥

संसृष्टां च वत्सेनाऽनिमित्ते ॥ १० ॥

या च गौर्वत्सेन संसृज्यते तामपि न ब्रूयादनिमित्ते—इयं ते गौर्वत्सेन पीयत इति। 'अनिमित्ते' इति वचनात् [2]'यस्य हविषे वत्सा अपाकृता धयेयु' रित्यादिके निमित्ते सति वक्तुर्नास्ति दोषः ॥ १० ॥

अनु०—यदि गौ बछड़े के पास हो (बन्धन से खुलकर दूध पिला रही हो) तो स्वामी से न कहे, जब तक कोई विशेष निमित्त न हो ॥ १० ॥

नाऽधेनुमधेनुरिति ब्रूयात्। धेनुभव्येत्येव ब्रूयात् ॥ ११ ॥

या च गौरधेनुः पयस्विनी भवति तामप्यधेनुरिति न ब्रूयात् ॥ ११

अनु०—जो गाय दूध न दे रही हो उसे अधेनु न कहे अपितु ॥ ११ ॥

किं तर्हि धेनुभव्येत्येव ब्रूयात्—भविष्यन्ती धेनुर्धेनुभव्या। 'धेनोर्भव्यायां (मुम् वक्तव्य)इति मुम् न भवति। छ्यन्तत्वेनाऽव्ययत्वात्। वक्तव्यत्वे च सति शब्दनियमोऽयम्। न पुनरधेनुदर्शन एवं वक्तव्यम् ॥ १२ ॥

अनु०—उसे 'धेनुम्भव्य' कहे ॥ १२ ॥

[3] न भद्रं भद्रमिति ब्रूयात् ॥ १३ ॥

यत् भद्रं तत् भद्रमिति न ब्रूयात् ॥ १३ ॥

अनु०—जो भद्र हो उसे भद्र न कहे ॥ १३ ॥

किं तु ?

पुण्यं प्रशास्तमित्येव ब्रूयात् ॥ १४ ॥

पुण्यं प्रशास्तमित्यनयोरन्यतरेण शब्देन ब्रूयात्। प्रशास्तं प्रशस्तम्। छान्दसो दीर्घः ॥ १४ ॥

अनु०—अपितु 'पुण्य' और 'प्रशस्त' कहकर उसका उल्लेख करे ॥ १४ ॥

---

१. आप० ध० ३१. २३ २. आप० श्रौ० ९. १. २३

३. म० स्मृ० ४. १३९

[१] वत्सतन्तीं च नोपरि गच्छेत् ॥ १५ ॥

वत्सानां बन्धरज्जुर्वत्सतन्ती। तस्या उपरि न गच्छेत् तां न लङ्घयेत्। वत्सग्रहणं गोजातेरुपलक्षणम् ॥ १५ ॥

अनु०—बछड़े के पगहे के ऊपर पैर रखकर न जावे ॥ १५ ॥

प्रेङ्खावन्तरेण च नाऽतीयात् ॥ १६ ॥

प्रेङ्खौ डोलास्तम्भौ। तोरणस्तम्भावित्यन्ये। तावन्तरेण नाऽतीयात्—तयोर्मध्ये न गच्छेत् ॥ १६ ।

अनु०—जिन खम्भों के बीच झूला लटकाया गया हो उन दोनों के बीच से न जावे ॥ १३ ॥

नाऽसौ मे सपत्न इति ब्रूयात् यद्यसौ मे सपत्न इति ब्रूयात् द्विषन्तं भ्रातृव्यं जनयेत् ॥ १७ ॥

असौ देवदत्तो मे सपत्न इति न ब्रूयात् सदसि। किं कारणम्? यद्यसौ मे सपत्न इति ब्रूयात्, द्विषन्तं क्रियाशब्दोऽयम्, विद्विषाणं भ्रातृव्यं सपत्नं जनयेत् 'व्यन् सपत्ने' इति भ्रातृशब्दे व्यन् प्रत्ययः। एवं ह्युक्ते स मन्येत—नाऽकस्मादयं ब्रूते नूनमस्य मयि द्वेषो वर्तत इति। ततश्च तत्प्रतीकारार्थं यतमानस्सपत्न एव जायते इति ॥ १७ ॥

अनु०—सभा में ऐसा न कहे कि अमुक व्यक्ति मेरा शत्रु है, यदि ऐसा कहता है कि अमुक व्यक्ति मेरा शत्रु है तो वह द्रोह करने वाले शत्रु को पैदा कर देता है ॥१७॥

नेन्द्रधनुरिति परस्मै प्रब्रूयात् ॥ १८ ॥

इन्द्रधनुराकाशे पश्यन् परस्मै तेन शब्देन न ब्रूयात्। यद्यवश्यं वक्तव्यं मणिधनुरिति ब्रूयात्। गौतमीये [२]दर्शनात् ॥ १८ ॥

अनु०—इन्द्रधनुष देखने पर उसके विषय में दूसरे व्यक्ति से न कहे ॥ १८ ॥

न पततः सञ्चक्षीत ॥ १९ ॥

पततः पक्षिणः सङ्घीभूय स्थितान्न सञ्चक्षीत न गणयेत्—इयन्त एत इति। अपर आह—'पुण्यक्षयेण स्वर्गात्पततः सुकृतिनः परस्मै न सञ्चक्षीत-ज्योतींषि पतन्तीति न कथयेत् ॥ १९ ॥

अनु०—जब पक्षी एकत्र हुए हों तो उनकी संख्या की गणना न करे ॥ १९ ॥

उद्यन्तमस्तं यन्तं चाऽऽदित्यं दर्शने वर्जयेत् ॥ २० ॥

---

१. म० स्मृ० ४. ३८

२. गौ० ध० ९. २२

उदयसमये अस्तमयसमये वा आदित्यं न पश्येत्।

'मनुस्तु—

नेक्षेतोद्यन्तमादित्यं नाऽस्तं यन्तं कदाचन।

नोपरक्तं न वारिस्थं न मध्यं नभसो गतम्॥' इति॥ २०॥

अनु०—उगते हुए तथा अस्त होते हुए सूर्य का दर्शन न करे॥ २०॥

दिवाऽऽदित्यः सत्वानि गोपायति नक्तं चन्द्रमाः। तस्मादमावास्यायां निशायां स्वाधीय आत्मनो गुप्तिमिच्छेत् प्रायत्यब्रह्मचर्यकाले चर्यया च॥ २१॥

दिवा अहनि। आदित्यः सत्वानि गोपायति प्राणिनो रक्षति, आलोकदानेन। नक्तं रात्रौ चन्द्रमाः। तस्मादमावास्यायां निशायां रात्रौ स्वाधीयः। वकारश्छान्दसः। अन्तिकबाढयोर्नेदसाधौ। बाढतरं भृशतरं आत्मनो गुप्तिं रक्षणमिच्छेत्। केन प्रकारेण? प्रायत्यब्रह्मचर्याभ्यां काले चर्यया च। अयं तावदर्थानुरूपः पाठः। अधीयमानस्तु प्रमादश्छान्दसो वा। प्रयतस्य भावः प्रायत्यं नित्यप्रायत्यादधिकेन प्रायत्येन स्नानादिजेन। ब्रह्मचर्येण मैथुनत्यागेन। काले कृतया चर्यया देवार्चनजपादिकया च॥ २१॥

अनु०—दिन में सूर्य जीवों की रक्षा करता है तथा रात्रि में चन्द्रमा। इसलिए अमावस्या की रात्रि में आत्मसंयम, ब्रह्मचर्य तथा समय के अनुरूप चर्या (देवार्चन आदि) के द्वारा प्रयत्नपूर्वक अपनी रक्षा करे॥ २१॥

कस्मात्पुनरस्यां रात्रौ चन्द्रमा न गोपायतीत्याह—

सह ह्येतां रात्रिं सूर्याचन्द्रमसौ वसतः॥ २२॥

एतां रात्रिम्। अत्यन्तसंयोगे द्वितीया। सर्वामेतां रात्रिं सूर्याचन्द्रमसौ सह वसतः। न च सूर्येण सह वसतश्चन्द्रमसः प्रकाशोऽस्ति॥ २२॥

अनु०—क्योंकि उस रात्रि सूर्य और चन्द्रमा एक साथ निवास करते हैं॥ २२॥

न कुसृत्या ग्रामं प्रविशेत्॥ २३॥

कुसृतिः कुमार्गः। तया ग्रामं न प्रविशेत्॥ २३॥

अनु०—किसी बुरे मार्ग से (अप्रचलित मार्ग से) ग्राम में प्रवेश न करे॥ २३॥

यदि प्रविशे 'न्नमो रुद्राय वास्तोष्पतय' इत्येतामृचं जपेदन्यां वा रौद्रीम्॥ २४॥

---

१. मनु० स्मृ० ४. ३७

यदि गत्यन्तराभावात् प्रविशेत्[1] 'नमो रुद्राये'त्यादिकामृचं जपेत्। अन्यां वा रौद्रीम्[2] 'इमां रुद्राय तवस' इत्यादिकाम्। अत्र वाजसनेयगृह्ये—[3] 'वनं प्रवेक्ष्यन्ननुमन्त्रयते 'नमो रुद्राय वनसदे स्वस्ति मा सम्पारये' ति। पन्थानमारोक्ष्यन्ननुमन्त्रयते 'नमो रुद्राय पथिषदे स्वस्ति मा सम्पारये'ति। अपः प्रवेक्ष्यन्ननुमन्त्रयते—'नमो रुद्रायाऽप्सुपदे स्वस्ति मा सम्पारये'ति। तस्माद्यत्किञ्चन कर्म कुर्वन् स्यात् सर्वं 'नमो रुद्राये' त्येव कुर्यात् 'सर्वो ह्येष रुद्र' इति श्रुतेरिति भारद्वाजगृह्येऽप्यस्मिन्विषये कियानेव भेदः॥ २४॥

अनु०—यदि कारण वश ऐसे मार्ग से प्रवेश करना पड़े, तो 'नमो रुद्राय वास्तोष्पतये' मन्त्र का जप करे, अथवा रुद्र देवता के प्रति उक्त किसी अन्य मन्त्र का जप करे।

नाऽब्राह्मणायोच्छिष्टं प्रयच्छेत्॥ २५॥

अब्राह्मणः शूद्रः। [4]"न शूद्रायोच्छिष्टमनुच्छिष्टं वा दद्या'दिति वासिष्ठे दर्शनात्। तस्मा उच्छिष्टं न प्रयच्छे'दित्यनाश्रितविषयम्॥ २५॥

अनु०—अपने भोजन का उच्छिष्ट अन्न किसी ऐसे व्यक्ति को न देवे जो ब्राह्मण न हो॥ २५॥

यदि प्रयच्छेद्दन्तान् स्कुप्त्वा तस्मिन्नवधाय प्रयच्छेत्॥ २६॥

इदमाश्रितविषयम्। दन्तान्नखेन स्कुप्त्वा विलिख्य तन्मलं तस्मिन्नुच्छिष्टेऽवधाय प्रयच्छेत्। 'स्कुप्त्वे'ति स्कुभ्नातेः क्त्वाप्रत्यये छान्दसं भकारस्य चर्त्वम्। स्कुनोतेर्वा पकार उपजनः॥ २६॥

अनु०—यदि किसी अब्राह्मण को अपना उच्छिष्ट अन्न दे तो दाँतों को खरोचकर उनके मल को उस उच्छिष्ट अन्न में रखकर दे॥ २६॥

क्रोधादींश्च भूतदाहीयान्दोषान्वर्जयेत्॥ २७॥

क्रोधादयो भूतदाहीया अध्यात्मपटले (२२.५) व्याख्याताः। तद्वचनं योगिविषयमित्ययोगिनोऽपि स्नातकस्य क्रोधादिनिवृत्त्यर्थमिदं वचनम्। इदमेव तर्ह्युभयार्थमस्तु—योग्यर्थमयोग्यर्थं च। एवं सिद्धे तद्वचनं क्रोधादिवर्जनस्य योगाङ्गत्वप्रतिपादनार्थम् तेन क्रोधाद्यनुष्ठाने योगसिद्धिर्न भवति। न पुनः स्नातकव्रतलोपप्रायश्चित्तमिति॥ २७॥

अनु०—क्रोध आदि जैसे उन दोषों से दूर रहे जो योग की सिद्धि में बाधक होते हैं।

॥ इत्यापस्तम्बधर्मसूत्रवृत्तौ प्रथमप्रश्ने एकत्रिंशी कण्डिका॥ ३१॥

---

१. ब्रा० ३. ७. ९ नमो रुद्राय वास्तोष्पतये। आयने विद्रवणे। उद्यायने यत्परायणे। आवर्तने निवर्तने। यो गोपायति तꣳ हुवे॥ इति समग्रा ऋक्॥

२. 'इमाꣳ रुद्राय तवसे कपर्दिने क्षयद्वीराय' इतिरुद्राध्यायगता (तै०सं०४.५.१०)

३. पार० गृ० ३. १५. ११ ४. व० ध० १८ १४

प्रवचनयुक्तो वर्षाशरदं मैथुनं वर्जयेत् ॥ १ ॥

प्रवचनमध्यापनम्। तेन युक्तो वर्षासु शरदि च मैथुनं वर्जयेत् ऋतावपि॥१॥

अनु०—अध्यापन करने वाला वर्षा तथा शरद् ऋतुओं में मैथुन कर्म से विरत रहे ॥ १ ॥

मिथुनीभूय च न तया सह सर्वां रात्रिं शयीत ॥ २ ॥

मिथुनीभूय मैथुनं कृत्वा तथा भार्यया सह तां रात्रिं सर्वां न शयीत ॥ २ ॥

अनु०—यदि पत्नी के साथ मैथुन भी करे तो सम्पूर्ण रात्रि उसके साथ शयन न करे ॥ २ ॥

शयानश्चाऽध्यापनं वर्जयेत् ॥ ३ ॥

दिवा नक्तं च शयानस्याऽध्यापनप्रतिषेधः। स्वयं तु धारणार्थमधीयानस्य न दोषः ॥ ३ ॥

अनु०—(दिन में या रात्रि में) लेटकर न पढ़ावे ॥ ३ ॥

न च तस्यां शय्यायामध्यापयेद्यस्यां शयीत ॥ ४ ॥

यस्यां शय्यायां भार्यया सह शयीत रात्रौ तस्यां शय्यायामासीनोऽपि नाऽध्यापयेत् ॥ ४ ॥

अनु०—उस शय्या पर भी बैठकर अध्यापन न करे जिस पर रात्रि में पत्नी के साथ शयन करता हो ॥ ४ ॥

अनाविःस्रगनुलेपणस्स्यात् ॥ ५ ॥

आविर्भूते प्रकाशिते स्रगनुलेपने यस्य एवंभूतो न स्यात्। णत्वं पूर्ववत् ॥

अनु०—माला आदि से सजाकर या लेप आदि करके अपने शरीर को प्रदर्शित न करे ॥ ५ ॥

सदा निशायां दारं प्रत्यलङ्कुर्वीत ॥ ६ ॥

'दारं प्रतो'ति वचनादुपगमनार्थमलङ्करणम्। तेन भार्याया अशक्त्यादिना उपगमनायोग्यत्वे नाऽयं नियमः ॥ ६ ॥

अनु०—रात्रि में अपनी पत्नी के उपगमन के लिए सदैव माला, सुगन्धित लेप आदि से अपना अलंकरण करे ॥ ६ ॥

सशिरा वमज्जनमप्सु वर्जयेत् ॥ ७ ॥

वमज्जनमवमज्जनम्। 'वष्टि भागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयो' रित्यकारलोपः। तत्सशिरा वर्जयेत्। सह शिरसा स्नानं न कुर्यात्। अवगाहनविधयः सर्वे स्नातकव्यतिरिक्ते चरितार्थाः, नैमित्तिकाश्च। स्नातकस्य तु नित्यस्नानमवगाहनरूपं न भवतीत्याचार्यस्य पक्षः ॥ ७ ॥

अनु०—जल में सिर के साथ सम्पूर्ण शरीर को डुबाकर स्नान न करे ॥७॥

अस्तमिते च स्नानम् ॥ ८ ॥

अस्तमिते आदित्ये सर्वप्रकारं स्नानं वर्जयेत् ॥ ८ ॥

अनु०—सूर्य के अस्त हो जाने पर किसी भी प्रकार का स्नान न करे ॥८॥

पालाशमासनं पादुके दन्तप्रक्षालनमिति च वर्जयेत् ॥ ९ ॥

पालाशमासनादि वर्जयेत्। दन्तप्रक्षालनं दन्तकाष्ठम्। इतिशब्दः प्रकारे। तेनाऽन्यदपि गृहोपकरणं पालाशं वर्जयेत् ॥ ९ ॥

अनु०—पलाश का आसन या खड़ाऊँ अथवा दातौन अथवा अन्य इस प्रकार का उपकरण न बनावे ॥९॥

स्तुतिं च गुरोस्समक्षं यथा सुस्नातमिति ॥ १० ॥

'सुस्नात' मित्यादिकां च स्तुतिं गुरोस्सन्निधौ वर्जयेत् ॥ १० ॥

अनु०—गुरु के समक्ष अपनी किसी भी प्रकार की प्रशंसा न करे जैसे इस प्रकार न कहे कि मैंने अच्छी प्रकार स्नान किया है ॥१०॥

आ निशाया जागरणम् ॥ ११ ॥

निशा रात्रेर्मध्यमो भागः। आ तस्मात् जागृयात् न स्वप्यात् ॥ ११ ॥

अनु०—आधी रात के बाद जागते हुए रहना चाहिए ॥११॥

अनध्यायो निशायामन्यत्र धर्मोपदेशाच्छिष्येभ्यः ॥ १२ ॥

निशायामनध्यायः अध्ययनमध्यापने च न कुर्यात्। शिष्येभ्यस्तु धर्मोपदेशोऽनुज्ञायते ॥ १२ ॥

अनु०—आधी रात को अध्यापन या अध्ययन न करे। किन्तु शिष्यों को कर्तव्य के विषय में उपदेश दिया जा सकता है ॥१२॥

मनसा वा स्वयम् ॥ १३ ॥

निशायामनध्यायस्य प्रतिप्रसवः—मनसा वा स्वयं चिन्तयेदिति ॥ १३ ॥

अनु०—अथवा मन में या अपने आप अध्ययन-पारायण किया जा सकता है ॥१३॥

ऊर्ध्वमर्धरात्रादध्यापनम् ॥ १४ ॥

अयमपि प्रतिप्रसवः। निशायामपि षोडश्या नाडिकाया आरभ्याध्यापनं भवतीति ॥ १४ ॥

अनु०—आधी रात के बाद अध्ययन और अध्यापन किया जा सकता है ॥ १४ ॥

नाऽपररात्रमुत्थायाऽनध्याय इति संविशेत् ॥ १५ ॥

रात्रेस्तृतीयो भागोऽपररात्रः। ऊर्ध्वमर्धरात्रादुत्थायाऽध्यापयन्नपररात्रे न

संविशेत् न शयीत । यद्यपि तस्मिन्नष्टम्यादिरनध्यायः प्राप्तो भवति । किं पुनः स्वाध्याये । तथा च मनुः—

[1]"न निशान्ते परिश्रान्तो ब्रह्माऽधीत्य पुनः स्वपेत् ।" इति ॥ १५ ॥

अनु०—(आधी रात को उठकर तथा उसके बाद अध्ययन, अध्यापन करके) रात्रि के तीसरे भाग में अध्ययन निषिद्ध है ऐसा समझकर फिर शयन न करे ॥१५॥

[2]काममपश्शयीत ॥ १६ ॥

अनेन स्तम्भाद्युपाश्रयणेनाऽऽसीनस्य स्वापोऽनुज्ञायते । श्रिञ् सेवायाम् । तत्र रेफलोपश्छान्दसः । तथा शकारस्य द्विर्वचनम् ॥ १६ ॥

अनु०—यदि सोना चाहे तो किसी खंभे आदि का सहारा लेकर बैठे-बैठे सोवे ॥१६॥

मनसा वाऽधीयीत ॥ १७ ॥

अयमप्यूर्ध्वमर्धरात्रादुत्थायाऽध्यापयतोऽनध्यायप्राप्तावेवोच्यते । मनसा प्राप्तं प्रदेशमधीयीत स्वयं चिन्तयेत् । उपाश्रित्य वा स्वप्यात् ॥ १७ ॥

अनु०—अथवा मन में ही अध्ययन पारायण करे ॥१७॥

क्षुद्रान् क्षुद्राचरितांश्च देशान्न सेवेत ॥ १८ ॥

क्षुद्रानल्पकान् पुरुषान्न सेवेत । क्षुद्रैर्निषादादिभिरधिष्ठितांश्च देशान्न सेवेत ॥ १८ ॥

अनु०—क्षुद्र जनों के समीप अथवा क्षुद्र जनों से युक्त देश में न जावे ॥१८॥

सभास्समाजांश्च ॥ १९ ॥

सभास्समाजाश्च व्याख्याताः । तान्न सेवेत ॥ १९ ॥

अनु०—सभाओं में तथा भीड़ के स्थानों पर न जावे ॥ १९ ॥

समाजं चेद्गच्छेत्प्रदक्षिणीकृत्याऽपेयात् ॥ २० ॥

यद्यर्थात् समाजं गच्छेत् तं प्रदक्षिणीकृत्याऽपेयादपगच्छेत् ॥ २० ॥

अनु०—यदि लोगों के समूह में पहुँच गया हो तो उसकी प्रदक्षिणा करके (अथवा उसे दाहिने हाथ की ओर करके) वहाँ से प्रस्थान करे ॥ २० ॥

नगरप्रवेशनानि च वर्जयेत् ॥ २१ ॥

बहुवचननिर्देशात् बहुकृत्वो नगरं न प्रवेष्टव्यम् । यदाकदाचिद्यादृच्छिके प्रवेशे न प्रायश्चित्तम् ॥ २१ ॥

अनु०—नगर में प्रवेश का वर्जन करे ॥ २१ ॥

प्रश्नं च न विब्रूयात् ॥ २२ ॥

---

१. म० स्मृ० ४. ९९ २. काममुपशयीत इति ग० पु०

विविच्य वचनं विवचनं निर्णयः। पृष्टमर्थं न विविच्य ब्रूयादिदमित्थामिति। दुर्निरूपार्थविषयमिदम् ॥ २२ ॥

अनु०—किसी प्रश्न का सीधे निर्णय के साथ उत्तर न दे ॥ २२ ॥

अथाऽप्युदाहरन्ति ॥ २३ ॥

अपि चाऽस्मिन्नर्थे श्लोकमुदाहरन्ति ॥ २३ ॥

अनु०-इस विषय में यह उद्धरण दिया जाता है ॥ २३ ॥

मूलं तूलं वृहति दुर्विवक्तुः प्रजां पशूनायतनं हिनस्ति।

धर्मप्रह्लाद न कुमालनाय रुदन् ह मृत्युर्व्युवाच प्रश्नम्। इति ॥२४॥

दुर्निरूपमर्थं सहसा निर्णीय यो दुर्विवक्ति अन्यथा वर्णयति स दुर्विवक्ता। तस्य दुर्विवक्तुस्तदेव दुर्वचनमेव मूलं तूलं च वृहति। मूलं पितृधनम्। तूलमागामिनी सम्पत। तदुभयमपि वृहति उत्पाटयति। दन्तोष्ठ्यो वकारः। किमेतावदेव ? न, प्रजां पुत्रादिकाम्। पशून् गवादिकान्। आयतनं गृहं च हिनस्ति। अतो दुर्वचनसम्भवात् प्रश्नमात्रमेव न विब्रूयादिति। अत्रेतिहासः—कस्यचिदृषेर्धर्मप्रह्लादः कुमालनश्चेति द्वौ शिष्यावास्ताम्। तौ कदाचिदरण्यान्महान्तौ समिद्भारावाहृत्य श्रमा[1]दृदृष्टिपूत एवाचार्यगृहे प्राक्षिपताम्। तयोरेकेनाऽऽक्रान्त आचार्यस्य शिशुः पुत्रो मृतः। ततः शिष्यावाहूयाऽऽचार्यः पप्रच्छ—केनायं मारित इति। तावुभावपि न मयेत्यूचतुः। तथा पतितस्य परित्यागमदुष्टस्य परिग्रहं कर्तुमशक्नुवन्नृषिर्मृत्युमाहूय पप्रच्छ— केनायं व्यापादित इति। ततो धर्मसङ्कटे पतितो मृत्यूरुदन्नेव प्रश्नं व्युवाच विविच्य कथितवान्। कथम् ? हे धर्मप्रह्लाद न कुमालनाय। षष्ठ्यर्थे चतुर्थी। कुमालनस्य नेदं पतनीयमिति। धर्मप्रह्लाद त्वयेदं कृतमिति वक्तव्ये इतरस्य नाऽस्तीयुक्तम्। तथा पीतरस्यास्तीत्यर्थादूगम्यते। इति रुदन् ह व्युवाचेति। हशब्द ऐतिह्यत्वद्योतनार्थः। प्रह्लादशब्दे हकारात्परो रेफश्छान्दसः ॥ २४ ॥

अनु०—जो व्यक्ति कोई गलत निर्णय देता है उसका मूर्खतापूर्ण निर्णय उसके पूर्वजों की, भावी समृद्धि की सन्तान, पशु और घर की हानि करता है। मृत्यु ने रोते हुए ऋषि के प्रश्न का उत्तर दिया था 'धर्मप्रह्लाद न कुमालनाय'।

टि०—इस पद्य के उत्तरार्ध में एक आख्यान का सन्दर्भ दिया गया है। हरदत्त ने इस आख्यान को इस प्रकार प्रस्तुत किया है:—किसी ऋषि के धर्मप्रह्लाद और कुमालन दो शिष्य थे। वे दोनों एक दिन वन से बहुत श्रम करके पर्याप्त ईंधन ले आये और उसे गुरु के घर में विना देखे-भाले फेंक दिया। एक लकड़ी के टुकड़े से चोट खाकर गुरु का छोटा बच्चा मर गया। दोनों शिष्यों को बुलाकर गुरु ने पूछा किसने

---

१. दृष्टिपथ एव इति ख० ग०

इसे मारा है। उन दोनों ने ही इन्कार किया। पतित समझ कर किसका परित्याग करना चाहिये तथा दोषहीन समझकर किस शिष्य को रखना चाहिये ऐसा निर्णय करने में असमर्थ ऋषि ने मृत्यु को बुलाकर पूछा 'इन दोनों में किसने इसे मारा है?' धर्म-संकट में पड़कर रोते हुए मृत्यु ने कहा—'धर्मप्रह्लाद न कुमालनाय।' (अर्थात्, हे धर्मप्रह्लाद, यह दोष कुमालन का नहीं है,' किन्तु इसका यह भी अर्थ निकला कि धर्मप्रह्लाद ने नहीं, बल्कि दोष कुमालन का है।

गार्दभं यानमारोहणे विषमारोहणावरोहणानि च वर्जयेत्॥ २५॥

गर्दभयुक्तं यानं गार्दभं शकटादि। आरोहणे वर्जयेत् नाऽऽरोहेत। तथा विषमेषु निम्नोन्नतेष्वारोहणमवरोहणं च वर्जयेत्। उन्नतेष्वारोहणं निम्नेष्ववरोहणम्॥ २५॥

अनु०—गदहे से खींचे जाने वाले यान पर न चढ़े, विषम स्थानों में रथ पर आरोहण तथा रथ से अवरोहण का वर्जन करे॥ २५॥

बाहुभ्यां च नदीतरणम्॥ २६॥

तरणं तरः। बाहुभ्यां च नद्यास्तरणं वर्जयेत्। 'बाहुवभ्यां' मिति वचनात् प्लवादिना न दोषः॥ २६॥

अनु०—नदी को तैर करके पार करने का वर्जन करे॥ २६॥

नावं च सांशयिकीम्॥ २७॥

भिद्यते न वेति संशयमापन्ना सांशयिकी नौः। जीर्णां नावं वर्जयेत्। 'नावा' मिति षष्ठ्यन्तपाठे नावां मध्ये सांशयिकीं नावं वर्जयेत्॥ २७॥

अनु०—संशय उत्पन्न करने वाली नाव पर न चढ़े॥ २७॥

तृणच्छेदनलोष्टविमर्दनष्ठेवनानि चाऽकारणात्॥ २८॥

तृणच्छेदनादि नाऽकारणद्वर्जयेत् न कुर्यात्। तृणच्छेदनस्याऽग्नि ज्वलनादि कारणम्। ष्ठेवनस्य कारणं प्रतिश्यायादि। इतरच्च मृग्यम्॥

अनु०—विना कारण घास काटने, ढेला फोड़ने, थूकने का वर्जन करे॥ २७॥

यच्चाऽन्यत्परिचक्षते यच्चान्यत्परिचक्षते॥ २९॥

यच्चाऽन्यदेवं युक्तमाचार्याः परिचक्षते वर्जयन्ति तदप्यक्षक्रीडादि वर्जयेत। द्विरुक्तिः प्रश्नपरिसमाप्तिकृता॥ २९॥

इत्यापस्तम्बधर्मसूत्रवृत्तौ प्रथमप्रश्ने द्वात्रिंशी कण्डिका॥ ३२॥

अनु०—तथा उन सभी कार्यों को न करे जिनका निषेध आचार्यों ने किया है।

इत्यापस्तम्बधर्मसूत्रवृत्तावुज्ज्वलायामेकादशः पटलः

समाप्तः प्रथमः प्रश्नः

अथ द्वितीयः प्रश्नः

प्रथमः पटलः

पाणिग्रहणादधि गृहमेधिनोर्व्रतम् ॥ १ ॥

पूर्वस्मिन् प्रश्न आद्ययोः प्रायेण ब्रह्मचारिणो धर्मा उक्ताः। इतरेष्वष्टसु सर्वाश्रमाणाम्। एकादशे समावृत्तस्य। इदानीं पाणिग्रहणादारभ्य कर्तव्यानि कर्माण्युच्यन्ते। पाणिर्यस्मिन्नहनि[1] गृह्यते तत्पाणिग्रहणम्[2]। अधिशब्द ऊर्ध्वार्थे वर्तते। तस्मादूर्ध्वं गृहमेधिनोर्गृहस्थाश्रमवतोः यद्व्रतं नियतं कर्तव्यम्, जाताऽवेकवचनम्, तदुच्यते। 'पाणिग्रहणादधी'ति वचनं [3]"भार्यादिरग्निर्दायादिर्वे'ति शास्त्रान्तरोक्तो विकल्पो मा भूदिति। 'गृहमेधिनो'रिति द्विवचनमन्यतरमरणे मा भूदिति[4]। वैश्वदेवं तु विधुरा अपि कुर्वन्ति ॥ १ ॥

अनु०—पाणिग्रहण के बाद पति और पत्नी दोनों गृहस्थाश्रम के कर्मों का सम्पादन करें।

टि०—इस सूत्र में विवक्षित नियम के अनुसार अपवित्र अग्नि का आधान पाणिग्रहण के समय से ही होगा, दायद अर्थात् सम्पत्ति के विभाजन के समय का विकल्प सूत्रकार को मान्य नहीं है। सूत्र में 'गृहमेधिनोः' शब्द भी द्विवचन है, तात्पर्य यह कि गृहस्थाश्रम के कर्म पति-पत्नी दोनों को ही करने होते हैं। किसी एक के न होने पर ये कर्म नहीं होते, किन्तु वैश्वदेव जैसा कर्म विधुर पुरुष कर सकता है ॥ १ ॥

कालयोर्भोजनम् ॥ २ ॥

कालयोरुभयोरपि भोजनं कर्तव्यम्—सायं प्रातश्च, नाऽन्तरेति परिसङ्ख्येयम्, भोजनस्य रागप्राप्तत्वात्। मानवे च स्पष्टमुक्तम्—

[5]"सायं प्रातर्द्विजातीनामशनं श्रुतिचोदितम्।
नाऽन्तरा भोजनं कुर्यादग्निहोत्रसमो विधिः ॥' इति।

---

१. यस्मिन् कर्मणि. इति. क० ङ० पु०

२. चतुर्थीकर्मान्तो विवाहः इत्यधिकं ङ० पु० ३. गौ० ध० ५. ७

४. अनेकभार्यस्य एकस्यामपि सत्यां भवत्येव। अनेकाश्रितस्याऽधिकारस्य विद्यमानत्वाच्छास्त्रान्तरत्वाच्च। इत्यधिकं क० पु०

५. वचनमिदं मुद्रितमनुस्मृतिकोशेषु नाऽस्ति। परं तु बहुषु निबन्धेषु परं मानवत्वेनोपन्यस्तम्।

अन्ये तु नियमं मन्यन्ते [1]शक्तौ सत्यां गृहमेधिनोरुभयोरपि कालयोरवश्यं भोक्तव्यं प्राणाग्निहोत्रस्याऽलोपायेति।

तथा च बौधायनः—

[2]'गृहस्थो ब्रह्मचारी वा योऽनश्नंस्तु तपश्चरेत्।
प्राणाग्निहोत्रलोपेन ह्यवकीर्णी भवेत्तु सः ॥' इति।

[3]अन्यत्र प्रायश्चित्तात्। प्रायश्चित्ते तु तदेव विधानमिति ॥ २ ॥

अनु०—केवल दो समयों में भोजन करे (प्रातः तथा सायं)

टि०—जैसा कि हरदत्त ने अपनी व्याख्या में निर्देश किया है यथासंभव के समय अवश्य भोजन करना चाहिए, जिससे प्राणाग्निहोत्र का लोप न होवे। प्राणाग्निहोत्र करने का नियम भोजन के दोनों समयों में विहित है। इसमें पाँच वायुओं के लिए स्वाहा कहकर भोजन के कवल खाये जाते हैं। केवल दो समय भोजन का नियम विहित होने से यह भी अभिप्रेत है कि दो से अधिक बार भोजन नहीं करना चाहिए ॥ २ ॥

अतृप्तिश्चाऽन्नस्य ॥ ३ ॥

सुहितार्थयोगे करणे षष्ठी भवति। [4]'पूरणगुणसुहितार्थे'ति ज्ञापनात्। अन्नेन तृप्तिं न गच्छेताम्। यावत्तृप्ति न भोक्तव्यम् ॥ ३ ॥

अनु०—तृप्तिपर्यन्त अन्न का भोजन नहीं करना चाहिए ॥ ३ ॥

पर्वसु चोभयोरुपवासः ॥ ४ ॥

पक्षसन्धिः पर्व। इह तु तद्युक्तमहर्गृह्यते। तेषु पर्वसूभयोर्दम्पत्योरुपवासः कर्त्तव्यः। उपवासो भोजनलोपः ॥ ४ ॥

अनु०—(अमावस्या तथा पौर्णमासी) पर्वों पर पति और पत्नी दोनों ही उपवास रखे ॥ ४ ॥

अविशेषादुभयोरपि कालयोः प्राप्तावाह—

औपवस्तमेव कालान्तरे भोजनम् ॥ ५ ॥

यत्कालान्तरे एकस्मिन् काले भोजनं तदप्यौ[5]पवस्तमेव उपवास एव।

---

१. शक्तौ सत्यां कालयोर्वर्जने च प्राणाग्निहोत्रलोपः। तस्यालोपाय कालयोरवश्यं भोजनं कर्तव्यमिति ङ० पुस्तके पाठः।

२. बौ० ध० २.७.२४ ३. अयं भागो घ० पुस्तके नास्ति।

४. पा० सू० २.२.११

५. 'वसु स्तम्भ' इत्यस्माद्दैवादिकाद्भावे क्ते स्वर्थेऽणि च सति औपवस्तमिति रूपं, धातूनामनेकार्थत्वादभोजने वृत्तिरिति च वेदितव्यम्।

[1]'औपवस्तं तूपवासः' निघण्टुः। तदपि दिवा, न रात्रौ; श्रौते तथा दर्शनात् [2]'न तस्य सायमश्नीया'दिति। तदिह [3]'एवमत ऊर्ध्व'मित्यादि गृह्ये यदुक्तं तत्रत्य उपवासो व्याख्यातः ॥ ५ ॥

अनु०- उन तिथियों पर केवल एक बार दिनमें भोजन करना भी उपवास कहा जाता है ॥ ५ ॥

तृप्तिश्चाऽन्नस्य ॥ ६ ॥

पर्वसु सकृद्भुञ्जानौ यावत्तृप्ति भुञ्जीयाताम् ॥ ६ ॥

अनु०—(एक बार भोजन करके उपवास करने पर) दोनों आतृप्ति भोजन करे ॥ ६ ॥

यच्चैनयोः प्रियं स्यात्तदेतस्मिन्नहनि भुञ्जियाताम् ॥ ७ ॥

'एतस्मिन्नहनी'ति न वक्तव्यम्। प्रकृतत्वात्। यथा 'तृप्तिश्चान्नस्ये' ति पर्वसु भवति, एवमिदमपि भविष्यति। किं च 'पर्वस्वि'ति बहुवचनान्तस्य प्रकृतस्य 'एतस्मिन्नहनी'त्येकवचनान्तेन प्रत्यवमर्शो नाऽतीव समञ्जसः। तस्माद्व्यवहितमपि पाणिग्रहणमहः प्रत्यवमृश्यते। एतदर्थमेव च गृह्ये [4]'एतदहर्विजानीयाद्यदहर्भार्यामावहत' इत्युक्तम्। एतस्मिन् पाणिग्रहणेऽहनि यदेनयोर्दम्पत्योः प्रियं तत् भुञ्जीयाताम्। न तु 'नाऽऽत्मार्थमभिरूपमन्नं पाचये' (२.७.४) दिति निषेधस्याऽयं विषय इति। प्रतिसंवत्सरं चैतत्कर्तव्यम्। यथा चैत्रे मासि स्वातौ कृतविवाहस्याऽपरस्मिन्नपि संवत्सरे तस्मिन्मासे स्वातावेव कार्यम्। एवं हि तदेवाऽहरिति भवति। प्रतिमासं तु नक्षत्रागमेऽपि चैत्रादिभेदान्न तदेवेति प्रतिपत्तिः। तस्मात् प्रतिसंवत्सरमिदं विवाहनक्षत्रे कर्तव्यम्। [5]यथा राज्ञामभिषेकनक्षत्रमेवं हि गृहमेधिनोर्विवाहनक्षत्रमिति ॥ ७ ॥

अनु०—उन दोनों को जो अन्न प्रिय हो उसका इस दिन को भोजन करें।

टि०—'एतस्मिन्नहनि' के विषय में व्याख्याकार हरदत्त ने आपत्ति उठायी है कि यह अनावश्यक है, क्योंकि पूर्ववर्ती सूत्र से पर्व दिनों का संकेत होता ही है। इन दिनों को तृप्तिभर खाने का निर्देश किया जा चुका है, किन्तु 'एतस्मिन् अहनि' का एकवचन भी असंगत है। 'एतस्मिन् अहनि' से पाणिग्रहण के दिन से तात्पर्य है ॥ ७ ॥

अधश्च शयीयाताम् ॥ ८ ॥

एतस्मिन्नहनि स्थण्डिलशायिनौ स्याताम् ॥ ८ ॥

---

१. नामलि. का० २. व० २८.   २. आप० श्रौ० ३   ३. आप० गृ० ७. १७
४ आप० गृ० ८. ७   ५. यथा इत्यादिग्रन्थः घ: ङ० पुस्तकयोर्नास्ति।

अनु०—उस रात्रि को वे दोनों भूमि पर शयन करें ॥ ८ ॥

मैथुनवर्जनं च ॥ ९ ॥

[1]मैथुनवर्जनं चैतस्मिन्नहनि कर्तव्यम् ॥ ९ ॥

अनु०—उस रात्रि को मैथुन न करें ॥ ९ ॥

श्वो भूते स्थालीपाकः ॥ १० ॥

स्थालीपाकश्च कर्तव्योऽपरेद्युः ॥ १० ॥

अनु०—दूसरे दिन स्थालीपाक तैयार करना चाहिए ॥ १० ॥

तस्योपचारः पार्वणेन व्याख्यातः ॥ ११ ॥

तस्य स्थलीपाकस्योपचारः प्रयोगप्रकारः पार्वणेन व्याख्यातः । एतदेव ज्ञापयति-न सामयाचारिकेषु पार्वणातिदेशः प्रवर्तत इति इति । केचित्तु सर्वमेवैतत्पर्वविषयं मन्यन्ते । तेषामुक्तो दोषः ।'पार्वणेन व्याख्यात' इति चाऽनुपपन्नम् । न हि स एव तेन व्याख्यातो भवति । 'श्वो भूते स्थाली पाक' इति च व्यर्थम् । [2]'उपोषिताभ्यां पर्वसु कार्य' इति पूर्वमेवोक्तत्वात् । 'एतदहर्विजानीया'दिति चास्य प्रयोजनं तत्पक्षे चिन्त्यम् [3]॥ ११ ॥

अनु०—स्थालीपाक के प्रयोग की विधि पर्वों पर अर्पित किये जाने वाले स्थालीपाक के विवेचन के प्रसंग में बतायी गई है ॥ ११ ॥

नित्यं लोक उपदिशन्ति ॥ १२ ॥

लोके शिष्टाचारसिद्धमेतत्कर्म नित्यं प्रतिसंवत्सरं कर्तव्यमिति शिष्टा उपदिशन्ति ।

अपर आह—वक्ष्यमाणं कर्म शिष्टाचारसिद्धं नित्यं सार्वत्रिकं इति शिष्टा उपदिशन्ति ॥ १२ ॥

अनु०—शिष्टाचार के अनुसार किया जाने वाला यह कर्म प्रतिवर्ष किया जाना चाहिए ।

टि०—दूसरी व्याख्या यह है कि जो कर्म बताये जायेंगे वे शिष्टाचार से सिद्ध हैं तथा सभी जगह किये जाते हैं ॥ १२ ॥

यत्र क्व चाऽग्निमुपसमाधास्यन् स्यात्तत्र प्राचीरुदीचीश्च तिस्रस्तिस्रो रेखा लिखित्वाऽद्भिरवोक्ष्याऽग्निमुपसमिन्ध्यात् ॥ १३ ॥

---

१. 'एतस्मिन्नहनि तन्न कर्तव्यम्' इति छ० पु० २. आप० गृ० ७ १७

३. सूत्रस्वारस्यं तु पर्वविषयत्व एव पश्यामः ।

होमप्रसङ्गादिदमुच्यते—यत्र क्व च गार्ह्ये सामयाचारिके वा कर्मणि गृहे ऽरण्ये वाऽग्निमुपसमाधास्यन् प्रतिष्ठापयिष्यन् स्यात्तत्र पूर्वं प्राचोः प्रागग्रास्तिस्रो रेखा विलिखेत्। तत उदीचीः उदगग्रास्तिस्रः। एवं तिस्रो लेखा लिखित्वाऽद्भिर-वोक्षेत्। अवोक्ष्याऽग्निं श्रोत्रियागारादाहृत्य प्रतिष्ठाप्योपसमिन्ध्यादुपसमिन्धीत काष्ठैरभिज्वलयेत्। तत्र "पुरस्तादुदग्वोपक्रमः, तथापवर्ग' इति परिभाषितम्। उपदेशक्रमाच्च प्राच्यः पूर्वं लेखा लेखनीयाः ततश्चोदीच्यः[2]।

[3]प्राचीः पूर्वमुदक्संस्थं दक्षिणारम्भमालिखेत्।

अथोदीचोः पुरस्संस्थं पश्चिमारम्भमालिखेत्॥

[4]अन्ये तु प्राचिरुदगारम्भं दक्षिणान्तमालिखन्ति॥ १३॥

अनु०—जब कभी (गृह्य या सामयाचारिक कर्म में) कहीं भी (घर में या अरण्य में) अग्नि का उपसमाधान करना चाहे, तब उस वेदि पर पश्चिम से पूर्व को तथा दक्षिण से उत्तर की ओर तीन-तीन रेखाएँ खींचे, उस पर जल छिड़के और तब सन्निधि रखकर (श्रोत्रिय के घर से लाया हुआ) अग्नि प्रज्वलित करे॥ १३॥

उत्सिच्यैतदुदकमुत्तरेण पूर्वेण वाऽन्यदुपदध्यात्॥ १४॥

एतदवोक्षणशेषोदकमग्नेरुत्तरतः पूर्वतो वा उत्सिञ्चेत्। उत्सिच्याऽन्यदुदकं पात्रस्थमुपदध्यात्तत्रैव॥ १४॥

अनु०—अग्नि की वेदी के ऊपर जल छिड़कने के बाद शेष बचे हुए जल को वेदी के ऊपर या पूर्व की ओर गिरा दे तथा पात्र में दूसरा जल ले॥ १४॥

नित्यमुदधानान्यद्भिररिक्तानि स्युर्गृहमेधिनोर्व्रतम्॥ १५॥

गृहे यावन्त्युदधानान्युदपात्राणि घटकरकादीनि तानि सदाऽद्भिररिक्तानि स्युः। एतदपि गृहमेधिनोर्व्रतम्। पुनः 'गृहमेधिनो'रिति वचनमस्मिन् कर्मणि स्वयं कर्तृत्वमेव यथा स्यात् प्रयोजककर्तृत्वं मा भूदिति।

अन्य आह—पुन 'गृहमेधिनो'रिति वचनात् पूर्वसूत्रं ब्रह्मचारिविषयेऽपि 'सावित्र्या समित्सहस्रमादध्या' (१.२६.१) दित्यादौ भवति। पाके तु स्त्रिया न भवति। 'उपसमाधास्य'न्निति लिङ्गस्य विवक्षितत्वात्। आर्याः प्रयता'(२.३.१.) इत्यादौ भवतीति॥ १५॥

---

१. आप० गृ० १.५ ६

२. एकमेवेदं कर्मलेखाकरणं नाम स्थण्डिलसंस्काररूपम्। ततश्च' इत्यधिकं ग.ङ.पु.

३. प्राचीः पूर्वं दक्षिणान्तमुदगारम्भमालिखेत्। इति ख० च० पु०

४. अन्ये तु प्राचीर्दक्षिणारम्भमालिखन्ति इति च० पु०

अनु०—घर में जो जल के पात्र हों वे कभी खाली न रहें, यही गृहस्थ तथा उसकी पत्नी दोनों का व्रत है।

टि०—इस सूत्र में 'गृहमेधिनोःव्रतम्' का दुबारा प्रयोग किया गया है, तात्पर्य यह कि घर में जल के पात्रों को भरने को कार्य गृहस्थ तथा उसकी पत्नी को करना चाहिये, किसी दूसरे से इन पात्रों को नहीं भरवाना चाहिए। अन्य व्याख्याकार के अनुसार 'गृहमेधिनोः' व्रतम्' की इस सूत्र में आवृत्ति का यह अभिप्राय है कि इसके पहले का सूत्र ब्रह्मचारी के भी नियम के अन्तर्गत समझना चाहिए। अग्नि के उपसमाधान का कार्य स्त्री का नहीं होता' सूत्र में 'उपसमाधास्यन्' पुल्लिङ्ग एकवचन रूप का ही प्रयोग है।' १५ ॥

अहन्यसंवेशनम् ॥ १६ ॥

संवेशनं मैथुनं तदहनि न कर्तव्यम् ॥ १६ ॥

अनु०—दिन में मैथुन कर्म न करें ॥ १६ ॥

ऋतौ च सन्निपातो दारेणाऽनुव्रतम् ॥ १७ ॥

रजोदर्शनादारभ्य षोडशाऽहोरात्रा ऋतुः। तत्र च सन्निपातः संयोगो दारेण सह कर्तव्यः। छान्दसमेकवचनम्। [1]नित्यं बहुवचनान्तो हि दारशब्दः। अनुव्रतं शाश्वतो नियमो व्रतं, तदनुरोधेन। तत्र मनुः—

[2]'ऋतुः स्वाभाविकः स्त्रीणां रात्रयः षोडश स्मृताः।
चतुर्भिरितरैस्सार्धमहोभिस्सद्विगर्हितैः॥
तासामाद्याश्चतस्रस्तु निन्द्या एकादशी च या।
त्रयोदशी च शेषास्तु प्रशस्ता दश रात्रयः' ॥
[3]'अमावास्यामष्टमीं च पौर्णमासीं चतुर्दशीम्॥
ब्रह्मचारी भवेन्नित्यमप्यृतौ स्नातको द्विजः।' इति।

याज्ञवल्क्यस्तु—

[4]'एवं गच्छन् स्त्रियं क्षामां मघां मूलं च वर्जयेत्। इति।

आचार्यस्तु चतुर्थीप्रभृति गमनमाह—[5]'चतुर्थिप्रभृत्याषोडषीमुत्तरामुत्तरां युग्मां प्रजानिश्रेयसमृतुगमनमित्युपदिशन्ति' इति। तदिह षोडशसु रात्रिष्वादितस्तिस्रस्सर्वथा वर्ज्याः। चतुर्थ्येकादशी त्रयोदशी चाऽऽचार्येणाऽनुज्ञाताः

---

१. नित्यं बहुवचनान्तो हि दारशब्दः इति नास्ति क० पु०

२. म. स्मृ. ३ ४६, ४७

३. म० स्मृ० ४. १२८

४. या स्मृ. १. ८०

५. आ० ग० गृ० ९. १

मनुना निषिद्धाः । इतरासु दशसु युग्मासु पुत्रा जायन्ते, स्त्रियोऽयुग्मासु । तत्र चो'त्तरामुत्तरा' मिति वचनात् षोडश्यां रात्रौ मघादियोगाभावे गच्छतस्सर्वत उत्कृष्टः पुत्रो भवति । चतुर्थ्यामवमः । मध्ये कल्प्यम् । एवं पञ्चदश्यामुत्कृष्टा दुहिता । पञ्चम्यामवमा । मध्ये कल्प्यम् । षोडशस्वेव गमनं गर्भहेतुः । तत्रापि प्रथमम् । एवं स्थिते नियमविधिरयं-योग्यत्वे स त्वृताववश्यं सन्निपतेत्, असन्निपतन् पुत्रोत्पत्तिं निरुन्धानः प्रत्यवेयादिति । तथा च दोषस्मृतिः—

[1]"ऋतुस्नातां तु यो भार्यां सन्निधौ नोपगच्छति ।
तस्या रजसि तं मासं पितरस्तस्य शेरते ॥' इति ।

पुत्रगुणार्थितया पूर्वां पूर्वां वर्जयतो न दोषः । अन्ये तु परिसङ्ख्यां मन्यन्ते—ऋतावेव सन्निपतेन्नाऽन्यत्रेति । तेषामृतावनियमादगमनेऽपि दोषाभावाद्दोषस्मरणमनुपपन्नं स्यात् । सर्वथा विधिर्न भवति । रागप्राप्तत्वात्सन्निपातस्य ॥ १७ ॥

अनु०—ऋतुकाल मे (रजोदर्शन के समय से सोलह रात्रियों के समय में) शास्त्र के नियम के अनुसार पत्नी के साथ मैथुन कर्म में प्रवृत्त होवे ॥ १७ ॥

अन्तरालेऽपि दार एव ॥ १८ ॥

अन्तरालं मध्यम् । ऋत्वोरन्तराले मध्येऽपि सन्निपातः स्यात् दार एव सकामे सति । यद्यात्मनो जितेन्द्रियतया न तादृशं पारवश्यम्, तथाऽपि भार्यायामिच्छन्त्यां तद्रक्षणार्थमवश्यं सन्निपतेदिति । वक्ष्यतिच [2]'अप्रमत्ता रक्षथ तन्तुमेत' (२.१२६.) मित्यादि । अनुव्रतमित्यनुवृत्तेः प्रतिषिद्धेषु दिनेषु न भवति ॥ १८ ॥

अनु०—शास्त्रोक्त नियम का पालन करते हुए ऋतुकालों के मध्य के समय में भी (सकाम होने पर या पत्नी के इच्छा करने पर मैथुन करे ॥ १८ ॥

ब्राह्मणवचनाच्च संवेशनम् ॥ १९ ॥

यदिदमनन्तरोक्तं संवेशनं तत्र ब्राह्मणवचनं प्रमाणं [3]'काममाविजनितोस्सम्भवामे'ति ॥ १९ ॥

अनु०—ब्राह्मण ग्रन्थ में उक्त वचन के आधार पर मैथुन विहित है ।

---

१. बौ. ध. ४. १०. २०. २. बौ. ध. २. २. ३६. द्रष्टव्यम् ।
३. तै. सं. २. ५. १. यावत्प्रसूति संभोगं प्राप्नुयामेत्यर्थः । अयं स्त्रीभिरिन्द्रात् प्रार्थितो वरः ।

टि०—तैतिरीयसंहिता २. ५. १ मे स्त्रियों द्वारा इन्द्र से यह वर प्राप्त करने का उल्लेख है कि हम सन्तान उत्पत्ति तक संभोग का सुख प्राप्त करें ॥ १९ ॥

क्षौवाससैव सन्निपातस्स्यात् ॥ २० ॥

एवकारो भिन्नक्रमः। स्त्र्युपगार्थं वासः क्षौवासः। तेन सन्निपात एव स्यात्। न तेन सुप्रक्षालितेनाऽपि ब्रह्मयज्ञादि कर्त्तव्यमिति यावत्॥ २० ॥

अनु०—मैथुन के समय 'स्त्रीवास' ही धारण करे (जो इस अवसर पर पहनने के लिए विशिष्ट वस्त्र होता है और जिसका प्रयोग किसी भी स्थिति में धार्मिक कृत्यों के सम्पादन के समय में नहीं होना चाहिए) ॥ २० ॥

यावत्सन्निपातं चैव सह शय्या ॥ २१ ॥

यावत्सन्निपातमेव दम्पत्योस्सह शयनम् ॥ २१ ॥

अनु०—केवल मैथुन के समय ही पति-पत्नी साथ एक शय्या पर सोवें ॥२१॥

ततो नाना ॥ २२ ॥

ततः पृथक्शयीयाताम् ॥ २२ ॥

अनु०—उसके बाद वे अलग हो जाँय ॥ २२ ॥

उदकोपस्पर्शनम् ॥ २३ ॥

ततो द्वयोरप्युदकोपस्पर्शनं स्नानं कर्तव्यम्। इदमृतकाले ॥ २३ ॥

अनु०—उसके बाद वे दोनों ही स्नान करें ॥ २३ ॥

इत्यापस्तम्बधर्मसूत्रवृत्तावुज्ज्वलायां श्रीहरदत्तविरचितायां
द्वितीयप्रश्ने प्रथमा कण्डिका ॥ १ ॥

अपि वा लेपान्प्रक्षाल्याऽऽचम्य प्रोक्षणमङ्गानाम् ॥ १ ॥

अपि वा रेतसो रजसश्च ये लेपास्तानद्भिर्मृदा च प्रक्षाल्याऽऽचम्य अङ्गानां प्रोक्षणं शिरःप्रभृतीनां कर्तव्यम्[1]। रुचितो व्यवस्था। यावता प्रयतो मन्यते ॥ १ ॥

अनु०—अथवा जहाँ-कहीं वीर्य या रज लग गया हो उसे मिट्टी या जल से स्वच्छ करके वे आचमन करें और अपने शरीरों पर जल छिड़कें ॥ १ ॥

सर्ववर्णानां स्वधर्मानुष्ठाने परमपरिमितं सुखम् ॥ २ ॥

सर्वेषामेव वर्णानां ब्राह्मणादीनां चतुर्णां ये स्वधर्मा वर्णप्रयुक्ता आश्रमप्रयुक्ता उभयप्रयुक्ता वा तेषामवैगुण्येनाऽऽन्तादनुष्ठाने सति परमुत्कृष्टं अपरिमितमक्षयं सुखं स्वर्गाख्यं भवति ॥ २ ॥

---

१. इदमनृतुकाले इत्यधिकं ख. च. पुस्तकयोः 'रुचितः इत्यादिर्ग्रन्थोऽपि नास्ति तत्र

अनु०—सभी (चारो) वर्णों को लोग अपने धर्म का अनुष्ठान करके परम अपरिमित स्वर्ग के सुख को प्राप्त करते हैं ॥ २ ॥

न केवलमेतावत् । किं तर्हि ?

ततः परिवृत्तौ कर्मफलशेषेण जातिं रूपं वर्णं बलं मेधां प्रज्ञां द्रव्याणि धर्मानुष्ठानमिति प्रतिपद्यते तच्चक्रवदुभयोर्लोकयोः सुख एव वर्तते ॥ ३ ॥

ततः सुखानुभवानन्तरं परिवृत्तिरिह लोके जन्म भवति । तस्यां च कर्मणां यः फलशेषोऽभुक्तोंऽशः, तेन जातिं ब्राह्मणादिकां विशिष्टे वा कुले जन्म । रूपं कान्तिम् । वर्ण हेमादितुल्यम् । बलं प्रतिपक्षनिग्रहक्षमम् । मेधां[1] ग्रन्थधारणशक्तिम् । प्रज्ञां अर्थधारणशक्तिं । द्रव्याणि स्वर्णादीनि । धर्मानुष्ठानम् इतिकरणाद्यच्चाऽन्यदेवं युक्तं तत्सर्वं प्रतिपद्यते । सर्वत्र धर्मशेषो हेतुः । कर्माणि भुज्यमानानि सावशेषाणि भुज्यन्ते । ऐहिकस्य शरीरग्रहणादेरपि कर्मफलत्वात् । धर्मानु ष्ठानं प्रतिपद्यत इत्युक्तम् । यदा चैवं तदा सर्ववर्णानां स्वधर्मानुष्ठान इत्यादि प्रतिपद्यत इत्यन्तं पुनर्भवतीत्यनुक्तसिद्धम् । तत् तस्माच्चक्रवदुभयोर्लोकयोरिह चाऽमुष्मिंश्च सुख एव वर्तते न जातु चित् दुःखे वर्तते । सुखानुबन्धेनैवाऽऽवृत्तिर्भवतीत्यर्थः ॥ ३ ॥

अनु०—तब स्वर्गसुख का भोग करने के बाद इस लोक में जन्म होता है और अवशिष्ट कर्मफल के आधार पर उच्चकुल में जन्म, शरीर का आकार, रंग, शक्ति, प्रतिभा, ज्ञान, धन, धर्म के अनुष्ठान की क्षमता प्राप्त होती है और वह पहिए की तरह दोनों ही लोकों में सुखपूर्वक चलता है ॥ ३ ॥

शरीरोत्पत्तिसंस्कारा [2]अप्यावश्यका इति दर्शयितुं दृष्टान्तमाह—

यथौषधिवनस्पतीनां बीजस्य क्षेत्रकर्मविशेषे फलपरिवृद्धिरेवम् ॥ ४ ॥

चलोपोऽत्र द्रष्टव्यः । यथा चोषधीनां व्रीह्यादीनां वनस्पतीनां चाम्रादीनां बीजस्य क्षेत्रविशेषे कर्मविशेषे संस्काराविशेषे च क्षेत्रस्य वा कृष्यादौ कर्मविशेषे फलपरिवृद्धिर्भवति । त एव व्रीह्यादय ऊषर उप्ता न प्ररोहन्ति । कृष्यादिपरिकर्मिते तु क्षेत्रे उप्ताः स्तम्बकरयो भवन्ति । एवं पुरुषेऽपि गर्भाधानादिसंस्कारसम्पन्ने द्रष्टव्यम् ॥ ४ ॥

अनु०—जिस प्रकार उत्तम तथा अच्छी प्रकार जोते गए खेत मे पौधों और वनस्पतियों के बीज अनेक प्रकार के फल उत्पन्न करते हैं (इसी प्रकार गर्भाधान आदि संस्कारों के युक्त व्यक्ति भी फल का भागी होता है ॥ ४ ॥

---

१. मेधां ग्रन्थग्रहणशक्तिम्. प्रज्ञां अर्थग्रहणशक्तिम् इति क० च० पु०

२. अप्यवश्यापेक्ष्याः इति. च० पु०

एतेन दोषफलपरिवृद्धिरुक्ता ॥ ५ ॥

एतेनैव न्यायेन दुष्टकर्मणफलपरिवृद्धिरप्युक्ता वेदितव्या । [1]तत्रोद्देत पठनीयम् —सर्ववर्णानां स्वधर्माननुष्ठाने परमपरिमितं दुःखम् । ततः परिवृत्तौ कर्मफलशेषेण दुष्टां जात्यादिकामद्रव्यान्तामधर्मानुष्ठानमिति प्रतिपद्यते । तच्चक्रवदुभयोर्दुःख एव वर्तते । यथोषधिवनस्पतीनां बीजस्य क्षेत्रकर्मविशेषाभाव फलहानिरेव- मिति ॥ ५ ॥

अनु०—इसी प्रकार (पौधों वनस्पतियों की तरह) पापों की वृद्धी और उनके फल भी कहे गये हैं ॥ ५ ॥

दोषफलपरिवृद्धावुदाहरणमाह—

स्तेनोऽभिशस्तो ब्राह्मणो राजन्यो वैश्यो वा परस्मिल्लोँकेऽपरिमिते निरये वृत्ते जायते चण्डालो ब्राह्मणः पौल्कसो राजन्यो वैणो वैश्यः ॥ ६ ॥

स्तेनः सुवर्णचोरः । अभिशस्तो ब्रह्महा स्तेनोऽभिशस्तो वा ब्राह्मणादिरमुष्मिल्लँोकेऽपरिमते निरये दोषफलमनुभूय तस्मिन् वृत्ते परिक्षीणे ब्राह्मणश्चण्डालो जायते । शूद्रात् ब्राह्मण्यां जातश्चण्डालः, राजन्यः, पौल्कसः । शूद्रात्क्षत्रियायां जातः पुल्कसः । स एव पौल्कसः । प्रज्ञादित्वादण् । वैश्यो, वैणो जायते[2] वेणुना नर्तको वैणः ॥ ६ ॥

अनु०—चोर, पातकी ब्राह्मण, क्षत्रिय, या वैश्य परलोक में अपने पापों के फल भोगने के बाद फलों के नष्ट होने पर, यदि वे ब्राह्मण रहे हों तो चाण्डाल के रूप में क्षत्रिय रहे हों तो पौल्कस (शूद्रा से उत्पन्न क्षत्रिय का पुत्र) के रूप में तथा वैश्य रहे हों तो नट के वर्ण में उत्पन्न होते हैं ।

टि०—मनु के अनुसार पौल्कस निषाद और क्षत्रिया का पुत्र होता है ॥६॥

एतेनाऽन्ये दोषफलैः कर्मभिः परिध्वंसा दोषफलासु योनिषु जायन्ते वर्णपरिध्वंसायाम् ॥ ७ ॥

वर्णपरिध्वंसा वर्णेभ्यः प्रच्यवनं तस्यां वर्णपरिध्वंसायाम् । यथा ब्राह्मणदयश्चण्डालाद्या जायन्ते । एतेन प्रकारेण स्तेनाभिशस्ताभ्यां अन्येऽपि दोषफलैः कर्मभिर्दोषफलासु सूकरादिषु, योनिषु जायन्ते । परिध्वंसाः स्वजातिपरिभ्रष्टा इत्यर्थः । ते तथाऽवगन्तव्या इति ॥ ७ ॥

---

१. तत्रोक्तं व्यत्ययेन पठनीयम् । इति. घ० पु०

२. वेणुर्नर्तकः स वैणः । इति घ० पु०

अनु०—इसी प्रकार दूसरे पापी भी अपने पाप कर्मों के कारण वर्णच्युत होकर कर्मों के दुष्ट फलों से प्राप्त योनियों में उत्पन्न होते हैं ॥ ७ ॥

यथा चण्डालोपस्पर्शने सम्भाषायां दर्शने च दोषस्तत्र प्रायश्चित्तम् ।८।

चण्डालोपस्पर्शने दोषो भवति । तथा सम्भाषायां दर्शने च । उपसमस्तमपि चण्डालग्रहणमभिसम्बध्यते । तत्र सर्वत्र प्रायश्चित्तं वक्ष्यते ॥ ८ ॥

अनु०—जिस प्रकार चाण्डाल को छूना पाप है, उसी प्रकार उससे बोलना और उसे देखना भी पाप होता है, इसके लिए प्रायश्चित्त का विधान किया गया है ॥ ८ ॥

अवगाहनमपामुपस्पर्शने ॥९॥ सम्भाषायां ब्राह्मणसम्भाषा ॥१०॥
दर्शने ज्योतिषां दर्शनम् ॥ ११ ॥

उपस्पर्शने सत्यगाहनमपां प्रायश्चित्तम् । ऋजुनि उत्तरे द्वे सूत्रे । अस्मिन् कर्मप्रशंसाप्रकरणे प्रायश्चित्ताभिधानं स्वकर्मच्युतानां निन्दार्थम् । एवंनाम निन्दितश्चण्डालः यस्य दर्शनेऽपि प्रायश्चित्तं स एव जायते स्वकर्मच्युतो ब्राह्मण इति ॥ ९–११ ॥

इति चापस्तम्बधर्मसूत्रवृत्तौ हरदत्तविरचितायामुज्ज्वलायां
द्वितीयप्रश्ने प्रथमः पटलः ॥ १ ॥

अनु०—चाण्डाल को छू लेने पर जल में स्पर्श करे । उससे बोलने के बाद ब्राह्मण से संभाषण करे और उसे देख लेने पर आकाश की ज्योतियों की ओर देखकर प्रायश्चित्त करे ॥ ९ ॥

इत्यास्तम्बधर्मसूत्रवृत्तावुज्ज्वलायां द्वितीयप्रश्ने
द्वितीया कण्डिका ॥ २ ॥

अथ द्वितीयः पटलः

आर्याः प्रयता वैश्वदेवेऽन्नसंस्कर्तारः स्युः ॥ १ ॥

आर्यास्त्रैवर्णिकाः। 'आर्याधिष्ठिता वा शूद्रा' (२.३,४) इत्युत्तरत्र दर्शनात्। प्रयताः स्नानादिना शुद्धाः। वैश्वदेवे गृहमेधिनोर्भोजनार्थे पाके। गृहमेधिनो यदशनीयस्ये' (३-१२)ति दर्शनात्। अन्नसंस्कर्तारः स्युः। अन्नं भक्ष्यभोज्यपेयादिकं तत् संस्कुर्युः। न स्वयं, नाऽपि स्त्रियः ॥ १ ॥

अनु०—तीन उच्चवर्णों के आर्यजन (स्नानादि से) पवित्र होकर वैश्वदेव कर्म में गृहस्थ के लिए अन्न पकावें। (गृहस्थ स्वयं अन्न न पकावे और न ही स्त्रियां यह कार्य करें)।

टि०—वैश्वदेव कर्म में इस प्रकार तैयार किये गये भोजन को गृहस्थ तथा उसकी पत्नी को खाना होता है ॥ १ ॥

भाषां कासं क्षवथुमित्यभिमुखोऽन्नं वर्जयेत् ॥ २ ॥

भाषा शब्दोच्चारणम्। कासः कण्ठे घुरुघुराशब्दः। क्षवथुः क्षुतम्। एतत्त्रितयमन्नाभिमुखो न कुर्यात्। 'संस्कर्तारः स्यु'रिति बहुवचने प्रकृते 'वर्जये' दित्येकवचनं प्रत्येकमुपदेशार्थम् ॥ २ ॥

अनु०—भोजन बनाने वाले का मुख जब तक अन्न की ओर हो, तब तक वह न बोले, न खाँसे और न थूके ॥ २ ॥

केशानङ्गं वासश्चाऽऽलभ्याऽप उपस्पृशेत् ॥ ३ ॥

केशादीनात्मीयानन्यदीयान्वा। आलभ्य स्पृष्ट्वा। अप उपस्पृशेत्। नेदं स्नानाम्। किं तर्हि? स्पर्शमात्रम्। केशालम्भे पूर्वमप्युपस्पर्शनं विहितम्। इदं तु तत्रोक्तं वैकल्पिकं शकृदाद्युपस्पर्शनं मा भूदिति ॥ ३ ॥

अनु०—केशों को, शरीर के किसी अंग को अथवा वस्त्र को छू लेने के बाद जल का स्पर्श करे।

टि०—यहाँ जलस्पर्श से स्नान का अभिप्राय नहीं है, केवल जल को छूने का तात्पर्य है ॥ ३ ॥

आर्याधिष्ठिता वा शूद्रास्संस्कर्तारः स्युः ॥ ४ ॥

त्रैवर्णिकैरधिष्ठिता वा शूद्रास्संस्कर्तारः स्युः। प्रकरणादन्नस्येति गम्यते ॥४॥

अनु०—अथवा शूद्र भी आर्यजन की देखरेख में इस अन्न को तैयार कर सकते हैं ॥४॥

तेषां स एवाऽऽचमनकल्पः ॥ ५ ॥

तेषां शूद्राणामन्नसंस्कारेऽधिकृतानां स एवाऽऽचमनकल्पो वेदितव्यः, यस्याऽन्नं पचन्ति। यदि ब्राह्मणस्य, हृदयङ्गमाभिरद्भिः। यदि क्षत्रियस्य, कण्ठगाभिः। यदि वैश्यस्य, तालुगाभिः। इन्द्रियोपस्पर्शनं च भवति ॥ ५ ॥

अनु०—उनके लिए उसी प्रकार के आचमन का विधान है जिस प्रकार का आचमन उस व्यक्ति के लिए विहित होता है, जिसके लिए वे अन्न का संस्कार करता होता है ॥ ५ ॥

अधिकमहरहः केशश्मश्रुलोमनखवापनम् ॥ ६ ॥

शूद्राः पचन्तः प्रत्यहं केशादि वापयेयुः। इदमेषामाधिकमार्येभ्यः ॥ ६ ॥

अनु०—यदि इसके बाद भी शूद्र प्रतिदिन भोजन बनाते हो, तो ये प्रतिदिन केशों को, दाढी को, शरीर के बालों को तथा अपने नाखूनों को काटे ॥ ६ ॥

उदकोपस्पर्शनं च सह वाससा ॥ ७ ॥

सहैव वाससा स्नानं कुर्युः। आर्याणां तु परिहितं वासो निधाय कौपीनाच्छादनमात्रेणाऽपि स्नानं भवति। शूद्राणामपि पाकादन्यत्र। तथा च मनुः—

[1] 'न वासोभिस्सहाऽजस्रं नाऽविज्ञाते जलाशये।' इति ॥ ७ ॥

अनु०—वे अपने वस्त्रों को पहने हुए ही स्नान करें।

टि०—समान्यतः कौपीन धारण करके स्नान किया जाता था, शूद्र भी भोजन बनाने के प्रसंग को छोड़कर साधारणतः कौपीन धारण करके स्नान करता था, केवल इसी प्रसंग में शूद्र मात्र के लिए वस्त्रों सहित स्नान करने का नियम बताया गया है ॥ ७॥

अपि वाऽष्टमीष्वेव पर्वसु वा वपरेन् ॥ ८ ॥

यदि वाऽष्टमीष्वेव वपरेन् केशादीन् पर्वस्वेव वा। न प्रत्यहम्। 'वपरे'। न्निति अन्तर्भावितण्यर्थः। वापयेरन्नित्यर्थः। तथा च 'लोमनखवापन' मिति पूर्वत्र णिच्प्रयुक्तः ॥ ८ ॥

अनु०—अथवा प्रत्येक पक्ष की अष्टमी तिथि को या पर्वों पर (अमावस्या तथा पौर्णमासी को) केश-श्मश्रु, लोम का वपन कराये तथा नाखूनों को कटवायें ॥९॥

परोक्षमन्नं संस्कृतमग्नावधिश्रित्याऽद्भिः प्रोक्षेत्तद्देवपवित्रमित्याचक्षते।

यदि शूद्राः परोक्षमन्नं संस्कुर्युः आर्यैरनधिष्ठिताः। तदा तत्परोक्षमन्नं संस्कृतं स्वयमग्नावधिश्रयेत्। अधिश्रित्याऽद्भिः प्रोक्षेत्। तदेवंभूतमन्नं देवपवित्रमित्याचक्षते। देवानामपि तत्पवित्रं किं पुनर्मनुष्याणामिति ॥ ९ ॥

---

[1] म० स्मृ० ४. १२९

अनु०—यदि शूद्रों ने विना आर्यजन के निरीक्षण के परोक्ष में अन्न तैयार किया हो तो गृहस्थ स्वयं उस अन्न को अग्नि पर रखे, उस पर जल छिड़के। इस प्रकार उस अन्न को भी देवताओं को अर्पित किये जाने योग्य कहा जाता है ॥९॥

सिद्धेऽन्ने तिष्ठन् भूतमिति स्वामिने प्रब्रूयात् ॥ १० ॥

सिद्धे पक्वेऽन्ने तिष्ठन् पाचकोऽधिष्ठाता वा भूतमिति प्रब्रूयात्। कस्मै ? यस्य तदन्नं तस्मै स्वामिने। भूतं निष्पन्नमित्यर्थः ॥ १० ॥

अनु०—अन्न पक जाने पर पकाने वाला गृहस्थ के सामने उपस्थित होकर कहे कि बन गया ('भूतम्') ॥१० ॥

तत्सुभूतं विराडन्नं तन्मा क्षायीति प्रतिवचनः ॥ ११ ॥

तत्सुभूतमित्यादि प्रतिवचनो मन्त्रः। तदन्नं सुभूतं सुनिष्पन्नम्। विराट् विराजः साधनम्। अन्नमशनम्। तच्च मा क्षायि क्षीणं मा भूदित्यर्थः ॥ ११ ॥

अनु०—तब गृहस्थ उत्तर दे: 'वह सम्यक् बनाया गया भोजन विराज का साधन है, वह मुझे क्षीण न करे ॥' ११ ॥

गृहमेधिनो यदशनीयं तस्य होमा बलयश्च स्वर्गपुष्टिसंयुक्ताः ॥ १२ ॥

गृहमेधिनो यदशनीयं पक्वमपक्वं वा उपस्थितं तस्यैकदेशेन होमा बलयश्च वक्ष्यमाणाः कर्तव्याः। स्वर्गः पुष्टिश्च तेषां फलमिति ॥ १२ ॥

अनु०—जो अन्न गृहस्थ और उसकी पत्नी को खाना होता है, उसका होम तथा बलि कर्म स्वर्ग का सुख तथा समृद्धि प्रदान करता है ॥१२ ॥

तेषां मन्त्राणामुपयोगे द्वादशाहमधश्शय्या ब्रह्मचर्यं क्षारलवणवर्जनं च ॥ १३ ॥

तेषां होमानां बलीनां च ये मन्त्रास्तेषामुपयोगे। उपयोगो नियमपूर्वकं विद्याग्रहणम्[1]। तत्र द्वादशाहमधश्शय्या स्थण्डिलशायित्वम्। ब्रह्मचर्यं मैथुनवर्जनम्[2] क्षारलवणवर्जनं च भवति। उपयोक्तुरेव व्रतम्, अध्ययनाङ्गत्वात्। अन्ये तु पत्न्या अपीच्छन्ति। उपयोगः प्रथमयोगः तत्र च पत्न्या अपि सहाऽधिकार इति वदन्तः ॥ १३ ॥

अनु० - होम तथा बलि कर्मों के लिये प्रयुक्त वैदिक मन्त्रों को सीखते समय गृहस्थ बारह दिन तक भूमि पर शयन करे, मैथुन न करे, मसालेदार तथा नमकीन भोजन न करे।

---

१. तथा च बौधायनः—'तेषां ग्रहणे द्वादशरात्रं' मित्यादि इत्यधिकं ख. पुस्तके।

२. क्षारपदार्थः आप. ध. २. १५. १४. सूत्रे द्रष्टव्यः।

टि०—कुछ लोग यह नियम पत्नी के लिए भी विहित करते हैं तथा 'उपभोग' का अर्थ पहली बार मन्त्रों के प्रयोग से लेते हैं उनके अभ्यास से नहीं ॥१३॥

उत्तमस्यैकरात्रमुपवासः ॥ १४ ॥

उत्तमस्य 'उत्तमेन वैहायस (२.४.८.) मिति वक्ष्यमाणस्य[1] 'ये भूताः प्रचरन्ती' त्यस्य एकारात्रमुपवासः कर्तव्यः ॥ १४ ॥

अनु०—अन्तिम बलिदानों को पढ़ने के बाद एक दिन तथा एक रात्रि उपवास करे ।

बलीनां तस्य तस्य देशे संस्कारो हस्तेन परिमृज्याऽऽवोक्ष्य न्युप्य पश्चात्परिषेचनम् ॥ १५ ॥

बलीनां मध्ये तस्य तस्य बलेर्देशे संस्कारः कर्तव्यः । कः पुनरसौ ? हस्तेन परिमार्जनमवोक्षणं च । तं कृत्वा बलिं निर्वपति । न्युप्य पश्चात् परिषेचनं कर्तव्यम् । उपदेशक्रमादेव सिद्ध पश्चाद्ग्रहणं मध्ये गन्धमाल्यादिदानार्थमित्याहुः । 'तस्यतस्ये'तिवचनं सत्यपि सम्भवे सकृदेव परिमार्जनमवोक्षणं च मा भूत् । एकस्मिन्देशे समवेतानामपि पृथक्पृथग्यथा स्यादिति ॥ १५ ॥

अनु०—प्रत्येक बलि के लिए अलग-अलग स्थान हाथ से साफ कर, हाथ को नीचे किये हुए जल छिड़ककर बलियों को रखे और उसके बाद भी उसके चारो ओर जल छिड़के ।

टि०—पश्चात् शब्द से यह भी तात्पर्य लिया जाता है कि इन दोनों कर्मों के बीच गन्ध, माल्य आदि भी अर्पित करे ॥१५॥

औपासने पचने वा षड्भिराद्यैः प्रतिमन्त्रं हस्तेन जुहुयात् ॥ १६ ॥

यत्र पच्यते स पचनोऽग्निः । औपासनवतामौपासने, विधुरस्य पचन इति व्यवस्थितो विकल्पः । अन्ये तु-तुल्यविकल्पं मन्यन्ते षड्भिराद्यैः [2]'अग्नये स्वाहा, सोमाय स्वाहा, विश्वेभ्यो देवेभ्यस्स्वाहा, ध्रुवाय भौमाय स्वाहा, ध्रुवक्षितये स्वाहा, अच्युतक्षितये स्वाहेत्येतैः । एते हि मन्त्रपाठे पठिताः प्राग्विवाहमन्त्रेभ्यः विशिष्टनियमसापेक्षग्रहणत्वात्तैस्सह न गृह्यन्ते । केचित् सौविष्टकृतमपि सप्तमं जुह्वति 'अग्नये स्विष्टकृते स्वाहे'ति औषधहविष्केषु तस्य सर्वत्र प्रवृत्तिरिति वदन्तः । अन्ये तु सोमाय स्वाहेति न पठन्ति । सौविष्टकृतं षष्ठं पठन्ति । हस्तग्रहणं दर्व्यादिनिवृत्त्यर्थम् ॥ १६ ॥

---

१. ये भूताः प्रचरन्ति दिवा नक्तं बलिमिच्छन्तो वितुदस्य प्रेष्याः । तेभ्यो बलिं पुष्टिकामो हरामि मयि पुष्टिं पुष्टिपतिर्दधातु ॥ इति मन्त्रः । (तै. १०. ६७,)

२. आप० मन्त्रप्रश्ने० १. १

अनु० – वैश्वदेव बलि को रसोई की अग्नि में डाले अथवा पवित्र गृह्य अग्नि में अर्पित करे प्रत्येक बार नारायणीय उपनिषद के) प्रथम छः (अग्नये स्वाहा, सोमाय स्वाहा, विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा ध्रुवाय भौमाय स्वाहा, ध्रुवक्षितये स्वाहा, अच्युतक्षितये स्वाहा) मन्त्रों द्वारा प्रत्येक मन्त्र पर अपने हाथ से हवन करे ।

टि०—कुछ लोग 'अग्नये स्विष्टकृतये स्वाहा इस सातवें मन्त्र से भी बलि हवन का विधान करते हैं, कुछ लोग 'सोमाय स्वाहा' मन्त्र नहीं पढ़ते हैं और स्विष्टकृत के मन्त्र को छठें मन्त्र के रूप में पढ़ते हैं । हाथ से होम करने का निर्देश दर्वी आदि के प्रयोग का निषेध करता है ॥१६॥

उभयतः परिषेचनं यथा पुरस्तात् ॥ १७ ॥

उभयतः । पुरस्तादुपरिष्टाच्च परिषेचनं कर्तव्यम् । कथम् ? यथा पुरस्तात् उक्तं गृह्ये[1] 'अदितेऽनुमन्यस्वे'त्यादि, 'अन्वमँस्थाः प्रासावीरिति मन्त्रसन्नाम' इति च । सामयाचारिकेषु पार्वणेनातिदेशो न प्रवर्तत इति ज्ञापितत्वादप्राप्तविधिरयम् । अन्ये तु परिसङ्ख्यां मन्यन्ते—परिषेचनमेव वैश्वदेवे, नाऽन्यत्तन्त्रमिति ॥ १७ ॥

अनु०—बलियों को अर्पित करने से पहले तथा उसके बाद में भी पहले की तरह ही चारों ओर जल छिड़के ॥१७॥

एवं बलीनां देशे देशे समवेतानां सकृत्सकृदन्ते परिषेचनम् ॥१८ ॥

यथा षण्णामाहुतीनां परिषेचनं तन्त्रम्, विभवात् । एवं बलयोऽपि ये एकस्मिन् देशे समवेता 'उत्तरैर्ब्रह्मसदन' (४.२.४) इत्यादयस्तेषां यदन्ते परिषेचनं प्राप्तं 'पश्चात्परिषेचन' मित्यनेन विहितं तत्सर्वान्ते सकृत्कर्तव्यम् न प्रत्येकं पृथगिति । असत्यस्मिन् सूत्रे पूर्वत्र 'तस्य तस्ये' ति वचनाद्यथा परिमार्जनमवोक्षणं च प्रत्येकं पृथक्पृथग्भवति तथा परिषेचनमपि स्यात् । अत्र चोपदेशादेव य एकदेशस्था बलयस्तेषामेव सकृदन्ते परिषेचनं, न यादृच्छिकसमवेतानाम् । तेन यद्यप्यगारस्योत्तरपूर्वदेशश्शय्यादेशः, तथापि कामलिङ्गस्य पृथक्परिषेचनं भवति ॥ १८ ॥

अनु०—इसी प्रकार अलग-अलग अर्पित की जाने वाली बलियों के एक साथ एक ही स्थान पर अर्पित करने पर केवल एक ही बार अन्त में जल का परिषेचन किया जाता है ॥ १८ ॥

---

१. आप गृ. २. ३.

सति सूपसंसृष्टेन कार्याः ॥ १९ ॥

सति सूपे तत्संसृष्टा बलयः कार्यः। अन्ये त्वन्यैरपि व्यञ्जनैस्संसर्गमिच्छन्ति। तथा च बौधायनः—[1] 'काममितरेष्वायतने'ष्विति। एष एव व्यञ्जनानां संस्कारः। [2]सूत्रस्यापि—व्यञ्जनैस्सुष्ठूपसंसृष्टेनाऽन्नेन बलयः कार्यास्सति सम्भव इत्यर्थः इति ॥ १९ ॥

अनु०—सूप तैयार किये जाने पर बलि में भी उसे संयुक्त करना चाहिए ॥१९॥

अपरेणाऽग्निं सप्तमाष्टमाभ्यामुदगपवर्गम् ॥ २० ॥

अपरेणाऽग्निमग्नेः पश्चात्। सप्तमाष्टमाभ्यां 'धर्माय स्वाहा,अधर्माय स्वाहे' त्येताभ्यां बलिहरणं कर्तव्यम्। उदगपवर्गम्। न प्रागपवर्गम् ॥ २० ॥

अनु०—अग्नि के पीछे सातवें और आठवें मन्त्रों से दो बलियां रखी जायँ दूसरी बलि को पहली बलि के उत्तर में अर्पित किया जाय।

टि०—प्रथम छः बलियाँ अग्नि में अर्पित की जाती हैं तथा देवयजन बलि कहलाती हैं, उसके बाद की बलियाँ भूमि पर ही अर्पित की जाती हैं। अग्नि के पीछे से तात्पर्य है अग्नि के पूर्व क्योंकि यजमान अग्नि के पश्चिम पूर्वाभिमुख बैठा होता है ॥ २० ॥

उदधानसन्निधौ नवमेन ॥ २१ ॥

उदकं यत्र धीयते तदुदधानं[3] मणिकाख्यम्। तस्य सन्निधौ नवमेन 'अद्भ्यः स्वाहे' त्यनेन ॥ २१ ॥

अनु०—नवें मन्त्र से जल के लिए दी जाने वाली बलि उस पात्र के निकट अर्पित की जाय जिस पात्र में गृह्य कार्य के लिए जल रखा जाता है ॥ २१ ॥

मध्येऽगारस्य दशमैकादशाभ्यां प्रागपवर्गम् ॥ २२ ॥

दशमैकादशाभ्यां 'ओषधिवनस्पतिभ्यः स्वाहा, रक्षोदेवजनेभ्यः स्वाहे'त्येताभ्यां अगारस्य मध्ये प्रागपवर्गं कर्तव्यम् ॥ २२ ॥

अनु०—दसवें तथा ग्यारहवें मन्त्रों से ('ओषधिवनस्पतिभ्यः स्वाहा,' 'रक्षोदेवजनेभ्यः स्वाहा') घर के मध्य में दो बलियाँ अर्पित की जाती हैं जिनमें दूसरी बलि पहली से पूर्व की ओर रखी जाती है ॥ २२ ॥

उत्तरपूर्वे देशेऽगारस्योत्तरैश्चतुर्भिः ॥ २३ ॥

---

१. बौ० गृ० १. ८. १

२. सूपस्यापि। व्यञ्जनैरपूपेन च संसृष्टेन बलयः इति. क० छ० पु०

३. अस्य विधिगृह्ये वास्तुनिर्माणविधौ (आप. गृ. १७. ९.) द्रष्टव्यः।

अगारस्य य उत्तरपूर्वो देशस्तत्रोत्तरैश्चतुर्भिः 'गृह्याभ्यः स्वाहा, अवसानेभ्यः स्वाहा, अवसानपतिभ्यः स्वाहा, सर्वभूतेभ्यः स्वाहे'त्येतैः प्रागपवर्गमित्येव २३

अनु०—चार मन्त्रों से (गृह्याभ्यः स्वाहा, अवसानेभ्यः स्वाहा, अवसानपतिभ्यः स्वाहा, सर्वभूतेभ्यः स्वाहा) घर के उत्तर-पूर्व भाग में बलियाँ अर्पित की जाती हैं, जिनमें दूसरी बलि अपने से पूर्ववर्ती बलि के पूर्व में रखी जाती है ॥ २३ ॥

इत्यापस्तम्बधर्मसूत्रवृत्तौ द्वितीयप्रश्ने तृतीया कण्डिका ॥ ३ ॥

शय्यादेशे कामलिङ्गेन ॥ १ ॥

शय्यादेशे 'कामाय स्वाहे'त्यनेन ॥ १ ॥

अनु०—शय्या के निकट एक बलि 'कामाय स्वाहा' मन्त्र से अर्पित की जाय ॥ १ ॥

[1]देहल्यामन्तरिक्षलिङ्गेन ॥ २ ॥

देहली द्वारस्थाऽधस्ताद्दारु । तस्याऽधोवेदिकेत्यन्ये । अन्तर्द्वारस्य च ग्रहणम् । तत्राऽन्तरिक्षलिङ्गेन 'अन्तरिक्षाय स्वाहे' त्यनेन ॥ २ ॥

अनु०—'अन्तरिक्षाय स्वाहा' मन्त्र से देहली के ऊपर एक बलि दी जाय ॥ २ ॥

उत्तरेणाऽपिधान्याम् ॥ ३ ॥

येनाऽपिधीयते द्वारं साऽपिधानी कवाटम् । तदर्गलमित्यन्ये । तत्रोत्तरेण मन्त्रेण 'यदेजति जगति यच्च चेष्टति नाम्नो भागो यन्नाम्ने स्वाहे'त्यनेन ॥३॥

अनु०—उसके आगे के ('यदेजति जगति यच्च चेष्टति नाम्नो भागो यन्नाम्ने स्वाहा') मन्त्र से एक बलि द्वार के किवाड़ के पास अर्पित की जाय ॥ ३ ॥

उत्तरैर्ब्रह्मसदने ॥ ४ ॥

अगारस्येत्यनुवृत्तेः तत्र यो ब्रह्मसदनाख्यो देशः वास्तुविद्याप्रसिद्धो [2]मध्येऽगारस्य । तत्रोत्तरैर्दशभिः 'पृथिव्यै स्वाहा, अन्तरिक्षाय स्वाहा, दिवे स्वाहा, सूर्याय स्वाहा, चन्द्रमसे स्वाहा, नक्षत्रेभ्यः स्वाहा, इन्द्राय स्वाहा, बृहस्पतये स्वाहा, प्रजापतये स्वाहा, ब्रह्मणे स्वाहे'त्येतैः प्रागपवर्गमित्येव ।

अपर आह—ब्रह्मा यत्र सदिति गार्ह्येषु कर्मसु अग्नेर्दक्षिणतो ब्रह्मसदनं तत्रेति॥

अनु०—आगे के दस मन्त्रों ('पृथिव्यै स्वाहा, अन्तरिक्षाय स्वाहा, दिवे स्वाहा, सूर्याय स्वाहा, चन्द्रमसे स्वाहा, नक्षत्रेभ्यः स्वाहा, इन्द्राय स्वाहा, बृहस्पतये स्वाहा, ब्रह्मणे स्वाहा) से घर के ब्रह्मसदन नामक स्थान पर बलियाँ अर्पित करे, जिनमें प्रत्येक बलि अपने से पहले की बलि के पूर्व रखी जाय ।

---

१. देहिन्यामिति पाठः क० पुस्तके ।

२. मध्येऽगारस्येत्यतः तस्य देशस्योपयुक्तत्वात् इत्यधिकः ख० पुस्तके ।

टि०—ब्रह्मसदन के विषय में यह व्याख्या दी गई है कि यह वह स्थान होता है जहाँ गृह्य कर्मों के सम्पादन के समय ब्रह्मा बैठता है, अर्थात् पवित्र अग्नि के दक्षिण की ओर। कुछ लोगों के अनुसार यह घर के मध्य का भाग है ॥ ४ ॥

दक्षिणतः पितृलिङ्गेन प्राचीनावीत्यवाचीनपाणिः कुर्यात् ॥ ५ ॥

अनन्तराणां बलीनां दक्षिणतः पितृलिङ्गेन 'स्वधा पितृभ्य' इत्यनेन बलिं कुर्यात्, प्राचीनावीत्यवाचीनपाणिश्च भूत्वा दक्षिणं पाणिमुत्तानं कृत्वा अङ्गुष्ठतर्जन्योरन्तरालेन ॥ ५ ॥

अनु०—दक्षिण की ओर 'स्वधा पितृभ्यः' मन्त्र से प्राचीनावीती होकर (यज्ञोपवीत को दाहिने कन्धे के ऊपर से तथा बायें कक्ष के नीचे से धारण करे) तथा दाहिनी हथेली को ऊपर की ओर उठाये हुए बलि अर्पित करे ॥ ५ ॥

रौद्र उत्तरो यथा देवताभ्यः ॥ ६ ॥

पितृबलेरुत्तरतो रौद्रबलिः कर्त्तव्यः। यथा देवताभ्यः तथा, प्राचीनावीत्यवाचीनपाणिरिति नाऽनुवर्तत इत्यर्थः। नमो रुद्राय पशुपतये स्वाहेति मन्त्रः। अत्र यद्यपि पशुपतिलिमङ्गप्यस्ति, तथापि तद्रुद्रस्यैव विशेषणमिति रौद्र इति व्यपदेशो नाऽनुपपन्नः। देवतास्मरणमपि रुद्रायेत्येव कुर्वन्ति। रुद्राय पशुपतय इत्यन्ये। केचित्तु—उत्तरो मन्त्रो रौद्रः न पशुपतिदैवत्य इत्याचक्षते। तेषां देशः प्राग्वोदग्वा पित्र्यात् ॥ ६ ॥

अनु०—पितृबलि के उत्तर में ('नमो रुद्राय पशुपतये स्वाहा' मन्त्र से) रुद्र के लिए उसी विधि से बलि अर्पित की जाय, जिस विधि से दूसरे देवों के लिए की जाती है।

टि०—तात्पर्य यह कि प्राचीनवीती न होवे और न ही दाहिने हाथ की हथेली को उत्तान करे ॥ ६ ॥

तयोर्नाना परिषेचनं धर्मभेदात् ॥ ७ ॥

तयोरनन्तरोक्तयोर्बल्योरेकस्मिन् देशे समवेतयोरपि नाना पृथक् परिषेचनं कर्त्तव्यम्। कुतः? धर्मभेदात्। पित्र्यस्याऽप्रदक्षिणं परिषेचनं कर्तव्यम्। इतरस्य दैवत्वात्प्रदक्षिणमिति ॥ ७ ॥

अनु०—इन दो बलियों के लिए आरम्भ तथा अन्त का जल से परिषेचन कर्म अलग-अलग किया जाता है, क्योंकि दोनों के लिए अलग-अलग नियम है।

टि०—यदि इन बलियों को एक स्थान पर साथ-साथ किया जाय तब भी अलग-अलग परिषेचन किया जाता है ॥ ७ ॥

नक्तमेवोत्तमेन वैहायसम् ॥ ८ ॥

उत्तमेन 'ये भूताः प्रचरन्ति नक्तं बलिमिच्छन्तो वितुदस्य प्रेष्याः। तेभ्यो बलिं पुष्टिकामो हरामि मयि पुष्टिं पुष्टिपतिर्दधातु स्वाहे' 'त्यनेन वैहायसं बलिं दद्यात्। तच्च नक्तमेव। 'वैहायसमि'ति वचनादाकाश एव बलिरुत्क्षेप्यः, न छदिष्कृते देशे। तथाच बौधायनः–[2]"अथाऽऽकाश उत्क्षिपति ये भूताः प्रचरन्ती'ति।

अपर आह—एवकारो भिन्नक्रमः। नक्तमुत्तमेनैव बलिरिति तत्र बल्यन्तराणां रात्रौ निवृत्तिः। अन्ये तु–ऊहेन दिवा बलिं हरन्ति दिवा बलिमिच्छन्त' इति। आश्वलायनके तथा दर्शनात्[3] दिवाचारिभ्य इति दिवा। नक्तंचारिभ्य इति (बलिमाकाशे उत्क्षिपे) नक्त'मिति। तथा च मनुः—

[4]"दिवाचरेभ्यो भूतेभ्यो नक्तंचारिभ्य एव च।' इति ॥ ८ ॥

अनु०—रात्रि को अन्तिम मन्त्र का पाठ करते हुए आकाश में भूतों के लिए बलि फेंकनी चाहिए।

टि०—रात्रि से यहाँ सायं भोजन के पूर्व से तात्पर्य है। अन्य व्याख्याकार के अनुसार इस सूत्र में 'एवं' शब्द का प्रयोग यह सूचित करता है कि इसके अतिरिक्त कोई और बलि रात्रि को नहीं दी जाती। कुछ लोग मन्त्र में परिवर्तन करके उसका प्रयोग करने का विधान करते हैं ॥ ८ ॥

य एतानव्यग्रो यथोपदेशं कुरुते नित्यः स्वर्गः पुष्टिश्च ॥ ९ ॥

य एताननन्तरोक्तान् होमाद् बलींश्च। अव्यग्रः समाहितमना भूत्वा यथोपदेशमुपदेशानतिक्रमेण कुरुते। य इति वचनात्तस्येति पूर्वं गम्यते। तस्य नित्यः स्वर्गः पुष्टिश्च 'स्वर्गपुष्टिसंयुक्ता' इति यत् पूर्वमुक्तं तस्याऽर्थवादताशङ्का मा भूदिति पुनर्वचनम्। पुष्टिस्वर्गौ नित्यावेव भवतः, न प्रबलैरपि कर्मान्तरैर्बाधनमिति ॥ ९ ॥

अनु०—जो गृहस्थ समाहित चित्त होकर इन बलियों और होमों को निर्दिष्ट नियम के अनुसार अर्पित करता है वह नित्य ही स्वर्ग तथा समृद्धि प्राप्त करता है ॥९॥

अग्रं च देयम् ॥ १० ॥

बलिहरणानन्तरं अग्रं च देयं भिक्षवे ॥ १० ॥

अनु०—बलिहरण के बाद भोजन से कुछ अंश भिक्षुक को देना चाहिए। १०॥

---

१. अत्र "अग्नये स्वाहा" इत्यादिकाः 'ये भूताः प्रचरन्ति' इत्यन्ताः मन्त्राः एकाग्निकाण्डाख्यतैत्तिरीयमन्त्रपाठस्याऽऽदौ महानारायणोपनिषदि च पठिताः। (महाना.६७)

२. बौ० गृ० १. ८.

३. आश्व० गृ० १. २. २.

४. म० स्मृ० ३. ९०

अतिथीनेवाऽग्रे भोजयेत् ॥ ११ ॥

अतिथीन्वक्ष्यति । तानेवाग्रे भोजयेत् न स्वयं सह भुञ्जीत पूर्वं वा । एवमतिथिव्यतिरिक्तानन्यानपि भोजयितव्यान् पश्चादेव भोजयेत् ॥ ११ ॥

अनु०—सबसे पहले अतिथियों को भोजन करावे ॥ ११ ॥

बालान्वृद्धान्रोगसम्बन्धान्स्त्रीश्चान्तर्वत्नीः ॥ १२ ॥

ये च गृहवर्तिनो बालादयः तानप्यग्र एव भोजयेत् । अन्तर्वत्नीरित्येव सिद्धे स्त्रीग्रहणं स्वस्रादीनामपि ग्रहणार्थम् । अन्तर्वत्नीग्रहणं [1]सर्वत्र पूजार्थम् ॥

अनु०—उसके बाद बालकों, वृद्धों, रोगियों को, सम्बन्ध की स्त्रियों को तथा गर्भवती स्त्रियों को भोजन करावे ॥ १२ ॥

काले स्वामिनावन्नार्थिनं न प्रत्याचक्षीयाताम् ॥ १३ ॥

काले वैश्वदेवान्ते अन्नार्थमुपस्थितं स्वामिनौ गृहपती न प्रत्याचक्षीयाताम् अवश्यं तस्मै किञ्चिद्देयमिति ॥ १३ ॥

अनु०—(वैश्वदेव बलि के समय) गृहस्वामी तथा गृहस्वामिनी से भोजन की याचना करने वाले को लौटाना नहीं चाहिए (उसे कुछ न कुछ भोजन अवश्य देना चाहिए) ॥ १३ ॥

अभावे किं कर्तव्यम् ? तत्राह—

[2]अभावे भूमिरुदकं तृणानि कल्याणी वागित्येतानि वै सतोऽगारे न क्षीयन्ते कदाचनेति ॥ १४ ॥

भूमिरुपवेशनयोग्या । उदकं पादप्रक्षालनादियोग्यम् । तृणानि शयनासनयोग्यानि । कल्याणी वाक् स्वागतमायुष्मते, इहाऽऽस्यतामित्यादिका । एतानि भूम्यादीनि । सतोऽगारे सतस्सत्पुरुषस्य निर्धनस्याऽपि गृहे कदाचिदपि न क्षीयन्ते । वैशब्दः प्रसिद्धौ । अत एव तैरुपचारः कर्तव्यः । इतिशब्दप्रयोगादेवं धर्मज्ञा उपदिशन्तीति ॥ १४ ॥

अनु०—यदि भोजन का अभाव हो तब भी सज्जनों के घर में बैठने योग्य भूमि, पादप्रक्षालनादि के योग्य जल, शयन-आसन के योग्य तृण, स्वागत तथा स्नेह के वचन—इन सबका कभी अभाव नहीं होता ॥ १४ ॥

एवं वृत्तावनन्तलोकौ भवतः ॥ १५ ॥

यौ गृहमेधिनौ विवाहादारभ्य आन्तादेवंवृत्तौ भवतः तयोरनन्ता लोका

---

१. सर्वपूर्वार्थं इति घ० च० पु०   २. तृणानि भूमिरुदकं वाक् चतुर्थी च सूनृता एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन ॥ इति मनुः ॥

भवन्ति । ज्योतिष्टोमादिभ्योऽपि कतिपयदिनसाध्येभ्यो दुष्करमेतदान्ताद्व्रतम् ॥ १५ ॥

अनु०—इस प्रकार आचरण करने वाले पति और पत्नी अनेक लोक प्राप्त करते हैं ॥ १५ ॥

ब्राह्मणायाऽनधीयानायासनमुदकमन्नमिति देयं न प्रत्युत्तिष्ठेत् ॥१६॥

यद्यनधीयानो ब्राह्मणोऽतिथिधर्मेणाऽऽगच्छेत् तदा तस्मै आसनादिकं देयम् । प्रत्युत्थानं तु न कर्त्तव्यम् । अस्मादेव ज्ञायते—अधीयाने प्रत्युत्थेयमिति ॥ १६ ॥

अनु०—जो ब्राह्मण वेदाध्ययन से सम्पन्न न हो उसे बैठने का स्थान, जल तथा अन्न देना चाहिए, किन्तु उसके आने पर उठकर उसके प्रति सम्मान प्रदर्शन न करे ॥ १६ ॥

अभिवादनायैवोत्तिष्ठेदभिवाद्यश्चेत् ॥ १७ ॥

यदि पुनरसौ अनधीयानोऽपि 'दशवर्षं पौरसख्य' (१. १४. १२.) मित्यादिनाऽभिवाद्यो भवति तदा अभिवादनायैवात्तिष्ठेत् ॥ १७ ॥

अनु०—किन्तु ऐसा व्यक्ति भी किसी कारण से अभिवादनीय हो तो उठकर उसका अभिवादन करना चाहिए ॥ १७ ॥

राजन्यवैश्यौ च ॥ १८ ॥

अधीयानावपि राजन्यवैश्यौ न प्रत्युत्तिष्ठेत् ब्राह्मणः । आसनादिकं तु देयमिति ॥ १८ ॥

अनु०—ब्राह्मण क्षत्रिय तथा वैश्य के आने पर उठकर सम्मान न प्रदर्शित करे ॥ १८ ॥

[1]शूद्रमभ्यागतं कर्मणि नियुञ्ज्यात् ॥ १९ ॥

यदि शूद्रो द्विजातिं प्रत्यतिथिरागच्छति तदा तमुदकाहरणादौ कर्मणि नियुञ्ज्यात् नियुञ्जीत ॥ १९ ॥

अनु०—यदि अतिथि के रूप में कोई शूद्र ब्राह्मण के यहाँ आवे तो उसे कोई कार्य करने के लिए सौंपना चाहिए ॥ १९ ॥

अथाऽस्मै दद्यात् ॥ २० ॥

अथ तस्मिन् कृते भोजनं दद्यात् ॥ २० ॥

अनु०—उस कार्य के करने पर शूद्र अभ्यागत को भोजन प्रदान करे ॥ २० ॥

दासा वा राजकुलादाहृत्याऽतिथिवच्छूद्रं पूजयेयुः ॥ २१ ॥

---

१. इदमग्रिमं च सूत्रमेकीकृतं घ० पुस्तके

अथवा येऽस्य गृहमेधिनो दासाः ते राजकुलादाहृत्य तं शूद्रमतिथिवत्पूजयेयुः। अत एव ज्ञायते–शूद्राणामतिथीनां पूजार्थं व्रीह्यादिकं राज्ञा ग्रामे ग्रामे स्थापयितव्यमिति ॥ २१ ॥

अनु०—अथवा उस ब्राह्मण के दास राजकुल से अन्न माँगकर ले आवें और उसके द्वारा उस अभ्यागत शूद्र का अतिथि के योग्य सत्कार करें ॥ २१ ॥

नित्यमुत्तरं वासः कार्यम् ॥ २२ ॥

उपासने गुरूणा' (१.१५.१) मित्यादिना केषुचित्कालेषु यज्ञोपवीतं विहितम्। इह तु प्रकरणात् गृहस्थस्य नित्यमुत्तरं वासो धार्यमित्युच्यते ॥ २२ ॥

अनु०—गृहस्थ सदैव वस्त्र को बाएँ कन्धे से ऊपर तथा दाहिने कक्ष से नीचे लपेट कर धारण करे ॥ २२ ॥

अपि वा सूत्रमेवोपवीतार्थे ॥ २३ ॥

अपि वा सूत्रमेव सर्वेषामुपवीतकृत्ये भवति, न वास एवेति नियमः। तथा च मनुः—

[1]कार्पासमुपवीतं स्याद्विप्रस्योर्ध्ववृतं त्रिवृ'दिति[2] ॥ २३ ॥

अनु०—अथवा वस्त्र के स्थान पर उपवीत के लिए सूत्र ही धारण करे ॥२३॥

यत्र भुज्यते तत्समूह्य निर्हृत्याऽवोक्ष्य तं देशममत्रेभ्यो लेपान् सङ्कृष्याऽद्भिः संसृज्योत्तरतः शुचौ देशे रुद्राय निनयेदेवं वास्तु शिवं भवति ॥ २४ ॥

यत्र स्थाने भुज्यते तत् समूह्य समूहन्या तत्रत्यमुच्छिष्टादिकं राशीकृत्य निर्हरेदन्यतः। निहृत्य तं देशमवोक्षन। अवोक्ष्य ततोऽमत्रेभ्यः येषु पाकः कृतः तान्यमत्राणि तेभ्योऽन्नलेपान् व्यञ्जनलेपांश्च संकृष्य काष्ठादिनाऽवकृष्य अद्भिस्संसृजेत्। संसृज्य गृहस्योत्तरतः शुचौ देशे रुद्रायेदमस्त्वि'ति निनयेत्। एवं कृते वास्तु शिवं समृद्धं भवतीति ॥ २४ ॥

अनु०—जहाँ भोजन करे उस स्थान को झाड़ू से झाड़कर उच्छिष्ट आदि को एकत्र करके दूर फेंक दे, फिर उस स्थान पर हथेली को नीचे किये हुए जल छिड़के। जिन पात्रों में भोजन बनाया गया हो उनसे अन्न के लेप को काष्ठ के टुकड़े आदि से खुरचकर उसे जल से धोवे तथा उनसे निकले हुए अन्न के अंश को लेकर घर से

---

१. म० स्मृ २. ४४

२. एतदनन्तरं बौधायनस्तु—कौशं सूत्रं वा त्रिस्त्रिवृद्यज्ञोपवीतम् इति, (१. ८. ५) इत्याधिकः पाठः च० पु०

उत्तर एक स्वच्छ स्थान पर रुद्र के लिए बलि अर्पित करे, इस प्रकार उसका घर समृद्ध होगा ॥ २४ ॥

ब्राह्मण आचार्यः स्मर्यते तु ॥ २५ ॥

तुशब्दोऽवधारणार्थो भिन्नक्रमश्च । ब्राह्मण एव सर्वेषामाचार्यः स्मर्यते धर्मशास्त्रेषु । इहाऽपि वक्ष्यति 'स्वकर्म ब्राह्मणस्ये' (२.१०.४.) त्यादि । अनुवादोऽयमापदि कल्पान्तरं वक्तुम् ॥ २५ ॥

अनु०—स्मृतियों में कहा गया है कि केवल ब्राह्मण ही आचार्य हो सकता है ॥ २५ ॥

तदाह—

आपादि ब्राह्मणेन राजन्ये वैश्ये वाऽध्ययनम् ॥ २६ ॥

कर्तव्यमित्यध्याहार्यम् । ब्राह्मणस्याऽध्यापयितुरलाभ आपात् । तत्राऽऽपदि ब्राह्मणेन राजन्ये वैश्ये वाऽध्ययनं कर्तव्यम् । न त्वनधीयानेन स्थातव्यम् । 'ब्राह्मणेने'ति वचनाद्राजन्यवैश्ययोर्नाऽयमनुकल्पः ॥ २६ ॥

अनु०—आपत्तिकाल में ब्राह्मण क्षत्रिय या वैश्य से विद्याध्ययन कर सकता है ॥ २६ ॥

अनुगमनं च पश्चात् ॥ २७ ॥

अनुगमनं च पृष्ठतः कर्तव्यं यावदध्ययनम् । पश्चाद्ग्रहणं लज्जादिना कियत्यपि पार्श्वे गतिर्माभूदिति । सर्वशुश्रूषाप्रसङ्गे नियमः—ब्राह्मणस्याऽनुगमनमेव शुश्रूषेति । तथा च गौतमः—[1]'अनुगमनं शुश्रूषे'ति ॥ २७ ॥

अन०—शिष्य रहते समय उस क्षत्रिय या वैश्य गुरु के पीछे-पीछे भी चले ॥ २७ ॥

तत ऊर्ध्वं ब्राह्मण एवाऽग्रे गतौ स्यात् ॥ २८ ॥

ततोऽध्ययनादूर्ध्वं समाप्तेऽध्ययने ब्राह्मण एवाग्रतो गच्छेत् ॥ २८ ॥

अनु०—अध्ययन समाप्त होने के बाद वह ब्राह्मण ही अपने क्षत्रिय या वैश्य गुरु के आगे-आगे चलेगा ॥ २८ ॥

इत्यापस्तम्बर्मसूत्रवृत्तावुज्वलायां द्वितीयप्रश्ने चतुर्थी कण्डिका ॥४॥

सर्वविद्यानामप्युपनिषदामुपाकृत्याऽनध्ययनं तदहः ॥ १ ॥

कर्मणि षष्ठी । सर्वविद्या अङ्गविद्या अप्युपनिषद उपाकृत्याध्येतुमारभ्य

---

१. गौ० ध० ७. २

तदहरनध्ययनं तस्मिन्नहन्यध्ययनं न कर्तव्यम् । उपनिषद्ग्रहणं प्राधान्यख्यापनार्थम् । ब्राह्मणा आयाता, वसिष्ठोऽप्यायात इतिवत् ॥ १ ॥

अनु०—सभी विद्याओं और उपनिषद् का अध्ययन प्रारम्भ करने के बाद उस दिन अध्ययन न करे ॥ १ ॥

अधीत्य चाऽविप्रक्रमणं सद्यः ॥ २ ॥

अधीत्य 'वेदमधीत्य स्नास्य' न्नित्यवसरे आचार्यसकाशाद् सद्यो विप्रक्रमणं न कर्तव्यं नाऽपगन्तव्यम् प्रायेण मकारात्परमिकारमधीयते । तत्रात्येष एवार्थः । इकारस्तु छान्दसोऽपपाठो वा[२] ॥ २ ॥

अनु०—अध्ययन समाप्त करने के बाद गुरु के समीप से तत्काल नहीं चल देना चाहिए ॥ २ ॥

यदि त्वरेत गुरोः समीक्षायां स्वाध्यायमधीत्य कामं गच्छेदेवमुभयोः शिवं भवति ॥ ३ ॥

यदि कार्यवशात् गन्तुं त्वरेत तदा गुरोराचार्यस्य समीक्षायां सन्दर्शने संश्रये स्वाध्यायं प्रश्नावरमधीत्य यथाकामं गच्छेत् । एवं कृते उभयोः शिष्याचार्ययोः शिवं भवतीति ॥ ३ ॥

अनु०—यदि (किसी कार्य से) जाने की जल्दी हो तो आचार्य के सामने अपने स्वाध्याय का अध्ययन करके अपनी इच्छानुसार जावे । ऐसा करने पर शिष्य और आचार्य दोनों का शुभ होता है ॥ ३ ॥

समावृत्तं चेदाचार्योऽभ्यागच्छेत्तमभिमुखोऽभ्यागम्य तस्योपसङ्गृह्य न बीभत्समान उदकमुपस्पृशेत् पुरस्कृत्योपस्थाप्य यथोपदेशं पूजयेत् ४

समावृत्तं चेत् शिष्यं कृतदारमाचार्योऽभ्यागच्छेत् अतिथिधर्मेण । तमभिमुखोऽभ्यागम्य । तस्योपसंगृह्य । कर्मणि षष्ठी । तमुपसंगृह्य । यद्यपि तस्य चाण्डालादिस्पर्शः सम्भाव्यते, तथापि न बीभत्समान उदकमुपस्पृशेत् न स्नायात् । उपसंग्रहणे वा धूलिधूसरौ पादौ स्पृष्ट्वा न बीभत्समान उदकमुपस्पृशेत् । ततस्तं पुरस्कृत्य गृहप्रवेशे अग्रे कृत्वा । पूजासाधनान्युपस्थाप्य यथोपदेशं गृह्योक्तेन मार्गेण मधुपर्केण पूजयेत् । पूजाविधानं गृह्योक्तस्याऽयमनुवाद आसनादिषु विशेषं वक्तुम् ॥ ४ ॥

अनु०—समावर्तन के बाद यदि पहले के आचार्य घर आवें तो उनकी ओर बढ़कर अगवानी करे, उनके चरणों को ग्रहण करे, उसके बाद घृणा का भाव

१. आप० गृ० १२ १

२. एतदनन्तरं 'उपाकरणात् परमित्यन्ये' इति ङ० पुस्तकेऽधिकः पाठः

प्रदर्शित करते हुए स्नान न करे। उन्हें आगे करके घर में प्रवेश करे और सत्कार की वस्तुएँ जुटाकर उपदिष्ट विधि के अनुसार उनका पूजन करे।

टि०—हरदत्त ने व्याख्या में यह स्पष्ट किया है कि यदि आचार्य का चण्डाल द्वारा स्पृष्ट होना ज्ञात हो अथवा उनके चरण धूलिधूसरित हो, तब भी उनके चरणों को बिना घृणा प्रदर्शित किए हुए स्पर्श करे॥ ४॥

तमाह—

आसने शयने भक्ष्ये भोज्ये वाससि वा सन्निहिते निहीनतरवृत्तिः स्यात्॥ ५॥

सन्निहित आचार्ये तस्मिन्नेव गृहे अपवरकादिकं प्रविष्टे आसनादिषु निहीनतरवृत्तिः स्यात्। तरप्निर्देशात् नीच आसने गुणतोऽपि निकृष्ट आसीत। एवं शयनादिष्वपि द्रष्टव्यम्॥ ५॥

अनु०—यदि गुरु समीप में उपस्थित हों तो स्वयं उनकी अपेक्षा हीन आसन, शय्या, भक्ष्य तथा भोज्य पदार्थ एवं वस्त्र धारण करे॥ ५॥

तिष्ठन् सव्येन पाणिनाऽनुगृह्याचार्य[1]माचमयेत्॥ ६॥

तिष्ठन्निति प्रह्व उच्यते, स्थानयोगात्। न हि साक्षात्तिष्ठन्नाचमयितुं प्रभवति। सव्येन पाणिना करकादिकमनुगृह्याऽधस्ताद्गृहीत्वा इतरेण द्वारमवमृश्येत्यर्थसिद्धत्वादनुक्तम्। एवं कृत्वाऽऽचार्यमाचमयेत् स्वयमेव शिष्यः। एवं हि स[2] सम्मतो भवति। आचार्ये प्रकृते पुनराचार्यग्रहणमातिथ्यदन्यत्राप्याचार्यमाचमयन्नेवमेवाचमयेदिति॥ ६॥

अनु०—झुक कर खड़े होकर अपना बांया हाथ जलपात्र के नीचे रखे तथा दूसरे हाथ से उसका मुख झुकाकर गुरु को आचमन के लिए जल प्रदान करे॥ ६॥

अन्य वा समुदेतम्॥ ७॥

वाशब्दः समुच्चये। अन्यमप्येवमेवाचमयेत्। स चेत् समुदेतः कुलशीलवृत्तविद्यावयोभिरुपेतो भवति॥ ७॥

अनु०—इसी प्रकार अन्य अतिथियों को भी जो सभी उत्तम गुणों से सम्पन्न हों, आचमन के लिए जल प्रदान करे॥ ७॥

स्थानासनचंक्रमणस्मितेष्वनुचिकीर्षन्॥ ८॥

व्यवहितमपि स्यादित्यपेक्ष्यते। चिकीर्षया करणं लक्ष्यते। स्थानादिष्वाचार्यस्य पश्चाद्भावी स्यात्। न पूर्वभावी। न युगपद्भावी॥ ८॥

---

१. आचामयेत् इति क० पु

२. धर्मयुतः इति० घ० पु० धर्मतो भवति० इति ३० पु०

अनु०—(गुरु के) उठने, बैठने, चलने और मुस्कराने पर (गुरु के) बाद में उठे, बैठे, चले और मुस्कराये ॥ ८ ॥

सन्निहिते मूत्रपुरीषवातकर्मोच्चैर्भाषाहासष्ठीवन[1]दन्तस्कवननिःशृङ्खण-भ्रूक्षेपणतालननिष्ठचानीति ॥ ९ ॥

वातकर्म अपानवायोरुत्सर्गः। उच्चैर्भाषा महता स्वनेन सम्भाषणं केनाऽपि। हासो हसनम्। ष्ठीवनं श्लेष्मादिनिरसनम्। दन्तस्खलनं दन्तमलापकर्षणम्। परस्परघट्टनमित्यन्ये। निःशृङ्खणं नासिकामलनिस्सारणम्। भ्रूक्षेपणं भ्रूविक्षेपः। छान्दसो ह्रस्वः। तालनं हस्तयोरास्फालनम्। निष्ठ्यमङ्गुलिस्फोटनम्। इतिशब्दादन्यदपि स्वैरासनादिकम्। वर्जयेदित्यपेक्ष्यते। एतानि मूत्रकर्मादीन्याचार्यस्य सन्निधौ न कुर्यादिति ॥ ९ ॥

अनु०—गुरु के निकट होने पर मूत्र या मल का त्याग न करे, अपानवायु न छोड़े, ऊँची आवाज में न बोले, हँसे नहीं, थूके नहीं, अपने दाँतों को न साफ करे, छिनके नहीं, भौहें टेढ़ी न करे, ताली न बजावे और न अँगुलियों को चटकावे ॥९॥

दारे प्रजायां चोपस्पर्शनभाषा विस्रम्भपूर्वाः परिवर्जयेत् ॥ १० ॥

उपस्पर्शनमालिङ्गनाघ्राणादि। भाषाः सम्भाषाश्चाटुप्रभृतयः। एता अप्याचार्ये सन्निहिते[2] दारप्रजाविषये विस्रब्धं न कुर्यात्। ज्वरादिपरीक्षायां न दोषः ॥ १० ॥

अनु०—अपनी पत्नी और बच्चों का आलिङ्गन, चुम्बन तथा उनसे मधुर भाषण भी गुरु के निकट रहने पर न करे ॥ १० ॥

वाक्येन वाक्यस्य प्रतिघातमाचार्यस्य वर्जयेच्छ्रेयसां च ॥ ११ ॥

आचार्यवाक्यस्य समीचीनस्येतरस्य वा आत्मीयेन वाक्येन तादृशेन प्रतिघातं न कुर्यात्। श्रेयसां च अन्येषामपि प्रशस्ततराणां वाक्यं वाक्येन न प्रतिहन्यात् ॥ ११ ॥

अनु०—गुरु के किसी वाक्य का अपने वाक्य से खण्डन न करे और दूसरे भी श्रेष्ठ जनों के बचनों को न काटे ॥ ११ ॥

सर्वभूतपरीवादाक्रोशांश्च ॥ १२ ॥

सर्वेषां भूतानां तिरश्चामपि। परीवादान् दोषवादान्। आक्रोशान् अश्लीलवादांश्च वर्जयेत्। परीवादस्य पुनःपुनर्वचनमतिशयेन वर्जनार्थम् ॥ १२ ॥

अनु०—सभी प्राणियों में किसी का भी दोष न कहे और न किसी पर अपना आक्रोश व्यक्त करे ॥ १२ ॥

---

१. ष्ठेवन० इति० क० पु २. 'दारे प्रजाविषयेऽपि' इति० क० छ० पु०

विद्यया च विद्यानाम् ॥ १३ ॥

विद्यया च विद्यानां परीवादक्रोशान् वर्जयेत् । ऋग्वेद एव श्रोत्रसुखः अन्ये श्रवणकटुका इति परीवादाः । तैत्तिरीयकमुच्छिष्टशाखा, [1]याज्ञवल्क्यादीनि ब्राह्मणानीदानींतनानि इत्याद्याक्रोशः ॥ १३ ॥

अनु०—किसी विद्या के साथ तुलना करके दूसरी विद्याओं को हीन न बतावे ॥ १३ ॥

यया विद्यया न विरोचेत पुनराचार्यमुपेत्य नियमेन साधयेत् ॥ १४ ॥

यया विद्ययाऽधीतया श्रुतया वा न विरोचेत न यशस्वी स्यात्, तामित्यर्थाद्गम्यते । तां विद्यां पुनस्साधयेत् । यथा सम्यक् सिद्धा भवति तथा कुर्यात् । कथम्? आचार्यं तमेवा[2]न्यं वा उपेत्य उपसद्य । नियमेनाऽपूर्वाधिगमे विद्यार्थस्य यो नियम उक्तः तेन शुश्रूषादिना ॥ १४ ॥

अनु०—यदि वह पहले पढ़ी गयी विद्या की किसी शाखा में निष्णात न हुआ हो उस विद्या की शाखा का पुनः गुरु के समीप जाकर अध्ययन करे तथा नियमों का पालन भी पूर्ववत् करे ॥ १४ ॥

अस्मिन्विषयेऽध्यापयितुर्नियमः—

उपाकरणाद्योत्सर्जनादध्यापयितुर्नियमो लोमसंहरणं मांसं श्राद्धं मैथुमिति वर्जयेत् ॥ १५ ॥

लोमसंहरणं लोमवापनम् । इदमनाहिताग्निविषयम् आहिताग्नेस्तु '[3]अप्यल्पशो लोमानि वापयत इति वाजसनेयकम्'' इति ॥ १५ ॥

अनु०—उपाकरण से लेकर उत्सर्जन तक अध्यापन करने वाला इन नियमों का पालन करे—शरीर के केशों को न काटे, मांस श्राद्ध के अन्न का भक्षण न करे, मैथुन न करे ॥ १५ ॥

ऋत्वे वा जायाम् ॥ १६ ॥

ऋतुकाले वा जायामुपेयात् । स्त्रीणामृतुदिनानि षोडश । तत्र भवः काल ऋत्व्यः । [4]भवे छन्दसीति यत्प्रत्यये''[5]ऋत्व्यवास्त्व्ये'ति सूत्रेण यणादेशो निपातितः । ऋत्व्य इति रूपसिद्धिः । अत्र यलोपश्छान्दसः । चातुर्मास्येषु प्रयुक्तम्—'[6]ऋत्वे वा जायाम्, नोपर्यास्ते' इति यथा ॥ १६ ॥

---

१. याज्ञवल्क्यादि ब्राह्मणादीदानींतनम् इति० क० छ० पु
२. अन्यं वा इति नास्ति च० पु
३. आप० श्रौ० ४. १. ५
४. पा० सू० ४. ४. ११०
५. पा० सू० ६. १. १७५
६. आप श्रौ० ८. ४. ६. ७

अनु०—अथवा ऋतुकाल में पत्नी के साथ मैथुन करे ॥ १६ ॥

यथागमं शिष्येभ्यो विद्यासम्प्रदाने नियमेषु च युक्तः स्यादेवं वर्तमानः पूर्वापरान् सम्बन्धानात्मानं च क्षेमे युनक्ति ॥ १७ ॥

येन प्रकारेणाऽऽगमः पाठार्थयोः तथैव शिष्येभ्यो निर्मत्सरेण विद्या सम्प्रदेया । एवंभूते विद्यासम्प्रदाने युक्तो [1]वहितः स्यात् । ये च गृहस्थस्य नियमोऽध्यापनेऽन्यत्र च, तेष्वपि युक्तः स्यात् । एवं युक्तो वर्तमानः पूर्वान् पितृपितामहप्रपितामहान् । अपरांश्च पुत्रपौत्रनप्तॄन् । सम्बन्धान् । कर्मणि घञ् । सम्बन्धिनः पुरुषान् । आत्मानं च क्षेमे अभये स्थाने नाकस्य पृष्ठे । युनक्ति स्थापयति ॥ १७ ॥

अनु०—विद्या प्रदान करते समय इस प्रकार सावधान होकर विद्या प्रदान करे कि शिष्य को पाठ और अर्थ का बोध हो जाय, तथा अध्यापन के समय गृहस्थ के विहित नियमों का कड़ाई से पालन करे, जो इस प्रकार आचरण करता है वह स्वयं स्वर्ग का सुख प्राप्त करता है तथा उसके वंशज और पूर्वज भी कल्याण के भागी होते हैं ॥ १७ ।

मनसा वाचा प्राणेन चक्षुषा श्रोत्रेण त्वविछश्नोदरारम्भणानास्रावान् परीवृञ्जानोऽमृतत्वाय कल्पते ॥ १८ ॥

यैः पुरुष आस्राव्यते बहिराकृष्यते । ते आस्रावाः शब्दादयो विषयाः । ते विशेष्यन्ते त्वक्छिश्नोदरारम्भणात् आरभ्यन्ते[2] आलम्ब्यन्त इत्यारम्भणाः । तत्र त्वगालम्बनाः स्रक्चन्दनादयः । शिश्नालम्बनाः स्त्र्युपभोगादयः । उदरालम्बना भक्ष्यभोज्यादयः । उपलक्षणं त्वगादिग्रहणम् । एवंभूतानास्रावान् मनआदिभिः पञ्चभिरिन्द्रियैः परिवृञ्जानस्सर्वतो वर्जयन् अमृतत्वाय मोक्षाय कल्पते । तत्र वागिति रसनेन्द्रियमाह । प्राण इति घ्राणम् ॥ १८ ॥

इत्यापस्तम्बधर्मसूत्रवृत्तौ द्वितीयप्रश्ने पञ्चमी कण्डिका ॥ ५ ॥

अनु०—जो मन से, वाणी से, प्राण से, नेत्रों, कानों, त्वचा, शिश्न, उदर से विषयों के उपभोग का पूरी तरह परिवर्जन करता है वह मोक्ष प्राप्त करता है ॥ १८ ॥

इति चाऽऽपस्तम्बधर्मसूत्रवृत्तौ हरदत्तविरचितायामुज्ज्वलायां
द्वितीयप्रश्ने द्वितीयः पटलः ॥ २ ॥

---

१. विहितः इति क० ङ० पु०
२. आलभ्यन्ते इति च० पु०
३. अभक्ष्या अभोज्यादयः इति० क० च० पु०

अथ तृतीयः पटलः

जात्याचारसंशये धर्मार्थमागतमग्निमुपसमाधाय जातिमाचारं च पृच्छेत् ॥ १ ॥

अविज्ञात पूर्वो यो धर्मार्थमध्ययनार्थमागच्छेत् उपसीदेत् 'उपसन्नोऽस्मि भगवन्, मैत्रेण चक्षुषा पश्य, शिवेव मनसाऽनुगृहाण, प्रसीद मामध्यापयेति। तस्य जात्याचारसंशये सति। अग्निमुपसमाधाय 'यत्र क्वचाग्निमित्याद्यन्यदुपदध्या (२.२ १३.१४.) दित्यन्तं कृत्वा। तत्सन्निधौ जातिमाचारं च पृच्छेत्— 'किंगोत्रोऽसि सौम्य, किमाचारश्चासीति ॥ १ ॥

अनु०—अध्ययन के लिये आये हुए व्यक्ति की जाति और आचार के विषय में शङ्का हो तो अग्नि के उपसमाधान की विधि के अनुसार अग्नि प्रज्वलित करे और उससे उसके जाति और आचार के विषय में प्रश्न करे ॥ १ ॥

साधुतां चेत्प्रतिजानीतेऽग्निरुपद्रष्टा वायुरुपश्रोताऽऽदित्योऽऽनुख्याता साधुतां चेत्प्रतिजानीते साध्वस्मा अस्तु वितथ एष एनस इत्युक्त्वा शास्तुं प्रतिपद्यते ॥ २ ॥

स चेत्साधुतां प्रतिजानीते—साधुजन्माऽस्मि, अमुष्य पुत्रोऽमुष्य पौत्रोऽमुष्य नप्ता, साध्वाचारश्चास्मि, पित्रैवो[1]पानेषि, शिक्षिताचारश्चास्मि, सम्यक्चावर्तिषि' विधिबलेन तु बाल्य एव[2] स दिष्टां गतिं गतः, एतस्मात्केवलमनधीतवेद इति, तत्रोऽ'ग्निरुपद्रष्टे'त्यादिकं मन्त्रमुक्त्वा शास्तुं शासितुमध्यापयितुं धर्माश्चोपदेष्टुं प्रतिपद्येत उपक्रमेत ॥ २ ॥

अनु०—यदि वह अपने को उत्तम कुल का तथा उत्तम आचार वाला बतावे तो गुरु इस प्रकार कहे समीप से देखने वाला अग्नि, सुननेवाला वायु— तथा आदित्य इसकी साधुता के साक्षी हों, इसे कल्याण प्रदान करें, इसके पाप को शान्त करें और ऐसा कहकर अध्यापन में प्रवृत्त हो ॥ २ ॥

पञ्चयज्ञान्ते 'अतिथीनेवाग्रे भोजये'दित्युक्तम्। तत्प्रकारं वक्तुं तस्याऽवश्यकर्तव्यतामनेनाऽऽह—

अग्निरिव ज्वलन्नतिथिरभ्यागच्छति ॥ ३ ॥

अतिथिर्गृहानभ्यागच्छन्नग्निरिव ज्वलन्नभ्यागच्छति। तस्मादसौ भोजनादिभिरवश्यं तर्पयितव्यः। निराशस्तु गतो गृहान् दहेदिति ॥ ३ ॥

अनु०—अतिथि अग्नि की तरह जलता हुआ घर में आता है ॥ ३ ॥

---

१. उपनायिषि० इति० घ० ङ० पु० २. सर्वे ' गताः इति क० च० पु०

इदानीमतिथिलक्षणं वक्तुं तदुपयोगिश्रोत्रियलक्षणमाह—

धर्मेण वेदानामेकैकां शाखामधीत्य श्रोत्रियो भवति ॥ ४ ॥

विद्यार्थस्य यो नियमः स धर्मः। तेन वेदानां यां काञ्चन शाखामधीत्य श्रोत्रियो भवति। पुरुषस्य हि प्रतिवेदमेकैका शाखा भवति। या पूर्वैः परिगृहीताऽध्ययनानुष्ठानाभ्यां सा प्रतिवेदं स्वशाखा। तामधीत्य श्रोत्रियो भवति, न तु प्रतिवेदमेकैकामधीत्य श्रोत्रियो भवतीति। लोकविरोधात्। लोके हि यां कांचनैकां शाखामधीयानः श्रोत्रिय इति प्रसिद्धः॥ ४॥

अनु०—जो (ब्रह्मचर्य के) नियमों का पालन करते हुए वेद की किसी एक शाखा का पूरी तरह अध्ययन करता है वह श्रोत्रिय कहलाता है ॥ ४ ॥

अतिथिलक्षणमाह—

[1]स्वधर्मयुक्तं कुटुम्बिनमभ्यागच्छति धर्मपुरस्कारो [2]नाऽन्यप्रयोजनः सोऽतिथिर्भवति ॥ ५ ॥

आदितो यच्छब्दो द्रष्टव्यः। अन्ते स इति दर्शनात्। मध्ये च श्रोत्रियलक्षणोपदेशात्। तदुपजीवनेन सूत्रं योज्यम्। यः श्रोत्रियः स्वधर्मयुक्तं स्वधर्मनिरतं कुटुम्बिनं भार्यया सह वसन्तं गृहस्थम्। आश्रमान्तरनिरासार्थमिदमुक्तम्। न हि ते पचमाना भवन्ति। भिक्षवो हि ते। अभ्यागच्छति उद्दिश्याऽऽगच्छति। धर्मपुरस्कारः[3] आचार्याद्यर्थं भिक्षणं धर्मः तं पुरस्करोतीति धर्मपुरस्कारः। कर्मण्यण्। धर्मप्रयोजनः नान्यप्रयोजनः। य एवंभूत एवंभूतमुद्दिश्याऽऽगच्छति नान्येच्छया सोऽतिथिरिति। [4]बौधायनस्तु श्रान्तोऽदृष्टपूर्वः केवलमन्नार्थी नाऽन्यप्रयोजनस्सोतिथिर्भवति। अथ वा सर्ववर्णानामन्यतमः काले यथोपपन्नः सर्वेषामतिथीनां श्रेष्ठोऽतिथिर्भवती'ति ॥ ५ ॥

अनु०—जो व्यक्ति अपने धर्म में निरत रहने वाले गृहस्थ के यहाँ केवल धर्म के प्रयोजन से जाता है, किसी अन्य प्रयोजन से नहीं वह अतिथि होता है ॥ ५ ॥

तस्य पूजायां शान्तिः स्वर्गश्च ॥ ६ ॥

तस्यातिथेः पूजायां कृतायां शान्तिरुपद्रवाणामिह भवति। प्रेत्य च स्वर्गलाभः ॥ ६ ॥

अनु०—ऐसे व्यक्ति का सत्कार करने से उपद्रवों की शान्ति होती है तथा स्वर्ग का फल प्राप्त होता है ॥ ६ ॥

तमभिमुखोऽभ्यागम्य यथावयस्समेत्य तस्यासनमाहारयेत् ॥ ७ ॥

---

१. एतदादि ११ सूत्रार्धं यावदेकीकृतम् छ० पु २. नान्यप्रयोजनः इति क० पु
३. आचार्यस्यार्थे इति० घ० ङ० पु ४. एतदादि ११ सूत्रे निवेशितं छ० पु

तमतिथिमभिमुखोऽभ्यागच्छेत् । अभ्यागम्य यथावयः वयसोऽनुरूपं प्रत्युत्थानाभिवादनादिना समेयात् सङ्गच्छेत । समेत्य च तस्यासनमाहारयेत् शिष्यादिभिः । अभावे स्वयमाहरेत् ॥ ७ ॥

अनु०—ऐसे अतिथि की उठकर अगवानी करे, उसकी अवस्था के अनुसार उसका आदर करे, उससे मिले और उसके लिए आसन ले आवे ॥ ७ ॥

शक्तिविषये नाऽबहुपादमासनं भवतीत्येके ॥ ८ ॥

शक्तौ सत्यां अबहुपादमासनं न देयम् । किं तु बहुपादमेव पीठादिकमित्येके मन्यन्ते । [1]स्वमतं त्वबहुपादमपीति ॥ ८ ॥

अनु०—कुछ आचार्यों का कथन है कि यदि सम्भव हो तो अतिथि का आसन अनेक पायों वाला होवे ॥ ८ ॥

तस्य पादौ प्रक्षालयेच्छूद्रमिथुनावित्येके ॥ ९ ॥

द्वौ शूद्रौ तस्य पादौ प्रक्षालयेतामित्येके मन्यन्ते । दासवत इदम् ॥ ९ ॥

अनु०—उसके चरणों को धोवे । कुछ आचार्यों का कथन है कि अतिथि के पैरों को दो शूद्र धोवें ॥ ९ ॥

अत्र विशेषः—

अन्यतरोऽभिषेचने स्यात् ॥ १० ॥

अभिषेचनं करकादिना जलावसेकः । तमेकः कुर्यात् । इतरः प्रक्षालनम् ॥ १० ॥

अनु० —उनमें से एक जल गिरावे (दूसरा पैर धोवे) ॥ १० ॥

तस्योदकमाहारयेदन्मृण्मयेनेत्येके ॥ ११ ॥

मृण्मयेन पात्रेण तस्योदकमाहर्तव्यमित्येके मन्यन्ते । [2]स्वमतं तु तैजसेन ॥ ११ ॥

अनु०—कुछ आचार्यों का अभिमत है कि अतिथि के लिए मिट्टी के पात्र में जल लावे । ११ ॥

नोदकमाहारयेदसमावृत्तः ॥ १२ ॥

यदा असमावृत्तो ब्रह्मचारी आचार्यप्रेषितः स्वयमेव वाऽतिथिरभ्यागच्छति तदा नासावुदकमाहारयेत् नासावुदकाहरणस्य प्रयोजकः । नास्मा उदकमाहर्तव्यमिति ॥ १२ ॥

अनु०—किन्तु जिस अतिथि का समावर्तन न हुआ हो उस अतिथि के लिए स्वयं जल न लावे ॥ १२ ॥

---

१. स्वयं त्वबहुपामप्यनुमन्यते इति च० पु० २. स्वयं तु ङ० च० पु०

अध्ययनसांवृत्तिश्चात्राऽधिका ॥ १३ ॥

अत्र असमावृत्तेऽतिथौ अध्ययनसंवृत्तिश्चाधिका इतरस्मादतिथेः । अध्ययनस्य सह निष्पादनमध्ययनसंवृत्तिः । यः प्रदेशस्तस्याऽऽगच्छति स तेन सह कियन्तञ्चित्कालं वक्तव्य इति । प्रसिद्धे तु पाठे पूर्वपदान्तस्य समोऽकारस्य छान्दसो दीर्घः ॥ १३ ॥

अनु०—इस प्रकार के असमवावृत्त अतिथि के आने पर अन्य अतिथियों की अपेक्षा अधिक समय तक उसके साथ स्वाध्याय की आवृत्ति करे ॥ १३ ॥

सान्त्वयित्वा तर्पयेद्रसैर्भक्ष्यैरद्भिरवरार्ध्येनेति ॥ १४ ॥

ततः पदप्रक्षालनस्य समध्ययनस्य वाऽनन्तरमतिथिं प्रियवचनेन सान्त्वयेत् । सान्त्वयित्वा गव्यादिभीरसैः फलादिभिश्च भक्ष्यैरन्ततोऽद्भिरपि तावत्तर्पयेत् तृप्तिं कुर्यात् । 'अवरार्ध्येने'ति जघन्यकल्पतां सूचयति । अप्यन्तत इत्यर्थः । इतिशब्दादेवमादिभिरन्यैरपि ॥ १४ ॥

अनु०—अतिथि के साथ सौहार्द पूर्वक संभाषण करे, दूध या अन्य पेय पदार्थों से उसे संतुष्ट करे, खाद्य पदार्थ से तृप्त करे और कम से कम जल ही प्रदान करे ॥ १४ ॥

आवसथं दद्यादुपरिशय्यामुपस्तरणमुपधानं सावस्तरणमभ्यञ्जनं चेति ॥ १५ ॥

आवसथो विश्रामस्थानम् । उपरिशय्या खट्वा । उपस्तरणं तूलिका । उपधानमुपबर्हणम् । अवस्तरणमुपरिपटः । तत्सहितमुपधानमुपस्तरणं च । अभ्यञ्जनं पादयोः तैलं घृतं वा । एतत्सर्वं दद्यात् । भोजनात्प्रागूर्ध्वं वा अपेक्षिते काले । इतिशब्दादन्यदप्यपेक्षितम् ॥ १५ ॥

अनु०—अतिथि को रहने के लिए स्थान दे, शय्या, चटाई, तकिया, चादर, अञ्जन आदि अन्य आवश्यक वस्तुएँ प्रदान करे ॥ १५ ॥

अन्नसंस्कर्तारमाहूय व्रीहीन् यवान्वा तदर्थान्निर्वपेत् ॥ १६ ॥

यः पचति तमन्नसंस्कर्तारमाहूय तदर्थानतिथ्यर्थान् व्रीहीन्यवान्वा निर्वपेत् पृथक्कृत्य दद्यात्—अमुष्मै पचेति । व्रीहियवग्रहणमुपलक्षणम् । इदं भुक्तवत्सु सर्वेष्वतिथावुपस्थिते द्रष्टव्यम् ॥ १६ ॥

अनु०—(सभी के भोजन कर लेने के बाद अतिथि के आने पर) रसोई बनाने वाले को बुलाकर अतिथि का भोजन बनाने के लिए जौ या चावल प्रदान करे ॥१६॥

भोजनकाले त्वाह—

उद्धृतान्यन्नान्यवेक्षेतेदं भूया३इद३मिति ॥ १७ ॥

यावन्तो भोक्तारस्तावद्वा अन्नान्युद्धृत्य पृथक्पात्रेषु कृत्वा स्वयं संविभागं कृत्वा तान्यन्नान्यवेक्षेत–किमिदं भूयः प्रभूतमिदं वेति । विचारे प्लुतः । "पूर्वं तु भाषाया"[1]मित्येतदुपक्षितं छान्दसोऽयं [2]प्रयोग इति ॥ १७ ॥

अनु०—(यदि अतिथि के आने पर भोजन तैयार हो तो) वह स्वयं भोजन का अंश यह कहते हुए निकाले कि यह अंश अधिक है या यह अंश ॥ १७ ॥

भूय उद्धरेत्येव ब्रूयात् ॥ १८ ॥

एवमवेक्ष्याऽतिथ्यर्थं भूय उद्धरेत्येव ब्रूयात् ॥ १८ ॥

अनु०—(अतिथि के लिए) अधिक अंश निकालो, इस प्रकार कहे ॥ १८ ॥

द्विषन्द्विषतो वा नान्नमश्नीयाद्दोषेण वा मीमांसमानस्य मीमांसितस्य वा ॥ १९ ॥

यं स्वयमतिथिं द्विषन्भवति यो वाऽऽत्मानं द्वेष्टि यो वाऽऽत्मानं दोषेण मीमांसते आत्मनि स्तेयादिदोषं सम्भावयति । यो वा दोषेण मीमांसितः यत्र लौकिका दोषं सम्भावयन्ति, तस्याऽस्य सर्वेऽप्यान्नं नाश्नीयात् ॥ १९ ॥

अनु०—शत्रुता रखने वाला उस व्यक्ति का अन्न न खावे जिससे शत्रुता हो, अथवा जो व्यक्ति अतिथि से द्वेष रखता हो उस व्यक्ति का अन्न अतिथि न खावे । किसी प्रकार का दोष लगाने वाले गृहस्थ का अथवा जिस गृहस्थ के विषय में किसी पाप या अपराध की आशंका हो उसका अन्न अतिथि न खावे ॥ १९ ॥

तत्र हेतुः—

पाप्मानं हि स तस्य भक्षयतीति विज्ञायते ॥ २० ॥

यः एवंविधस्याऽन्नमश्नाति, स तस्य पाप्मानमेव भक्षयतीति विज्ञायते २०

इत्यापस्तम्बधर्मसूत्रवृत्तौ द्वितीयप्रश्ने षष्ठी कण्डिका ॥ ६ ॥

अनु०—क्योंकि जो व्यक्ति इस प्रकार के व्यक्ति का अन्न खाता है वह उसके पापों का ही भक्षण करता है, ऐसा (वेद में) कहा गया है ॥ २० ॥

स एष प्रजापत्यः कुटुम्बिनो यज्ञो नित्यप्रततः ॥ १ ॥

स एषोऽभिहितो मनुष्ययज्ञः प्राजापत्यः प्रजापतिना दृष्टः, तद्दैवत्यो वा । कुटुम्बिनो नित्यप्रततो, यज्ञः नाऽग्निष्टोमादिवत् कादाचित्कः ॥ १ ॥

अनु०—यह अतिथि सत्कार गृहस्थों के लिए नित्य किया जाने वाला प्राजापत्य यज्ञ होता है ॥ १ ॥

---

१. पा० सू० ८, ९७ २. प्लुतप्रयोगः इति च. पु

तस्याऽग्नीन् सम्पादयति—

योऽतिथीनामग्निः स आहवनीयो यः कुटुम्बे स गार्हपत्यो यस्मिन्प-च्यते सोऽन्वाहार्यपचनः ॥ २ ॥

योऽतिथीनां जाठरोऽग्निः स आहवनीयः, तत्र हि हूयते । यः कुटुम्बे गृहे अग्निरौपासनः स गार्हपत्यः, नित्यधार्यत्वात् । यस्मिन् पच्यते[1] लौकिकाग्नौ सोऽन्वाहार्यपचनः दक्षिणाग्निः, तत्र [2]ह्यन्वाहार्यं पच्यते ॥ २ ॥

अनु०—अतिथियों के उदर में जो अग्नि होती है वही आहवनीय अग्नि है, जो पवित्र गृह्य अग्नि घर में होती है वह गार्हपत्य अग्नि है, जिस अग्नि पर भोजन पकाया जाता है वह दक्षिणाग्नि है ॥ २ ॥

ऊर्जं पुष्टिं प्रजां पशूनिष्टापूर्तमिति गृहाणामश्नाति यः पूर्वोऽतिथेर-श्नाति ॥३॥

योऽतिथेः पूर्वमश्नाति स गृहाणां कुलस्य सम्बन्धि ऊर्गादिकमश्नाति भक्ष यति विनाशयति । ऊर्गन्नम् । इष्टमग्निहोत्रादि । पूर्तं स्मार्तं कर्म[3] कूपखातादि । अन्ये प्रसिद्धाः ॥ ३ ॥

अनु०—जो अपने अतिथि से पहले भोजन करता है वह अपने कुल के अन्न को, समृद्धि को, सन्तान को, पशुओं और उन पुण्य फलों का ही भक्षण करता है ॥ ३ ॥

पय उपसेचनमन्नमग्निष्टोमसम्मितं सर्पिषोक्थ्यसम्मितं, मधुनाऽतिरा-त्रसम्मितं, मांसेन द्वादशाहसम्मित, मुदकेन प्रजावृद्धिरायुश्च ॥ ४ ॥

पय उपसेचनं यस्य तदन्नम[4]ग्निष्टोमतुल्यम् । सर्पिषा, उपसिक्तमिति प्रक-रणाद्गम्यते तदुक्थ्यतुल्यम् । मधुनोपसिक्तमन्नमतिरात्रतुल्यम् । मांसेन सह दत्तमन्नं द्वादशाहतुल्यम् । उदकेन सह दत्तेन प्रजावृद्धिर्भवति । आयुश्च । उप-समस्तमपि वृद्धिरिति सम्बध्यते ॥ ४ ॥

---

१. भ्राष्ट्राग्नौ इति क० च० पु

२. दर्शपूर्णमासेष्टावृत्विजां दक्षिणात्वेन यद्देयमन्नं तदन्वाहार्यपचनम्

३. तडागादि इति ङ० पु० तडागखननादि इति घ० पु

अग्निहोत्रं तपस्सत्यं वेदानां चानुपालनम् ।
आतिथ्यं वैश्वदेवं च इष्टमित्यभिधीयते ॥
वापीकूपतडागादि देवतायतनानि च ।
अन्नप्रदानमारामः पूर्तमित्यभिधीयते ॥

४. अग्निष्टोमोक्थ्यातिरात्राः ज्योतिष्टोमस्य संस्थाविशेषाः ।

अनु०—(अतिथि को दिया गया) दूध से युक्त अन्न अग्निष्टोम का फल उत्पन्न करता है, घृतमिश्रित भोजन उक्थ्य का फल प्रदान करता है मधु से युक्त भोजन अतिरात्र यज्ञ का फल देता है, मांस से युक्त भोजन द्वादशाह यज्ञ का फल देता है, अन्न और जल अनेक सन्तानों तथा दीर्घ जीवन को प्रदान करता है ॥ ४ ॥

प्रिया अप्रियाश्चाऽतिथियः स्वर्गं लोकं गमयन्तीति विज्ञायते ॥ ५ ॥

प्रियाः प्रसिद्धाः अप्रिया उदासीनाः, द्विषतो निषिद्धत्वात् ॥ ५ ॥

अनु०—अतिथि चाहे प्रिय हों या अप्रिय हों सत्कार करने पर स्वर्ग को ही पहुँचाते हैं ॥ ५ ॥

स यत्प्रातर्मध्यन्दिने सायमिति ददाति सवनान्येव तानि भवन्ति ॥६॥

त्रिषु कालेषु दीयमानान्यन्नानि अस्य यज्ञस्य [1]प्रातस्सवनादीनि त्रीणि भवन्ति । तस्मात्सर्वेषु कालेषु दातव्यमिति ॥ ६ ॥

अनु०—वह जो प्रातः, मध्याह्न तथा सायंकाल भोजन देता है वह (इस प्राजापत्य यज्ञ का) तीन सवन होता है ॥ ६ ॥

यदनुतिष्ठत्युदवस्यत्येव तत् ॥ ७ ॥

यत् गन्तुमुत्तिष्ठन्तमतिथिमनूत्तिष्ठति तदुदवस्यत्येव[2] उदवसानीया साऽस्य यज्ञस्येति । प्रायेणोच्छब्दं न पठन्ति । केवलमनुशब्दमेव पठन्ति । तत्राप्यर्थः स एव ॥ ७ ॥

अनु०—जो जाने के लिए उठे हुए अतिथि के पीछे उठता है वह उदवसनीया इष्टि का प्रतीक है ॥ ७ ॥

यत्सान्त्वयति सा दक्षिणा प्रशंसा ॥ ८ ॥

अनु सान्त्वयति प्रशंसति सा प्रशंसा दक्षिणा ॥ ८ ॥

अनु०—अतिथि से मधुर भाषण करना ही (यज्ञ को) दक्षिणा है ॥ ८ ॥

यत्संसाधयति ते [3]विष्णुक्रमाः ॥ ९ ॥

संसाधनमनुव्रजनम् ॥ ९ ॥

अनु०—जब वह प्रस्थान करते हुए अतिथि के पीछे चलता है तब उसके पग विष्णुक्रम ही होते हैं ॥ ९ ॥

यदुपावर्तते [4]सोऽवभृथः ॥ १० ॥

---

१. सवनपदार्थः १. २५. १४. (पृ० १४७) सूत्रे टिप्पण्यां विवृतः

२. उदवसानीया नाम यज्ञसमाप्तौ क्रियमाणेष्टिः । उदवसाय क्रियते इत्युदवसानीया

३. दर्शपूर्णमासयोर्यजमानकर्तव्यतया विहिताः (आप० श्रौ० ४. १४. ६.) पदप्रक्षेपाः

४. 'वारुणेनैककपालेनावभृथमवयन्ति' इति विहितस्सोमयागस्यान्ते क्रियमाणस्तदङ्गभूत इष्टिविशेषोऽवभृथः

उपावर्तनं अनुव्रज्य प्रत्यावर्तनम् ॥ १० ॥

अनु०—जब वह अतिथि को पहुँचाकर लौटता है तब वह यज्ञ के अन्त में किया जाने वाला अवभृथ स्नान ही होता है ॥१०॥

इति ब्राह्मणम् ॥ ११ ॥

इति ब्राह्मणमित्यस्य सर्वेण सम्बन्धः ॥ ११ ॥

अनु०—इस प्रकार एक ब्राह्मण अतिथि का सत्कार करे (क्षत्रिय, क्षत्रिय अतिथि का तथा वैश्य, वैश्य अतिथि का सत्कार करे) ॥ ११ ॥

राजानं चेदतिथिरभ्यागच्छेच्छ्रेयसीमस्मै पूजामात्मनः कारयेत् ॥१२॥

'राजा अभिषिक्तः क्षत्रियः। सोऽतिथयेऽभ्यागताय आत्मनोऽपि सकाशात् श्रेयसीं पूजां कारयेत् पुरोहितेन ॥ १२ ॥

अनु०—यदि कोई अतिथि राजा के समीप आवे तो राजा अपनी अपेक्षा उसके लिए अधिक पूजा करवाये ॥ १२ ॥

आहिताग्निं चेदतिथिरभ्यागच्छेत्स्वयमेनमभ्युदेत्य ब्रूयात्—व्रात्य क्वाऽवात्सीरिति, व्रात्योदकमिति, व्रात्य तर्पयंस्त्विति ॥ १३ ॥

यद्याहिताग्निमुद्दिश्यातिथिरागच्छेत्, तत एनमतिथिं स्वयमेवाभिमुख उपसर्पेत् अत्र स्वयमिति वचनादनाहिताग्निरन्येन शिष्यादिना कारयन्नपि न दुष्यति। तमभ्युदेत्य ब्रूयात्—व्रात्य क्वावात्सीरिति कुशलप्रश्नः। व्रते साधुर्व्रात्यः स एव व्रात्य इति पूजनाभिधानम्। क्व पूर्वस्यां रात्र्यामुषितवानसीति। 'व्रात्योदक' मित्युदकदानम्। 'व्रात्य तर्पयंस्त्वि'ति गोरसादिभिस्तर्पणम्। अनुस्वारसकारौ छान्दसौ। क्रियाभेदात्प्रतिमन्त्रमितिशब्दः। एतत्सर्वेषु कालेषु कर्तव्यम् ॥ १३ ॥

अनु०—यदि किसी अग्निहोत्री के यहाँ अतिथि आवे तो वह स्वयं उसकी अगवानी करे, और कहे। हे व्रात्य (अपने व्रत का पालन करने वाले), (पिछली रात्रि) तुमने कहाँ निवास किया? फिर 'हे व्रात्य, यह उदक है, व्रात्य, तृप्त होइए' ऐसा कहकर जल, दूध, रस आदि प्रदान करे ॥ १३ ॥

पुराऽग्निहोत्रस्य होमादुपांशु जपेत्—व्रात्य यथा ते मनस्तथाऽस्त्विति, व्रात्य यथा ते वशस्तथाऽस्त्विति, व्रात्य यथा ते प्रियं तथाऽस्त्विति, व्रात्य यथा ते निकामस्तथाऽस्त्विति ॥ १४ ॥

स यदि होमकालेऽप्यासीत, तदा पुरा होमादपरेणाग्निं दर्भेषु सादयित्वा

---

१. राजेत्येतानभिषिक्तानाचक्षते इत्यैतरेयब्राह्मणम्। ऐ० ब्रा० ८. १४. ६

व्रात्य तथा ते मन' इत्यादिमन्त्रानुपांशु जपेत् ब्रूयात्। तत्र प्रतिमन्त्रमितिशब्द-प्रयोगादर्थभेदाच्चतुर्णां विकल्पः। समुच्चय इत्यन्ये। अत्र चाऽध्वर्युर्युजमानो वा यो[1]होता स जयेत्। ततो जुहुयात्॥ १४॥

अनु०—(यदि अतिथि अग्निहोत्र होम के समय भी उपस्थित हो तो) तो अग्निहोत्र होम करने से पहले उसे अग्नि के उत्तर में बैठाकर इस प्रकार जप करे—व्रात्य, वैसा ही हो जैसा तुम्हारा मन चाहता है, हे व्रात्य, वैसा ही हो जैसी तुम्हारी इच्छा है, हे व्रात्य, वैसा ही हो, जैसा तुम्हारे प्रिय है, हे व्रात्य, यह पूर्णतः तुम्हारी इच्छा के अनुरूप होवे॥ १४॥

यस्योद्धृतेष्वहुतेष्वग्निष्वतिथिरभ्यागच्छेत्स्वयमेनमभ्युदेत्य ब्रूयात्—व्रात्याऽतिसृज होष्यामीत्यतिसृष्टेन होतव्यमनतिसृष्टश्चेज्जुहुयाद्दोषं ब्राह्मणमाह॥ १५॥

उद्धृतेष्विति बहुवचनं सभ्यावसथ्यापक्षेम्। यस्य तु त्रयोऽग्नयः, तस्यापि। अहुतेष्वित्यनेन सामानाधिकरण्यात् होमोऽपि त्रिष्वपि भवति। तेनाऽऽहवनीयहोमानन्तरमतिथावागतेऽपि त्रिषु होमो न कृत इति वक्ष्यमाणो विधिर्भवत्येव कः पुनरसौ? स्वयमेनमभ्युदेत्य ब्रूयात्। व्रात्याऽतिसृज, अनुजानीहि होष्यामीति। ततो जुहुधीत्यतिसृजेत्। अति सृष्टेन होतव्यम्। यदि पुनरनतिसृष्टोऽननुज्ञातो जुहुयात्, तस्य दोषमाथर्वणिकानां ब्राह्मणवाक्यमाह। [2]तदत्र न पठितं तत्र प्रत्येतव्यम्। अत्र पक्षे स्वयं होमो नियतः॥ १५॥

अनु०—यदि अतिथि उस समय आवे जब अग्नियाँ रख तो दी गई हो किन्तु उनमें हवन न किया गया हो, तो अग्निहोत्री स्वयं अतिथि की अगवानी करे और कहे, व्रात्य, मुझे आज्ञा दीजिए, मैं हवन करना चाहता हूं, तब अतिथि की आज्ञा प्राप्त कर हवन करे। यदि वह बिना आज्ञा लिए हवन करता है तो दोष होता है ऐसा एक ब्राह्मण ग्रन्थ का वचन है॥ १५॥

एकरात्रं चेदतिथीन्वासयेत्पार्थिवाँल्लोकानभिजयति द्वितीययाऽऽन्तरिक्ष्यांस्तृतीयया दिव्यांश्चतुर्थ्या परावतो लोकानपरिमिताभिरपरिमिताँल्लोकानभिजयतीति विज्ञायते॥ १६॥

य एकां[3]रात्रिमतिथीन् गृहे वासयति, स पृथिव्यां भवान् लोकानभिजयति। द्वितीयया रात्र्या आन्तरिक्ष्यान्। तृतीयया दिव्यान्। चतुर्थ्या परावतः सुखस्य

---

१. अग्निहोत्रहवनकर्ता होता

२. नास्तीदं वाक्यं घ० पस्तके   ३. एकरात्रं इति घ मु

परा मात्रा येषु लोकेषु तानभिजयति । अपरिमिताभीरात्रिभिरपरिमितान् लोकानिति विज्ञायते ब्राह्मणं भवति ॥ १६ ॥

अनु०—जो व्यक्ति अतिथि एक रात्रि अपने घर में ठहराता है वह पृथ्वी के सुखों को प्राप्त करता है, जो दूसरी रात्रि ठहराता है वह अन्तरिक्ष लोकों को जीतता है, तीसरी रात्रि ठहराने वाला स्वर्गीय लोकों को प्राप्त करता है और चौथी रात्रि ठहराने वाला असीम आनन्द का लोक जीत लेता है अनेक रात्रियों तक अतिथि को ठहराने से असीम सुखों की प्राप्ति होती ऐसा (वेद में) कहा गया है ॥ १६ ॥

असमुदेतश्चेदतिथिब्रुंवाण आगच्छेदासनमुदकमन्नं श्रोत्रियाय ददामीत्येव दद्यादेवमस्य समृद्धं भवति ॥ १७ ॥

विद्यादिभीरहितोऽसमुदेतः । स चेदतिथिरिति ब्रुवाण आगच्छेत्तदा तस्मै आसनादिकं श्रोत्रियायैव ददामीत्येवं मनसि कृत्वा दद्यात् । एवं ददतोऽस्य तद्दानं समृद्धं भवति श्रोत्रियायैव दत्तं भवति ॥ १७ ॥

इति द्वितीयप्रश्ने सप्तमी कण्डिका ॥ ७ ॥

अनु०—यदि कोई विद्याविहीन व्यक्ति अतिथि कहलाने का ढोंग करता हुआ आता है, तो श्रोत्रिय के लिए आसन, जल और अन्न देता हूँ ऐसा संकल्प करते हुए ये वस्तुएँ प्रदान करें । इस प्रकार उसके दान का पुण्य अधिक बढ़ जाता है, जैसे कि वे वस्तुएँ किसी वेद के विद्वान् श्रोत्रिय को ही अर्पित की गई हों ॥ १७ ॥

इत्यापस्तम्बधर्मसूत्रवृत्तौ हरदत्तमिश्रविचितायामुज्ज्वलायां द्वितीयप्रश्ने तृतीयः पटलः ॥ ३ ॥

अथ चतुर्थः पटलः

येन कृतावसथः स्यादतिथिर्न तं प्रत्युत्तिष्ठेत्प्रत्यवरोहेद्वा पुरस्ताच्चेदभिवादितः ॥ १ ॥

येन गृहस्थेनाऽतिथिः कृतावसथःस्यात् [1]कृतावासः दत्तावासः स्यात्। द्वितीययान्तरिक्ष्यानित्यादिवचनात् द्वितीयादिष्वहस्सु तं प्रति न प्रत्युत्तिष्ठेत्। नाऽप्यासनात् प्रत्यवरोहेत्। स चेत्तस्मिन्नहनि पूर्वमेवाभिवादितः। अनभिवादिते तु अभिवादनार्थं प्रत्युत्तिष्ठेत्, प्रत्यवरोहेच्च ॥ १ ॥

अनु०—(जब अतिथि एक से अधिक दिन ठहरे तो) जिस गृहस्थ ने अतिथि को ठहराया हो उसने यदि प्रथम दिन अतिथि का अभिवादन कर लिया हो तो दूसरे दिन या उसके बाद के दिन उस अतिथि का अभिवादन करने के लिए अपने आसन से न तो उठे और न उतरे ॥ १ ॥

शेषभोज्यतिथीनां स्यात् ॥ २ ॥

'अतिथीनेवाग्रे भोजये'(२.३.११.) दित्येव सिद्धे वचनमिदं प्रमादाद्यन्न दत्तमतिथये, तन्न भुञ्जीतेत्येवमर्थम् ॥ २ ॥

अनु०—अतिथियों को भोजन कराने के बाद ही भोजन करे ॥ २ ॥

न रसान् गृहे भुञ्जीताऽनवशेषमतिथिभ्यः ॥ ३ ॥

आगामिभ्योऽतिथिभ्यो यथा न किञ्चित् गृहेऽवशिष्यते, तथा गव्यादयो रसा न भोज्याः। सद्यस्सम्पादयितुमशक्यत्वाद्रसानाम् ॥ ३ ॥

अनु०—घर में रखे हुए दूध आदि रसवाले पदार्थों को पूरी तरह न समाप्त कर डाले जिससे अतिथि के लिए कुछ शेष न रह जाय (अपितु अतिथि के आने की सम्भावना करके ऐसी वस्तुएँ घर में बचाकर रखना चाहिए ॥ ३ ॥

नाऽऽत्मार्थमभिरूपमन्नं पाचयेत् ॥ ४ ॥

आत्मानमुद्दिश्याऽभिरूपमन्नं स्वाद्वपूपादि न पाचयेत् ॥ ४ ॥

अनु०—केवल अपने खाने के लिए स्वादुयुक्त पकवान न बनवाये ॥ ४ ॥

गोमधुपर्कार्हो वेदाध्यायः ॥ ५ ॥

साङ्गस्य वेदस्याऽध्येता वेदाध्यायः। सोऽतिथिर्मधुपर्कमर्हति; गां च दक्षिणाम् ॥ ५ ॥

---

१. कृतवासः दत्तवासः इति क पु०

अनु०—अङ्गों सहित सम्पूर्ण वेद का अध्येता अतिथि गौ की दक्षिणा तथा मधुपर्क प्राप्त करने का अधिकारी होता है ॥५॥

आचार्य ऋत्विक्स्नातको राजा वा धर्मयुक्तः ॥ ६ ॥

अवेदाध्याया अप्याचार्यादयो गोमधुपर्कार्हाः । अत एव ज्ञायते—एकदेशाध्यायिनावप्यृत्विगाचार्यौ भवत इति । धर्मयुक्त इति राज्ञो विशेषणम् । वाशब्दः समुच्चये ॥ ६ ॥

अनु०—इसी प्रकार आचार्य, ऋत्विक्, स्नातक और धर्म का आचरण करने वाला राजा गो की दक्षिणा और मधुपर्क के अधिकारी होते हैं ॥ ६ ॥

आचार्यार्त्विजे श्वशुराय राज्ञ इति परिसंवत्सरादुपतिष्ठद्भ्यो गौर्मधुपर्कश्च ॥ ७ ॥

[1]एतत् गृह्ये व्याख्यातम् । गौरत्र दक्षिणाऽधिका विधीयते ॥ ७ ॥

अनु०—आचार्य, ऋत्विज्, श्वशुर, राजा के लिए उनके एक वर्ष के अन्तर पर आने पर गौ तथा मधुपर्क अर्पित किया जाता है ॥ ७ ॥

कोऽसौ मधुपर्क इत्यत आह—

दधिमधुसंसृष्टं मधुपर्कः पयो वा मधुसंसृष्टम् ॥ ८ ॥

[2]गृह्योक्तस्याऽनुवादोऽयमुत्तरविवक्षया ॥ ८ ॥

अनु०—मधुपर्क मधुमिश्रित दधि का हो अथवा मधु से युक्त दूध का हो ॥८॥

अभाव उदकम् ॥ ९ ॥

दधिपयसोरलाभ उदकमपि देयम् । मधुसंसृष्टमित्येके । नेत्यन्ये, पूर्वत्र पुनर्मधुसंसृष्टग्रहणादिति ॥ ९ ॥

अनु०—इन वस्तुओं का अभाव होने पर जल का भी मधुपर्क दिया जा सकता है (कुछ आचार्यों के अनुसार जल भी मधु से युक्त होना चाहिए) ॥ ९ ॥

वेदाध्याय इत्यत्र विवक्षितं वेदमाह—

षडङ्गो वेदः ॥ १० ॥

षड्भिरङ्गैर्युक्तोऽत्र वेदो गृह्यत इति ॥ १० ॥

अनु०—वेद छः अङ्गों से युक्त है ॥ १० ॥

कानि तान्यङ्गानीत्यत आह—

छन्दःकल्पो व्याकरणं ज्योतिषं निरुक्तं शीक्षा छन्दोविचितिरिति॥११॥

---

१. आप० गृ० १३. १९

२. 'दधिमध्विति संसृज्य—त्रिवृतमेके घृतं च । पाङ्क्तमेके धानाःसक्तूंश्च'' इति गृह्ये उक्तम्

छन्दो वेदः। तत्कल्पयति प्रतिशाखं शाखान्तराधीतेन न्यायप्राप्तेन चाऽङ्गकलापेनोपेतस्य कर्मणः प्रयोगकल्पनयोपस्कुरुत इति छन्दः-कल्पः कल्पसूत्राणि। व्याकरण अर्थविशेषमाश्रित्य पदमन्वाचक्षाणं पदपदार्थप्रतिपादनेन वेदस्योप कारकं विद्यास्थानम्। सूर्यादीनि ज्योतींष्यधिकृत्य प्रवृत्तं शास्त्रं ज्योतिषम्। आदिवृद्ध्यभावे यत्नः कार्यः। तदप्यध्ययनोपयोगिनमनुष्ठानोपयोगिनं च कालविशेषं प्रतिपादयदुपकारकम्। निरुक्तमपि व्याकरणस्यैव कार्त्स्न्यम्। शीक्षा वर्णानां स्थानप्रयत्नादिकमध्ययनकाले कर्मणि च मन्त्राणामुच्चारणप्रकारं शिक्षयतीति। पृषोदरादित्वाद्दीर्घः। गायत्र्यादीनि छन्दांसि यया विचीयन्ते विविच्य ज्ञायन्ते, सा छन्दोविचितिः। एतान्यङ्गानि अङ्गसंस्तवादङ्गत्वम्।

'मुखं व्याकरणं तस्य ज्योतिषं नेत्रमुच्यते।
निरुक्तं श्रोत्रमुद्दिष्टं छन्दसां विचितिः पदे।
शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य हस्तौ कल्पान् प्रचक्षते॥ इति॥

उपकारकत्वाच्च ॥ ११ ॥

अनु०—(वेद के छः अङ्ग हैं): कल्प, व्याकरण, ज्योतिष, निरुक्त शिक्षा, तथा छन्दोविचिति।

टि०—शिक्षा में वर्णों के स्थान, प्रयत्न, उच्चारण काल का विचार किया जाता है। छन्दोविचिति में गायत्री आदि छन्दों का विवेचन किया जाता है ॥११॥

उक्त उपकारः, अत्र चोदयति—

शब्दार्थारम्भणानां तु कर्मणां समाम्नायसमाप्तौ वेदशब्दस्तत्र सङ्ख्या विप्रतिषिद्धा ॥ १२ ॥

शब्दार्थतया यान्यारभ्यन्ते न प्रत्यक्षादिप्रमाणगोचरतया, तानि शब्दार्थारम्भणानि कर्माणि वैदिकान्यग्निहोत्रादीनि। तेषां समाम्नाय उपदेशः। तस्य समाप्तौ स यावता ग्रन्थजातेन समाप्तोऽनुष्ठानपर्यन्तो भवति, तत्र वेदशब्दो वर्तते। वेदयति धर्मं विदन्त्यनेनेति वा धर्ममिति। न च मन्त्रब्राह्मणमात्रेणाऽनुष्ठानपर्यन्त उपदेशो भवति। किं तु कल्पसूत्रैरपि सह। ततश्च तेषामपि वेदस्वरूप एवानुप्रवेशात् पञ्चैवाऽङ्गानि। तत्र षट्संख्या विप्रतिषिद्धेति ॥ १२ ॥

अनु०—यदि प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों के द्वारा गोचर न होने वाले शब्द के अर्थ से गृहीत (अग्निहोत्र आदि) कर्मों का उपदेश जहाँ पूरा होता है उतने सम्पूर्ण ग्रन्थ समूह के लिए वेद शब्द का प्रयोग किया जाता है तब इस प्रकार (कल्पसूत्रों के वेद का ही अभिन्न अंश सिद्ध होने पर) वेद के अङ्गों की संख्या विप्रतिषिद्ध हो जायगी अर्थात् छः अङ्गों के स्थान पर केवल पाँच अंग ही होंगे ॥ १२ ॥

परिहरति—

अङ्गानां तु प्रधानैरव्यपदेश इति न्यायवित्समयः ॥ १३ ॥

अङ्गान्येव कल्पसूत्राणि न वेदस्वरूपाणि । पौरुषेयतया स्मरणात् । कतिपयान्येव हि तेषु ब्राह्मणवाक्यानि, भूयिष्ठानि । स्ववाक्यानि अङ्गानां च तेषां प्रधानवाचिभिश्शब्दैः छन्दो वेदो ब्राह्मणमित्यादिभिर्व्यपदेशो न न्याय्य इति न्यायविदां सिद्धान्तः । ताविमौ पूर्वपक्षसिद्धान्तौ [1]कल्पसूत्राधिकरणे स्पष्टं द्रष्टव्यौ । यत्तक्तं न मन्त्रब्राह्मणमात्रेण पूर्ण उपदेश इति । नैष स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यतीति, पुरुषापराधस्स भवति । इदं तु भवानाचष्टाम्—कल्पसूत्रकाराणामियं प्रयोगकल्पना कुतस्त्येति । न्यायोपबृंहिताभ्यां मन्त्रब्राह्मणाभ्यामिति वक्तव्यम् । नाऽन्या गतिः । एवं सति भवानपि यततां तादृशस्स्यामिति । ततो मन्त्रब्राह्मणाभ्यामेव पूर्णमवभोत्स्यत इति ॥ १३ ॥

अनु०—(इसका उत्तर यह है कि) कल्पसूत्र अङ्ग ही हैं वेदस्वरूप नहीं हैं और उनके लिए प्रमुख (वेद ब्राह्मण आदि) रचनाओं के नाम का व्यवहार नहीं होता, ऐसा मीमांसा के पण्डितों का सर्वसम्मत सिद्धान्त है ॥ १३ ॥

अतिथिं निराकृत्य यत्र गते भोजने स्मरेत्ततो विरम्योपोष्य ॥ १४ ॥

अतिथिमागतं केनचित्प्रकारेण निराकृत्य भोजने प्रवृत्तो यत्र गते यदवस्थाप्राप्ते भोजने स्मरेत्—धिङ्मया स निराकृत इति, तत्रैव भोजनाद्विरम्य तस्मिन्नहन्युपोष्य ॥ १४ ॥

अनु०—यदि भोजन करते समय उसे किसी अतिथि को विना सत्कार किये लौटा देने का स्मरण हो तो भोजन करना छोड़कर उपवास करे ॥ १४ ॥

इत्यापस्तम्बधर्मसूत्रे उज्वलोपेते द्वितीयप्रश्नेऽष्टमी कण्डिका ॥ ८ ॥

श्वो भूते यथामानसं तर्पयित्वा संसाधयेत् ॥ १ ॥

अपरेद्युस्तमन्विष्य यथामानसं यथेच्छं तर्पयित्वा संसाधयेत् गच्छन्तमनुव्रजेत् ॥ १ ॥

अनु०—दूसरे दिन उस अतिथि को ढूँढ कर इच्छानुसार उसे भोजन आदि से तृप्त करके उसके प्रस्थान करते समय उसके साथ जावे ॥ १ ॥

आ कुत इत्यत आह—

यानवन्तमा यानात् ॥ २ ॥

---

१. पू० मी० १. ३. ९. कल्पसूत्राणां बौधायनापस्तम्बादिप्रणीतानां यत्र साक्षाद्वेदत्वनिराकरणं क्रियते किन्तु वेदमूलत्वेनैव प्रामाण्यं स्थाप्यते । तत् कल्पसूत्राधिकरणम् ।

स चेदतिथिर्यानवान् भवति, तमा तस्याऽऽरोहणादनुव्रजेत् ॥ २ ॥

अनु०—यदि अतिथि के पास कोई यान हो तो जहाँ वह यान पर चढे उस स्थान तक पहुँचाने जाना चाहिए ॥ २ ॥

यावन्नाऽनुजानीयादितरः ॥ ३ ॥

इतरो यानरहितो यावन्नाऽनुजानीयात् गच्छेति, तं तावदनुव्रजेत् ॥ ३ ॥

अनु०—किसी दूसरे अतिथि के साथ उस समय तक चले जब तक वह अतिथि उसे वापस लौटने के लिए नहीं कहता ॥ ३ ॥

अप्रतीभायां सीम्नो निवर्तेत ॥ ४ ॥

यदि तस्याऽन्यपरतयाऽनुज्ञायां प्रतीभा बुद्धिर्न जायते, ततस्सीम्नि प्राप्तायां ततो निवर्तेत । प्रतेर्दीर्घश्छान्दस । 'संसाधये' दित्यादि सर्वातिथिसाधारणम् । न निराकृतमात्रविषयम् ॥ ४ ॥

अनु०—यदि अतिथि उसे लौटने के लिए कहने का ध्यान न रखें तो गाँव की सीमा तक पहुँचाकर लौटना चाहिए ॥ ४ ॥

सर्वान्वैश्वदेवे भागिनः कुर्वीता श्वचण्डालेभ्यः ॥ ५ ॥

वैश्वदेवान्ते भोजनार्थमुपस्थितान् सर्वानेव भागिनः कुर्वीताऽऽश्वचण्डालेभ्यः । अभिविधावाकारः । तेभ्योऽपि किञ्चिद्देयम् । तथा च मनुः—

"शुनां च पतितानां च श्वपचां पापरोगिणाम् ।
वयसां च क्रिमीणां च शनकैर्निर्वपेद्भुवि ॥ इति ॥ ५ ॥

अनु०—वैश्वदेव कर्म की समाप्ति पर जो भी अन्न की याचना करते हुए आवें उन्हें कुछ अंश प्रदान करे, कुत्तों और चाण्डालों के भी उपस्थित होने पर उन्हें भोजन अंश प्रदान करे ॥ ५ ॥

नाऽनर्हद्भ्यो दद्यादित्येके ॥ ६ ॥

अनर्हद्भ्यश्चण्डालादिभ्यो न दद्यादित्येके मन्यते । तत्र दानेऽभ्युदयः । अदाने न प्रत्यवायः ॥ ६ ॥

अनु०—कुछ आचार्यों का मत है कि (चाण्डाल आदि जैसे) अयोग्य पात्रों को कुछ भी न देवे ॥ ६ ॥

उपेतः स्त्रीणामनुपेतस्य चोच्छिष्टं वर्जयेत् ॥ ७ ॥

उपेतः कृतोपनयनोऽसमावृत्तः । स स्त्रीणामनुपेतस्य चोच्छिष्टं वर्जयेत् न भुञ्जीत । एवं सति समावृत्तस्योच्छिष्टं भुञ्जानस्य न दोषः स्यात् । एवं तर्हि उपेत आन्तात् कृतदारोऽकृतदाराश्च स्त्रीणामनुपेतस्य चोच्छिष्टं वर्जयेत् । इवमप्युपेतस्य

---

१. म० स्मृ० ३. ९२

यस्य कस्यचिदपि यदुच्छिष्टं तद्भोजने न दोषः स्यात्। पितुर्ज्येष्ठस्य च भ्रातुरुच्छिष्टं भोक्तव्यम्–(१. ४. ११) इत्येतन्नियमार्थं भविष्यति–पितुरेव भ्रातुरेवेति। यद्येवं सूत्रमेवेदमनर्थकम्। तस्मादेव नियमादन्यत्राऽप्रसङ्गात्। इदं तर्हि प्रयोजनम्–यदा पिताऽनुपेतः पुत्रस्तु प्रायश्चित्तं कृत्वा कृतोपनयनः तदा तं प्रति पितुरनुपेतस्योच्छिष्टं प्रतिषिध्यते। एवं ज्येष्ठेऽपि द्रष्टव्यम्। एतदपि नास्ति प्रयोजनम्। उक्तं हि 'धर्मविप्रतिपत्तावभोज्य (१. ४. १२) मिति। 'तेषामभ्यागमनं भोजनं विवाहमिति च वर्जये' (१. १. ३३) दिति च। तथा स्त्रीणामित्येतत् किमर्थम्? मातुरुच्छिष्टप्रतिषेधार्थम्। कथं प्रसङ्गः? 'भातरि पितर्याचार्यवच्छुश्रूषे' (१. १४. ५.) ति वचनात्, 'यदुच्छिष्टं प्राश्नाति हविरुच्छिष्टमेव त' (१. ४. १, २) दित्याचार्योच्छिष्टस्य हविष्ट्वेन संस्तवाच्च।[1] एवमपि 'पितुर्ज्येष्ठस्ये' त्यत्र पितुर्ग्रहणादेव सिद्धम्। तस्मात् केषु चिज्जनपदेषु भार्ययाऽनुपेतेन च सह भोजनमाचरन्ति। तथा च बौधायनः—[2]'यानि दक्षिणतस्तानि व्याख्यास्यामः। तथैतदनुपेतेन सह भोजनं स्त्रिया सह भोजन'मिति। तस्य दुराचारत्वमनेन प्रतिपाद्यते ॥ ७ ॥

अनु०—जिस व्यक्ति का उपनयन संस्कार हो चुका हो वह स्त्रियों का तथा अनुपेत (जिसका उपनयन न हुआ हो) व्यक्ति के जूठे भोजन को न खावे ॥ ७ ॥

सर्वाण्युदकपूर्वाणि दानानि ॥ ८ ॥

'सर्वाणी'ति वचनात् भिक्षाप्युदकपूर्वमेव देया ॥ ८ ॥

अनु०—सब प्रकार का दान देने से पहले जल गिराना चाहिए ॥ ८ ॥

यथाश्रुति विहारे ॥ ९ ॥

विहारे यज्ञकर्मणि यानि दानानि दक्षिणादीनि, तानि यथाश्रुत्येव। नोदकपूर्वाणि ॥ ९ ॥

अनु०—किन्तु यज्ञ कर्म के समय की दक्षिणा वेद में विहित नियम के अनुसार देनी चाहिए ॥ ९ ॥

ये नित्या भाक्तिकास्तेषामनुपरोधेन संविभागो विहितः ॥ १० ॥

ये नित्या भाक्तिकाः भक्तार्हाः कर्मकरादयः तेषामुपरोधो यथा न भवति तथा वैश्वदेवान्ते अभ्यागतेभ्यः संविभागः कर्तव्यः ॥ १० ॥

अनु०—भोजन का विभाग इस प्रकार करना चाहिए कि जो (दास आदि) प्रतिदिन भोजन करते हों वे वञ्चित न रह जाँय ॥ १० ॥

काममात्मानं भार्यां पुत्रं वोपरुन्ध्यान्न त्वेव दासकर्मकरम् ॥ ११ ॥

---

१. नैतदपि सारम्। 'पितुर्ज्येष्ठस्य च'इत्यत्रपितुर्ग्रहणादेव तस्या अप्रसक्तेः, इति० च० पु

२. बौ० ध० १. १. १८, १९

दासो भूत्वा यः कर्म करोति स दासकर्मकरः तं आत्माद्युपरोधे नापि नोप रुन्ध्यात्। किं पुनरागतार्थं तं नोंपरुन्ध्यादिति[1] ॥ ११ ॥

अनु०—इच्छानुसार स्वयं, पत्नी को या पुत्र के भोजन में उपरोध हो जाने दे, किन्तु सेवा कर्म करने वाले दास के भोजन में विघ्न न होने देना चाहिए ॥ ११ ॥

तथा चऽऽत्मनोऽनुपरोधं कुर्याद्यथा कर्मसु समर्थस्स्यात् ॥ १२ ॥

कर्मसु अग्निहोत्रादिषु आर्जनेषु च यथा स्वयं समर्थो भवति तथाऽऽत्मानं नोपरुन्ध्यात् कुटुम्बी ॥ १२ ॥

अनु०—अपने भोजन में भी इतना उपरोध नहीं करना चाहिए कि धार्मिक कर्म के सम्पादन में भी असमर्थ हो जाय ॥ १२ ॥

अथाऽप्युदाहरन्ति—

[2]'अष्टौ ग्रासा मुनेर्भक्ष्याः षोडशाऽरण्यवासिनः । द्वात्रिंशतं गृहस्थस्याऽपरिमितं ब्रह्मचारिणः ॥ आहिताग्निरनड्वांश्च ब्रह्मचारी च ते त्रयः । अश्नन्त एव सिध्यन्ति नैषां सिद्धिरनश्नता'मिति ॥

अथैतस्मिन्नात्मानं नोपरुन्ध्यादिति विषये [3]श्लोकावुदाहरन्ति । मुनेः सन्यासिनः । भक्ष्या अष्टौ ग्रासाः आस्याविकारेण। अरण्यवासी वानप्रस्थः । तस्य षोडश । द्वात्रिंशत् ग्रासाः गृहस्थस्य । प्रथमार्थे द्वितीया। ब्रह्मचारिणस्तु विद्यार्थस्य नैष्ठिकस्य च ग्रासनियमो नास्ति । द्वितीयेन श्लोकेनाहिताग्निविषये 'कालयोर्भोजन' (२. १. २.) मित्ययमपि नियमौ नास्तीति[4] प्रतिपाद्यते । अनडुद्ग्रहणं दृष्टान्तार्थम् । ब्रह्मचारिग्रहणं दृढार्थम् । सिध्यन्ति स्वकार्यक्षमा भवन्ति१३

इत्यापस्तम्बधर्मसूत्रे नवमी कण्डिका ॥

अनु०—(इस विषय में ये दो श्लोक भी उद्धृत किये जाते हैं) मुनि आठ ग्रास भोजन करे, वानप्रस्थ सोलह ग्रास भोजन करे, गृहस्थ बत्तीस ग्रास खावे और ब्रह्मचारी इच्छानुसार भोजन करे । अग्निहोत्री, बैल और ब्रह्मचारी ये तीनों ही भोजन करने पर ही अपना कार्य कर पाते हैं, अतएव बिना भोजन किए ये अपना कार्य नहीं कर पाते हैं ॥ १३ ॥

इत्यापस्तम्बधर्मसूत्रवृत्तौ हरदत्तविरचितायामुज्ज्वलायां
द्वितीयप्रश्ने चतुर्थः पटलः ॥ ४ ॥

---

१. 'अतस्तं केवलं कर्मकरं नोपरुन्ध्यात् इत्यधिकः पाठः क० पुस्तके ।

२. एतच्छ्लोकद्वयानन्तरं गृहस्थो ब्रह्मचारी वा योऽनश्नन् तुतपश्चरेत् । प्राणाग्निहोत्रलोपेन अवकीर्णी भवेत्तु सः । इत्यधिकसूत्रभागो घ० पुस्तके

३. श्लोकान् इति घ० पु

४. प्रतिपादयितुम् इति पु०क०

अथ पञ्चमः पटलः

भिक्षणे निमित्तमाचार्यो विवाहो यज्ञो मातापित्रोर्बुभूर्षाऽर्हतश्च नियम-विलोपः ॥ १ ॥

भिक्षणं याचनम् । तत्राऽऽचार्यादयो निमित्तम् । बुभूर्षा भर्तुमिच्छा । अर्हतो विद्यादिमतोऽग्निहोत्रादिनियमे योग्यस्याऽभावेन लोपः ॥ १ ॥

अनु०—भिक्षा माँगने के विहित निमित्त हैं । आचार्य के लिए दक्षिणा, विवाह, यज्ञ, माता तथा पिता के भरण-पोषण की इच्छा, तथा विद्या आदि से सम्पन्न योग्य व्यक्ति के नियम का अर्थ के अभाव में लोप होने की संभावना ॥ १ ॥

तत्र गुणान् समीक्ष्य यथाशक्ति देयम् ॥ २ ॥

तत्रैवंभूते भिक्षणे याचतः श्रुतवृत्तादिकान् गुणान् समीक्ष्य शक्त्यनुरूपमवश्यं देयम् । अदाने [1]प्रत्यवेयात् । गौतमस्तु निमित्तान्तरमप्याह—[2]'गुर्वर्थनिवेशौषधार्थवृत्तिक्षीणयक्ष्यमाणाध्ययनध्वंसयोगवैश्वजितेषु द्रव्यसंविभागो बहिर्वेदि । भिक्षमाणेषु कृतान्नमितरेष्वि'ति । [3]वैश्वजितो विश्वजिद्यागस्य कर्ता सर्वस्वदक्षिणः ॥ २ ॥

अनु०—याचक के गुणों के ऊपर भली प्रकार विचार करके अपनी शक्ति के अनुसार भिक्षा देनी चाहिए ॥ २ ॥

[4]इन्द्रियप्रीत्यर्थस्य तु भिक्षणमनिमित्तम् ॥ ३ ॥

इन्द्रियद्वारा आत्मनः प्रीतिरिन्द्रियप्रीतिः । तामर्थयमानो यो भिक्षते स्रक्चन्दनादि तन्मूल्यं वा । तद्भिक्षणं नियमेन दानस्य निमित्तं न भवति ॥ ३ ॥

अनु०—किन्तु अपनी इन्द्रियों को सुख के लिए भिक्षा माँगना अनुचित है ॥३॥

न तदाद्रियेत ॥ ४ ॥

तस्मात् न तदाद्रियेत् । अदानेऽपि न प्रत्ययवायः । विवाहोऽपि द्वितीयो न

---

१. प्रत्यवायात् इवि० क० घ० प् २. गौ० ५. २१, २२

३. 'विश्वजिताऽतिरात्रेण सर्वपृष्ठेन सर्वस्वदक्षिणेन यजेत' इत्यनेन विहितेन यागेनेष्ट्वा तत्र दत्तसर्वस्वदक्षिण इत्यर्थः

४. इदमुत्तरं च सूत्रमेकीकृतं च० पु० । इन्द्रियमनिमित्तम् ॥ ४ ॥ तस्मान्न तदाद्रियेत ॥ ५ ॥ इति तच्छन्दघटितं भिन्नसूत्रतया च पठितं क० पुस्तके

निमित्तं सत्यां प्रथमायां धर्मप्रजासम्पन्नायाम्। तदर्थमिदं वचनम्। अन्यत्र प्राप्त्यभावात्॥ ४॥

अनु०—इस प्रयोजन से भिक्षा मांगने वाले के ऊपर ध्यान नहीं देना चाहिए॥ ४॥

स्वकर्म ब्राह्मणस्याऽध्ययनमध्यापनं यज्ञो याजनं दानं प्रतिग्रहणं दायाद्यं सिलोञ्छः॥ ५॥

'सर्ववर्णानां स्वधर्मानुष्ठान (२.२.२) इत्युक्तम्। तेऽमी स्वधर्मा उच्यन्ते-पुत्राय दीयत इति दायः। तमादत्त इति दायादः। तस्य भावो दायाद्यम्, दायस्वीकारः। क्षेत्रादिषु पतितानि मञ्जरीभूतानि ततश्च्युतानि वा धान्यानि सिलशब्दस्याऽर्थः। तेषामुञ्छनमंगुलीभिर्नखैर्वाऽऽदानं सिलोञ्छः। एतान्यध्ययनादीन्यष्टौ ब्राह्मणस्य स्वकर्म। तेष्वध्ययनयज्ञदानानि द्विजातिसामान्येन कर्तव्यतया नियम्यन्ते। इतराण्यर्थितया द्रव्यार्जने प्रवृत्तस्योपायान्तरनिवृत्त्यर्थान्युपदिश्यन्ते-अध्यापनादिभिरेव द्रव्यमार्जयेन्न चौर्यादिभिरिति'[1]॥ ५॥

अनु०—ब्राह्मण के धर्मसम्मत कर्म ये हैं। अध्ययन, अध्यापन, यज्ञ करना तथा यज्ञ कराना, दान देना तथा दान लेना, धन को उत्तराधिकार तथा खेतों में अन्न के कणों को बीनना॥ ५॥

अन्यच्चाऽपरिगृहीतम्॥ ६॥

यच्चाऽन्यत् केनाप्यपरिगृहीतमारण्यमूलफलादि तेनापि। जीवेदिति प्रकरणात् गम्यते। एतेन निधिर्व्याख्यातः॥ ६॥

अनु०—उन अन्य वस्तुओं को भी जो किसी व्यक्ति की न होवे ग्रहण करके जीविका निर्वाह कर सकता है॥ ६॥

एतान्येव क्षत्रियस्याऽध्यापनयाजनप्रतिग्रहणानीति परिहाप्य दण्डयुद्धाधिकानि॥ ७॥

एतान्येव क्षत्रियस्याऽपि स्वकर्म। अध्यापनादीनि त्रीणि वर्जयित्वा। दण्डलब्धं युद्धलब्धं चाऽधिकम्॥ ७॥

अनु०—अध्यापन, यज्ञ कराना, दान ग्रहण करना इन तीन कर्मों को छोड़कर शेष ये ही कर्म क्षत्रिय के लिए भी विहित हैं किन्तु उसके दण्ड देना तथा युद्ध कराना अधिक कर्म होते हैं॥ ७॥

क्षत्रियवद्वैश्यस्य दण्डयुद्धवर्जं कृषिगोरक्ष्यवणिज्याऽधिकम्॥ ८॥

---

१. एतदादिसूत्रचतुष्टयोक्ता विषया मानवेषु (१.८७–९१) श्लोकेषु द्रष्टव्याः।

गोरक्ष्यं गवां रक्षणम्। भावे ण्यत्प्रत्ययः। वणिजो भावो वणिज्या क्रयविक्रयव्यवहारः, कुसीदं च। [1]"दूतवणिग्भ्यां चे"ति यत्प्रत्ययः ॥ ८ ॥

अनु०—वैश्य के धर्मविहित कर्म वे ही होते हैं जो क्षत्रिय के, केवल वैश्य के लिए दण्ड और युद्ध का कर्म वर्जित होता है तथा खेती, पशुपालन तथा व्यापार का कर्म अतिरिक्त होता है ॥ ८ ॥

नाऽनूचानमृत्विजं वृणीते न पणमाणम् ॥ ९ ॥

साङ्गस्य वेदस्याऽध्येता प्रवक्ता चाऽनूचानः। अतादृशमृत्विजं न वृणीते नऽप्येतावद्देयमिति परिभाषणम् ॥ ९ ॥

अनु०—किसी ऐसे व्यक्ति का ऋत्विज के रूप में वरण न करे जो वेदों के ज्ञान से सम्पन्न न हो और न ही कसी ऐसे व्यक्ति को ऋत्विज् बनावे जो दक्षिणा का लोभी हो। पहले ही दक्षिणा के विषय में माँग पेश करता हो ॥ ९ ॥

अयाज्योऽनधीयानः ॥ १० ॥

अनधीतवेदं न याजयेत् तदानीमपेक्षितं मन्त्रं यथाशक्ति वाचयन् ॥१०॥

अनु०—ऋत्विज् वेद का अध्ययन न करने वाले यजमान से यज्ञ का अनुष्ठान न करावे ॥ १० ॥

क्षत्रियस्य युद्धं स्वकर्मेत्युक्तम्। तत्कथं कर्तव्यमित्यत आह—

युद्धे तद्योगा यथोपायमुपदिशन्ति तथा प्रतिपत्तव्यम् ॥ ११ ॥

युद्धविषये तथा प्रतिपत्तव्यं यथा तद्योगा उपायमुपदिशन्ति तस्मिन्युद्धकर्मणि युद्धशास्त्रे वा येषामभियोगः ते तद्योगाः ॥ ११ ॥

अनु०—युद्ध में क्षत्रिय उस प्रकार आचरण करे जैसा युद्ध में निष्णात लोग उपदेश देते हैं ॥ ११ ॥

न्यस्तायुधप्रकीर्णकेशप्राञ्जलिपराङावृत्तानामार्या वधं परिचक्षते ॥ १२ ॥

न्यस्तायुधः त्यक्तायुधः। प्रकीर्णकेशः केशानपि नियन्तुमक्षमः। प्राञ्जलिः कृताञ्जलिः। पराङावृत्तः पराङ्मुखः। सर्व एते भीताः। एतेषां युद्धे वधमार्यास्सन्तो गर्हन्ते। परिगणनादन्येषां वधे न दोषः। तथा च गौतमः—[2]"न दोषो हिंसायामाहव' इति। न्यस्तायुधः प्रकीर्णकेशः इति विसर्जनीयं केचित्पठन्ति। सोऽपपाठः। पराङावृत्त इति ङकारश्छान्दसः ॥ १२ ॥

अनु०—जिन्होंने हथियार डाल दिये हों, जो अस्तव्यस्त केशों के साथ दोनों

---

१. कात्या. वा. ४३४ २. गौ० ध० १०. १९.

हाथ जोड़कर दया की भीख मांगते हां अथवा जो युद्धक्षेत्र से डरकर भाग रहे हों, उनके बध का आर्यों ने निषेध किया है ॥ १२ ॥

शास्त्रैरधिगतानामिन्द्रियदौर्बल्याद्विप्रतिपन्नानां शास्ता निर्वेषमुपदिशेद्यथाकर्म यथोक्तम् ॥ १३ ॥

यथाशास्त्रं गर्भाधानादिभिः संस्कारैः संस्कृताः शास्त्रैरधिगताः तेषामिन्द्रियदौर्बल्यात् अजितेन्द्रियतया विप्रतिपन्नानां स्वकर्मतश्च्युतानां निषिद्धेषु च प्रवृत्तानाम् । शास्ता शासिता आचार्यादिः । निर्वेषं प्रायश्चित्तमुपदिशेत् । यथाकर्म कर्मानुरूपम् । यथोक्तं धर्मशास्त्रेषु ॥ १३ ॥

अनु०—शास्त्रों के अनुसार संस्कार से किन्तु इन्द्रियों की दुर्बलता के कारण अपने कर्म से भ्रष्ट हो जाने वाले व्यक्तियों के लिए आचार्य आदि उपदेशक उनके कर्म के अनुसार तथा शास्त्र के विधान के आधार पर प्रायश्चित्त का निर्देश करें ॥ १३ ॥

तस्य चेच्छास्त्रमतिप्रवर्तरन् राजानं गमयेत् ॥ १४ ॥

तस्य चेच्छासितुः शास्त्रं शासनं अतिप्रवर्तेरन् न तत्र तिष्ठेयुः राजानं गमयेत्—एवमसौ करोतीति ॥ १४ ॥

अनु०—यदि ये व्यक्ति उपदेश देने वाले आचार्य के वचनों का पालन न करे तो उन्हें राजा के समीप पहुँचावे ॥ १४ ॥

राजा पुरोहितं धर्मार्थकुशलम् ॥ १५ ॥

स राजा धर्मशास्त्रेष्वर्थशास्त्रेषु कुशलं च पुरोहितं गमयेत्—विनीयतामसाविति ॥ १५ ॥

अनु०—राजा उन्हें अपने पुरोहित के समीप भेजे, जो धर्मों का अर्थ समझने में दक्ष हो ॥ १५ ॥

स ब्राह्मणान्नियुञ्ज्यात् ॥ १६ ॥

स पुरोहितः ब्राह्मणाश्चेदतिक्रमणकारिणः प्रापिताः तान्नियुञ्ज्यात् अनुरूपेषु प्रायश्चित्तेषु नियुञ्जीत ॥ १६ ॥

अनु०—यदि नियम का अतिक्रमण करने वाले ब्राह्मण हों, तो पुरोहित उनके लिए प्रायश्चित्त का निर्देश करे ॥ १६ ॥

अथ यदि ते तत्रापि न तिष्ठेयुः, तदा किं कर्तव्यमित्यत आह—

बलविशेषेण[1] वधदास्यवर्जं नियमैरुपशोषयेत् ॥ १७ ॥

---

१. अत्र विषये मानवौ ८ ३८०, ३८१ श्लोकौ द्रष्टव्यौ ।

ततस्तान्नियमैरुपवासादिभिरुपशोषयेत् । बलविशेषेण बलानुरूपम् । वधदास्यवर्जं वधस्ताडनादि, वधं दास्यं च वर्जयित्वा सर्वमन्यत् बन्धनादिकं बलानुरूपं कारयेत् यावत्ते मन्येरन् चरेम प्रायश्चित्तमिति ॥ १७ ॥

अनु०—फिर भी वे धर्म के मार्ग पर न आवें तो उनकी शक्ति के अनुसार उन्हें उपवास आदि नियमों से पीडित करे, किन्तु वध न करे और न दास का कर्म करावे ॥ १७ ॥

इत्यापस्तम्बधर्मसूत्र उज्ज्वलोपेते द्वितीयप्रश्ने दशमी कण्डिका ॥ १० ॥

एवं ब्राह्मणविषये उक्तम् । इतरेषामाह—

इतरेषां वर्णानामा प्राणविप्रयोगात् समवेक्ष्य तेषां कर्माणि राजा दण्डं प्रणयेत् ॥ १ ॥

इतरेषां ब्राह्मणव्यतिरिक्तानां वर्णानां राजा पुरोहितोक्तं दण्डं स्वयमेव प्रणयेत् तेषां कर्माणि समवेक्ष्य तदनुरूपमा प्राणविप्रयोगात् । अभिविधावाकारः ॥

अनु०—यदि अपराधी ब्राह्मण वर्ण के अतिरिक्त अन्य वर्ण का हो, तो राजा कर्म के अनुसार पुरोहित द्वारा बताया गया दण्ड स्वयं ही देवे और मृत्यु का दण्ड भी दे सकता है ॥ १ ॥

न च सन्देहे दण्डं कुर्यात् ॥ २ ॥

अपराधसन्देहे राजा दण्डं न कुर्यात् ॥ २ ॥

अनु०—किन्तु सन्देह होने पर राजा दण्ड न दे ॥ २ ॥

किन्तु-

सुविचितं विचित्या दैवप्रश्नेभ्यो राजा दण्डाय प्रतिपद्यत ॥ ३ ॥

आ दैवप्रश्नेभ्यः साक्षिप्रश्नादिभिः शपथान्तैः सुविचितं यथा भवति तथा विचित्य निरूप्य । राजा दण्डाय प्रतिपद्येत उपक्रमेत ॥ ३ ॥

अनु०— किन्तु साक्षियों के आधार पर, प्रश्न करके तथा शपथ दिलाकर राजा अपराध पर विचार कर दण्ड दे ॥ ३ ॥

एवं कुर्वतः फलमाह-

एवंवृत्तो राजोभौ लोकावभिजयति ॥ ४ ॥

एवंभूतं वृत्तं यस्य स एवंवृत्तः । अत्र मनुः[1]-

"अदण्ड्यान् दण्डयन् राजा दण्ड्यांश्चैवाप्यदण्डयन् ।
अयशो महदाप्नोति प्रेत्य[2] स्वर्गाच्च हीयते ॥' इति ॥ ४ ॥

---

१. म० स्मृ० ८. १२८ २. नरकं चैव गच्छति इति पाठः ।

अनु०— इस प्रकार कर्तव्य करने वाला राजा दोनों लोकों को प्राप्त करता है ॥४॥

गच्छतां प्रतिगच्छतां च पथि समवाये केन कस्मै पन्था देय इत्यत आह—

राज्ञः पन्था ब्राह्मणेनाऽसमेत्य ॥ ५ ॥

राजा अभिषिक्तः[१]। स यदि ब्राह्मणेन समेतो न भवति, तदा तस्य पन्था दातव्यः। क्षत्रियैरप्यनभिषिक्तैः एतदर्थमेव चेदं वचनम्। अन्यत्र 'वर्णज्यायसां चे' (२.११.८) ति वक्ष्यमाणेनैव सिद्धम् ॥ ५ ॥

अनु०—यदि ब्राह्मण मार्ग पर न आता हो तो वह मार्ग राजा का होता है (अर्थात् राजा केवल ब्राह्मण के लिए मार्ग छोड़ता है, दूसरे सभी राजा के उसी मार्ग पर आने पर उस मार्ग के किनारे हट जाते हैं ॥ ५ ॥

समेत्य तु ब्राह्मणस्यैव पन्थाः ॥ ६ ॥

आपदि शिष्यभूतब्राह्मणविषयमिदम्। शिष्यभूतेनाऽपि ब्राह्मणेन समेत्य तस्यैव राज्ञा पन्था देय इति ॥ ६ ॥

अनु०—किन्तु यदि मार्ग में ब्राह्मण आता हो तो वह मार्ग ब्राह्मण का ही होता है ॥ ६ ॥

[१]यानस्य भाराभिनिहितस्याऽऽतुरस्य स्त्रिया इति सर्वैर्दातव्यः[२] ॥ ७ ॥

यानं शकटादि। भाराभिनिहितो भाराक्रान्तः। आतुरो व्याधितः। स्त्रियाः यस्याः कस्याश्चिदपि। एतेभ्यस्सर्वैरेव वर्णैः पन्था दातव्यः। इतिशब्दात् स्थविरबालकृशादिभ्यश्च ॥ ७ ॥

अनु०— बोझवाले यान, रोगी, स्त्री के लिए (तथा वृद्ध, दुर्बल, बाल के लिए) सभी वर्णों के लोग रास्ता छोड दें ॥ ७ ॥

वर्णज्यायसां चेतरैर्वर्णैः ॥८ ॥

वर्णेनोत्कृष्टा वर्णज्यायांसः। तेषां चेतरैरपकृष्टैर्वर्णैर्ब्राह्मणैश्च दातव्यः ॥८॥

अनु०—दूसरे वर्णों के लोग अपने से श्रेष्ठ वर्ण के व्यक्ति के लिए मार्ग छोड़े ॥८॥

अशिष्टपतितमत्तोन्मत्तानामात्मस्वस्त्ययनार्थेन सर्वैरेव दातव्यः ॥ ९ ॥

अशिष्टो मूर्खः। अन्ये प्रसिद्धाः। एतेषां सर्वैरेवंजातीयैरुत्कृष्टैरपकृष्टैर्वर्णैर्ब्राह्मणैश्च। आत्मस्वस्त्ययनार्थेन स्वस्त्ययनमात्मत्राणम्। तेन प्रयोजनेन तदर्थम्,

---

१. रुद्धस्य भारा इति घ० पु०

२. अन्धस्य पन्था बधिरस्य पन्थाः स्त्रियः पन्था भारवहस्य पन्थाः। राज्ञः पन्था ब्राह्मणेनाऽसमेत्य समेत्य तु ब्राह्मणस्यैव पन्थाः ॥ इति महाभारते वनपर्वणि।

न त्वदृष्टार्थमिति। अत्र कौटिल्येन देयस्य पथः प्रमाणमुक्तम्—"पञ्चारत्नी रथपथश्चत्वारो हस्तिपथो द्वौ क्षुद्रपशुमनुष्याणा'मिति ॥ ९ ॥

अनु०—मूर्ख, पतित, शराबी, पागल के लिए अपने ही कुशल के हित सभी व्यक्ति मार्ग छोड़ दें ॥ ९ ॥

धर्मचर्यया जघन्यो वर्णः पूर्वं पूर्वं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ ॥ १० ॥

धर्मचर्यया स्वधर्मानुष्ठानेन जघन्यो वर्णः शूद्रादिः पूर्वं पूर्वं वर्णमापद्यते वैश्यादिकं प्राप्नोति। जातिपरिवृत्तौ जन्मनः परिवर्तने। शूद्रो वैश्यो जायते। तत्रापि स्वधर्मनिष्ठः क्षत्रियो जायते। तत्रापि स्वधर्मपरो ब्राह्मण इति। एवं क्षत्रियवैश्ययोरपि द्रष्टव्यम् ॥ १० ॥

अनु०—अपने धर्म का सतत पालन करने पर निम्न वर्ण के व्यक्ति (शूद्र आदि) उत्तरोत्तर अगले जन्मों में अपने वर्ण की अपेक्षा श्रेष्ठ वर्ण में जन्म प्राप्त करते हैं और इस प्रकार उनकी जाति का परिवर्तन होता है ॥१०॥

अधर्मचर्यया पूर्वो वर्णो जघन्यं जघन्यं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ ॥ ११ ॥

पूर्वेण गम्। महापातकव्यतिरिक्ताधर्मानुष्ठानविषयमेतत्। महापातकेषु 'स्तेनोऽभिशस्त' (२.२.६) इत्यादिना नीचजातिप्राप्तेरुक्तत्वात् ॥ ११ ॥

अनु०—अधर्म का आचरण करने पर श्रेष्ठ वर्ण के व्यक्ति अगले जन्म में उत्तरोत्तर अपने से हीन वर्ण में उत्पन्न होते हैं और इस प्रकार उनकी जाति का परिवर्तन होता है ॥११॥

धर्मप्रजासम्पन्ने दारे नाऽन्यां कुर्वीत ॥ १२ ॥

श्रौतेषु गार्ह्येषु स्मार्तेषु च कर्मसु श्रद्धा शक्तिश्च धर्मसम्पत्तिः। प्रजासम्पत्तिः पुत्रवत्त्वम्। एवंभूते दारे सति नान्याम्। 'दारे' इति प्रकृते अन्यामिति स्त्रीलिङ्गनिर्देशादत्रार्थाद्भार्यामिति गम्यते। नान्यां भार्यां कुर्वीत नोऽद्वहेत् ॥ १२ ॥

अनु०—यदि पत्नी (श्रौत, गृह्य, स्मार्त) धर्मों में श्रद्धा रखने वाली तथा पुत्र उत्पन्न करने में सक्षम हो तो दूसरा विवाह नहीं करना चाहिए ॥ १२ ॥

अन्यतराभावे कार्या प्रागग्न्याधेयात् ॥१३॥

धर्मप्रजयोरन्यतरस्याऽभावे कार्या उद्वाह्या। तत्रापि प्रागग्न्याधेयात् नोर्ध्वमाधानात्। एतदर्थमेवेदं वचनम्। उभयसम्पत्तौ न कार्येत्युक्ते अन्यतराभावे

१. कौ० अ० २.४-२२. 'पञ्चारत्नय' इति अर्थशास्त्रपुस्तकेषु मुद्रितेषु। परन्तु पञ्चारत्निः इत्येवाऽनुवादो ग्रन्थान्तरेष्वपि।

कार्येत्यस्यांशस्य प्राप्तत्वात्। यदा चाऽन्यतराभावे कार्या तदा का शङ्का उभया भावे कार्येति ॥ १३ ॥

अनु०—यदि पत्नी इन दोनों में किसी एक के सम्पादन में असमर्थ होवे, तो अग्निहोत्र की अग्नि प्रज्वलित करने से पहले ही वह दूसरी पत्नी ग्रहण करे ॥ १३ ॥

प्रागग्न्याधेयादित्यत्र हेतुः—

आधाने हि सती कर्मभिस्संबध्यते येषामेतदङ्गम् ॥ १४ ॥

हि यस्मात् आधाने सती विद्यमाना सहान्विता कर्मभिस्सम्बध्यते अधिक्रियते। कैः? येषामग्निहोत्रादीनामेत[1]दाधानमङ्गमुपकारकम्। तैः। अत्र 'दारे सती'ति वचनात् मृते तस्मिन्प्रागूर्ध्वं वाऽऽधानात् सत्यामपि पुत्रसम्पत्तौ धर्मसम्पत्त्यर्थं दारग्रहणं भवत्येव। तथा च मनुः—

[2]"भार्यायै पूर्वमारिण्यै दत्वाऽग्नीनन्त्यकर्मणि।
पुनर्दारक्रियां कुर्यात्पुनराधानमेव च ॥" इति।

याज्ञवल्क्योऽपि—

[3]'आहरेद्विधिवद्दारनग्नींश्चैवाऽविलम्बयन्।' इति।

न हि वाचनिकेऽर्थे युक्तयः क्रमन्ते। तेनैतन्न चोदनीयम्—यजमानः पूर्वमन्वारम्भणीयया संस्कृतो न तस्यायं संस्कारः पुनरापादयितुं शक्यः। या च भार्या आधानात्परमूढा सा च पूर्वमसंस्कृता, न तस्या दर्शपूर्णमासादिष्वधिकारः। स कथं तया तैर्यष्टुमर्हतीति। अन्वारम्भणीयाजन्यश्च संस्कारो यदि संयोगवदुभयनिष्ठः तदा भार्यानाशे नश्यतीति तस्य पुनस्संस्कारोऽपि नाऽनुपपन्नः। यानि च नाऽन्वारम्भणीयामपेक्षन्ते स्मार्तानि गार्ह्याणि च तैरधिकारस्तस्याऽप्यविरुद्धः।

ननु च प्रागग्न्याधानात् कर्मभिस्सम्बध्यते गार्ह्यैस्स्मार्तैश्च, तत्किमुच्यते आधाने हि सती कर्मभिस्सम्बध्यत इति? सत्यम्, अस्मादेव च हेतुनिर्देशादवसीयते—प्रागाधानात् सत्यामपि धर्मसम्पत्तौ प्रजासम्पत्तौ च रागान्धस्य कदाचिद्दारग्रहणे नाऽतीव दोष इति। अथ यस्याहिताग्नेर्भार्या सत्येव कर्मण्यश्र-

---

१. आधानस्याऽनारभ्याधीतत्वात् क्रत्वङ्गत्वाभावत्वस्य पूर्वतन्त्रे तृतीयाध्याये स्थापितत्वात् अत्राङ्गपदमुपकारकपरतया विवृणोति। सम्भवति हि स्वनिष्पाद्याहवनीयाद्यग्निसमर्पणद्वाराऽऽधानमग्निहोत्रादिक्रतूनामुपकारकम् ॥

२. म० स्मृ० ५. १६८

३. या० स्मृ० १. ८९ ( ) एतत्कुण्डलान्तर्गतो भागो नास्ति घ० ङ० पुस्तकयोः

इधाना अशक्ता वा भवति पुत्राश्च मृता अनुत्पन्ना वा तस्य कथम् ? । यद्येषा युक्तिः 'धर्मप्रजासम्पन्न' इति कर्मभिस्सम्बध्यत इति च, तदा कर्तव्यो विवाहः । (न च 'प्रागग्न्याधेया' दित्यस्य विरोधः । अन्यतराभावे कार्येत्यस्यैव स शेषः । न पुनरुभयाभावे कार्येत्यस्य । भारद्वाजसूत्रे तु यद्यप्यविशेषेणाऽहिताग्नेर्दारानुज्ञा प्रतीयते-"अथ यद्याहिताग्निः पुनर्दारक्रियां कुर्वीत यद्यग्नीन्नोत्सृजेत् लौकिकास्सम्पद्येरन् तस्य पुनरग्न्याधेयं कुर्वीतेत्याश्मरथ्यः, पुनराधनमित्यालेखनः, पुनरग्न्याधेयमित्यौडुलोमि,रिति । तथापि तस्याप्ययमेव विषयः) ॥ १४ ॥

अनु०--क्योंकि अग्निहोत्र की अग्नि के आधान के समय जो पत्नी रहती है वह उन धार्मिक कर्मों से संबद्ध हो जाती है जिनका अंग अग्निहोत्र अग्नि का आधान कर्म होता है ॥ १४ ॥

सगोत्राय दुहितरं न प्रयच्छेत् ॥ १५ ॥

कन्यागोत्रमेव गोत्रं यस्य(तस्मै कन्या न देया । यथा-हारीताय हारीतीं, वात्स्याय वात्सीमित्यादि ॥ १५ ॥

अनु०—अपने ही गोत्र वाले पुरुष से अपनी पुत्री का विवाह न करे ॥१५॥

मातुश्च योनिसम्बन्धेभ्यः ॥ १६ ॥

मातुर्योनिसम्बन्धाः कन्या मातुलादयः । चकारात् पितुरप्येवम् । तेभ्यः असगोत्रेभ्योऽपि न देया कन्या । अत्र मनुः—

[1] 'असपिण्डा च या मातुरसगोत्रा च या पितुः ।
सा प्रशस्ता द्विजातीनां [2]दारकर्मण्यमैथुनी ॥

व्यासः—

[3]'स्नात्वा समुद्वहेत्कन्यां सवर्णां लक्षणान्विताम् ।
यवीयसीं भ्रातृमतीमसगोत्रां प्रयत्नतः ॥
मातुस्सगोत्रामप्येके नेच्छन्त्युद्वाहकर्मणि ।
जन्मनाम्नोरविज्ञाने नोद्वहेदविशङ्कितः ॥
मातुस्सपिण्डा यत्नेन वर्जनीया द्विजातिभिः ॥ इति ।'

---

१. म ३ ५

२. दारकर्मण्यमैथुनी इत्येव मेधातिथ्यादिभिः पाठोऽङ्गीकृतः । कुल्लूकभट्टस्तु 'कर्मणि मैथुने' इति ।

३. एतदङ्काङ्कितानि वचनानि तेषु तेषु मुद्रितपुस्तकेषु नैवोपलभ्यन्ते ।

गौतमः—

[1]'असमानप्रवरैर्विवाहः। ऊर्ध्वं सप्तमात्पितृबन्धुभ्यो बीजिनश्च। मातृबन्धुभ्यः पञ्चमात्, इति। कात्यायनः—'प्रवर एषामविवाह इत्येतेषु प्रत्यध्यायमाहत्य वचनं येषामेव प्रवरः तेषामेवाऽविवाह' इति। कारिका च भवति—

रातीयानामविवाह एषामिति येषां सूत्रकृदब्रवीत्।
तेषामेव विवाहः स्यात् नान्येषामिति धारणे'ति॥

शङ्खः[2]—

'दारानाहरेत्सदृशानसमानार्षेयानसम्बन्धानासप्तमपञ्चमात्पितृमातृबन्धुभ्यः, इति।

वसिष्ठः—

[3]'गृहस्थो विनीतक्रोधहर्षो गुरुणाऽनुज्ञातः स्नात्वाऽसमानार्षेयामस्पृष्टमैथुनामवरवयसीं भ्रातृमतीं सदृशीं भार्यां विन्देत। पञ्चमीं मातृबन्धुभ्यः सप्तमीं पितृबन्धुभ्यः' इति।

हारीतः[4]—

'श्वित्री कुष्ठ्युदरी यक्ष्मामयाव्यल्पायुरनार्षेयम ब्रह्म समानार्षेयमित्येतान्य पतितान्यपि कुलानि वर्जनीयानि भवन्ति। कुलानुरूपाः प्रजा भवन्तीति। आदितष्षडयज्ञियत्वादनार्षेयम्। अवेदत्वादब्रह्म। एककुलत्वात् समानार्षेयमिति। तस्मात् सप्त पितृतः परीक्ष्य पञ्च मातृतोऽनग्निकां श्रेष्ठां भ्रातृमतीं भार्यां विन्देत।'

पैठीनसिः—असमानार्षेयां कन्यां वरयेत्। पञ्चमातृतःपरिहरेत्सप्त पितृतः त्रीन्मातृतः पञ्च पितृतो वा'।

याज्ञवल्क्यः—

[5]'अविप्लुतब्रह्मचर्यो लक्षण्यां स्त्रियमुद्वहेत्।
अनन्यपूर्विकां कान्तामसपिण्डां यवीयसीम्॥
अरोगिणीं भ्रातृमतीमसमानार्षगोत्रजाम्।
पञ्चमात्सप्तमादूर्ध्वं मातृतः पितृतस्तथा॥'

---

१. गौ० ध० ४. २—५. ३. व० ध० ८. १. २
२ ४
५. या० स्मृ० १. ५२,५३

विष्णुः—

[1]'असगोत्रामसमानप्रवरां भर्यां विन्देत मातृतः पञ्चमात् पितृतस्सप्तमात्

नारदः—

[2]'आसप्तमात्पञ्चमाच्च बन्धुभ्यः पितृमातृतः ।
अविवाह्यास्सगोत्रास्स्युस्समानप्रवरास्तथा ।'

शातातपः—

[3]'परिणीय सगोत्रां तु समानप्रवरां तथा ।
कृत्वा तस्यास्समुत्सर्गमतिकृच्छ्रो विशोधनम् ॥
मातुलस्य सुतामूढ्वा मातृगोत्रां तथैव च ।
समानप्रवरां चैव द्विजश्चान्द्रायणं चरेत् ॥'

मनुः—

[4]'पैतृष्वसेयीं भगिनीं स्वस्रीयां मातुरेव च ।
मातुश्च भ्रातुस्तनयां गत्वा चान्द्रायणं चरेत् ॥
एतास्तिस्रस्तु भार्यार्थे नोपयच्छेत्तु बुद्धिमान् ।
ज्ञातित्वेनाऽनुपेयास्ताः पतति ह्युपयन्नधः ॥'

बौधायनः—

[5] 'सगोत्रां चेदमत्योपयच्छेत मातृवदेनां बिभृयात्' । [6] 'सगोत्रां गत्वा चान्द्रायणमुपदिशेत् ॥ व्रते परिनिष्ठिते ब्राह्मणीं न त्यजेत् मातृवद्भगिनीवद्गर्भो न दुष्यतीति काश्यप इति विज्ञायते । अथ सान्निपात अविवाहः तदाध्यायं वर्जयेत् । बोधायनस्य तत्प्रमाणं कर्तव्यम् । मानव्यो हि प्रजा इति विज्ञायते इति ।

गोत्राणां तु सहस्राणि प्रयुतान्यर्बुदानि च ।
ऊनपञ्चाशदेवैषां प्रवरा ऋषिदर्शनात् ॥
एक एव ऋषिर्यावत् प्रवरेष्वनुवर्तते ।
तावत्समानगोत्रत्वमन्यद्भृग्वङ्गिरोगणात् ॥' इति ।

---

१. मुद्रितश्लोकात्मकविष्णुस्मृतौ नेदं वचनमुपलभ्यते परन्तु ग्रन्थान्तरेष्वस्या विष्णुस्मृतित्वमुक्तम् । २. नार० स्मृ० व्यवहा० १२. श्लो० ७

३. मुद्रितशातातपस्मृतौ लघुशातातपस्मृतौ वृद्धशातातपस्मृतौ वा नेदं वचनमुपलभ्यते ।

४. म० स्मृ० ११. १७१, १७२ ५. बौ० ध० २. १. ३७

६. महाप्रवरे समाप्तिसूत्रकाण्डे । बौ० सू० (प्रवर) १३. १५

सुमन्तुः—

'पितृपत्न्यस्सर्वा मातरस्तद्भ्रातरो मातुलाः तत्सुता मातुलसुतास्तस्मात्ता नोपयन्तव्या' इति ॥ १६ ॥

अनु०—अथवा ऐसे पुरुष को भी कन्या न प्रदान करे जो मातृ पक्ष से (छः पीढ़ी के भीतर) संबद्ध हो अथवा पिता के पक्ष से संबद्ध हो ॥ १६ ॥

टि०—हरदत्त ने अपनी व्याख्या में मनु, व्यास, गौतम, शङ्ख, वसिष्ठ, हारीत, पैठीनसि, याज्ञवल्क्य, विष्णु, नारद, शातातप, बौधायन और सुमन्तु के विचारों को उद्धृत किया है ॥१६॥

ब्राह्मे विवाहे बन्धुशीललक्षणसम्पन्नश्रुतारोग्याणि बुध्वा प्रजां सहत्वकर्मभ्यः प्रतिपादयेच्छक्तिविषयेणाऽलंकृत्य ॥ १७ ॥

ब्रह्मणा दृष्टो ब्राह्मः। तस्मिन् विवाहे वरस्य बन्ध्यादीन् बुध्वा परीक्ष्य प्रजां दुहितरं सहत्वकर्मभ्यः सहकर्तव्यानि यानि कर्माणि तेभ्यः, तानि कर्तुम्, प्रतिपादयेत् दद्यात्। शक्तिविषयेण विभक्तिप्रतिरूपोऽयं निपातो यथाशक्तीत्यस्यार्थे द्रष्टव्यः। यथाशक्त्यलंकृत्य दद्यादित्येष ब्राह्मो विवाहः। 'प्रजासहत्वकर्मभ्य' इति पाठे प्रजार्थं सहत्वकर्मार्थं चेति ॥ १७ ॥

अनु०—ब्राह्मविवाह में वर के कुल, आचरण, धर्म में आस्था, विद्या, स्वास्थ्य के विषय में जानकारी प्राप्त कर अपनी शक्ति के अनुसार कन्या को आभूषणों से अलंकृत कर प्रजा की उत्पत्ति तथा एक साथ धर्म कर्म करने के प्रयोजन से कन्या प्रदान करे ॥ १७ ॥

आर्षे दुहितृमते मिथुनौ गावौ देयौ ॥ १८ ॥

ऋषिभिर्दृष्टे विवाहे मिथुनौ गावौ स्त्रीगवो पुंगवश्च दुहितृमते देयौ। एष आर्षः ॥ १८ ॥

अनु०—आर्षविवाह में वर कन्या के पिता को दो गौ (गाय तथा बैल) प्रदान करे १८॥

दैवे यज्ञतन्त्र ऋत्विजे प्रतिपादयेत् ॥ १९ ॥

दैवैर्दृष्टे विवाहे यज्ञतन्त्रे वितते ऋत्विजे कर्म कुर्वते कन्यां दद्यात्। एष दैवो विवाहः ॥ १९ ॥

अनु०—दैव विवाह में पिता कन्या को किसी ऐसे ऋत्विज् को प्रदान करे जो श्रौतयज्ञ करा रहा हो ॥१९॥

---

१. सु० स्मृ०

मिथः कामात्सांवर्तेते स गान्धर्वः ॥ २० ॥

यत्र कन्यावरौ रहसि कामात् मिथः परस्परं रागात् सांवर्तेते मिथुनी भवतः स गान्धर्वो विवाहः । समो दीर्घः पूर्ववत् । अत्र संयोगोत्तरकालं विवाहसंस्कारः कर्तव्यः ॥ २० ॥

अनु०—जब कन्या और वर परस्पर प्रेम से संयोग करते हैं तो वह गान्धर्व विवाह होता है ॥२०॥

इत्यापस्तम्बधर्मसूत्रवृत्तौ द्वितीयप्रश्ने एकादशी कण्डिका ॥ ११ ॥

शक्तिविषयेण द्रव्याणि दत्त्वाऽऽवहेरन् स आसुरः ॥ १ ॥

यत्र विवाहे कन्यावते यथाशक्ति द्रव्याणि दत्त्वाऽऽवहेरन् कन्यां स आसुरः । [1]'वित्तेनाऽऽनतिस्त्रीमतामासुर' इति गौतमः । तेन कन्यायै गृहक्षेत्राभरणादिदानेन विवाहो नाऽऽसुरः ॥ १ ॥

अनु०—जब वर कन्या के लिए अपनी शक्ति के अनुसार धन प्रदान कर विवाह करे तो वह आसुर विवाह कहलाता है ॥ १ ॥

दुहितृमतः प्रोथयित्वाऽऽवहेरन् स राक्षसः ॥ २ ॥

दुहितृमतः कन्यावतः पित्रादीन् प्रोथयित्वा प्रमथ्य यत्राऽऽवहेरन् स राक्षसो विवाहः ।

[2]'हत्वा भित्त्वा च शीर्षाणि रुदतीं रुदद्भ्यो हरेत् स राक्षस' इत्याश्वलायनः । अत्रापि विवाहसंस्कारः कर्तव्यः । द्वौ चाऽपरौ विवाहौ शास्त्रान्तरेषूक्तौ । तत्राऽऽश्वलायनः—[3]'सह धर्मं चरतमिति प्राजापत्यः । सुप्तां प्रमत्तां वाऽपहरेत् स पैशाच' इति । ताविह पृथङ्नोक्तौ ब्राह्मराक्षसयोरन्तर्भावादिति ॥ २ ॥

अनु०—कन्या पक्ष वाले को परास्त करके यदि वर कन्या का अपहरण करे तो वह राक्षस विवाह कहलाता है ॥ २ ॥

तेषां त्रय आद्याः प्रशस्ताः पूर्वः पूर्वः श्रेयान् ॥ ३ ॥

तेषां विवाहानां मध्ये आद्यास्त्रयो ब्राह्मार्षदैवा प्रशस्ताः । तत्रापि पूर्वः पूर्वोऽतिशयेन प्रशस्त इति ॥ ३ ॥

अनु०—इनमें से आरम्भ के तीन प्रकार के विवाह (ब्राह्म, आर्ष, दैव) प्रशस्त होते हैं और उनमें भी पूर्ववर्ती अपने बाद वाले से अधिक प्रशस्त होता है । (दैव विवाह से आर्ष और आर्ष से भी ब्राह्म विवाह उत्तम होता है ।। ३ ॥

---

१. गौ ध ४ ११ २ आश्व ग १ ४ ३२ ३. आश्व० गृ० ४. २५

यथायुक्तो विवाहस्तथा युक्ता प्रजा भवति ॥ ४ ॥

प्रशस्ते विवाहे जाता प्रजाऽपि प्रशस्ता भवति। निन्दिते निन्दिता तत्र मनुः—

[1]ब्राह्मादिषु विवाहेषु चतुर्ष्वेवानुपूर्वशः।
ब्रह्मवर्चसिनः पुत्रा जायन्ते शिष्टसम्मताः॥
रूपसत्त्वगुणोपेता धनवन्तो यशस्विनः।
पर्याप्तभोगा धर्मिष्ठा जीवन्ति च शतं समाः॥
इतरेषु च शिष्टेषु नृशंसानृतवादिनः।
जायन्ते दुर्विवाहेषु ब्रह्मधर्मसमुज्झिताः॥

प्राजापत्येन सह ब्राह्माद्याश्चत्वारो ब्राह्मणस्य। गान्धर्वराक्षसौ क्षत्रियस्य। आसुरं तु वैश्यशूद्रयोः। पैशाचो न कस्यचिदपि ॥ ४ ॥

अनु०—सन्तान के गुण भी विवाह के गुण के अनुसार ही होते हैं ॥ ४ ॥

पाणिसमूढं ब्राह्मणस्य नाऽप्रोक्षितमभितिष्ठेत् ॥ ५ ॥

ब्राह्मणस्य पाणिना समूढमुपलिप्तं सम्मृष्टं वा भूप्रदेशमप्रोक्षितं ऽनाभितिष्ठेत् नाधितिष्ठेत्। प्रोक्ष्यैवाऽधितिष्ठेदिति ॥ ५ ॥

अनु०—ब्राह्मण के द्वारा हाथ से छुए गये स्थान पर जल छिड़के बिना न बैठे ॥ ५ ।

अग्निं ब्राह्मणं चाऽन्तरेण नाऽतिक्रामेत् ॥६॥

अग्नेर्ब्राह्मणस्य च मध्ये न गच्छेत् ॥ ६ ॥

अनु०—अग्नि और ब्राह्मण के बीच न जावे ॥ ६ ॥

ब्राह्मणांश्च ॥ ७ ॥

अन्तरेण नाऽतिक्रामेदित्येव। ब्राह्मणानां च मध्ये न गच्छेत् ॥ ७ ॥

अनु०—ब्राह्मणों के बीच से होकर न जावे ॥ ७ ॥

अनुज्ञाप्य वाऽतिक्रामेत् ॥ ८ ॥

स्पष्टम् ॥ ८ ॥

अनु०—किन्तु उनकी अनुमति प्राप्त करके उनके बीच से होकर जाया जा सकता है ॥ ८ ॥

अग्निमपश्च न युगपद्धारयीत ॥ ९ ॥

अग्निमुदकञ्च न युगपद्धारयेत् ॥ ९ ॥

---

१. म० स्मृ० ३. ३९-४१

अनु०—एक ही साथ अग्नि और जल लेकर न चले ॥ ९ ॥

नानाग्नीनां च सन्निपातं वर्जयेत् ॥ १० ॥

पृथगवस्थितानामग्नीनामकेत्र समावपनं वर्जयेत् न कुर्यात। अग्नावग्निं न प्रक्षिपेदित्यन्ये[1] ॥ १० ॥

अनु०—भिन्न-भिन्न स्थानों पर जलती हुई अग्नियों को एक स्थान पर इकट्ठा न करे ॥ १० ॥

प्रतिमुखमग्निमाह्रियमाणं नाऽप्रतिष्ठितं भूमौ प्रदक्षिणीकुर्यात् ॥ ११ ॥

यदाऽस्य गच्छतः प्रतिमुखमग्निराह्रियते तदा न तं प्रदक्षिणीकुर्यात् स चेद्भूमौ प्रतिष्ठितो न भवति। प्रतिष्ठिते त्वग्नौ दृष्टे प्रदक्षिणीकुर्यादिति ॥ ११ ॥

अनु०—जाते समय यदि आगे से अग्नि लाई जा रही हो, तो जब तक वह अग्नि भूमि पर न रख दी जाय तब तक उसको दाहिने हाथ की ओर करके न चले ॥ ११ ॥

पृष्ठतश्चाऽऽत्मनः पाणी न संश्लेषयेत् ॥ १२ ॥

स्वस्य पृष्ठभागे स्वपाणिद्वयं न संश्लेषयेन्न बध्नीयात् ॥ १२ ॥

अनु०—पीठ की ओर अपने दोनों हाथों को जोड़कर न रखे ॥ १२ ॥

स्वपन्नभिनिम्रुक्तो नाऽश्वान् वाग्यतो रात्रिमासीत श्वोभूत उदकमुपस्पृश्य वाचं विसृजेत् ॥ १५ ॥

[2]'सुप्ते यस्मिन्नस्तमेति सुप्ते यस्मिन्नुदेति च।
अंशुमानभिनिम्रुक्ताभ्युदितौ तौ यथाक्रमम् ॥'

स्वपन्नभिनिम्रुक्तो नाश्वानभुञ्जानस्तूष्णीं भूतो रात्रिं सर्वामासीत न शयीत। अथाऽपरेद्युः उदकमुपस्पृश्य प्रातः स्नात्वा वाचं विसृजेत्। अयमस्य निर्वेषः ॥

अनु०—यदि सोते रहने पर सूर्य अस्त हो जाय तो बिना भोजन किए हुए, मौन रहकर बैठे हुए ही रात्रि व्यतीत करे। दूसरे दिन स्नान करे और फिर स्नान कर बोले ॥ १३ ॥

स्वपन्नभ्युदितो नाश्वान्वाग्यतोऽहस्तिष्ठेत् ॥ १४ ॥

पूर्वेण गतम्। 'उदकमुपस्पृश्य वाचं विसृजेदिति चात्राऽपेक्ष्यते। तत्राऽस्तमिते स्नानप्रतिषेधात् सायमेव स्नात्वा वाचं विसृज्य सन्ध्यामुपासीत ॥ १४ ॥

---

१. एतदनन्तर विनावचनम्। आवापवचने सति कुर्यात्। इत्यधिकः पाठः घ० पु०

२. अमरको० ब्र० सुर्योदयकाले यः स्वपिति सोऽभ्युदितः। सूर्यास्तकाले यः स्वपिति सोऽभिनिम्रुक्तः।

अनु०—यदि सोते रहने पर ही सूर्योदय हो जाय तो उस दिन उपवास करते हुए मौन रहकर दिनभर खड़ा रहे ॥ १४ ॥

आतमितोः प्राणमायच्छेदित्येके ॥ १५ ॥

यावदङ्गानां ग्लानिर्भवति तावत्प्राणमायच्छेत् प्राणवायुमाकृष्य धारयेत्। प्राणायामं कुर्यादित्येके मन्यते। शक्त्यपेक्षो विकल्पः।

तत्र मनुः—

'सव्याहृतीं सप्रणवां गायत्रीं शिरसा सह।
त्रिः पठेदायतप्राणः प्राणायामस्स उच्यते ॥' इति।

एवमावर्तयेद्यावद्ग्लानिः ॥ १५ ॥

अनु०—कुछ आचार्यों का मत है कि उस समय तक प्राणायाम करे जब तक थकान न हो जाय ॥ १५ ॥

स्वप्नं वा पापकं दृष्ट्वा ॥ १६ ॥

पापकस्वप्नो दुस्स्वप्नः मर्कटास्कन्दनादिः तं च दृष्ट्वा ॥ १६ ॥

अनु०—बुरा स्वप्न देखने पर भी उस समय तक प्राणायाम करे जब तक अंग थक न जाय ॥ १६ ॥

अर्थं वा [२]सिसाधयिषन् ॥ १७ ॥

अर्थः प्रयोजनम्। तच्च दृष्टमदृष्टं वा साधयितुमिच्छन् ॥ १७ ॥

अनु०—अथवा किसी प्रयोजन को सिद्ध करने की इच्छा हो तब भी उस समय तक प्राणायाम करे जब तक क्लान्त न हो जाय ॥ १७ ॥

नियमातिक्रमे चाऽन्यस्मिन् ॥ १८ ॥

नियमानां 'उदङ्मुखो मूत्रं कुर्यादि' (१. ३१. १) त्येवमादीनामतिक्रमे च आतमितोः प्राणमायच्छेदिति सर्वत्र शेषः ॥ १८ ॥

अनु०—अथवा किसी अन्य नियम का अतिक्रमण करने परभी उस समय तक प्राणायाम करे जब तक वह थक न जाय ॥ १८ ॥

दोषफलसंशये न तत् कर्तव्यम् ॥ १९ ॥

यस्मिन् कर्मणि कृते पक्षे दोषः फलं सम्भाव्यते न तत् कुर्यात्, यथा सभये देशे एकाकिनो गमनमिति ॥ १९ ॥

---

१. सर्वेष्वादर्शपुस्तकेषु मनुवचनत्वेनैवोपन्यस्तमिदम्। न कुत्राऽपि तु मुद्रित मनुस्मृतिपुस्तकेषूपलभ्यते। बौधायनधर्मसूत्रे ४. १. २८ तूपलभ्यते।

२. सिसाधयिषुः, इति० घ० पु०

अनु०—यदि किसी कर्म के फल दोषपूर्ण होने की आशंका हो तो उस कर्म को नहीं करना चाहिए ॥ १९ ॥

एवमध्यायानध्याये ॥ २० ॥

संशय इत्युपसमस्तमप्यपेक्ष्यते। अध्यायोऽनध्याय इति संशयेऽप्येवं न तत् कर्तव्यमिति। 'सन्धावनुस्तनित' (१.९.२०) इत्युदाहरणम्। पूर्वस्यैवाऽयं प्रपञ्चः ॥ २० ॥

अनु०—यदि अध्ययन करने और न करने के विषय में शङ्का हो तो भी उसे नहीं करना चाहिए ॥ २० ॥

न संशये प्रत्यक्षवद्ब्रूयात् ॥ २१ ॥

संशयितमर्थमात्मनोऽज्ञानपरिहाराय प्रत्यक्षवत् निश्चितवन्न ब्रूयात ॥

अनु०—किसी संशय युक्त विषय को प्रत्यक्ष के समान स्पष्ट नहीं कहना चाहिए ॥ २१ ॥

अभिनिम्रुक्ताभ्युदितकुनखिश्यावदाग्रदिधिषुदिधिषूपतिपर्याहितपरीष्टपरिवित्तपरिविन्नपरिविविदानेषु चोत्तरोत्तरस्मिन्नशुचिकरनिर्वेषो गरीयान् गरीयान् ॥ २२ ॥

आद्यौ द्वौ गतौ। कुनखी कृष्णनखः। श्यावा दन्ता यस्य स श्यावदन् विवर्णदन्तः। "विभाषा श्यावारोकाभ्यामि[1]ति दत्रादेशः तस्य नलोपश्छान्दसः। ज्येष्ठायामनूढायां पूर्वं कनीयस्या वोढा अग्रदिधिषुः। पश्चादितरस्या वोढा दिधिषूपतिः। ज्येष्ठे अकृताधाने कृताधानः कनिष्ठः पर्याधाता। ज्येष्ठः पर्याहितः। ज्येष्ठे अकृतसोमयागे कृतसोमयागः कनिष्ठः परियष्टा। ज्येष्ठः परीष्टः। अकृतविवाहे ज्येष्ठे कृतविवाहः कनिष्ठः[2]परिवेत्तेति प्रसिद्धः। ज्येष्ठः[3]परिवित्तः। [4]ज्येष्ठस्य भार्यामुपयच्छमानः परिविन्नः। यस्मिन्नगृहीतभागे वा कनिष्ठो भागं गृह्णाति स ज्येष्ठः परिविन्नः। कनिष्ठः परिविविदानः। चकारः पर्याधातृप्रभृतीनां समुच्चयार्थः। एतेष्वभिनिम्रुक्तादिषु यो य उत्तरस्तस्मिंस्तस्मिन्द्वादशमासादिरशुचिकरनिर्वेषो यः पूर्वमुक्तः तत्र तत्र गरीयान्

---

१. पा० सू० ५. ४. ११४

२. सरिवित्त इति प्रसिद्धः इति० ख० ङ० च० पुस्तकेष्वपपाठः।

३. परिविर्त्तिः इति ख० च० पुस्तकयोः पाठः। अत्र बोधायनधर्मसूत्रव्याख्या २. १. ३. द्रष्टव्या।

४. ज्येष्ठे चागृहीतभागे कनिष्ठो भागं गृह्णाति स परिविविदानः। परिविन्न इतरा। इत्येव पाठो घ० पुस्तके।

भवति। पूर्वत्र पूर्वत्र लघीयान्। अभिनिम्रुक्ताभ्युदितयोरनन्तरोक्तं प्रायश्चित्त-द्वयमपि विकल्पेन भवति ॥ २२ ॥

अनु०—सूर्यास्त के समय सोने वाले, सूर्योदय के समय सोने वाले, काले नाखूनों वाले, काले दाँतों वाले, बड़ी बहन के अविवाहिता रहते छोटी बहन से विवाह करने वाले, किसी ऐसी स्त्री से जिसकी छोटी बहन पहले विवाहित हो, विवाह करने वाले, बड़े भाई के गृह्य अग्नि प्रज्वलित करने से पहले ही गृह्य अग्नि का आधान करने वाले छोटे भाई, ऐसे व्यक्ति का जिसके छोटे भ्राता ने पहले ही पवित्र गृह्य अग्नि का आधान किया हो, बड़े भाई के सोमयज्ञ करने से पहले ही सोमयज्ञ करने वाले, जिस व्यक्ति का छोटा भ्राता उससे पहले सोमयज्ञ कर चुका हो, जिस बड़े भाई को अपनी पैतृक सम्पत्ति का अंश अपने छोटे भाई के बाद मिला हो या जिसने छोटे भाई का विवाह हो जाने के बाद विवाह किया हो, जिस छोटे भाई ने अपने बड़े भाई के विवाह से पहले ही विवाह किया हो या बड़े भाई को पैतृक सम्पत्ति का अंश मिलने से पहले ही अपना अंश प्राप्त किया हो—इन सभी व्यक्तियों के लिए वे ही प्रायश्चित्त हों जो अपवित्रता के लिए किए जाते हैं और क्रमशः दोषों के लिए उत्तरोत्तर कठिन प्रायश्चित्त करना चाहिए ॥ २२ ॥

तच्च लिङ्गं चरित्वोद्धार्यमित्येके ॥ २३ ॥

यस्मिन् कौनख्यादिके लिङ्गे यत् प्रायश्चित्तमुक्तं तच्चरित्वा तत् कौनख्या-दिकं लिङ्गमुद्धरेदित्येके मन्यन्ते। अन्यत्राऽहिताग्निभ्य इति स्मृत्यन्तरम् ॥

इत्यापस्तम्बधर्मसूत्रे द्वितीयप्रश्ने द्वादशी कण्डिका ॥ १२ ॥

अनु०—कुछ लोगों का मत है कि प्रायश्चित्त कर लेने के बाद प्रायश्चित्त के कारण को दूर कर देना चाहिए ॥ २३ ॥

इति चापस्तम्बधर्मसूत्रवृत्तौ हरदत्तमिश्रविरचितायामुज्ज्वलायां
द्वितीयप्रश्ने पञ्चमः पटलः ॥ ५ ॥

अथ षष्ठ· पटलः

सवर्णापूर्वशास्त्रविहितायां यथर्तु गच्छतः पुत्रास्तेषां कर्मभिस्सम्बन्धः ॥ १ ॥

सवर्णा चाऽसावपूर्वा च शास्त्रविहिता चेति कर्मधारयः। सवर्णा सजातीया, ब्राह्मणस्य ब्राह्मणीत्यादि। अपूर्वा। अनन्यपूर्वा अन्यस्मा अदत्ता, न विद्यते पूर्वः पतिरस्या इति। शास्त्रविहिता शास्त्रोक्तेन विवाहसंस्कारेण संस्कृता 'सगोत्राय दुहितरं न प्रयच्छे (२. ११. १५) दित्यादिशास्त्रानुगुणा वा। एवम्भूतायां भार्यायां यथर्तु गृह्योक्तेन ऋतुगमनकल्पेन गच्छतो ये पुत्रा जायन्ते तेषां 'स्वकर्म ब्राह्मणस्ये' (२.१०.४) त्यादिना पूर्वमुक्तैः कर्मभिस्सम्बन्धो भवति। (गच्छथ इति थकारोऽपपाठः) ॥ १ ॥

अनु०—समान वर्ण वाली जो स्त्री पहले किसी अन्य पुरुष के अधीन उसकी पत्नी के रूप में न रही हो तथा शास्त्रोक्त विधि से जिसका विवाह किया गया हो (अथवा जिसमें शास्त्रोक्त सभी गुण विद्यमान हों) उसका ऋतुकाल के नियम के अनुसार अभिगमन करने वाले पुरुष के पुत्रों को ही (अपने वर्ण के लिए विहित) कर्म करने का अधिकार है ॥ १ ॥

दायेन चाऽव्यतिक्रमश्चोभयोः ॥ २ ॥

उभयोर्मातापित्रोर्दायेन च तेषां सम्बन्धो भवति अव्यतिक्रमश्च। च इति चेदर्थे। अव्यतिक्रमश्चेत्, यदि ते मातरं पितरं च न व्यतिक्रमेयुः। व्यतिक्रमे तु दायहानिरिति।

अपर आह—'उभयोरपि दायेन तेषां व्यतिक्रमो न कर्तव्यः। अवश्यं देयो दायस्तेभ्य इति ॥ २ ॥

अनु०—तथा ऐसे ही पुत्र माता और पिता के दाय का अंशग्राही हो सकते हैं।

टि०—अन्य व्याख्याकार के अनुसार माता पिता ऐसे पुत्रों को दाय विभाग के समय उपेक्षित न करें, अवश्य अंश प्रदान करें ॥ २ ॥

पूर्ववत्यामसंस्कृतायां वर्णान्तरे च मैथुने दोषः ॥ ३ ॥

अन्येन पाणिग्रहणेन तद्वती पूर्ववती। असंस्कृता विवाहसंस्काररहिता। वर्णान्तरं ब्राह्मणादेः क्षत्रियादिः। तेषु पूर्ववत्यादिषु मैथुने सति दोषो भवति। कस्य ? तयोरेव मिथुनीभवतोः ॥ ३ ॥

अनु०—दूसरे व्यक्ति से विवाहिता, विवाह संस्काररहिता, भिन्न वर्ण वाली स्त्रियों से मैथुन करने पर दोनों को ही दोष होता है ॥ ३ ॥

तत्राऽपि दोषवान् पुत्र एव ॥ ४ ॥

तत्रेति सप्तम्यास्त्रल्[1] 'इतराभ्योऽपि दृश्यन्त' इति। ताभ्यामुभाभ्यामपि पुत्र एवाऽतिशयेन दोषवान्। तत्र पूर्ववत्यामुत्पन्नौ कुण्डगोलकौ

[2]"पत्यौ जीवति कुण्डस्स्यान्मृते भर्तरि गोलक' इति।

असंस्कृतायामुत्पन्नस्य नामान्तरं नास्ति। किं तु दुष्टत्वमेव। वर्णान्तरे तु जात्यन्तरम्। तत्र गौतमः—

[3]'अनुलोमाः पुनरनन्तरैकान्तरद्व्यन्तरासु जातास्सवर्णाम्बष्ठोग्र निषाददौष्यन्तपारशवाः। प्रतिलोमास्तु सूतमागधायोगवक्षत्तृवैदेहकचण्डाला' इति। एवकारो दुहितृनिवृत्त्यर्थः। तथा च वसिष्ठः—

[4]'पतितेनोत्पादितः पतितो भवत्यन्यत्र स्त्रियास्सा हि परगामिनी तामरिक्थामुपेयादिति। [5]'स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपी'ति मनुः ॥ ४ ॥

अनु०—इन दोनों के संयोग से उत्पन्न पुत्र दोषयुक्त होता ही है ॥ ४ ॥

पुत्रेभ्यो दायभागं वक्ष्यन् अन्यस्य भार्यायामन्येनोत्पादितः किमुत्पादयितुः? अहोस्वित् क्षेत्रिण इति विचारे निर्णयमाह—

उत्पादयितुः पुत्र इति हि ब्राह्मणम् ॥ ५ ॥

अनु०—एक ब्राह्मण ग्रन्थ में कहा गया है कि पुत्र उत्पन्न करने वाले पुरुष का होता है ॥ ५ ॥

न केवलं ब्राह्मणमेव। वैदिकगाथा अप्यत्रोदाहरन्तीत्याह—

अथाप्युदाहरन्ति—

इदानीमेवाहं [6]जनकः स्त्रीणामीर्ष्यामि नो पुरा।
यदा यमस्य सादने जनयितुः पुत्रमब्रुवन्।
रेतोधाः पुत्रं नयति परेत्य यमसादने।
तस्माद्भार्यां रक्षन्ति बिभ्यन्तः पररेतसः।
अप्रमत्ता रक्षथ तन्तुमेतं मा वः क्षेत्रे परबीजानि वाप्सुः।
जनयितुः पुत्रो भवति साम्पराये मोघं वेत्ता कुरुते तन्तुमेतमिति ॥६॥

( ) कुण्डलान्तर्गतो भागो नास्ति घ० ङ० पुस्तकयोः।

१. पा० सू० ५. ३. १४ २. म० स्मृ० ३. १७४

३. गौ० ध० ४. १६–१७, ४. व० ध० १३. ६. मुद्रितव० ध० कोशेषु पाठभेदो दृश्यते। ५. म० स्मृ० २. २३८

६. 'जनक' इति सम्बुध्यन्ततया पठितं बौ० ध० २. २. ३४–३६

जनयितुः पुत्रः क्षेत्रिणो वेति विवादे पराजितस्य क्षेत्रिणो वचनम् एतावन्तं कालमहं जनको मन्यमानः इदानीमेव स्त्रीणामीर्ष्यामि परपुरुषसंसर्गं न सहे । कदा इदानीम् ? यदा यमस्य सादने पितृलोके जनयितुः पुत्रो भवति पुत्रकृत्यं परलोकगतस्य जनयितुरेव न क्षेत्रिण इत्यब्रुवन् धर्मज्ञाः । उक्त एवार्थः किञ्चिद्विशेषेणोच्यते—रेतोधाः बीजप्रदः पुत्रं नयति पुत्रदत्तं पिण्डादिकमात्मानं नयति प्रापयति । परेत्य मृत्वा । यमसादने यमलोके । तस्मात्कारणात् भार्याः[1] रक्षन्ति पररेतसो बिभ्यन्तः । बिभ्यतः छान्दसो नुम् । अतो यूयमप्यप्रमत्ता अवहिता भूत्वा एतं तन्तुं प्रजासन्तानं रक्षथ । लोडर्थे लट् । रक्षतेरर्थः । किमर्थम् ? वः युष्माकम् क्षेत्रे परबीजानि पररेतांसि मा वाप्सुः । व्यत्ययेनाऽयं कर्मणि कर्तृप्रत्ययः । मा वाप्सत उप्तानि मा भूवन् । मोप्येरन् । कथमिति ? (अपर आह—परशब्दाज्जसो लुक् । परे पुरुषाः वः क्षेत्रे बीजानि मा वाप्सुरिति ।) यस्मात् साम्पराये परलोके जनयितुरेव पुत्रफलं भवति वेत्ता परिणेता क्षेत्री तु एतं तन्तुं मोघं निष्प्रयोजनं कुरुते आत्मसात्करोति । इतिशब्दो गाथासमाप्तौ । एतच्च क्षेत्रिणोऽनुज्ञामन्तरेण पुत्रोत्पादनविषयम् । यदा तु क्षेत्री वन्ध्यो रुग्णो वा प्रार्थयते मम क्षेत्रे पुत्रमुत्पादयेति, यदा वा सन्तानक्षये विधवां नियुङ्क्ते यथा विचित्रवीर्यस्य क्षेत्रे सत्यवतीं व्यासेन । तदुत्पन्नः पुत्र उभयोरपि पुत्रो भवति—बीजिनः क्षेत्रिणश्च । व्यामुष्यायणश्च स भवति । तथाचाचार्य एवाह—

[2]'यदि द्विपिता स्यादेकैकस्मिन् पिण्डे द्वौ द्वावुपलक्षये'दिति । याज्ञवल्क्योऽप्याह—

> [3]'अपुत्रेण परक्षेत्रे नियोगोत्पादितः सुतः ।
> उभयोरप्यसौ रिक्थी पिण्डदाता च धर्मतः ॥' इति ।

नारदोऽपि—

> [4]'व्यामुष्यायणको दद्याद्द्वाभ्यां पिण्डोदके पृथक् ।
> रिक्थादर्धं समादद्याद्बीजक्षेत्रवतोस्तथा ॥' इति ॥ ६ ॥

अनु०—इस विषय में निम्नलिखित गाथा भी उद्धृत की जाती है। अपने को पहले पिता समझकर मैं अपनी पत्नियों के साथ दूसरे पुरुष के संसर्ग को सहन नहीं करता हूँ, क्योंकि पितृलोक में जाने पर पुत्र उत्पन्न करने वाले का ही होता है ऐसा कहा गया है मृत्यु के बाद वीर्य देने वाला पिता पुत्र को लेकर यम के घर जाता है, इसलिए लोग दूसरे व्यक्तियों के वीर्य पड़ने की आशंका से पत्नियों की सावधानी से निगरानी करते हैं ।

( ) एतत्कुण्डान्तर्गतोभागः ख०च०पुस्तकयोरेवास्ति । तत्र'कथमिति'इति नास्ति।
१. 'भार्यया लब्धा' इति ख० च० पु०   २. आप० श्रौ० १. ९. ७.
३. या० स्मृ० २. १३०.   ४. नार० स्मृ० १३. ४३

सावधान होकर पुत्रों की उत्पत्ति की रक्षा करो। तुम्हारे खेत में कोई दूसरा बीज न बोए। पर लोक में पुत्र उत्पन्न करने वाले का ही होता है, और पति अपनी पुत्रवृद्धि को निष्फल बना देता है ॥ ६ ॥

यदि पूर्ववत्यादिषु मैथुने दोषः कथं तर्हि [1]उचथ्यभारद्वाजौ व्यत्यस्य भार्ये जग्मतुः [2] वसिष्ठश्चण्डालीमक्षमालाम्। [3]प्रजापतिश्च स्वां दुहितरम्। तत्राऽऽह—

दृष्टो धर्मव्यतिक्रमस्साहसं च पूर्वेषाम् ॥ ७ ॥

सत्यं दृष्टोऽयमाचारः पूर्वेषाम्। स तु धर्मव्यतिक्रमः, न धर्मः; गृह्यमाणकारणत्वात्। न चैतावदेव, साहसं च पूर्वेषां दृष्टम्। यथा[4] जामदग्न्येन रामेण पितृवचनादविचारेण मातुश्शिरश्छिन्नम् ॥ ७ ॥

अनु०—पूर्वजों (ऋषियों) के आचरण में भी धर्म के उल्लङ्घन का तथा साहस कर्म का उदाहरण देखने में आता है ॥ ७ ॥

किमिदानीं तेषामपि दोषः ? नेत्याह—

[5]तेषां तेजोविशेषेण प्रत्यवायो न विद्यते ॥ ८ ॥

तादृशं हि तेषां तेजः यदेवंविधैरपि पाप्मभिर्न प्रत्यवयन्ति। [6]'तद्यथैषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेत एवं हाऽस्य पाप्मानः प्रदूयन्ते इति [7]श्रुतेः ॥ ८ ॥

अनु०—किन्तु उनमें अधिक तेज होने के कारण उनका कर्म पापकर्म नहीं होता ॥ ८ ॥

न चैतावता ऽर्वाचीनानामपि तथा प्रसङ्ग इत्याह—

तदन्वीक्ष्य प्रयुञ्जानस्सीदत्यवरः ॥ ९ ॥

तदिति[8] नपुंसकमनपुंसकेने' त्येकशेष एकवद्भावश्च। तं व्यतिक्रमं तच्च साहसमन्वीक्ष्य दृष्ट्वा स्वयमपि तथा प्रयुञ्जानोऽवर इदानीन्तनः सीदति प्रत्यवैति। न ह्यग्निः सर्वं दहतीत्यस्माकमपि तथा शक्तिरिति ॥ ९ ॥

अनु०—इस समय के जो व्यक्ति उन पूर्वजों के उदाहरण का अनुगमन करके उन कर्मों को करते हैं वे पापी होते हैं ॥ ९ ॥

पुत्रप्रसङ्गेनाऽऽह—

दानं क्रयधर्मश्चाऽपत्यस्य न विद्यते ॥ १० ॥

---

१. महाभारते द्रष्टव्यम्। २. म० स्मृ० ९. २३. महाभा० व० १३२ च० द्रष्टव्यम्। अरुन्धत्या एवाक्षमालेति नामान्तरम्।

३. ता. ब्रा० ८. २. १०. द्रष्टव्यम्। ४. कथेयं महाभा. वन ११६. अ. द्रष्टव्या।

५. इदमग्रिमं सूत्रं पद्यात्मना निबद्धं तन्त्रवार्तिके। ६. छान्दो० ५. २४.

७. 'छान्दोग्ये श्रूयते' इत्यधिकं ख० च० पु० ८. पा० सू० १. २. ६९.

दानग्रहणेन विक्रयोऽपि गृह्यते, त्यागसामान्यात्। क्रयधर्म इति च प्रतिग्रहस्याऽपि ग्रहणम्। धर्मग्रहणात् स्वीकारसामान्याच्च। अपत्यस्य दानप्रतिग्रहक्रयविक्रया न कर्तव्याः। द्वादशविधेषु पुत्रेषु दत्तक्रीतयोरपि पुत्रयोर्मन्वादिभिः पठितत्वान्नाऽयं सामान्येन प्रतिषेधः। किं तर्हि? ज्येष्ठपुत्रविषयः, एकपुत्रविषयः स्त्रीविषयो वा। तथा च वसिष्ठः–

[1]'न ज्येष्ठं पुत्रं दद्यात्प्रतिगृह्णीयाद्वा। न त्वेकं पुत्रं दद्यात् प्रतिगृह्णीयाद्वा स हि सन्तानाय पूर्वेषाम्। न स्त्री पुत्रं दद्यात् प्रतिगृह्णीयाद्वा अन्यत्राऽनुज्ञानाद्भर्तुः। पुत्रं प्रतिग्रहीष्यन् बन्धूनाहूय राज्ञे निवेद्य निवेशनस्य मध्ये अग्निमुपसमाधाय सम्परिस्तीर्य व्याहृतीभिर्हुत्वाऽदूरबान्धवं सन्निकृष्टमेव प्रतिगृह्णीया' दिति। विश्वजिति च सर्वस्वदाने गवादिवदपत्यं न देयमिति। विक्रयस्तु सर्वत्र निषिद्धः। तत्र उपपातकेषु याज्ञवल्क्य आह–

[2]'नास्तिक्यं व्रतलोपश्च सुतानां चैव विक्रयः।' इति।

बह्वृचब्राह्मणेऽपि शुनश्शेपाख्याने दृश्यते–[3]'स ज्येष्ठं पुत्रं निगृह्णान उवाचे' त्यादि। पुत्रप्रकरणे अपत्यशब्दोपादानमपि ज्येष्ठपुत्रविषयत्वस्य लिङ्गम्। न पतन्त्यनेनेत्यपत्यमिति।

ऋणमस्मिन् सन्नयत्यमृतत्वं च गच्छति।
पिता पुत्रस्य जातत्य पश्येच्चेज्जीवतो मुखम्॥' इति॥ १०॥

अनु० - पुत्र को दान देने या दान लेने का अथवा उसे बेचने और खरीदने का नियम विहित नहीं है॥ १०॥

विवाहे दुहितृमते दानं काम्यं धर्मार्थं श्रूयते तस्माद्दुहितृमतेऽतिरथं शतं देयं तन्मिथुयाकुर्यादिति तस्यां क्रयशब्दस्संस्तुतिमात्रं धर्माद्धि सम्बन्धः॥ ११॥

आर्षे विवाहे दुहितृमते दानं क्वचिद्वेदे श्रूयते। तस्माद्दुहितृमते रथेनाधिकं गवां शतं देयम्। तच्च दुहितृमान् मिथुया कुर्यात्। मिथ्या कुर्यात्। [4]"मा देवानां मिथुयाऽकर्भागधेय" मिति दृश्यते। मिथुया कुर्यादिति कोऽर्थः वरायैव पुनर्दद्यादिति। तद्दानं काम्यं कामनिमित्तम्। 'यथा युक्तो विवाहस्तथायुक्ता प्रजा भवतीति(२. १०. ४)ऋषितुल्याः पुत्रा यथा स्युरिति ततश्च धर्मार्थं न प्रजार्थम् विक्रयार्थम्। यस्तु तस्यां विवाहक्रियायां क्रयशब्दः क्वचित् स्मृतौ दृश्यते स संस्तुतिमात्रम्: द्रव्यप्रसादसाम्यात्। न मुख्यक्रयत्वप्रतिपादनार्थम्। कुतः? हि

---

१. व० ध० १५. ३-६ २ या० स्मृ० प्रा० २३६ ३. ऐ० ब्रा० ७. ३. १५
४. ऐ० ब्रा० पं० ७. ५. तै० सं० १. ३. ९.

यस्मात् धर्मादेव हेतोः सम्बन्धो दम्पत्योरिति । आर्षे दुहितृमते मिथुनौ गावौ देयावित्यत्राऽप्येष एव न्यायः ।

अत्र मनुः—

[1]'यासां नाऽऽददते शुल्कं ज्ञातयो न स विक्रयः ।
अर्हणं तत्कुमारीणामानृशंस्यं च केवलम् ॥' इति ।

एतच्च सर्वं 'दानं क्रयधर्मश्चाऽपत्यस्य न विद्यत' इत्यस्य व्यभिचारनिवृत्यर्थं कर्तव्यमित्युक्तम् ॥ ११ ॥

अनु०—विवाह के समय कन्या के पिता को अपनी इच्छा की पूर्ति के लिए तथा धर्म के पालन के लिए कोई दान देने का नियम सुना जाता है, इसलिए कन्या के पिता को सौ गाएँ तथा एक रथ प्रदान करे और कन्या का पिता पुनः उस दान को वर को ही वापस कर दे। ऐसे विवाहों में 'क्रय' शब्द का केवल लाक्षणिक अर्थ लिया जाता है (क्रय विक्रय नहीं होता), क्योंकि धर्म के पालन के लिए ही (पति-पत्नी का) सम्बन्ध होता है ॥ ११ ॥

अथ दायविभागः—

एकधनेन ज्येष्ठं तोषयित्वा ॥ १२ ॥

अनु०—अपने ज्येष्ठ पुत्र को कोई एक विशेषधन से सन्तुष्ट करके ॥ १२ ॥

इत्यापस्तम्बधर्मसूत्रे द्वितीयप्रश्ने त्रयोदशी कण्डिका ॥ १३ ॥

अथ दायविभागः—

जीवन् पुत्रेभ्यो दायं विभजेत् समं क्लीबमुन्मत्तं पतितं च परिहाप्य ॥ १ ॥

एकेन प्रधानेन केनचिद्धनेन गवादिना ज्येष्ठं पुत्रं तोषयित्वा तृप्तं कृत्वा जीवनन्नेव पुत्रेभ्यो दायं विभजेत् । सममात्मना परस्परं च तेषाम् । सामान्याभिधानात् क्रमागतं स्वयमार्जितं च क्लीबादीन् वर्जयित्वा । क्लीबादिग्रहणं जात्यन्धादीनामप्युपलक्षणम् । यथाह मनुः—

[2]'अनंशौ क्लीबपतितौ जात्यन्धबधिरौ तथा ।
उन्मत्तजडमूकाश्च ये च केचिन्निरिन्द्रियाः ॥' इति ।

अन्धादीनां पुत्रसद्भावे तेऽप्यंशहराः । एवमुन्मत्तपतितौ[3] निवृत्ते निमित्ते

---

१. म० स्मृ० ३. ५४ २. 'अनहौं' इति ङ० पु० म० स्मृ० ९. २०१

३. वृत्त्यनिमित्ते क्लीबादयस्तु न भर्तव्याः, इति ङ० पु० उन्मत्तपतितौ निवृत्तनिमित्तौ० इति च० पु०

क्लीबादयस्तु न भर्तव्याः। अत्र विभागकालः स्मृत्यन्तरवशाद्ग्राह्यः। तत्र नारदः—

"मातुर्निवृत्ते रजसी प्रत्तासु भगिनीषु च।
निवृत्ते चापि मरणात्पितर्युपरतस्पृहे॥' इति।[1]

यदा पुत्राणां पृथक्पृथक् धर्मानुष्ठाने शक्तिश्रद्धे भवतः सोऽपि कालः। 'तस्माद्धर्म्या पृथक्क्रिये'ति[2]दर्शनादिति। 'जीवन्नि'तिवचनं जीवन्नेवाऽवश्यं पुत्रान् विभजेत् एष धर्म इति प्रतिपादनाय। अन्यथा तदनर्थकम्। अजीवतोऽप्रसङ्गात्। स्मृत्यन्तरेषु स्वयमार्जिते पितुरिच्छया विषमविभागो दर्शितः। न स धर्म्य इत्याचार्यस्य पक्षः। भार्याया अप्यंशो न दर्शितः। आत्मनः एवांशस्तस्या अपीति मन्यते। वक्ष्यति च 'जायापत्योर्न विभागो विद्यते' (२. १४. १६) इति।

केचित्तु पितुर्द्वावंशावित्याहुः। 'द्वावंशौ प्रतिपद्येत विभजन्नात्मनः पिते' ति दर्शनात्। अयमप्याचार्यस्य पक्षो न भवति। यथा पुत्राणामेकैक एवांशस्स-भार्याणां तथा पितुरपीति। यद्वा पुत्राणामेवांशसाम्यं आत्मनस्त्वाधिक्येऽपि न दोषः।

तत्र हारीतः—

'पिता ह्याग्रयणः पुत्रा इतरे ग्रहाः यद्याग्रयणः स्कन्देदुपदस्येद्वा इतरेभ्यो गृह्णीयादि'ति

विभागादूर्ध्वं पित्रोर्जीवनाभावे पुत्रभागेभ्यो ग्राह्यमित्युक्तं भवति। इति जीवद्विभागः॥ १॥

अनु०—अपने जीवनकाल में ही पुत्रों में दाय का समान विभाजन करे किन्तु नपुंसक, पागल और पातकी पुत्रों को दाय का अंश न देवे॥ १॥

अथ मृते कुटुम्बिनि तद्धनस्य गतिमाह—

पुत्राभावे यः प्रत्यासन्नः सपिण्डः॥ २॥

'पुत्राभावे' इति वचनात् सत्सु पुत्रेषु त एव गृह्णीयुरविशेषात्समम्। तत्र नारदीये विशेषः—

[3]'यच्छिष्टं प्रीतिदायेभ्यो दत्वार्णं पैतृकं च यत्।
भ्रातृभिस्तद्विभक्तव्यमृणी स्यादन्यथा पिता॥' इति॥

कात्यायनस्तु—

[4]"भ्रात्रा पितृव्यमातृभ्यां कुटुम्बार्थमृणं कृतम्।
विभागकाले देयं तद्रिक्थिभिस्सर्वमेव तु॥ इति॥

---

१. नार० स्मृ० १३. ३ २. म० स्मृ० ९. १११ वचनात् इति. क०ध० पुस्तकयोः
३. ना० स्मृ० १३. ३२ ४. कात्यायनीयस्मृतौ नास्ति.

अत्र याज्ञवल्क्यः--

[1]"पितुरूर्ध्वं विभजतां माताऽप्यंशं समं हरे' दिति।

तदत्र नोक्तं पुत्रैरेव सह वृत्तिरस्या इति।

तथा च मनुः—

[2]"पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने।

पुत्रस्तु स्थविरीभावे न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति ॥' इति।

एवं मातुरप्यभावे तद्धनं भर्तृकुललब्धं स्वयमार्जितं च तत्पुत्रा अप्रत्ताश्च दुहितरस्समं गृह्णीयुः।

[3]स्त्रीधनं तदपत्यानां दुहिता च तदंशिनी।

अप्रत्ता चेत्समूढा तु लभते 'मानमात्रकम् ॥ इति बृहस्पतिः। पितृकुललब्धं चाऽप्रत्ता एव दुहितरः।

[5]"मातुस्तु यौतकं यत्स्यात् कुमारीभाग एव सः।' इति मनुः।

अथाऽप्रत्ता दुहितरः पुत्राश्च जननी तदा।

[6]जनन्या संस्थितायां तु समं सर्वे सहोदराः॥

भजेरन्मातृकं रिक्थं भगिन्यश्च सनाभयः। इति मानवमेव।

अत्र व्यासः—

[7]*'असंस्कृतास्तु ये तत्र पैतृकादेव ते धनात्।

संस्कार्या भ्रातृभिर्ज्येष्ठैः कन्यकाश्च यथाविधि ॥' इति।

अत्र क्रमविवाहे बृहस्पतिः—

*'ब्रह्मक्षत्रियविट्छूद्रा विप्रोत्पन्नास्त्वनुक्रमात्।

चतुस्त्रिद्व्येकभागेन भजेयुस्ते यथाक्रमम् ॥

क्षत्रजास्त्रिद्व्येकभागा विड्जौ तु द्व्येकभागिनौ।' इति।

मानवे च स्पष्टमुक्तम्—

[8]"सर्वं वा रिक्थजातं तद्दशधा प्रविभज्य तु।

धर्म्यं विभागं कुर्वीत विधिनाऽनेन धर्मवित् ॥

चतुरोंऽशान् हरेद्विप्रः त्रीनंशान् क्षत्रियासुतः।

वैश्यापुत्रो हरेद्व्यंशमंशं शूद्रासुतो हरेत् ॥ इति।

---

१. या० स्मृ० २. १२३ २. म० स्मृ० ९. ३. बौ० ध० २. २. ४३

३. मुद्रितबृहस्पतिस्मृतौ नेदं वचनमुपलभ्यते। परन्तु 'जनन्यां संस्थितायां' (९. १९२.) इतिश्लोकव्याख्यावसरे कुल्लूकभट्टेनेदं वचनं बृहस्पतिवचनत्वेनैवोदाहृतम्।

४. सा न मातृकम्, इति ड० पु० पु० ५. म० स्मृ० ९. १३१. ८ ६. म० स्मृ० ९. १९२

७. * एतच्चिह्नाङ्कितानि वचनानि मुद्रिततत्तद्ग्रन्थेषु नोपलभ्यन्ते।

८. म० स्मृ० ७. १५२. १५३

यस्य तु ब्राह्मणी वन्ध्या मृता वा तत्र क्षत्रियादिसुतास्त्रिद्व्येकभागाः। यस्य त्वेकस्यामेव पुत्रस्सा सर्वं हरेत् शूद्रापुत्रवर्जम्।

यथाह देवलः—

*आनुलोम्येकपुत्रस्तु पितुस्सर्वस्वभाग्भवेत्।
निषाद एकपुत्रस्तु विप्रस्वस्य तृतीयभाक्॥
द्वौ सपिण्डस्सकुल्यो वा स्वधादाता तु तं हरेत्' इति।

निषादः पारशवः। क्षेत्रविषये बृहस्पतिः—

*न प्रतिग्रहभूर्देया क्षत्रियादिसुताय वै।
यद्यप्यस्य पिता दद्यान्मृते विप्रासुतो हरेत्॥
शूद्र्यां द्विजातिभिर्जातो न भूमेर्भागमर्हति।
सजतावाप्नुयात्सर्वमिति धर्मो व्यवस्थितः॥' इति॥

याज्ञवल्क्यः—

'जातो हि दास्यां शूद्रेण कामतोऽशहरो भवेत्।
मृते पितरि कुर्युस्तं भ्रातरस्त्वर्धभागिनम्॥' इति।

भार्याविषये विष्णुः—

*मातरः पुत्रभागानुसारतो भागहारिण्य' इति। अत्र,
औरसः पुत्रिकाबीजक्षेत्रजौ पुत्रिकासुतः।
पुनर्भवश्च कानीनस्सहोढो गूढसम्भवः।
दत्तः क्रीतस्स्वयंदत्तः कृत्रिमश्चाऽपविद्धकः।
यत्र क्वचोत्पादितश्च पुत्राख्या दश पञ्च च।
अनेनैव क्रमेणैषां पूर्वाभावे परः परः।
पिण्डदोंऽशहरश्चेति प्रायेण स्मृतिषु स्थिताः।

औरसो धर्मपत्नीजः। 'सवर्णापूर्वशास्त्रविहिताया' मिति पूर्वमुक्तः। गौतमः २—'पितोत्सृजेत्पुत्रिकामनपत्योऽग्निं प्रजापतिं चेष्ट्वास्मदर्थमपत्यमिति संवाद्ये' ति।

बृहस्पतिः—

'एक एवौरसः पित्र्ये धने स्वामी प्रकीर्तितः।
तत्तुल्या पुत्रिका प्रोक्ता भर्तव्यास्त्वपरे स्मृताः॥' इति।

मनुः—

पुत्रिकायां कृतायां तु यदि पुत्रोऽनुजायते।
समस्तत्र विभागः स्यात् ज्येष्ठाता नास्ति हि स्त्रियाः॥ इति।

---

१. या० स्मृ १. १३३ २ गौ० ध० २८. १८ ३. म० स्मृ० ९. १३४

याज्ञवल्क्यः—

[1]'अपुत्रेण परक्षेत्रे नियोगोत्पादितः सुतः ।
उभयोरप्यसौ रिक्थी पिण्डदाता च धर्मतः ॥ इति ।

अयमेक एवोत्पादयितुर्बीजजः, क्षेत्रजस्तु क्षेत्रिणः ।

बृहस्पतिः—

'पुत्रोऽथ पुत्रिकापुत्रस्स्वर्गप्राप्तिकरावुभौ ।
रिक्थे पिण्डाम्बदाने च समौ सम्परिकीर्तितौ ॥' इति ।

काश्यपः—

'सप्त पौनर्भवाः कन्या वर्जनीयाः कुलाधमाः ।
वाचा दत्ता मनोदत्ता कृतकौतुकमङ्गला ॥
उदकं स्पर्शिता या च या च पाणिगृहीतिका ।
अग्निं परिगता या च पुनर्भूप्रसवा च या' ॥

कात्यायनः—

क्लीबं विहाय पतितं या पुनर्लभते पतिम् ।
तस्यां पौनर्भवो जातः व्यक्तमुत्पादकस्य सः ॥ इति ।

मनुः—

[2]'पितृवेश्मनि कन्या तु यं पुत्रं जनयेद्रहः ।
तं कानीनं वदेन्नाम्ना वोढुः कन्यासमुद्भवः ॥' इति ।

नारदः—

[3]'कानीनश्च सहोढश्च गूढायां यश्च जायते ।
तेषां वोढा पिता ज्ञेयस्ते च भागहराः पितुः ।' इति ॥

वसिष्ठः—

[4]'अप्रत्ता दुहिता यस्य पुत्रं विन्देत तुल्यतः ।
पौत्री मातामहस्तेन दद्यात्पिण्डं हरेद्धनम् ॥' इति ।

अनूढायामेव मृतायां मातरि मातामहस्य पुत्रः । अन्यथा वोढुः ।

मनुः—

[5]'या गर्भिणी संस्क्रियते ज्ञाताऽज्ञातापि वा सती ।
वोढुस्स गर्भो भवति सहोढ इति चोच्यते ।
[6]उत्पद्यते गृहे यस्य न च ज्ञायेत कस्यचित् ।
स गृहे गूढ उत्पन्नस्तस्य स्याद्यस्य तल्पजः ॥

दत्तः पूर्वमेवोक्तः । पैठीनसिः—'अथ दत्तक्रीतकृत्रिमपुत्रिकापुत्राः परपरिग्रहेण व्यार्षेयेण जाताः ते असंगतकुलीनाद्यामुष्यायणा भवन्तीति ।

---

१. या० स्मृ० २. १२७ २. म० स्मृ० ९. १७२. ३. ना० स्मृ० १३. ४
४. व० स्मृ० १७. २५ ५. म० स्मृ० ९. १७३ ६. क० स्मृ० ९. १७०

मनुः—

[1]भ्रातॄणामेकजातानामेकश्चेत्पुत्रवान् भवेत् ।
सर्वे ते तेन पुत्रेण पुत्रिणो मनुरब्रवीत् ॥
[2]क्रीणीयाद्यस्त्वपत्यार्थे मातापित्रोर्यमन्तिकात् ।
स क्रीतकस्सुतस्तस्य सदृशोऽसदृशोऽपि वा ।
[3]मातापितृविहीनो यस्त्यक्तो वा स्यादकारणात् ।
आत्मानं स्पर्शयेद्यस्य स्वयं दत्तस्तु स स्मृतः ॥ इति ।
[4]सदृशं तु प्रकुर्यातां गुणदोषविवर्जितम् ।
पुत्रं पुत्रगुणैर्युक्तं स विज्ञेयस्तु कृत्रिमः ॥
[5]मातापितृभ्यामुत्सृष्टं तयोरन्यतरेण वा ।
यं पुत्रं प्रतिगृह्णीयादपविद्धः स उच्यते ॥ इति ।

सर्वे एते समानजातीयाः,

[6]सजातीयेष्वयं प्रोक्तस्तनयेषु मया विधिः ॥

इति याज्ञवल्क्यवचनात् ।

विष्णुः—'यत्र क्वचनोत्पादितस्तु द्वादशः, इति ।

याज्ञवल्क्यः—

[7]'पिण्डदोंऽशहरश्चैषां पूर्वाभावे परः परः ।' इति

मनुः—

[8]'श्रेयसः श्रेयसोऽभावे पापीयान् रिक्थमर्हति ।' इति ।
'क्रमादेते प्रवर्तन्ते मृते पितरि तद्धने ।

नारदः—

[9]'ज्यायसो ज्यायसोऽभावे जघन्यस्तदवाप्नुयात् ॥' इति ।

देवलः—

'सर्वे ह्यनौरसस्यैते पुत्रा दायहराः स्मृताः ।
औरसे पुनरुत्पन्ने तेषु ज्यैष्ठ्यं न तिष्ठति ।
तेषां सवर्णा ये पुत्रास्ते तृतीयांशभागिनः ।
शेषास्तमुपजीवेयुर्ग्रासाच्छादनसम्भृताः ॥' इति ।

---

१. म० स्मृ० ९. १८२ २. म० स्मृ० ९. १७४ ३. म० स्मृ० ९. १७७,
४. म० म० स्मृ० ९. १६९ ५. म० स्मृ० ९. १७१ ६. या० स्मृ० २. १३३
७. या० स्मृ० २. १३२ ८. म० स्मृ० ९. १८४ ९. ना० स्मृ० १३. ४९

मनुः—

[1]'षष्ठं तु क्षेत्रजस्यांशं प्रदद्यात्पैतृकाद्धनात् ।
औरसो विभजन् दायं पित्र्यं पञ्चममेव वा ॥' इति ।

बृहस्पतिः—

'क्षेत्रजाद्यास्सुतास्त्वन्ये पञ्चषट्सप्तभागिनः' इति ।

हारीतः—

'विभजिष्यमाण एकविंशं कानीनाय दद्याद्विंशं पौनर्भवायैकोनविंशं व्यामुष्यायणायाऽष्टादशं क्षेत्रजाय सप्तदशं पुत्रिकापुत्रायेतरानौरसाये'ति ।

वसिष्ठः—

[2]"पुत्रं प्रतिग्रहीष्य'न्निति प्रक्रम्य 'तस्मिंश्चेत्प्रतिगृहीते औरस उत्पद्यते चतुर्थभागभागि'ति ।

एवमेतेषु शास्त्रेषु विद्यमानेषु यदाचार्येण पूर्वमुक्तं 'तेषां कर्मभिस्सम्बन्धो दायेनाऽव्यतिक्रमश्चोभयो'रिति तद्धर्मपत्नीजे पुत्रे सति क्षेत्रजादीनां समांशहरत्वप्रतिषेधपरं वेदितव्यम् ।

अथाऽविभाज्यम् ।

अत्र मनुः—

[3]'अनुपघ्नन् पितृद्रव्यं श्रमेण यदुपार्जयेत् ।
स्वयमर्हति लब्धं तन्नाऽकामो दातुमर्हती' ति ।

कात्यायनः—

'नाऽविद्यानां तु वैद्येन देयं विद्याधनात् क्वचित् ।
समं विद्याधनानां तु देयं वैद्येन तद्धनम् ॥
परभक्तप्रदानेन प्राप्तविद्यो यदाऽन्यतः ।
तया प्राप्तं तु विधिना विद्याप्राप्तं तदुच्यते ॥' इति ।

व्यासः—

'पितामहपितृभ्यां च दत्तं मात्रा च यद्भवेत् ।
तस्य तन्नाऽपहर्तव्यं [4]शौर्यहार्यं तथैव च ॥' इति ।

याज्ञवल्क्यः—

[5]"क्रमादभ्यागतं द्रव्यं हृतमप्युद्धरेत यः ।
दायादेभ्यो न तद्दद्याद्विद्यया लब्धमेव च ॥
पत्यौ जीवति यस्त्रीभिरलङ्कारो धृतो भवेत् ।
न तं भजेरन् दायादा भजमानाः पतन्ति ते ॥'

---

१. म० स्मृ० ९. १३४ २. व० ध० १५. ६. ९ ३. म० म० ९. २०८

४. शौर्यं विद्याधनं तथा इति. च० पु० शौर्यं भार्याधनं तथा इति ङ० पु०

५. या० स्मृ० २-१९९

व्यास—:

'साधारणं समाश्रित्य यत्किञ्चिद्वाहनायुधम् ।
शौर्यादिनाप्नोति धनं भ्रातरस्तय भागिनः ॥
तस्य भागद्वयं देयं शेषास्तु समभागिनः ॥'

इति पुत्रदायविभागः । तदभावे तु मृतस्य यः प्रत्यासन्नः सपिण्डः, स किम् ? 'दायं हरेते'ति (१४. ५.) वक्ष्यमाणेन सम्बन्धः ।

[1]'लेपभाजश्चतुर्थाद्याः पित्राद्याः पिण्डभागिनः ।
सप्तमः पिण्डदातैषां सापिण्ड्यं साप्तपूरुषम् ॥'

इति सपिण्डलक्षणम् । तेषु यो यः प्रत्यासन्नस्स स गृह्णीयादिति । भार्या तु रिक्थग्राहिणस्सपिण्डाद्या रक्षेयुः, न तु दायग्रहणमित्याचार्यस्य पक्षः । श्रूयते हि—[2]'तस्मात् स्त्रियो निरिन्द्रिया अदायादीः' इति ।

मनुरपि —

[3]'अनिन्द्रिया अदायादाः स्त्रियो नित्यमिति श्रुति'रिति

अत्र सपिण्डाद्यभावे बृहस्पतिः—

'अन्यत्र ब्राह्मणात्किं तु राजा धर्मपरायणः ।
तत्स्त्रीणां जीवनं दद्यादेष दायविधिस्मृतः ॥
अन्नार्थं तण्डुलप्रस्थमपराह्णे तु सेन्धनम् ।
वसनं त्रिपणक्रीतं देयमेकं त्रिमासतः ॥
एतावदेव साध्वीनां चोदितं विधवाधनम् ।
वसनस्याऽशनस्यैव तथैव रजकस्य च ॥
धनं व्यपोह्य तच्छिष्टं दायादानां प्रकल्पयेत् ।
[4]धूमावसानिकं ग्राह्यं सभायां स्नानतः पुरा ।
वसनाशनवासांसि विगणय्य धवे मृते ॥' इति ।

व्यासः—

'द्विषाहस्रः परो दायः स्त्रियै देयो धनस्य तु ।
यच्च भर्त्रा धनं दत्तं सा यथाकाममाप्नुयात् ॥' इति ।

पणानां द्वे सहस्रे परिमाणमस्य द्विषाहस्रः । एष परो दायः स्त्रिया नाधिक इति । एतत् प्रभूते धने, ज्ञातयश्च न रक्षेयुरिति शङ्कायाम् । एवं [5]'पत्नी दुही-

---

१. मत्स्यपु० अ० १८ श्लो० २९ २. तै० सं० ६. ५. ८

३. म० स्मृ० ९. १८ निरिन्द्रिया ह्यमन्त्राश्च स्त्रियोऽनृतमिति श्रुतिः, इति मुद्रित-
पुस्तकपाठः । बोधायनसूत्रे तु प्रायस्संवदति (३. २. ४७) पाठः ।

४. धूमावसानिकं श्राव्यं सन्धायां स्नानतत्परा । इति ङ भूमावसानिकं इति. घ० पु०

५. या स्मृ० २. १३८

तरश्चे' त्यादीनि यानि पत्न्या दायप्राप्तिपराणि तान्येवमेव द्रष्टव्यानि । गौतमस्तु पुत्राभावे पत्न्यास्सपिण्डादिभिस्समांशमाह–[1] पिण्डगोत्रर्षिसम्बन्धा रिक्थं भजेरन् । स्त्री चाऽनपत्यस्ये' ति । अस्यार्थः-अनपत्यस्य रिक्थं पिण्डसम्बन्धात्सपिण्डाः प्रत्यासत्तिक्रमेण भजेरन् । तदभावे गोत्रसम्बन्धास्सगोत्राः । तदभावे ऋषिसम्बन्धास्समानप्रवराः स्त्री च पत्नी च । (अत्र स्त्रियाः पृथङ्निर्देशात् च शब्दाच्च यदा सपिण्डा भजेरन् तदा स्त्री सह तैरेकमंशं गृह्णीयात् । ततश्च 'पितुरूर्ध्वं विभजतां माताप्यंशं समं हरे'दिति सपिण्डादिभिस्सहग्रहणमुक्तमिति । वयमप्येतमेव पक्षं रोचयामहे) । अत्र पितरि भ्रातरि सोदर्ये च जीवति सोदर्यो भ्राता गृह्णीयादित्येके मन्यन्ते ।

तथा च शङ्खः—

अपुत्रस्य स्वर्यातस्य द्रव्यं भ्रातृगामि, तदभावे मातापितरौ लभेयातां, पत्नी वा ज्येष्ठे'ति ।

देवलः—

'ततो दायमपुत्रस्य विभजेरन् सहोदराः ।
कुल्या दुहितरो वापि ध्रियमाणः पिताऽपि च ॥
सवर्णा भ्रातरो माता भार्या चेति यथाक्रमम् ॥' इति ।

याज्ञवल्क्यः–

[2]'संसृष्टिनस्तु संसृष्टी सोदर्यस्य तु सोदरः ।
दद्याच्चाऽपहरेच्चांशं जातस्य च मृतस्य च ॥
अन्योदर्यस्तु संसृष्टी नाऽन्योदर्यधनं हरेत् ।
असंसृष्ट्यपि चाऽऽदद्यात्सोदर्यो नान्यमातृजः ॥' इति ।

अत्र सोदर्य इति विशेषवचनात् 'पत्नी दुहितरश्चे'त्यत्र भ्रातृग्रहणं भिन्नोदरविषयमिति । प्रत्यासत्त्यतिशयात्[3] पितैवेत्याचार्यस्य पक्षः । तदभावे सोदर्यः, तदभावे तत्पुत्रः, तदभावे भिन्नोदराः, तदभावे पितृव्य इत्यादि द्रष्टव्यम् । मात्रादयोऽपि स्त्रियो जीवनमात्रं लभेरन्निति ॥ २ ॥

अनु०-पुत्र के न होने पर निकटतम सपिण्ड संबन्धी दायका अधिकारी होता है।

टि०—हरदत्त ने अपनी व्याख्या में दूसरे सूत्रकारों तथा स्मृतिकारों के मतों का उद्धरण दिया है । आपस्तम्ब के इस सूत्र से स्पष्ट है कि पुत्रहीन व्यक्ति की मृत्यु पर उसकी विधवा पत्नी दाय की अधिकारिणी नहीं होती थी । बौधायन का भी मत ऐसा ही है ।

---

१. गौ० ध० २८. २१. २२

( ) कुण्डलान्तर्गतो भागः च पुस्तकेऽधिकपाठतया परिगणितः ।

२. या०स्मृ०२. १३८. १३९ ३. पितैवेति वयम् इति च०पु.

तदभाव आचार्य आचार्याभावेऽन्तेवासी हृत्वा तदर्थेषु धर्मकृत्येषु वोपयोजयेत् ॥ ३ ॥

सपिण्डाभावे आचार्यो दायं हरेत्। तस्याऽप्यभावे अन्तेवासी हरेत्। हृत्वा तदर्थेषु धर्मकृत्येषु तडागखननादिषूपयोजयेत्। वाशब्दात् स्वयं वा उपयुञ्जीत ॥ ३ ॥

अनु० सपिण्ड का अभाव होने पर दाय का अधिकारी आचार्य होता है, आचार्य के भी न होने पर उसका शिष्य उस दाय को ग्रहण कर मृतव्यक्ति के नाम से धार्मिककर्मों में उस धन को लगावे अथवा स्वयं ही उस धन का उपयोग करे ॥ ३ ॥

दुहिता वा ॥ ४ ॥

दुहिता वा दायं हरेत्। पुत्राभाव इत्येके। अनन्तरोक्ते विषय इत्यन्ये ॥ ४ ॥

अनु०—अथवा (पुत्र न होने पर) पुत्री दाय को ग्रहण करे ॥ ४ ॥

सर्वाभावे राजा दायं हरेत् ॥ ५ ॥

सर्वग्रहणात् बन्धूनां सगोत्राणां चाऽप्यभावे ॥ ५ ॥

अनु०—सभी बन्धु-बान्धवों के न होने पर राजा दाय ग्रहण करे ॥ ५ ॥

ज्येष्ठो दायाद इत्येके ॥ ६ ॥

एके मन्यन्ते ज्येष्ठ एव पुत्रो दायहरः। इतरे तु तमुपजीवेयुः। सोऽपि तान् पितेव परिपालयेदिति। तथा च गौतमः[1] "सर्वं वा पूर्वजस्येतान् बिभृयात्पितृव"दिति ॥ ६ ॥

अनु०—कुछ आचार्यों का मत है कि ज्येष्ठ पुत्र ही दाय का अधिकारी होता है (दूसरे पुत्र उसके अधीन रहकर जीवन-निर्वाह करते हैं) ॥ ६ ॥

देशविशेषे सुवर्णं कृष्णा गावः कृष्णं भौमं ज्येष्ठस्य ॥ ७ ॥

क्वचिद्देशे सुवर्णादि ज्येष्ठस्य भाग इत्याहुः। भूमौ जातं भौमं धान्यं कृष्णं माषादि कृष्णायसमित्यन्ये ॥ ७ ॥

अनु०—कुछ देशों में स्वर्ण, काले रंग के गाय-बैल तथा पृथ्वी से उत्पन्न काले रंग के अनाज ज्येष्ठ पुत्र को प्राप्त होते हैं ॥ ७ ॥

रथः पितुः परिभाण्डं च गृहे ॥ ८ ॥

रथः पितुरंशः[2] गृहे च यत् परिभाण्डमुपकरणं पीठादि तदपि ॥ ८ ॥

अनु०—रथ और घर में जो भी काठ के उपकरण होते हैं वे सभी पिता के अंश हैं। ॥ ८ ॥

---

१. गौ०ध०२८. ३ २. एतदनन्तरं, उपलक्षणमेतत् वाहनस्य' इत्यधिकं घ० पु०

अलङ्कारो भार्यायाः ज्ञातिधनं चेत्येके ॥ ९ ॥

भार्यायास्तु धृतोऽलङ्कारोंऽशः, ज्ञातिभ्यः पित्रादिभ्यश्च यल्लब्धं धनं तच्चेत्येवमेके मन्यते ॥ ९ ॥ *

अनु०--कुछ धर्मज्ञों के अनुसार आभूषण तथा अपने बन्धु-बान्धवों से प्राप्त धन पत्नी का अपना अंश होता है ॥ ९ ॥

तच्छास्त्रैर्विप्रतिषिद्धम् ॥ १० ॥

ज्येष्ठो दायद इति यदुक्तं तच्छास्त्रैर्विरुद्धम् ॥ १० ॥

अनु०—(ज्येष्ठ पुत्र ही दाय का अधिकारी हो) यह शास्त्र के द्वारा प्रतिषिद्ध किया गया है ॥ १० ॥

येन विरुद्धं तद्दर्शयति—

[1]"मनुः पुत्रेभ्यो दायं व्यभज" दित्यविशेषेण श्रूयते ॥ ११ ॥

पुत्रेभ्य इति बहुवचननिर्देशादविशेषेण श्रवणम् ॥ ११ ॥

अनु०—क्योंकि यह वेद (तै० संहिता ३.१.९) में कोई भेदभाव प्रदर्शित किए विना कहा गया है कि मनु ने अपने पुत्रों में दाय का विभाजन किया ॥ ११ ॥

अत्र चोद्यम्—

अथापि[2] "तस्माज्ज्येष्ठं पुत्रं धनेन निरवसाययन्ती" त्येकवच्छ्रूयते ॥ १२ ॥

अथापि ननु चेत्यर्थः। ज्यष्ठं पुत्रं धनेन निरवसाययन्ति पृथक्कुर्वन्तीत्येकवदपि श्रूयते। यथा एक एव ज्येष्ठो दायादः तदनुरूपमपि श्रूयते इति ॥ १२ ॥

अनु०—किन्तु वेद में एक ज्येष्ठ पुत्र ही दाय का अधिकारी हो इस नियम के अनुरूप उक्ति भी पाई जाती है कि लोग ज्येष्ठ पुत्र को दाय का अधिक अंश देकर उसके साथ विशेषता प्रदर्शित करते हैं ॥ १२ ॥

परिहरति—

अथापि नित्यानुवादमविधिमाहुर्न्यायविदो यथा तस्मादजावयः पशूनां सहचरन्तीति। तस्मात् स्नातकस्य मुखं रेफायतीव। तस्मात् वस्तश्च श्रोत्रियश्च स्त्रीकामतमाविति ॥ १३ ॥

---

* एतच्चिह्नानन्तरं यतोऽपि नानुवाद ॥११॥स्पष्टम्॥ इत्यधिकपाठो दृश्यते छ. पुस्तके

१. मनुः पुत्रेभ्यो दायं व्यभजत् स नाभानेदिष्ठं ब्रह्मचर्यं वसन्तं निरभजत् इति (तै० सं० ३. १. ९) तैत्तिरीयश्रुतौ श्रूयते। तत्र पुत्रेभ्य इत्यविशेषेणैव विभागः श्रुतः। न तु ज्येष्ठस्य विशेषोऽभिहित इत्यर्थः। 'नाभानेदिष्ठः' इति मनुपुत्रस्य कस्यचिन्नाम। अस्यैव नाभाग इती संज्ञा। अस्य कथा भागवते (९. ४.) अनुसंधेया।

२. तत्रैव तैत्तिरीयश्रुतौ (तै. सं. २. ५. २.)

अथापीति परिहारोपक्रमे। पशूनां मध्ये अजाश्चाऽवयश्च जातिभेदेऽपि सह-चरन्ति। रेफा शोभा। इह तु तद्वत्यभेदोपचारः। ततः क्यष्। स्नातकस्य मुखं कुण्डलादिना शोभते। इवशब्दो वाक्यालङ्कारे। श्रोत्रियस्य स्त्रीकामतमत्वमाचार्यकुले चिरकालं ब्रह्मचारिवासात्। यथैतानि वाक्यानि दृष्टान्तमात्रमनुवदन्ति न किञ्चिद्विदधति तस्मात् 'ज्येष्ठं पुत्र'मित्यादिकमप्यविधिरिति न्यायविद आहुः। न केवलमयमेवानुवादः, किं तर्हि 'मनुः पुत्रेभ्य' इत्ययमप्यनुवाद एव ॥ १३ ॥

अनु०—इस स्थिति में परिहार यह है कि जो बात नित्य अर्थात् तथ्य हो उसके कथन को न्यायवेत्ता नियम नहीं मानते जैसे 'पशुओं के बीच बकरी और भेड़ें एक-साथ चरती हैं, स्नातक का मुख कुण्डल आदि से सुशोभित होता है, वेदों का अध्येता श्रोत्रिय और बकरा कामुकता अधिक प्रकट करता है' ॥ १३ ॥

सर्वे हि धर्मयुक्ता भागिनः ॥ १४ ॥

हिशब्दो हेतौ। यस्मादेवाऽनुवादौ न कस्यांचिद्विधायकौ तस्माद्ये धर्मयुक्ताः पुत्रास्सर्वे एते भागिनाः॥ १४ ॥

अनु०—इस कारण धर्म का आचरण करने वाले सभी पुत्र दाय के भागी होते हैं ॥ १४ ॥

यस्त्वधर्मेण द्रव्याणि प्रतिपादयति ज्येष्ठोऽपि तमभागं कुर्वीत ॥१५॥

यस्तु ज्येष्ठोऽप्यधर्मेण द्रव्याणि प्रतिपादयति विनियुङ्क्ते तमभागं कुर्वीत जीवद्विभागे पिता भागं न दद्यात्। ऊर्ध्वं विभागे [1]पितुर्भ्रातरः। अपिशब्दात् किमुतान्यमिति ज्येष्ठस्य प्राधान्यं ख्याप्यते ॥ १५ ॥

अनु०—किन्तु जो धन को अधर्म के कार्यों में व्यय करता है उस पुत्र को ज्येष्ठ होने पर भी दाय के भाग से वञ्चित कर देना चाहिए ॥ १५ ॥

जीवन् पुत्रेभ्य[2]इत्यनेन दम्पत्योस्सहभावो दर्शितः। तत्र कारणमाह—

जायापत्योर्न विभागो विद्यते ॥ १६ ॥

स्पष्टम् ॥ १६ ॥

अनु०-पति और पत्नी में किसी प्रकार का विभाग नहीं होता, क्योंकि ॥ १६ ॥

कस्मात्?

पाणिग्रहणाद्धि सहत्वं कर्मसु ॥ १७ ॥

कर्मार्थं द्रव्यम्। जायायाश्च न पृथक्कर्मस्वधिकारः। किं तर्हि? सहभावेन —'यस्त्वया धर्मश्च कर्तव्यस्सोऽनया सह'ति वचनात्। तत्र किं पृथक् द्रव्येणेति ॥ १७ ॥

१. विभागेऽपि भ्रातरः इति. च०पु० २. इत्यत्र भार्याया भागो न दर्शितः इति घ०पु०

अनु०—विवाह के समय से ही वे सभी कर्मों में एक साथ होते हैं ॥ १७ ॥

[1]तथा पुण्यफलेषु ॥ १८ ॥

पुण्यफलेषु स्वर्गादिष्वपि तथा सहत्वमेव। [2]'दिवि ज्योतिरजरमारभेता' मित्यादिभ्यो मन्त्रलिङ्गेभ्यः॥ १८ ॥

अनु०—इसी प्रकार पुण्यों के फल में भी वे मिलकर अधिकारी होते हैं ॥ १८ ॥

द्रव्यपरिग्रहेषु च ॥ १९ ॥

द्रव्यपरिग्रहेषु च द्रव्यार्जनेष्वपि तथा सहत्वमेव। तत्र पतिरार्जयति, जाया गृहे निर्वहतीति योगक्षेमावुभयायत्ताविति द्रव्यपरिग्रहेऽपि सहत्वम्।

अनु०—धन के उपार्जन में भी वे एक साथ होते हैं ॥ १९ ॥

एतदेवोपपादयति—

न हि भर्तुर्विप्रवासे नैमित्तिके दाने स्तेयमुपदिशन्ति ॥ २० ॥

हि यस्मात् भर्तुर्विप्रवासे सति नैमत्तिके 'छिन्दत्पाणि दद्यादि'त्यादिके दाने कृते भार्याया न स्तेयमुपदिशन्ति धर्मज्ञाः। यदि भर्तुरेव द्रव्यं स्यात् स्यादेव स्तेयम्।, नैमित्तिके दान इति वचनात् व्ययान्तरे स्तेयं भवत्येव। एतदेव द्रव्यसाधारण्येऽपि दम्पत्योर्वैषम्यं—यत् पतिर्यथेष्टं विनियुङ्क्ते जाया त्वेतावदेवेति। न च पत्युस्स्वयमार्जितस्य विनियोगे जायाया अनुमत्यपेक्षा, स्वतन्त्रत्वात्। स्वतन्त्रो ह्यसौ गृहे, यथा राजा राष्ट्रे। अत एव भार्यायास्स्तेयशङ्का, न भर्तुः ॥ २० ॥

अनु०—क्योंकि पति के कहीं बाहर जाने पर यदि पत्नी किसी अवसर पर उचित दान करती है तो उसे चोरी नहीं माना जाता ॥ २० ॥

इत्यापस्तम्बधर्मसूत्रवृत्तौ द्वितीयप्रश्ने चतुर्दशी कण्डिका ॥ १४ ॥

एतेन देशकुलधर्मा व्याख्याताः ॥ १ ॥

'ज्येष्ठो दायाद' (२. १४. १६.) इत्यादिकं शास्त्रविप्रतिषेधादप्रमाणमित्युक्तम्। एतेन देशधर्माः कुलधर्माश्च व्याख्याताः। शास्त्रविप्रतिषिद्धा मातुलसुतापरिणयनादयोऽप्रमाणं विपरीताः प्रमाणमिति।

गौतमोऽप्याह—

[3]'देशकुलधर्माश्चाऽऽम्नायैरविरुद्धाः प्रमाण'मिति ॥ १ ॥

---

१. इदमग्रिमं च सूत्रमेकतया लिखितं क० पु०। २ तै० ब्रा० ३. ७. ५. ११

३. गौ० ध० ११. २०

अनु०—इस विवेचन द्वारा विशिष्ट देशों और कुलों के धर्मों की व्याख्या की गयी है ॥ १ ॥

मातुश्च योनिसम्बन्धेभ्यः पितुश्चाऽऽसप्तमाद्यावता वा सम्बन्धो ज्ञायते तेषां प्रेतेषूदकोपस्पर्शनं गर्भान् परिहाप्याऽऽपरिसंवत्सरान् ॥

मातुर्योनिसम्बन्धा मातुलादयः। पितुश्चासप्तमात् पुरुषात् सम्बन्धास्सपिण्डायः पैतृष्वस्रेयादयश्च तेभ्य आरभ्याऽऽसप्तमादित्यन्वयः। यावता वान्तरेण ज्ञायते स्मर्यते जन्मना नाम्ना वाऽमुष्याऽयमस्मत्कूटस्थस्य वंश्य एवंनामेति। सम्बन्धो तथा च मनुः—

"सपिण्डता तु पुरुषे सप्तमे विनिवर्तते।
समानोदकभावस्तु जन्मनाम्नोरवेदने ॥' इति।

य एवंभूताः पुरुषास्तेषां प्रेतेषु मृतेषु उदकोपस्पर्शनं मरणनिमित्तं स्नानं कर्त्तव्यम्। गर्भान् बालान् अपरिसंवत्सरानपरिपूर्णसंवत्सरान् परिहाप्य वर्जयित्वा। बालेषु मृतेषु स्नानं न कर्त्तव्यमिति ॥ २ ॥

अनु०—माता के रक्त संबन्ध वाले (मामा आदि) और पिता के सातवें पुरुष के पूर्व तक अथवा जहाँ तक संबन्ध का पता हो वहाँ तक के निकट संबन्धियों के मरने पर स्नान करे, किन्तु उन बालकों के मरने पर स्नान का नियम नहीं है जिनका एक वर्ष न पूरा हुआ हो ॥ २ ॥

मातापितरावेव तेषु ॥ ३ ॥

बालेषु मृतेषु मातापितरावेवोदकस्पर्शनं कुर्याताम् ॥ ३ ॥

अनु०—उनकी (अर्थात् एक वर्ष से कम आयु के बालकों की मृत्यु पर) माता-पिता ही स्नान करें ॥ ३ ॥

हर्तारश्च ॥ ४ ॥

ये च तान् बालान् हरन्ति तेऽप्युदकोपस्पर्शनं कुर्युरिति। एवमाचार्यस्य पक्षः ॥ ४ ॥

अनु०—तथा बालक के मृत शरीर को उठाकर ले जाने वाले स्नान करें ॥ ४ ॥

भार्यायां परमगुरुसंस्थायां चाकालभोजनम् ॥ ५ ॥

भार्या पत्नी। परमगुरवः आचार्यमातापितरः। संस्था मरणम्। भार्यायां संस्थितायां परमगुरूणां च संस्थायां सत्यां न केवलमुदकोपस्पर्शनं, किं तर्हि? अपरेद्युः आ तस्मात्कालात् अभोजनं च ॥ ५ ॥

अनु०—पत्नी, आचार्य, माता या पिता की मृत्यु पर (स्नान के अतिरिक्त) दूसरे दिन उसी समय तक उपवास करे ॥ ५ ॥

१. म० ५. ६०

किं च—

आतुरव्यञ्जनानि कुर्वीरन् ॥ ६ ॥

आतुरत्वं व्यज्यते यैस्तानि च कुर्वीरन् भार्यादिमरणे ॥ ६ ॥

अनु०—(पत्नी आदि की मृत्यु पर) शोक के चिह्नों को भी धारण करे ॥ ६ ॥

कानि पुनस्तानि ?

केशान्प्रकीर्य पांसूनोप्यैकवाससो दक्षिणामुखाः सकृदुपमज्ज्योत्तीर्योपविशन्त्येवं त्रिः ॥ ७ ॥

प्रकीर्य केशान् पांसूना वपन्ति । ओप्य एकवाससः अनुत्तरीयाः । दक्षिणामुखाः दक्षिणां दिशं निरीक्षमाणाः सकृदुमज्ज्य उदकादुत्तीर्य तीर उपविशन्ति दक्षिणामुखा एव ॥ ७ ॥

अनु०—केशों को बिखराकर, धूल लपेटकर, एक वस्त्र धारण करे (उत्तरीय न धारण करे) दक्षिण दिशा की ओर मुख करके बैठे, नदी में प्रवेश करके मृत व्यक्ति के लिए एक बार जल की अंजलि दे, फिर तीर पर आकर (दक्षिण की ओर मुख करके) बैठे । ॥ ७ ॥

एवं त्रिः ॥ ८ ॥

एवमुक्तप्रकारेण त्रिरुपमज्ज्योपविशेयुः ॥ ८ ॥

अनु०—इस प्रकार तीन बार करें ।

तत्प्रत्ययमुदकमुत्सिच्याऽप्रतीक्षा ग्राममेत्य यत्स्त्रिय आहुस्तत्कुर्वन्ति॥९॥

ततः तत्प्रत्ययं तेषां मृतानां भार्यादीनां यथा प्रत्ययो भवति—मह्यमुदकं दत्तमिति, तथोदकमुत्सिञ्चन्ति । त्रिरित्यनुवृत्तेस्त्रिः । आचारात्पित्र्यत्वाच्च वाससा तिलमिश्रं हस्ताभ्यां । भारद्वाजाय यज्ञशर्मणे एतत्तिलोदकं ददामीति, प्रयोगः । उत्सिच्या प्रतीक्षाः पृष्ठतोऽनिरीक्षमाणा ग्राममेत्य गृहं प्रविश्य । अनेन बहिरिदं कर्मेति गम्यते । यत्तत्र मृतविषये स्त्रियः कर्तव्यमित्याहुः तत्कुर्वन्ति अग्न्युपस्पर्शनगवालम्भनादीनि । एतत्प्रथमेऽहनि । द्वितीयादि [1]ष्वहरहरञ्जलिनैकोत्तरवृद्धिरैकादशाहरिति पितृमेध उक्तं द्रष्टव्यम् ॥ ९ ॥

अनु०—इस प्रकार जल प्रदान करे कि मृत व्यक्ति को यह स्पष्ट हो जाय कि मुझको जल दिया गया है (तीन बार जल प्रदान करे) और तब वे लोग पीछे न देखते हुए गाँव को लौटें और तब जो कुछ कर्म स्त्रियाँ बतलावें उन कर्मों को करे ॥ ९ ॥

इतरेषु चैतदेवैक उपदिशन्ति ॥ १० ॥

---

१. आप० पि०सू०

'आकालमभोजन' (२,१५, १) मित्यादि यदुक्तं तदितरेषु भार्यादिभ्योऽन्येष्वपि सपिण्डेषु मृतेषु कर्तव्यमित्येके आचार्या उपदिशन्ति ॥ १० ॥*

अनु०—कुछ धर्मज्ञों का मत है कि दूसरे सपिण्डों की मृत्यु पर भी इन्हीं क्रियाओं को करना चाहिए ॥ १० ॥

शुचीन्मन्त्रवतस्सर्वकृत्येषु भोजयेत् ॥ ११ ॥

एकान्तेऽपि विधिप्रतिषेधानुसारिणः शुचयः, तान् । मन्त्रवतः [1]अधीतवेदान् सर्वकृत्येषु श्रौतेषु गार्ह्येषु स्मार्तेषु च कर्मसु दैवेषु पित्र्येषु मानुषेषु च भोजयेत् । [2]अन्ते 'ततो ब्राह्मणभोजन'मिति स्मृत्यन्तरे दर्शनात् ॥ ११ ॥

अनु०—सभी (श्रौत, गार्ह्य, स्मार्त) कर्मों में पवित्र, वेदों के ज्ञान से सम्पन्न ब्राह्मणों को भोजन करावे ॥ ११ ॥

देशतः कालतः शौचतः सम्यक्प्रतिगृहीतृत इति दानानि प्रतिपादयति ॥ १२ ॥

सप्तम्यर्थे तसिल् । देशः प्रयागादिः । कालः सूर्यग्रहणादिः । [3]शौकं कृच्छ्रादिपरिसमाप्तिः सम्यक् समीचीनः प्रतिग्रहीता 'तुल्यगुणेषु वयोवृद्धश्श्रेया' नित्यादि । एतेषु दानानि देयान्यवश्यं प्रतिपादयति दद्यादिति १२

अनु०—उचित स्थान पर, उचित समय पर, (कृच्छ्र आदि की समाप्ति जैसे) पवित्र अवसरों पर योग्य व्यक्तियों को ही दान देना चाहिए ॥ १२ ॥

यस्याऽग्नौ न क्रियते यस्य चाऽग्रं न दीयते न तद्भोक्तव्यम् ॥ १३ ॥

यस्याऽन्नस्यैकदेशः अग्नौ न क्रियते न हूयते [4]यस्माद्वोद्धृत्याऽग्रं न दीयते न तद्भोक्तव्यम् ॥ १३ ॥

---

* एतदन्तरं—

ब्राह्मणश्चेतस्मिन् कालेऽमात्यान् केशश्मश्रूणि वा वापयते ॥ ११ ॥

अमात्याः प्रधानाः । स्पष्टमन्यत् ॥ ११ ॥ समावृत्ता न वा वपेरन् ॥ १२ ॥

पूर्वापवादोऽयम् । अमात्येष्वपि गुरुकुलात् समावृत्ताः स्नातकाः न केशादि वापयेरन् ॥ १२ ॥

न विहारिण इत्यन्ये ॥ १३ ॥

विहारिणो बालाः । तेऽपि न ॥ १३ ॥ इत्यधिकं० घ० पुस्तके०

१. 'अधीताविस्मृतवेदान्' इति. ङ०पु० २. 'अन्तन्तः'इति. च० पु०

३. शौचं कृच्छ्रादि इति. ङ च० पु०

४. 'यस्य ब्राह्मणस्यान्नं न दीयत' इति क० च पुस्तकयोरधिकम् ।

अनु०—जिस अन्न में से अग्नि में हवन नहीं किया गया है अथवा जिसमें से निकाल कर अतिथि को पहले नहीं दिया गया है उस अन्न को नहीं खाना चाहिए १३

न क्षारलवणहोमो विद्यते ॥ १४ ॥

यत् भक्ष्यमाणं पश्यतो लालोत्पद्यते तत् क्षारं गुड [1]मरीचिलिकुचादि। [2]क्षारलवणसंसृष्टं न होतव्यम् ॥ १४ ॥

अनु०—नमकीन पदार्थ तथा नमक से युक्त अन्न का अग्नि में हवन नहीं किया जाता है ॥ १४ ॥

तथाऽवरान्नसंसृष्टस्य च ॥ १५ ॥

अवरान्नं कुलुत्थादि। तत्संसृष्टस्याप्यन्नस्य होमो न विद्यते ॥ १५ ॥

अनु०-बिगड़े हुए अन्न के साथ मिले हुए भोजन का हवन नहीं किया जाता है ॥ १५ ॥

अथ यस्यैवंविधमेव भोज्यमुपस्थितं [3]तस्य कथं होमः ? तत्राह—

अहविष्यस्य होम उदीचीनमुष्णं भस्माऽपोह्य तस्मि

ञ्जुहुयात्तद्धुतमहुतं चाग्नौ भवति ॥ १६ ॥

औपासनात् पचनाद्वा ऽग्नेरुदीचीनमुष्णं भस्माऽपोह्य तस्मिन् भस्मनि जुहुयात् वैश्वदेवमन्त्रैः। एषोऽहविष्यस्य होमः। तदेवं क्रियमाणं हुतं च भवति हवनार्थनिर्वृत्तेः। अहुतं चाऽग्नौ भवति। भस्ममात्रत्वादिति। अत्र बोधायनः—

[4]"अथ यद्येतदेवान्नं स्यादुत्तरतो भस्ममिश्रानङ्गारान्निरूह्य तेषु जुहुया"दिति।

[5]"अपर आह—यान्यहविष्याणि व्यञ्जनान्यहरहर्भोज्यानि तेषामेष संस्कारस्सकृच्च होमोऽमन्त्रक इति ॥ १६ ॥

अनु०—यदि हवन न करने योग्य अन्न का हवन करना ही पड़े तो अग्नि के उत्तरी भाग से गरम भस्म लेकर उसी में अन्न को होम करे। इस प्रकार का हवन अग्नि में हवन नहीं होता ॥ १६ ॥

उत्तरे द्वे सूत्रे स्पष्टे-

न स्त्री जुहुयात् ॥ १७ ॥

---

१. 'गुडमुधालिकुचादि' इति ङ० पु०

२. क्षारलवण, कृत्रिमलवणमिति कुल्लूकः। तिलमुद्गादृते शैब्यं सस्ये गोधूमकोद्रवौ। धान्यकं देवधान्यं च शमीधान्यं तथैक्षवम्। स्विन्नधान्यं तथा पण्यमूलं क्षारगणस्मृतः ॥ इति निर्णयसिन्धौ। ३. तस्य कथं भोजनम्? इति घ० पु०

४. बोधा० गृ० ५. अपरे मन्यन्ते 'इति. घ० पु०

अनु०—स्त्री अन्न का अग्नि में हवन न करे ॥ १७ ॥

नाऽनुपेतः ॥ १८ ॥

अनु०—जिस बालक का उपनयन संस्कार नहीं हुआ है वह भी अग्नि में हवन न करे ॥ १८ ॥

आन्नप्राशनाद्गर्भा नाऽप्रयता भवन्ति ॥ १९ ॥

अन्नप्राशनात्प्राक् गर्भा बाला नाऽप्रयता भवन्ति रजस्वलादिस्पर्शनेऽपि। गौतमस्तु अपां मार्जनादिकमिच्छति। यथाह "अन्यत्राऽपां मार्जनप्रधावनावोक्षणेभ्यः" ॥ १९ ॥

अनु०—अन्नप्राशन संस्कार होने से पहले बच्चे अपवित्र नहीं होते ॥ १९ ॥

आ परिसंवत्सरादित्येके ॥ २० ॥

यावत् संवत्सरो न परिपूर्यते तावन्नाप्रयता गर्भा इत्यके मन्यते ॥ २० ॥

अनु०—कुछ धर्मज्ञों का मत है कि एक वर्ष के होने से पहले बच्चे अपवित्र नहीं होते।

यावता वा दिशो न प्रजानीयुः ॥ २१ ॥

यावद्दिग्विभागज्ञानं नाऽस्ति तावन्नाऽप्रयता भवन्ति ॥ २१ ॥

अनु०—अथवा वे उस समय तक अपवित्र नहीं होते जब तक उन्हें दिशाओं का ज्ञान न हो जाय ॥ २१ ॥

[२]ओपनयनादित्यपरम् ॥ २२ ॥

उपयनादर्वाक् नाऽप्रयता गर्भा इत्यपरदर्शनम् ॥ २२ ॥

अनु०—दूसरा मत यह है कि बालक उस समय तक अपवित्र नहीं होते जब तक उपनयन संस्कार नहीं हो जाता ॥ २२ ॥

अत्रोपपत्तिः—

अत्र ह्यधिकारश्शास्त्रैर्भवति ॥ २३ ॥

हि यस्मादत्रोपनयने सति विधिनिहेधशास्त्रैरधिकारो भवति ॥ २३ ॥

अनु०—उपनयन संस्कार के समय ही बालक वेद के नियमों के अनुसार धार्मिक कृत्य करने का अधिकारी हो जाता है ॥ २३ ॥

सा निष्ठा ॥ २४ ॥

उपनयनमपि परामृशतस्तच्छब्दस्य निष्ठाशब्दसमानाधिकरण्यात् स्त्रीलिङ्गता। सा निष्ठा तदुपनयनमवसानमधिकारस्येति ॥ २४ ॥

---

१. गौ, २.६ 'अपमार्जन' इति मैसूरपुस्तकपाठः २. ओपनयनादित्येके इति घ० ३. घ० पुस्तके'भवतीति'इतीतिकरणान्तं सूत्रं पठित्वा'इति करणो हेतौ'इति व्याख्यायताम्

अनु०—वही संस्कार वह सीमा है जहाँ से धार्मिक कृत्य करने का अधिकार आरम्भ होता है ॥ २४ ॥

स्मृतिश्च ॥ २५ ॥

अस्मिन्नर्थे स्मृतिरपि भवति–[1]उताऽब्रह्मचारी यथोपपादमूत्रपुरीषो भवति नाऽस्याऽचमकल्पो विद्यते इति [2]'प्रागुपनयनात्कामचारवादभक्ष' इति गौतमः ॥ २५ ॥

इत्यापस्तम्बधर्मसूत्रे द्वितीयप्रश्ने पञ्चदशी कण्डिका ॥ १५ ॥

अनु०—स्मृति का भी यही मत है ॥ २५ ॥

इति चापस्तम्बधर्मसूत्रवृत्तौ हरदत्तमिश्रविरचितायामुज्ज्वलायां द्वितीयप्रश्ने षष्ठः पटलः ॥ ६ ॥

---

१. 'उते' त्यादि 'विद्यत' इत्यन्तं घ० पुस्तक एवास्ति । २. गौ० ध० २.१

अथ सप्तमः पटलः

सह देवमनुष्या अस्मिँल्लोके पुरा बभूवुः। अथ देवाः कर्मभिर्दिवं जग्मुरहीयन्त मनुष्याः। तेषां ये तथा कर्माण्यारभन्ते सह देवैर्ब्रह्मणा चाऽमुष्मिन् लोके भवन्ति। अथैतन्मनुः श्राद्धशब्दं कर्म प्रोवाच। [1]प्रजानिश्श्रेयसाय च ॥ १ ॥

[2]श्राद्धविधित्सया तस्य प्ररोचनार्थोऽयमर्थवादः। पुरा किल देवाश्च मनुष्याश्चाऽस्मिन्नेव लोके सहैव बभूवुः। अथ तं सहभावमसहमाना देवाः कर्मभिश्रौतैस्स्मार्तैर्गार्ह्यैश्च यथावदनुष्ठितैर्दिवं जग्मुः। मनुष्यास्तु तथा कर्तुमसमर्था अहीयन्त हीना अभवन् इहैव लोके स्थिताः। यत एवं कर्मणां सामर्थ्यम् अत इदानीमपि तेषां मनुष्याणां मध्ये ये तथा कर्माण्यारभन्ते कुर्वन्ति यथारभन्त देवाः, ते देवैः ब्रह्मणा च सहामुष्मिन् लोके भवन्ति त्रिविष्टपे मोदन्ते[3]। अथैवंहीनान्मनुष्यान् दृष्ट्वा मनुर्वैवस्वतः श्राद्धशब्दं श्राद्धमिति शब्द्यमानमेतत्कर्म प्रोवाच। किमर्थम्? प्रजानिःश्रेयसाय, तादर्थ्ये चतुर्थी। प्रजानां निःश्रेयसार्थम्। निश्श्रेयसाचेति पाठे छान्दसो यकारस्य चकारः।

अपर आह–छान्दसो लिङ्गव्यत्ययः। प्रजानिश्श्रेयसं चाऽस्य कर्मणः फलमिति ॥ १ ॥

अनु०—आदिकाल में मनुष्य और देवता एकसाथ इस लोक में रहते थे। देवताओं ने अपने उत्तम (यज्ञ) कर्मों के प्रभाव से स्वर्ग प्राप्त किया और मनुष्य यहीं पड़े रह गए। जो मनुष्य देवताओं की तरह ही यज्ञ कर्म करते हैं वे मृत्यु के बाद स्वर्ग में देवों तथा ब्रह्मा के साथ निवास करते हैं। मनु ने मनुष्यों को श्राद्ध कर्म की विधि समझायी। यह कर्म प्रजाओं के निःश्रेयस् के लिए किया जाता है। १ ॥

तत्र पितरो देवता ब्राह्मणास्त्वाहवनीयार्थे ॥ २ ॥

तत्र श्राद्धकर्मणि पितरः पितृपितामहप्रपितामहाःदेवताः। ब्राह्मणास्तु भुञ्जाना आहवनीयार्थे आहवनीकृत्ये वेदितव्याः। त्रीणि श्राद्धे करणानि-होमो, ब्राह्मणभोजनं, पिण्डदानं चेति। अत्र भोजनस्य [4]प्रधानत्वख्यापनार्थोऽयमर्थवादः ॥ २ ॥

---

१. प्रजानश्श्रेयसाय च इति पृथक्सूत्रं च० पु० २. मासि श्राद्धविधित्सया इति ङ० पु०

३. एवंविधान् इति ख० पुस्तके टिप्पणीपाठः। एवं हीयमानान् इति च० पु०

४. 'प्रधानतमत्वं' इति च० पु०

अनु०— इस कर्म में पितृगण देवता होते हैं तथा जिन ब्राह्मणों को भोजन कराया जाता है वे आहवनीय अग्नि के प्रतीक होते हैं ॥ २ ॥

मासि मासि कार्यम् ॥ ३ ॥

तदिदं कर्म मासे मासे कर्तव्यम् । वीप्सावचनाद्यावज्जीविकोऽभ्यासः ।

अनु०—यह श्राद्धकर्म प्रत्येक मास में करना चाहिए ॥ ३ ॥

अपरपक्षस्याऽपराह्णः श्रेयान् ॥ ४ ॥

अपरपक्षस्य यान्यहानि तेष्वपराह्णः प्रशस्ततरः ॥ ४ ॥

अनु०—मास के दूसरे पक्ष में दोपहर के बाद का समय श्राद्धकर्म के लिए श्रेयस्कर होता है ॥ ४ ॥

तथाऽपरपक्षस्य जघन्यान्यहानि ॥ ५ ॥

यस्यैव पक्षस्य यान्यहानि पञ्चदश[1] तेषामुत्तरमुत्तरं प्रशस्ततरम् ॥ ५ ॥

अनु०—मास के दूसरे पक्ष के अन्तिम दिन अधिक श्रेयस्कर समझे जाते हैं ॥ ५ ॥

सर्वेष्वेवाऽपरपक्षस्याऽहस्सु क्रियमाणे पितॄन् प्रीणाति । कर्तुस्तु कालाभिनियमात्फलविशेषः ॥ ६ ॥

सर्वेष्वेवाहस्सु पितॄणां तृप्तिरविशिष्टा । यस्तु कर्ता प्रतिपदादिके काले नियमेन श्राद्धं करोति सर्वेषु मासेषु प्रतिपद्येव द्वितीयायामेवेत्यादि तस्य कर्तुस्तस्मात्कालाभिनियमात् फलविशेषो भवति ॥ ६ ॥

अनु०—मास के उत्तर पक्ष में किसी भी दिन को अर्पित किया गया श्राद्ध पितरों को सन्तुष्ट करता है । किन्तु समय के नियम के अनुसार वह कर्म श्राद्ध करने वाले के लिए विशिष्ट फल उत्पन्न करता है ॥ ६ ॥

कोऽसावित्याह—

प्रथमेऽहनि क्रियमाणे स्त्रीप्रायमपत्ये जायते ॥ ७ ॥

यः प्रतिपदि नियमेन श्राद्धं करोति तस्यापत्ये प्रजासन्ताने स्त्रीप्रायं जायते । प्रायेण स्त्रियो जायन्ते ॥ ७ ॥

अनु०—यदि उत्तर पक्ष के प्रथम दिन को श्राद्ध किया जाता है तो श्राद्धकर्ता की सन्तान प्रायः पुत्रियाँ होंगी ॥ ७ ॥

द्वितीये स्तेनाः ॥ ८ ॥

जायन्ते चोराः पुत्राः ॥ ८ ॥

---

१. तेषां यथोत्तरं श्रेयस्त्वम्' इति० ङ० च० पु०

अनु०—यदि दूसरे दिन को श्राद्ध किया जाता है तो पुत्र प्रायः चोर होते हैं ॥ ८ ॥

[1]तृतीये ब्रह्मवर्चसिनः ॥ ९ ॥

[2]व्रताध्ययनसम्पत्तिर्ब्रह्मवर्चसम् ॥

अनु०—यदि तीसरे दिन श्राद्धकर्म किया जाता है तो जो पुत्र उत्पन्न होंगे वे वेदाध्ययन के व्रत का पालन करने वाले ब्रह्मतेज से युक्त होंगे ॥ ९ ॥

चतुर्थे क्षुद्रपशुमान् ॥ १० ॥

क्षुद्राः पशवोऽजाव्यादयः तद्वान् कर्ता भवति । उत्तरत्राप्येकवचने[3]कर्तुर्वादो द्रष्टव्यः ॥ १० ॥

अनु०—चौथे दिन श्राद्ध कर्म करने वाले छोटे पशुओं (भेंड़ बकरी) से सम्पन्न होता है ॥ १० ॥

पञ्चमे पुमांसो बह्वपत्यो न चाऽनपत्यः प्रमीयते ॥ ११ ॥

पुमांस एव भवन्ति,[4] बहवश्च भवन्ति, न चाऽनपत्यः प्रमीयते जीवत्स्वेव पुत्रेषु सन्निहितेषु च स्वयं म्रियते । न तेषु मृतेषु, न देशान्तरं गतेषु, नाऽपि स्वयं देशान्तरं गत इति ॥ ११ ॥

अनु०—पांचवें दिन श्राद्धकर्म करने वाले को पुत्र ही उत्पन्न होते हैं वह अनेक पुत्रों का पिता होता है और पुत्रहीन बनकर नहीं मरता ॥ ११ ॥

षष्ठेऽध्वशीलोऽक्षशीलश्च ॥ १२ ॥

अध्वशीलः पान्थः । अक्षशीलः कितवः ॥ १२ ॥

अनु०—छठे दिन श्राद्ध करने वाला प्रायः देशाटन करने वाला तथा जुआरी होता है ॥ १२ ॥

सप्तमे कर्षे राद्धिः ॥ १३ ॥

कर्षः कृषिः । राद्धिः सिद्धिः ॥ १३ ॥

अनु०—सातवें दिन श्राद्ध कर्म करने से कृषि में वृद्धि होती है ॥ १३ ॥

अष्टमे पुष्टिः ॥ १४ ॥

---

१. तृतीये क्षुद्रपशुमान् कर्ता भवति ॥ चतुर्थे ब्रह्मवर्चसिनः ।

२. व्रताध्ययनसम्पत्तिर्ब्रह्मवर्चसम् । आपस्तम्बस्तु तृतीयचतुर्थयोर्विपरीतफलमाह—तृतीये ब्रह्मवर्चसिनः । चतुर्थे क्षुद्रपशुमान् ॥ इति पाठो घ पुस्तके ।

३. कर्तुरनुवादः, इति घ० पु० ।

४. बहवश्च भवन्ति, भव्याः रूपविद्यादिभिश्शोभमाना भवन्ति- इति घ० ङ०. पु० ।

स्पष्टम् ॥ १४ ॥

अनु०—आठवें दिन श्राद्ध कर्म करने से समृद्धि होती है ॥ १४ ॥

नवम एकखुराः ॥ १५ ॥

अश्वादयः ॥ १५ ॥

अनु०—नवें दिन श्राद्ध करने से एक खुर वाले पशुओं घोड़ों आदि की वृद्धि होती है ॥ १५ ॥

दशमे व्यवहारे राद्धिः ॥ १६ ॥

व्यवहारो वाणिज्यम्, शास्त्रपरिज्ञानं वा ॥ १६ ॥

अनु०—दसवें दिन श्राद्ध करने से व्यापापर में उन्नति होती है ॥ १६ ॥

एकादशे कृष्णायसं त्रपुसीसम् ॥ १७ ॥

कृष्णमयः कृष्णायसम् । त्रपुसीसे लोहविशेषौ ॥ १७ ॥

अनु०—ग्यारहवें दिन श्राद्ध करने से लोहे और त्रपुस की सम्पत्ति बढ़ती है ॥१७॥

द्वादशे पशुमान् ॥ १८ ॥

द्वादश्यां बह्वः पशवो भवन्ति ॥ १८ ॥

अनु०—बारहवें दिन श्राद्ध करने वाला अनेक पशुओं का स्वामी होता है ॥ १८ ॥

त्रयोदशे बहुपुत्रो बहुमित्रो दर्शनीयापत्यो युवमारिणस्तु भवन्ति ॥१९॥

त्रयोदश्यां बहवः पुत्रा मित्राणि च भवन्ति । अपत्यानि च दर्शनीयानि भवन्ति । किं तु ते पुत्रा युवमारिणः युवान एव म्रियन्ते[1] ॥ १९ ॥

अनु०—तेरहवें दिन श्राद्ध करने से अनेक पुत्र तथा अनेक मित्र मिलते हैं । श्राद्ध-कर्ता के पुत्र सुन्दर होते हैं, किन्तु उसके पुत्र अल्पायु में ही मर जाते हैं ॥ १९ ॥

चतुर्दश आयुधे राद्धिः ॥ २० ॥

संग्रामे जयः ॥ २० ॥

अनु—चौदहवें दिन श्राद्ध करने पर युद्ध में सफलता मिलती है ॥ २० ॥

पञ्चदशे पुष्टिः ॥ २१ ॥

स्पष्टम् ॥ २१ ॥

अनु०– पन्द्रहवें दिन श्राद्ध करने पर समृद्धि का फल मिलता है २१ ॥

तत्र द्रव्याणि तिलमाषा व्रीहियवा आपो मूलफलानि च ॥ २२ ॥

---

१. 'अयुवमारिण' इत्यन्ये इत्यधिकं ख० ङ० पु० ।

तत्र श्राद्धे तिलादीनि द्रव्याणि यथायथमवश्यमुपयोज्यानि ॥ २२ ॥

अनु०—श्राद्ध में अर्पित की जाने वाली वस्तुएँ हैं तिल, माष, व्रीहि, जौ, जल, मूल और फल ॥ २२ ॥

स्नेहवति त्वेवाऽन्ने तीव्रतरा पितॄणां प्रीतिर्द्राघीयांसं च कालम् ॥ २३ ॥

यद्वा तद्वा अन्नं भवतु स्नेहवति तु तस्मिन्नाज्यादिभिरुपसिक्ते पितॄणां तीव्रतरा प्रकृष्टतरा प्रीतिर्भवति । सा च द्राघीयांसं च कालमनुवर्तते ॥ २३ ॥

अनु०—चिकने पदार्थों से युक्त अन्न से पितृगणों की और अधिक तथा दीर्घकाल तक सन्तुष्टि होती है ॥ २३ ॥

तथा धर्माहृतेन द्रव्येण तीर्थे प्रतिपन्नेन ॥ २४ ॥

धर्मार्जितं यद्द्रव्यं पात्रे च प्रतिपादितं तेनाऽपि तथा तीव्रतरा पितॄणां प्रीतिर्दाघीयांसं च कालमिति ॥ २४ ॥

अनु०—इसी प्रकार धर्मपूर्वक उपार्जित धन योग्य व्यक्ति को दान दिया जाता है तो अधिक तथा दीर्घकाल तक सन्तुष्टि होती है ॥ २४ ॥

संवत्सरं गव्येन प्रीतिः ॥ २५ ॥

उत्तरत्र मांसग्रहणादिहापि मांसस्य ग्रहणम् । गव्येन मांसेन संवत्सरं पितॄणां प्रीतिर्भवत् ॥ २५ ॥

अनु०—गो का मांस एक वर्ष तक सन्तुष्टि देता है ॥ २५ ॥

भूयांसमतो माहिषेण ॥ २६ ॥

माहिषेण मांसेन, अतः संवत्सरात् भूयांस बहुतरं कालं पितृणां प्रीतिर्भवति ॥ २६ ॥

अनु०—भैंस का मांस उससे भी अधिक समय तक सन्तुष्टि देता है ॥ २६ ॥

एतेन ग्राम्यारण्यानां पशूनां मांसं मेध्यं व्याख्यातम् ॥ २७ ॥

एतेन माहिषेण मांसेनाऽन्येषामपि ग्राम्याणामजादीनामारण्यानां च शशादीनां मांसं मेध्यं व्याख्यातम्—पितॄणां प्रीतिकरमिति । मेध्यग्रहणं प्रतिषिद्धानां मा भूदिति ॥ २७ ॥

अनु०—इस नियम से दूसरे पालतू तथा जंगली पशुओं का मांस पितरों को अर्पित करना उनके लिए सन्तुष्टि देने वाला समझना चाहिए ॥ २७ ॥

इत्यापस्तम्बधर्मसूत्रवृत्तौ द्वितीयप्रश्ने षोड़शी कण्डिका ॥ १६ ॥

खड्गोपस्तरणे खड्गमांसेनाऽऽनन्त्यं कालम् ॥ १ ॥

खड्गचर्मोपस्तरणेष्वासनेषूपविष्टेभ्यो ब्राह्मणेभ्यो दत्तेन खड्गमांसेनाऽनन्तं कालं प्रीतिर्भवति । आनन्त्यमिति पाठे स्वार्थे ष्यञ् ॥ १ ॥

अनु०—खड्ग (गैंडे) के चमड़े के ऊपर बैठे हुए ब्राह्मणों को अर्पित किया गया खड्ग का मांस अनन्तकाल तक पितरों को सन्तुष्टि प्रदान करता है ॥ १ ॥

तथा शतबलेर्मत्स्यस्य मांसेन ॥ २ ॥

शतबलिर्बहुशल्यको रोहिताख्यः ॥ २ ॥

अनु०—इसी प्रकार शतबलि नाम के मछली के मांस से भी अनन्त काल तक पितरों को तृप्ति होती है ॥ २ ॥

वार्ध्राणसस्य च ॥ ३ ॥

व्याख्यातो वार्ध्राणसः । तस्य मांसेनाऽऽनन्त्यं कालं प्रीतिर्भवति ॥ ३ ॥

अनु०—वार्ध्राणस नाम के पक्षी के मांस से भी अनन्तकाल तक पितरों को तृप्ति होती है ॥ ३ ॥

प्रयतः प्रसन्नमनास्सृष्टो भोजयेद्ब्राह्मणान् ब्रह्मविदो योनिगोत्रमन्त्रान्तेवास्यसम्बन्धान् ॥ ४ ॥

प्रयतः स्नानाचमनादिना शुद्धः प्रसन्नमनाः अव्याकुलमनाः । सृष्टः उत्साहवान् । [1]'सृष्टश्चेद्ब्राह्मणवधे हत्वाऽपी'तिदर्शनात् । [2]'वृत्तिसर्गतायनेषु क्रमः' इत्यत्र च सर्ग उत्साहः । एवंभूतो ब्राह्मणान् भोजयेत् । कीदृशान् ? ब्रह्मविदः आत्मविदः । योन्यादिभिरसम्बन्धात् योनिसम्बन्धा मातुलादयः । गोत्रसम्बन्धाः सगोत्राः । मन्त्रसम्बन्धा ऋत्विजो याज्याश्च । अन्तेवासिसम्बन्धाश्शिष्या आचार्याश्च ॥ ४ ॥

अनु०—पवित्र होकर, प्रसन्न मन से, उत्साहपूर्वक वेदज्ञ ब्राह्मणों को, जो विवाह सम्बन्ध, रक्तसम्बन्ध, यजमान-पुरोहित सम्बन्ध या गुरु शिष्य सम्बन्ध से सम्बन्धित न हों, भोजन करावे ॥ ४ ॥

गुणहान्यां तु परेषां समुदेतः सोदर्योऽपि भोजयितव्यः ॥ ५ ॥

यदि परे योनिगोत्रादिभिरसम्बन्धा वृत्तादिगुणहीना एव लभ्यन्ते, तदा समुदेतो विद्यावृत्तादिभिर्युक्तः सोदर्योऽपि भोजयितव्यः किमुत मातुलादय इत्यपिशब्दस्याऽर्थः ॥ ५ ॥

अनु०—यदि दूसरे (अर्थात् विवाह, रक्त, मन्त्र, विद्याध्ययन के संबन्ध में न

१. गौ० ध० २२. ११ २. पा० सू० १. ३. ३८

आने वाले) ब्राह्मणों में गुणों का अभाव हो तो गुणवान् सहोदर भाई को भी भोजन कराया जा सकता है ॥ ५ ॥

एतेनाऽन्तेवासिनो व्याख्याताः ॥ ६ ॥

एतेन सोदर्येण अन्तेवासिनः बहुवचननिर्देशात् पूर्वत्र निर्दिष्टा योन्यादिभिस्सम्बन्धास्सर्व एव व्याख्याताः—अन्येषामभावे समुदेता भोजयितव्या इति।

अत्र मनुः—

[1] 'एष वै प्रथमः कल्पः प्रदाने हव्यकव्ययोः ।
अनुकल्पस्तु विज्ञेयः सदा सद्भिरनुष्ठितः ॥
[2] मातामहं मातुलं च स्वस्रीयं श्वशुरं गुरुम् ।
दौहित्रं[3] विट्पतिं बन्धुमृत्विग्याज्यौ च भोजयेत् ॥ इति ॥६॥

अनु०—इस नियम से (सहोदर भाई के साथ ही साथ) दूसरे सम्बन्धी और अन्तेवासी भी भोजन कराये जाने योग्य होते हैं ॥ ६ ॥

अथाप्युदाहरन्ति ॥ ७ ॥

सबन्धिनो न भोज्या इत्यस्मिन्नर्थे धर्मज्ञा वचनमुदाहरन्ति ॥७॥

अनु०—इस सम्बन्ध में ये वचन उद्धृत किये जाते हैं : ॥ ७ ॥

सम्भोजनी ताम पिशाचभिक्षा नैषा पितॄन् गच्छति नोऽथ देवान् ।
इहैव सा चरति क्षीणपुण्या शालान्तरे गौरिव नष्टवत्सा ॥ ८ ॥

परस्परं भुञ्जतेऽस्यामिति सम्भोजनी । अधिकरणे ल्युट् । नामेदमस्याः पिशाचभिक्षायाः । नैषा पितॄन् गच्छति नाऽपि देवान् । किं तु क्षीणपुण्या परलोकप्रयोजनरहिता सती इहैव चरति लोके यथा गौर्मृतवत्सा गृहाभ्यन्तर एव चरति न बहिर्गच्छति तद्वदेतत् ॥ ८ ॥

अनु०—(यज्ञ में) भोजन कराने वाले से सम्बद्ध व्यक्तियों को जो भोजन कराया जाता है वह भोजन पिशाचों को ही मिलता है। वह अन्न न तो पितरों के पास पहुँचता है और न देवताओं के पास। वह भोजन पुण्यफल से विहीन होकर इसी लोक में उसी प्रकार भटकता है जिस प्रकार बछड़े के खो जाने पर गौ गोशाले के भीतर ही ढूँढती हुई घूमती हो (बाहर न जा पाती हो) ॥ ८ ॥

तद्व्याचष्टे—

इहैव सम्भुञ्जतीति दक्षिणा कुलात्कुलं विनश्यतीति ॥ ९ ॥

सम्भुञ्जती परस्परभोजनस्य निमित्तभूता दक्षिणा श्राद्धे दानक्रिया गृहात् गृहं गत्वा इहैव लोके नश्यतीत्यर्थः ॥ ९ ॥

---

१. म० स्मृ० ३. १४७, २. म स्मृ० ३. १४८ ३. विट्पतिर्जामाता ।

अनु०—सम्बन्धियों को दिया गया भोजन तथा दान इसी लोक में एक कुल से दूसरे कुल में जाकर नष्ट होता है ॥ ९ ॥

अथ बहुषु तुल्यगुणेषूपस्थितेषु कः परिग्राह्यः ?

तुल्यगुणेषु वयोवृद्धः श्रेयान्द्रव्यकृशश्चेप्सन् ॥ १० ॥

यो वयसा वृद्धस्स तावद्ग्राह्यः । तत्रापि यो द्रव्येण कृशः ईप्सन् लिप्समानश्च भवति स ग्राह्यः[1] । अद्रव्यकृशोऽपि अवृद्धोऽपि, द्वयोस्तु समवाये यथारुचीति ॥ १० ॥

अनु०—यदि निमन्त्रित लोगों में सभी के गुण समान हों तो उनमें जो ब्राह्मण अवस्था की दृष्टि से वृद्ध तथा जो निर्धन और भोजन करने के इच्छुक हों उन्हें भोजन के लिए बुलाना चाहिए ॥ १० ॥

पूर्वेद्युर्निवेदनम् ॥ ११ ॥

श्राद्धदिनात्पूर्वेद्युरेव ब्राह्मणेभ्यो निवेदयितव्यम्—श्वः श्राद्धं भविता तत्र भवताऽऽह्वनीयार्थे प्रसादः कर्तव्य इति ॥ ११ ॥

अनु०—श्राद्धकर्म से एक दिन पहले भोजन के लिए ब्राह्मणों को निमन्त्रण देना चाहिए ॥ ११ ॥

अपरेद्युर्द्वितीयम् ॥ १२ ॥

अपरेद्युः श्राद्धदिने द्वितीयं निवेदनं कर्तव्यमद्य श्राद्धमिति ॥ १२ ॥

अनु०—दूसरे दिन दुबारा निमन्त्रण दिया जाता है ॥ १२ ॥

तृतीयमामन्त्रणम् ॥ १३ ॥

आमन्त्रणमाह्वानं भोजनकाले सिद्धमागम्यतामिति तत्तृतीयं भवति ॥१३॥

अनु०—उसी दिन (भोजन तैयार हो जाने पर, भोजन के समय) तीसरा निमन्त्रण दिया जाता है ॥ १३ ॥

त्रिःप्रायमेके श्राद्धमुपदिशन्ति ॥ १४ ॥

न केवलं निवेदनमेव त्रिर्भवति । किं तर्हि यच्च यावच्च श्राद्धे तत्सर्वं त्रिरावर्त्यमित्येके मन्यन्ते । अत्र पक्षे होमभोजनपिण्डानामप्यावृत्तिस्तस्मिन्नेवाऽपराह्णे ॥ १४ ॥

अनु०—कुछ धर्मज्ञों का मत है कि श्राद्ध में प्रत्येक कर्म तीन बार किया जाना चाहिए ॥ १४ ॥

यथाप्रथममेवं द्वितीयं तृतीयं च ॥ १५ ॥

येन प्रकारेण प्रथमश्राद्धं तथैव द्वितीयं तृतीयं च कर्तव्यम् ॥ १५ ॥

---

१. यद्वा वयो वृद्धो ग्राह्योऽद्रव्यकृशोऽपि । द्रव्यकृशोऽप्यवृद्धोऽपीति इति पाठः च०पु०

अनु०—जिस प्रकार प्रथम श्राद्ध के समय कर्म किये जाँय उसी विधि से दूसरे और तीसरे बार भी उन कर्मों की आवृत्ति की जाय ॥ १५ ॥

सर्वेषु वृत्तेषु सर्वतस्समवदाय शेषस्यग्रास वराध्यं प्राश्नीयाद्यथोक्तम् ॥१६॥

सर्वेषु श्राद्धेषु त्रिष्वपि वृत्तेषु समाप्तेषु सर्वतस्त्रयाणां श्राद्धानां य ओदनशेषस्ततस्समवदाय ग्रासवराध्यं प्राश्नीयात् यथोक्तं गृह्ये[1] 'उत्तरेण यजुषा शेषस्य ग्रासवराध्यं प्रश्नीया' दिति। तत्र प्रयोगः "[2]पूर्वेद्युनिवेदनम्। तद्वत् परेद्युः प्रातर्भोजनकाले आमन्त्रणं-सिद्धमागम्यतामिति। ततो होमादिपिण्डनिधानान्तमेकैकमपवृज्य ततः सर्वतस्समवदाय ग्रासावराध्यस्य[3] 'प्राणे निविष्टे' ति प्राशनमिति ॥ १६ ॥

अनु०—जब सभी श्राद्धों में (तीन बार) कर्म कर लिए जाँय तब सभी तीनों श्राद्धों से अन्न लेकर एक छोटे ग्रास भर अन्न गृह्यसूत्र में बतलायी गई विधि के अनुसार खाए ॥ १६ ॥

उदीच्यवृत्तिस्त्वासनगतानां हस्तेषूदपात्रानयनम् ॥ १७ ॥

'प्रागुदञ्चौ विभजते हंसः क्षीरोदकं यथा।
विदुषां शब्दसिद्ध्यर्थं सा नः पातु शरावती ॥'

इति वैयाकरणाः। तस्याः शरावत्या उदक्कोरवर्तिन उदीच्याः। तेषां वृत्तिराचार आसनेषूपविष्टानां ब्राह्मणानां हस्तेषूदपात्रादर्घ्यपात्रादादायाऽर्घ्यदानमिति।[4] पितरिदं तेऽर्घ्यम्, पितामहेदं तेऽर्घ्यं, प्रपितामहेदं तेऽर्घ्यमिति मन्त्रा आश्वलायनके[5]। यद्यप्युदीच्यवृत्तिरित्युक्तं, तथापि प्रकरणसामर्थ्यात् सर्वेषामपि भवति ॥ १७ ॥

अनु०—उत्तर के लोगों में यह प्रथा है कि वे आसन पर बैठे हुए ब्राह्मणों के हाथ में जलपात्र से जल लेकर रखते हैं ॥ १७ ॥

'उद्ध्रियतामग्नौ च क्रियता' मित्यामन्त्रयते ॥ १८ ॥

होमकाल 'उद्ध्रियतामग्नौ च क्रियतामि' त्यनेन मन्त्रेण ब्राह्मणानामन्त्रयते। मन्त्रे[6] 'अधीष्टे चे' ति लोट्प्रत्ययः ॥ १८ ॥

---

१. आ० प० गृ० २१. ९ २. पूर्वेद्युर्नवावरेभ्यो निवेदनं, इति च० पु०।

३. 'प्राणे निविष्टोऽमृतं जुहोमि ब्रह्मणि म आत्माऽमृतत्वाय' इति मन्त्रः।

४. 'अमुष्मै स्वधा नम इति गृह्योक्तेन प्रकारेणार्घ्यं दद्यात्' ततस्तिलान् श्राद्धभूमौ विकिरेत्, इति अधिकः पाठो घ० ङ० पुस्तकयोः।

५. आश्व० गृ० ४. ८. ३.।

६. पा० सू० ३. ३. १६१ ( ) कुण्डलान्तर्गतो भागः घ० पुस्तक एवास्ति।

अनु०—होम के समय (जो ब्राह्मणों को भोजन कराने के ठीक पहले किया जाता है) 'उद्ध्रियतामग्नौ च क्रियताम्' मन्त्र से ब्राह्मणों को अभिमन्त्रित किया जाता है। (मन्त्र का अर्थ है कि (इस सिद्ध अन्न से अंश निकालने की तथा अग्नि में हवन करने की आप लोग अनुमति प्रदान करें) । १८ ॥

'काममुद्ध्रियतां काममग्नौ च क्रियता'मित्यतिसृष्ट उद्धरेज्जुहुयाच्च॥ १९॥

अथ ब्राह्मणाः काममुद्ध्रियतां काममग्नौ च क्रियतामित्यतिसृजेयुः अनुजानीयुः। तश्चातिसृष्ट उद्धरेज्जुहुयाच्च। उद्धरणं नाम ब्राह्मणार्थं पक्वादन्नादन्यस्मिन् पात्रे पृथक्करणम्। तत्सूत्रकारेण ज्ञापितमष्टकाश्राद्धे ॥ १९ ॥

अनु०—(ब्राह्मणों के) 'अपनी इच्छा से अन्न को निकाल कर उसका हवन करो' ('कामबुद्ध्रियतां काममग्नौ च क्रियताम्' (इस प्रकार अनुमति देने पर) अन्न को अलग निकाले और हवन करे ॥ १९ ॥

श्वभिरपपात्रैश्च श्राद्धस्य दर्शनं परिचक्षते ॥ २० ॥

(श्वभिरिति बहुवचनात् ग्रामसूकरादीनां तादृशानां ग्रहणम्।) अपपात्राः पतितादयः, प्रतिलोमादयश्च। तैः श्राद्धस्य दर्शनं परिचक्षते गर्हन्ते शिष्टाः। अतो यथा ते न पश्येयुस्तथा[1] परिश्रिते कर्तव्यमिति ॥ २० ॥

अनु०—कुत्ते और पतित आदि अपपात्र यदि श्राद्ध कर्म देखते हैं तो उस श्राद्ध कर्म को निन्दित माना जाता है ॥ २० ॥

श्वित्रशिपिविष्टः परतल्पगाम्यायुधीयपुत्रश्शूद्रोत्पन्नो ब्राह्मण्यामित्येते श्राद्धे भुञ्जानाः पंक्तिदूषणा भवन्ति ॥ २१ ॥

[2]श्वित्रश्श्वित्री श्वेतकुष्ठी। शिपिविष्टः खलतिः। विवृतशेफ इत्यन्ये। परतल्पगामी यः परतल्पं गत्वा अकृतप्रायश्चित्तः तस्य ग्रहणम्। आयुधीयपुत्रः क्षत्रियवृत्तिमाश्रितो य आयुधेन जीवति ब्राह्मणः तस्य पुत्रः। शूद्रेण ब्राह्मण्यामुत्पन्नश्चण्डालः। न तस्य प्रसङ्गः। 'ब्राह्मणान् ब्रह्मविद्' इत्युक्तत्वात्। तस्मादेवं व्याख्येयम्—क्रमविवाहे यः शूद्रायां पूर्वमुत्पाद्य पश्चात् ब्राह्मण्यामुत्पादयति तस्य पुत्रः शूद्रोत्पन्नो ब्राह्मण्यामिति। स हि पिता शूद्रः सम्पन्नः। श्रूयते हि[3] 'तज्जाया जाया भवति यदस्यां जायते पुनरि' ति। स्मर्यते च—

[4]'यदुच्यते द्विजातीनां शूद्राद्दारपरिग्रहः।
न तन्मम मतं यस्मात्तत्राऽयं जायते स्वयम् ॥' इति।

---

१. 'परिश्रितेन' इति. क० च० पु०। २. श्वित्री० म श्वित्री कुष्ठी० इति घ० पु०।
३. ऐ० ब्रा० ७. ३. १३. ४. या० स्मृ० १. ५७.

'एते श्वित्र्यादयः श्राद्धे भुञ्जानाः पङ्क्तिं दूषयन्ति । अतस्ते न भोज्या इति ॥ २१ ॥

अनु०—श्वेत कुष्ठ के रोगी, गंजे सिर वाला, दूसरे की पत्नी से मैथुन करने वाला, क्षत्रिय का कर्म करने वाले ब्राह्मण का पुत्र, ऐसे ब्राह्मण का ब्राह्मणी से उत्पन्न पुत्र जो पहले शूद्रा पत्नी से विवाह करके शूद्र बन गया हो श्राद्ध में भोजन करने पर पंक्ति को दूषित करते हैं ॥ २१ ॥

त्रिमधुस्त्रिसुपर्णस्त्रिणाचिकेतश्चतुर्मेधः पञ्चाग्निर्ज्येष्ठसामिको वेदाध्याय्यनूचानपुत्रः श्रोत्रिय इत्येते श्राद्धे भुञ्जानाः पङ्क्तिपावना भवन्ति ॥२२॥

'मधुवाता ऋतायत' इत्येष तृचः [2]त्रिमधुः । तत्र हि प्रत्यृचं त्रयो मधुशब्दाः । इह तु तदध्यायी पुरुषस्त्रिमधुः । त्रिसुपर्णः [3]'चतुष्कपर्दा युवतिः सुपेशा' इत्यादिकस्तृचो बाह्वृचः । अन्ये तु तैत्तिरीयके [4]'ब्रह्ममेतु मा' मित्यादयः त्रयोऽनुवाका इत्याहुः । तत्र हि 'य इमं त्रिसुपर्णमयाचितंब्राह्मणाय दद्यादि'ति श्रूयते 'आसहस्रात् पङ्क्तिं पुनन्तो'ति च । पूर्ववत्पुरुषे वृत्तिः । त्रिणाचिकेतः नाचिकेताऽग्निर्वल्लीषु शाखासु विधीयते [5]तैत्तिरीयके, कठवल्लीषु, शतपथे च । तं यो वेद मन्त्रब्राह्मणेन सह स त्रिनाचिकेतः [6]नाचिकेताग्नेस्त्रिश्चेतेत्यन्ये । विरजानुकाध्यायीत्यन्ये, [7]प्राणापानेत्यादि । चतुर्मेधः अश्वमेधः, सर्वमेधः, पुरुषमेधः, पितृमेध इति चत्वारो मेधाः । तदध्यायी चतुर्मेधः । चतुर्णां यज्ञानामाहर्तेत्यन्ये । पञ्चाग्निः

---

१. इतः पूर्वं वृषलीपतिः वृषली शूद्रकन्या अदत्ता रजस्वला च वृषली तस्याः पतिः निषिद्धद्रव्यविक्रेता तिलकम्बलरसविक्रेता । राजभृत्यः राज्ञस्सकाशात् भृतिं वेतनं गृह्णाति स राजभृत्यः ॥ ब्राह्मण्यामेवोत्पन्नस्सन् यस्योत्पादयिता सन्दिग्धः स तदुत्पन्न एवेति । शिपिविष्टादयः श्राद्धे भुञ्जानाः,·· इति पाठो घ. पुस्तके ।

२. मधु वाता ऋतायते, मधु नक्तमुतोषसि, मधुमान्नो वनस्पतिः (तै. सं. ४. २. ६.) इति तिस्रः ऋचः त्रिमधुः ।

३. चतुष्कपर्दा युवतिः, एकस्सुपर्णस्समुद्रम् , सुपर्णं विप्राः, इति तिस्रः ऋचः (ऋ. सं. ८. ६. १६.)

४. ब्रह्ममेतु माम्, ब्रह्ममेधया, ब्रह्ममेधवा, तै. आ. (महानारायणोपनिषदि.) (३८, ३९, ४०) इति त्रयोऽनुवाकाः त्रिसुपर्णः ।

५. तैत्तिरीयके. ब्राह्मणे तृतीयाष्टके एकादशे प्रपाठक आम्नातः । कठोपनिषदि प्रथमादित्रिषु वल्लीषु, शतपथे ।

६. नाचिकेताग्नेस्त्रिश्चेतेत्यन्ये, इति. च. पु.

७. प्राणापानव्यानोदानसमाना मे शुध्यन्तां ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयासं स्वाहा. (तै. आ. (महाना.) ९५.) इत्यादिः विरजानुवाकः ।

सभ्यावसथ्याभ्यां सह। [1]पञ्चानां काठकाग्नीनामध्येता वा। ज्येष्ठसाम तलवकारिणां प्रसिद्धं उदु त्यं, चित्रमित्येतयोर्गीतम्। तद्गायतीति ज्येष्ठसमागः। ज्येष्ठसामिक इति पाठे व्रीह्यादित्वात् ठन्। वेदाध्यायी स्वाध्यायपरः। अनूचानपुत्रः त्रैविद्यपुत्रः। श्रोत्रिय इत्यपि पठन्ति। तदादरार्थं द्रष्टव्यम्। एते श्राद्धे भुञ्जानाः पङ्क्तिं शोधयन्ति। वेदाध्यायीत्यस्याऽनन्तरमितिशब्दं पठन्ति। सोऽपपाठः। एतेन पञ्चाग्नीत्यविभक्तिकपाठो व्याख्यातः॥ २२॥

अनु०—'मधुवाता ऋतायते' आदि तीन-तीन बार मध शब्द से युक्त वेद की तीन ऋचाओं का अध्ययन करने वाला, तीन बार सुपर्ण शब्द से युक्त वेद के अंश का ज्ञान रखने वाला, तीन बार नाचिकेत अग्नि का चयन करने वाला, (अश्वमेघ, पुरुषमेघ, सर्वमेध, पितृमेध) चार यज्ञों पर उपयोग में आने वाले मन्त्रों का ज्ञान रखने वाला, पाँच अग्नियों को प्रज्वलित रखने वाला, ज्येष्ठ साम का ज्ञाता, दैनिक अध्यवसाय करने वाला, अङ्गों सहित सम्पूर्ण वेद का अध्यापन करने में समर्थ ब्राह्मण का पुत्र, तीन विद्याओं के ज्ञाता का पुत्र तथा श्रोत्रिय—ये श्राद्ध में खाने पर पंक्ति को पवित्र करते हैं॥ २२॥

न च नक्तं श्राद्धं कुर्वीत॥ २३॥

श्राद्धकर्मण्यारब्धे कारणाद्विलम्बे मध्ये यदादित्योऽस्तमियात् तदा श्राद्धशेषं न कुर्वीत, अपरेद्युर्दिवैव कुर्वीतेति॥ २३॥

अनु०—श्राद्ध का कोई कर्म रात्रि को न करे॥ २३॥

आरब्धे चाऽभोजनमासमापनात् (अन्यत्र राहुदर्शनात्)॥ २४॥

पूर्वेद्युर्निवेदनप्रभृत्यापिण्डनिधानान्मध्ये कर्तुर्भोजनप्रतिषेधः। अनन्तरमन्यत्र राहुदर्शनादिति पठन्ति। 'न च नक्त' मित्यस्यापवादः राहुदर्शने नक्तमपि कुर्वीतेति। उदीच्यास्त्वेतत्प्रायेण न पठन्ति। तथा च पूर्वैर्न व्याख्यातम्। प्रत्युत 'न च नक्त'मित्येतत् सोमग्रहणविषयमिति व्याख्यातम्। पठ्यमानं तु न च नक्तमित्यस्यानन्तरं पठितुं युक्तम्॥ २४॥

इत्यापस्तम्बधर्मसूत्रवृत्तौ द्वितीयप्रश्ने सप्तदशी कण्डिका॥ १७॥

अनु०—श्राद्ध कर्म आरम्भ करने के बाद जब तक वह समाप्त न हो जाय तब तक भोजन न करे (रात्रि में चन्द्र ग्रहण हो तो उसे श्राद्ध कर्म के लिए अपवाद समझना चाहिए॥ २४॥

इति चापस्तम्बधर्मसूत्रवृत्तौ हरदत्तमिश्रविरचितायामुज्ज्वलायां द्वितीयप्रश्ने सप्तमः पटलः॥ ७॥

---

१. सावित्र, नाचिकेत, चातुर्होत्र, वैश्वसृजा, रुणकेतुकाख्याः पञ्च चयनविशेषाः तैत्तिरीयब्राह्मणे ३ याष्टके दशमादिषु त्रिषु (काठके. १. २. ३) प्रपाठकेषु समन्त्रका आम्नाताः पञ्चाग्नयः। छान्दोग्योपनिषद्याम्नातपञ्चाग्निविद्याध्यायी पञ्चाग्निरिति मनौ (२. १८५) मेधातिथिः।

अथाऽष्टमः पटलः

विलयनं मथितं पिण्याकं मधु मांसं च वर्जयेत् ॥ १ ॥

विलयनं नवनीतमलम्। यस्य दध्नो हस्तादिना मन्थनमात्रं न जलेन मिश्रणं तन्मथितम् तथा च नैघण्टुकाः—

'[1]तक्रं ह्युदश्विन्मथितं पादाम्ब्वर्धाम्बु निर्जलमि' ति।

यन्त्रपीडितानां तिलानां कल्कः पिण्याकम्। मधुमांसे प्रसिद्धे मांसमप्रतिषिद्धमपि। एतद्विलयनादिकं वर्जयेत् ॥ १ ॥

अनु०—नवनीत, हाथ से मथा गया दधि, पीसे गए तिलों का पिण्ड, मधु और मांस का वर्जन करना चाहिए ॥ १ ॥

कृष्णधान्यं शूद्रान्नं ये चान्येऽनाश्यसम्मताः ॥ २ ॥

कृष्णधान्यं[2] माषादि। न कृष्णा व्रीहयः। शूद्रान्नं पक्वमपक्वं च। ये चान्येऽनाश्यत्वेनाभोज्यत्वेन सम्मताः तांश्च वर्जयेत् ॥ २ ॥

अनु०—काले रंग के उड़द आदि अन्न, शूद्र द्वारा दिया गया पका हुआ या कच्चा अन्न अथवा दूसरे किसी ऐसे व्यक्ति द्वारा दिया गया अन्न, जिसका अन्न खाने योग्य नहीं माना जाता, वर्जित है ॥ २ ॥

[3]अहविष्यमनृतं क्रोधं येन च क्रोधयेत् ॥ ३ ॥

अहविष्यं कोद्रवादि अनृतं मिथ्यावचनम्। क्रोधः कोपः येन च कृतेनोक्तेन वा परं क्रोधयेत्, तच्च वर्जयेत् ॥ ३ ॥

अनु०—(कोदो आदि) यज्ञ में न दिया जाने योग्य अन्न, असत्यवचन, क्रोध तथा दूसरे को कुपित करने वाले वचन का वर्जन करे ॥ ३ ॥

स्मृतिमिच्छन् यशो मेधां स्वर्गं पुष्टिं द्वादशैतानि वर्जयेत् ॥ ४ ॥

स्मृतिरधिगतस्य स्मरणम्। यशः ख्यातिः। मेधा प्रज्ञा। द्वादशैतानि विलयनादीनि वर्जयेत् स्मृत्यादिकमिच्छन्। पुनर्वर्जयेदिति गुणार्थोऽनुवादः स्मृत्यादिकं फलं विधातुम्। द्वादशैतानीति वचनं विलयनादेरपि परिग्रहार्थम्, अहविष्यादिकमेवानन्तरोक्तं मा ग्राहीदिति ॥ ४ ॥

---

१. अमरको. २. का. वै. ५३.

२. कुलुत्थादि इति घ. च. पुस्तकयोः, कृष्णकुलुत्थादि. इति ङ. पु.

३. 'अहविष्य'मित्यादि 'वर्जये' दित्यन्तमेकसूत्रं कः पुस्तके परम्।

अनु०—उत्तम स्मृति, यश, बुद्धिमत्ता, स्वर्गीय सुख और समृद्धि की इच्छा रखने वाला इन बारह वस्तुओं और कर्मों का वर्जन करे ॥ ४ ॥

अधोनाभ्युपरि जान्वाच्छाद्य त्रिषवणमुदकमुपस्पृशन्ननग्निपक्ववृत्तिरच्छायोपगतस्थानासनिकस्संवत्सरमेतद्व्रतं चरेदेतदष्टाचत्वारिंशत्सम्मितमित्याचक्षते ॥ ५ ॥

अधोनाभ्युपरि जान्वाच्छाद्येति व्याख्यातम् (१. २४. ११) त्रिषवणं त्रिषु सवनेषु प्रातर्मध्यन्दिने सायमिति उदकमुपस्पृशन् स्नानं कुर्वन्। अनग्निपक्ववृत्तिः, वृत्तिः शरीरयात्रा, सा अग्निपक्वेन न कार्या। अग्निग्रहणात् कालपक्वस्याऽऽम्रादेरदोषः। अच्छायोगपतः छायामनुपगच्छन्। स्थानासनिकः स्थानासनवान्। दिवास्थानं रात्रावासनं न कदा चिच्छयनम। एतत् 'विलयनं मथित' मित्यारभ्याऽनन्तरमुक्तं संवत्सरं व्रतं चरेत्। एतद्व्रतमष्टाचत्वारिंशद्वर्षसाध्येन ब्रह्मचारिव्रतेन सम्मितं सदृशं यावत्तस्य फलं तावदस्यापीत्याचक्षते धर्मज्ञाः। न केवलं स्मृत्यादिकमेव प्रयोजनमिति।

अपर आह—'विलयनं मथित' मित्यादिकं व्रतान्तरं स्मृत्यादिकामस्य। 'अधोनाभी' त्यादिकं पु सम्मितं व्रतमिति। एतच्च ब्रह्मचारिणो गृहस्थस्य च भवति।

तथा च बौधायनः—

'अष्टाचत्वारिंशत्सम्मितमित्याचक्षते तस्य सङ्क्षेपः संवत्सरः। तं संवत्सरमनुव्याख्यास्यामः—स यदि ब्रह्मचारी स्यान्नियमेव प्रतिपद्येत। अथ यद्यपि ब्रह्मचारी स्यात् केशश्मश्रुलोमनखानि वापयित्वा तीर्थं गत्वा स्नात्वे'त्यादि ॥ ५ ॥

अनु०—ऐसा वस्त्र धारण करे जो नाभि से नीचे से लेकर घुटने के ऊपर तक पहुँचता हो, प्रातःकाल, मध्याह्न तथा सन्ध्या समय स्नान करे, ऐसा अन्न खाये जो अग्नि पर न पकाया गया हो, कभी छाया में न रहे, दिन में खड़ा रहे, रात्रि को बैठे रहे, इस व्रत को एक वर्ष तक करे। धर्मज्ञों का वचन है कि इस व्रत का उतना ही फल होता है जितना अड़तालिस वर्ष तक निरन्तर ब्रह्मचर्य का फल होता है ॥५॥

नित्यश्राद्धम् ॥ ६ ॥

अथाऽहरहः कर्तव्यं श्राद्धमुच्यते। तस्य नित्यश्राद्धमिति नाम ॥ ६ ॥

अनु०—अब नित्य श्राद्ध की विधि का विवेचन किया जाता है। ६ ॥

---

१. नेदमद्योपलभ्यमानबौधायनीये धर्मसूत्र उपलभ्यते।

बहिर्ग्रामाच्छुचयः शुचौ देशे संस्कुर्वन्ति ॥ ७ ॥

तन्नित्यश्राद्धं बहिर्ग्रामात्कर्तव्यं तस्याऽन्नसंस्कारः शुचौ देशे अन्नं संस्कुर्वन्ति। शुचय इति वचनमाधिक्यार्थम्। आर्याः प्रयता इति पूर्वमेव प्रायत्यस्य विहितत्वात् ॥ ७ ॥

अनु०— गाँव से बाहर पवित्र स्थान पर पवित्र व्यक्ति इस प्रयोजन से अन्न पकाते हैं ॥ ७ ॥

तत्र नवानि द्रव्याणि ॥ ८ ॥

तत्र नित्यश्राद्धे द्रव्याणि नवान्येव ग्राह्याणि ॥ ८ ॥
कानि पुनस्तानि ?

अनु०—नित्य श्राद्ध में नौ द्रव्य ग्रहण किये जाते हैं ॥ ८ ॥

यैरन्नं संस्क्रियते येषु च भुज्यते ॥ ९ ॥

यैर्भाण्डैरन्नं संस्क्रियते येषु च कांस्यादिषु भुज्यते तानि नवानीति ॥ ९ ॥

अनु०—उन्हीं से अन्न तैयार किया जाता है और उन्हीं पात्रों में अन्न खाया जाता है ॥ ९ ॥

तानि च भुक्तवद्भ्यो दद्यात् ॥ १० ॥

तानि भाण्डानि कांस्यादीनि च भुक्तवद्भ्यो ब्राह्मणेभ्यो दद्यात्। एवं प्रत्यहम् ॥ १० ॥

अनु०— उन पात्रों को भोजन करने वाले ब्राह्मणों को दे देना चाहिए ॥ १० ॥

समुदेतांश्च भोजयेत् ॥ ११ ॥

समुदेतवचनं गुणाधिक्यार्थम् ॥ ११ ॥

अनु०—सभी उत्तम गुणों से युक्त ब्राह्मणों को भोजन करावे ॥ ११ ॥

न चाऽतद्गुणायोच्छिष्टं प्रयच्छेत् ॥ १२ ॥

भाण्डेषु यत् भुक्तशिष्टं तदिहोच्छिष्टम्। तदप्यतद्गुणाय भुक्तवतां ये गुणास्तद्रहिताय न दद्यात् तद्गुणायैव दद्यादिति[1] ॥ १२ ॥

अनु०—उस अन्न का जो अंश पात्रों में शेष बचा हो उसे किसी ऐसे ब्राह्मण को न खिलावे जो गुणों में उन ब्राह्मणों से हीन हो ॥ १२ ॥

एवं संवत्सरम् ॥ १३ ॥

एवमेतन्नित्यश्राद्धं संवत्सरं कर्तव्यमहरहः ॥ १३ ॥

अनु० - इस प्रकार एक वर्ष तक प्रतिदिन श्राद्ध करे ॥ १३ ॥

---

१. तदलाभे एतानि भुक्तवद्भ्यो ददाति उच्छिष्टानि श्राद्धे भुक्तवद्भ्य एव दद्यात्। इत्यधिकं घ० पुस्तके।

तेषामुत्तमं लोहेनाजेन कार्यम् ॥ १४ ॥

तेषां संवत्सरस्याऽह्नां उत्तममहस्समाप्तिदिनम्। लोहेन लोहितवर्णेन अजेन श्राद्धं कर्तव्यम्। दृश्यते चाप्यन्यत्राऽस्मिन्नर्थे लोहशब्दः–[1]"लोहस्तूपरो भवत्यप्यतूपरः कृष्णसारङ्गो लोहितसारङ्गो वे'ति। चमकेषु च भवति [2]"श्यामं च मे लोहं च म' इति ॥ १४ ॥

अनु०—इनमें अन्तिम श्राद्ध लाल रंग के बकरे की बलि के साथ करे ॥ १४ ॥

मानं च कारयेत्प्रतिच्छन्नम् ॥ १५ ।

मानं धिष्ण्वं वेदिका। दृश्यते हि मिनोतेरस्मिन्नर्थे प्रयोगः अग्रेणाऽऽग्नीध्रं चतुर उपस्रावं विमितं विमिन्वन्ति पुरस्तादुन्नतं पश्चान्निनुतमि'ति। स एवायमुपसर्गरहितस्य प्रयोगः। तं मानं कारयेत् कर्मकरैः, प्रतिच्छन्नं च तद्भवति तिरस्करिण्यादिना। इदमपि ग्रामाद्बहिरेव ॥ १५ ॥

अनु०—छिपाकर (तथा गाँव से बाहर) एक वेदी बनवावे ॥ १५ ॥

तस्योत्तरार्धे ब्राह्मणान् भोजयेत् ॥ १६ ॥

तस्य मानस्योत्तरस्मिन्नर्धे ब्राह्मणा भोजयितव्याः ॥ १६ ॥

अनु०—उसके उत्तर के आधे भाग में ब्राह्मणों को भोजन करावे ॥ १६ ॥

उभयान्पश्यति ब्राह्मणांश्च भुञ्जानान्माने च पितॄनित्युपदिशन्ति ॥१७॥

तस्यैवं कृतस्य कर्मणो महिम्ना उभयान् पश्यति, कांश्च कांश्च ब्राह्मणान्भुञ्जानान् तस्मिन्नेव च माने पितॄन् यथा ब्राह्मणान् भुञ्जानान् प्रत्यक्षेण पश्यति तथा माने समागतान् पितॄनपि प्रत्यक्षेण पश्यतीत्युपदिशन्ति धर्मज्ञाः ॥१७॥

अनु०—धर्मज्ञों का कथन है कि इस प्रकार वह भोजन करते हुए ब्राह्मणों को तथा उस वेदी पर बैठे हुए पितरों को— दोनों को ही देखता है ॥ १७ ॥

कृताकृतमत ऊर्ध्वम् ॥ १८ ॥

अत ऊर्ध्वं मासिश्राद्धं क्रियताम्, मा वा कारि। अकरणेऽपि न प्रत्यवाय इति ॥ १८ ॥

अनु०—उसके बाद प्रत्येक मास में श्राद्ध करे अथवा बिल्कुल ही श्राद्ध न करे ॥ १८ ॥

श्राद्धेन तृप्तिं निवेदयन्ते पितरः ॥ १९ ॥

हि यस्मादन्त्येऽहनि यद्दर्शनमुपगच्छन्ति, तच्छ्राद्धेन तृप्तिं हि वेदयन्ते ज्ञापयन्ति कर्तारम्। तस्मात् तत् कृताकृतमिति ॥१९॥

---

१. लौहेन इति घ. पु. २. तै सं. ४. ७. ५. "अग्नाविष्णू सजोषसा" इत्याद्या एकादशानुवाकाः चमका इत्युच्यन्ते 'चमे' शब्दघटित्वात्।

अनु०—अन्तिम दिन वेदी पर उपस्थित हो कर पितृगण श्राद्ध से तृप्त होने की सूचना देते हैं ॥ १९ ॥

अथ पुष्टिकामस्य प्रयोगस्तिष्येणेत्यादिरुच्छिष्टं दद्युरित्यन्त एकः ।

तिष्येण पुष्टिकामः ॥ २० ॥

अनु०—जो समृद्धि चाहता हो वह तिष्य नक्षत्र में—॥ २० ॥

इत्यापस्तम्बधर्मसूत्रे द्वितीयप्रश्नेऽष्टादशी कण्डिका ॥ १८ ॥

गोरसर्षपाणां चूर्णानि कारयित्वा तैः पाणिपादं प्रक्षाल्य मुखं कर्णौ प्राश्य च यद्वातो नाऽतिवाति तदासनोऽजिनं बस्तस्य प्रथमः कल्पो वाग्यतो दक्षिणामुखो भुञ्जीत ॥ १ ॥

पुष्टिकामः पुरुषो वक्ष्यमाणं प्रयोगं कुर्यात् । तिष्येण "नक्षत्रे च लुपी त्यधिकरणे तृतीया । तिष्ये नक्षत्रे गौराणां सर्षपाणां चूर्णानि कर्मकरैः कारयेत् । कारयित्वा तच्चूर्णैः पाणी पादौ प्रक्षाल्य मुखं कर्णौ च प्रक्षाल्य चूर्णशेषं प्राश्नीयात् । प्रास्येदिति पाठे प्रास्येत् विकिरेत् । एतावत् प्रतितिष्यं विशेषकृत्यम् । परं तु प्रत्यहं कर्तव्यम् । प्राश्य च यदासनं वातो नातिवाति अधो नातीत्य वाति तदासनस्तादृशासनः भुञ्जीतेति वक्ष्यमाणेन सम्बन्धः । तत्र बस्ताजिनमासनं स्यादिति मुख्य कल्पः ! वाग्यतो दक्षिणां दिशमभिमुखो भुञ्जीत ॥ १ ॥

अनु०—सफेद सरसों पिसवाकर उसे हाथों, पैरों, कानों तथा मुँह के ऊपर पोतवाये और शेष चूर्ण को खावे । यदि वायु तेज न बहती हो तो चुपचाप दक्षिण की ओर मुख करके किसी आसन पर बैठ कर खाए, और यथासंभव आसन बकरे का चर्म होवे ॥ १ ॥

अनायुष्यं त्वेवंमुखस्य भोजनं मातुरित्युपदिशन्ति ॥ २ ॥

यदेवंमुखस्य दक्षिणामुखस्य भोजनं तत् भोक्तुर्या माता तस्या अनायुष्यमनायुष्यकरमिति धर्मज्ञा उपदिशन्ति । तस्मान्मातृमता नैतद्व्रतं कार्यमिति ॥ २ ॥

अनु०—किन्तु शास्त्रज्ञों का कथन है कि जो व्यक्ति इस श्राद्ध में इस प्रकार दक्षिण की ओर मुख करके भोजन करता है उसकी माता की आयु कम हो जाती है ॥ २ ॥

औदुम्बरश्चमसः सुवर्णनाभः प्रशस्तः ॥ ३ ॥

---

१. पा. सू. २. ३. ४५.

चमु भक्षणे । यत्र चम्यते स चमसो भोजनपात्रम् । औदुम्बरस्ताम्रमयः सुवर्णेन मध्येऽलंकृतस्स प्रशास्तः प्रशस्तो भोजने ॥ ३ ॥

अनु०—इस अवसर पर प्रयोग किया जाने वाला चमस ताँबे का हो और उसका मध्य भाग सोने से अलंकृत हो, इस प्रकार का चमस भोजन के समय उत्तम होता है ॥ ३ ॥

नचाऽन्येनाऽपि भोक्तव्यम् ॥ ४ ॥

नचान्यनोपि कर्तुः पित्रापि तत्र पत्रे भोक्तव्यम् । अपिर्धात्वार्थानुवादी । भोक्तव्य इति पुंलिङ्गपाठेऽप्येष एवार्थः ॥ ४ ॥

अनु०—उसमें कोई दूसरा व्यक्ति भी भोजन न करे ॥ ४ ॥

यावद्ग्रासं सन्नयन्नस्कन्दयन्नाऽपजिहीताऽपजिहीत वा कृत्स्नं ग्रासं ग्रसति सहाङ्गुष्ठम् ॥ ५ ॥

यावदेव सकृत् ग्रसितुं शक्यं तावदेव सन्नयन् पिण्डीकुर्वन् । अस्कन्दयन् भूमावन्नलेपानपातयन् कृत्स्न ग्रासं ग्रसीतेत्यन्वयः । सहाङ्गुष्ठमास्येऽपि ग्रासप्रवेशे यथाङ्गुष्ठोऽप्यनुप्रविशति तथा सर्वानेव ग्रासानुक्तेन प्रकारेण ग्रसति ग्रसतो मध्ये क्रियान्तरविधिः-नाऽपजिहीत भोजनपात्रं सव्येन पाणिना न विमुञ्चेत् । अपजिहति वा विमुञ्चेद्वा । किमर्थमदिम् यावता न प्रकारान्तरं सम्भवति, सत्यं, 'प्रक्रमात्तु नियम्यत' इति न्यायेन य एव प्रकारः प्रथमे भोजने स एवाऽऽन्तादनुष्ठातव्य इत्येवमर्थमिदम् ॥ ५ ॥

अनु०—जितना ग्रास एक बार में खा सके उतने अन्न का पिण्ड बनावे, उसमें से थोड़ा भी अन्न भूमि पर न गिरने दे, भोजन पात्र को बाएँ हाथ से न छोड़े, अथवा उसे बाएँ हाथ से छोड़ भी सकता है। उस सम्पूर्ण ग्रास को अगूठे को मुख में डालते हुए एक ही बार में निगल जावे ॥ ५ ॥

न च मुखशब्दं कुर्यात् ॥ ६ ॥

भोजनदशायामिदम् । एवमुत्तरम् ॥ ६ ॥

अनु०—ऐसा करते समय मुख से किसी प्रकार का शब्द न करे ॥ ६ ॥

पाणि च नाऽवधूनुयात् ॥ ७ ॥

पाणिरत्र दक्षिणः ॥ ७ ॥

अनु०—खाते समय अपने दाहिने हाथ को न हिलावे ॥ ७ ॥

आचम्य चोर्ध्वौ पाणी धारयेदाप्रोदकीभावात् ॥ ८ ॥

भुक्त्वाऽऽचम्य पाणी ऊर्ध्वौ धारयेत् यावत् प्रगतोदकौ शुष्कोदकौ भवतः ॥ ८ ॥

अनु०—खा लेने के बाद आचमन कर अपने हाथों को तब तक ऊपर उठाये रखे जब तक हाथों में लगा जल न सूख जाय ॥ ८ ॥

ततोऽग्निमुपस्पृशेत् ॥ ९ ॥

भुक्त्वा नियमेनाग्निरुपस्प्रष्टव्यः ॥ ९ ॥

अनु०—उसके बाद अग्नि का स्पर्श करे ॥ ९ ॥

दिवाच न भुञ्जीताऽन्यन्मूलफलेभ्यः ॥ १० ॥

मूलानि कन्दाः । फलान्याम्रादीनि । तेभ्योऽन्यद्दिवा न भुञ्जीत । तद्भक्षणे न दोषः ॥ १० ॥

अनु०—इस श्राद्ध के करते समय दिन में मूल और फल के अतिरिक्त कुछ भी न खाए ॥ १० ॥

स्थालीपाकानुदेश्यानि च वर्जयेत् ॥ ११ ॥

'तेन सर्पिष्मता ब्राह्मणं भोजये' दित्यादौ ब्राह्मणो भूत्वा न भुञ्जीत अनुदेश्यानि च पितृभ्यो देवताभ्यश्च सङ्कल्पितानि च न भुञ्जीत ॥ ११ ॥

अनु०—स्थालीपाक का तथा पितृगण या देवों के लिए संकल्पित अन्न का भोजन न करे ॥ ११ ॥

सोत्तराच्छादनश्चैव यज्ञोपवीती भुञ्जीत ॥ १२ ॥

उत्तराच्छादनमुपरिवासः । तेन यज्ञोपवीतेन यज्ञोपवीतं कृत्वा भुञ्जीत । नाऽस्य भोजने "अपि वा सुत्रमेवोपवीतार्थे" इत्ययं कल्पो भवतीत्येके । समुच्चय इत्यन्ये ॥ १२ ॥

अनु०—उत्तरीय वस्त्र को बायें कन्धे के ऊपर तथा दाहिनी भुजा के नीचे लपेट कर भोजन करे ॥ १२ ॥

नैयमिकं तु श्राद्धं स्नेहवदेव दद्यात् ॥ १३ ॥

यन्नियमेन कर्तव्यं मासि श्राद्धं, तत् स्नेहद्रव्ययुक्तमेव दद्यात् । न शुष्कम् ॥ १३ ॥

अनु०—नियम पूर्वक किये जाने वाले मासिक श्राद्ध में चिकनाई से युक्त भोजन देना चाहिए ॥ १३ ॥

तत्र विशेषः—

सर्पिर्मांसमिति प्रथमः कल्पः ॥ १४ ॥

स्पष्टम् ॥ १४ ॥

अनु०—घी तथा मांस से युक्त भोजन सर्वोत्तम समझा जाता है ॥ १४ ॥

---

१. आप. गृ. ७. १५.

अभावे तैलं शाकमिति ॥ १५ ॥

सर्पिषोऽभावे तैलं मांसस्याऽभावे शाकम् । इतिशब्दाद्यच्चान्यदेव युक्तम् ॥ १५ ॥

अनु०—इन वस्तुओं का अभाव होने पर तैल और शाक से युक्त भोजन दे ॥ १५ ॥

मघासु चाधिकं श्राद्धकल्पेन सर्पिर्ब्राह्मणान् भोजयेत् ॥ १६ ॥

मघासु पूर्वपक्षेऽपि श्राद्धविधानेन सर्पिर्मिश्रमन्नं ब्राह्मणान् भोजयेत्॥१६॥

अनु०—मघा नक्षत्र में अधिक ब्राह्मणों को श्राद्ध के नियम के अनुसार घृत मिश्रित अन्न का भोजन करावे ॥ १६ ॥

इत्यापस्तम्बधर्मसूत्रवृत्तौ द्वितीयप्रश्ने एकोनविंशी कण्डिका ॥ १९ ॥

मासि श्राद्धे तिलानां द्रोणंद्रोणं येनोपायेन शक्नुयात् तेनोपयो- जयेत् ॥ १ ॥

येनोपायेनोपयोजयितुं शक्नुयात् अभ्यङ्गे, उद्वर्तने, भक्ष्ये, भोज्ये चेति तेनो- पायेन मासिश्राद्धे तिलानां द्रोणं द्रोणमुपयोजयेत् । तत्रैकैकस्य ब्राह्मणस्य तिलानां द्रोणं द्रोणमुपयोजयितुमशक्यत्वात् समुदितानुपयोजयेत् । द्रोणंद्रोणमिति वीप्सावचनं तु प्रतिमासिश्राद्धमुपयोजनार्थमिति केचित् । अन्ये तु एवंभूताः प्रबलाः प्रयत्नेनाऽन्विष्य भोजयितव्या इति ॥ १ ॥

अनु०—प्रत्येक मासिक श्राद्ध पर एक द्रोण तिल जिस उपाय से संभव हो सके उस उपाय से खर्च करे ॥ १ ॥

समुदेतांश्च भोजयेन्न चाऽतद्गुणायोच्छिष्टं दद्युः ॥ २ ॥

व्याख्यातमिदम् । दद्युरिति बहुवचनं तथाविधकर्तृबहुत्वापेक्षम् । वचन- व्यत्ययो वा ॥ २ ॥

अनु०—सभी उत्तम गुणों से युक्त ब्राह्मणों को भोजन करावे और उस अन्न के अवशिष्ट अंश को ऐसे ब्राह्मणों को न देवे जो गुण में उन ब्राह्मणों से हीन होवें ॥ २ ॥

अथ पुष्टिकामस्यैवाऽपरः प्रयोग आ पटलसमाप्तेः—

उदगयन आपूर्यमाणपक्षस्यैकरात्रमवरार्ध्यमुपोष्य तिष्येण पुष्टि- कामः स्थालीपाकं श्रपयित्वा महाराजमिष्ट्वा तेन सर्पिष्मता ब्राह्मणं भोजयित्वा पुष्ट्यर्थेन सिद्धिं वाचयीत ॥ ३ ॥

पुष्टिकामः पुरुष एकरात्रावरमुपवास कृत्वा उदगयन आपूर्यमाणपक्षस्य पूर्वपक्षस्य सम्बन्धिना तिष्येण तस्मिन्नक्षत्रे स्थालीपाकं श्रपयित्वा 'महाराजं वैश्रवणं यजेत। आज्यभागान्ते महाराजाय स्वाहेति प्रधानहोमः। स्विष्टकृदादिजयादयः। परिषेचनान्ते तेन सर्पिष्मता स्थालीपाकेन ब्राह्मणं भोजयेत्। उत्तरविवक्षयेदं वचनम्। भोजयित्वा सिद्धिं वाचयीत पुष्टिरस्त्विति ॥ ३ ॥

अनु०—समृद्धि चाहने वाला श्राद्धकर्ता उत्तरायण में तिष्य नक्षत्र होने पर, मास के प्रथम पक्ष में कम से कम एक दिन और एक रात्रि उपवास करके स्थालीपाक पकवावे और महाराज कुबेर के लिए अर्पित करे, घृत मिलाकर उस अन्न से एक ब्राह्मण को भोजन करावे और पुष्टि अर्थ वाले मन्त्र का पाठ कराकर समृद्धि की शुभाशंसा करावे ॥ ३ ॥

एवमहरहरापरस्मात्तिष्यात् ॥ ४ ॥

एवमिदं स्थालीपाकश्रपणादिसिद्धिवाचनान्तमहरहः कर्तव्यमापरस्मात्तिष्यात् यावदपरस्तिष्य आगच्छति ॥ ४ ॥

अनु०—अगले तिष्य नक्षत्र के आने तक इस कर्म को प्रतिदिन करे ॥ ४ ॥

द्वौ द्वितीये ॥ ५ ॥

द्वितीये तिष्ये प्राप्ते द्वौ भोजयेत्। अन्यत्समानम्। एवमातृतीयात् ॥ ५ ॥

अनु०—दूसरे तिष्य दिन को दूसरे मास में दो ब्राह्मणों को भोजन करावे ॥ ५ ॥

त्रींस्तृतीये ॥ ६ ॥

तृतीये तिष्ये त्रीन् भोजयेदाचतुर्थात् ॥ ६ ॥

अनु०—तीसरे तिष्य दिन को तीसरे मास में तीन ब्राह्मणों को भोजन करावे ॥ ६ ॥

एवं संवत्सरमभ्युच्चयेन ॥ ७ ॥

एवमेतत्कर्म यावत्संवत्सरः पूर्यते तावत् कर्तव्यम्। ब्राह्मणभोजनं चाऽभ्युच्चयेन भवति। चतुर्थोप्रभृति चत्वारः, पञ्चमप्रभृति पञ्चेत्यादि ॥ ७ ॥

अनु०—इस प्रकार एक वर्ष तक यह कर्म किया जाता है और प्रत्येक मास में एक-एक ब्राह्मण की संख्या बढ़ाई जाती है ॥ ७ ॥

एवं कृते फलमाह—

महान्तं पोषं पुष्यति ॥ ८ ॥

महत्या पुष्ट्या युक्तो भवति ॥ ८ ॥

---

१. कुबेराय वैश्रवाणाय। महाराजाय नमः (तै. आर. १. ३१.) इति मन्त्र वैश्रवणस्य महाराजपदेन सामानाधिकरण्यात् ॥

अनु०—इस प्रकार अत्यन्त समृद्धि की प्राप्ति होती है ॥ ८ ॥

आदित एवोपवासः ॥ ९ ॥

उपवासस्त्वादित एव पुष्ये भवति । न प्रतिपुष्यम् ॥ ९ ॥

अनु०—किन्तु उपवास केवल प्रथम दिन को किया जाता है ॥ ९ ॥

आत्ततेजसां भोजनं वर्जयेत् ॥ १० ॥

आत्ततेजांसि तक्रवाजिनादीनि । तानि नोपभुञ्जीत ॥ १० ॥

अनु०—उन वस्तुओं के भोजन का परहेज करे जिनमें तेज होता है (जैसे तक्र, दधि आदि) ॥ १० ॥

भस्मतुषाधिष्ठानम् ॥ ११ ॥

वर्जयेदित्येव । भस्मतुषांश्च नाऽधितिष्ठेत् नाऽऽक्रामेत् ॥ ११ ॥

अनु०—भस्म के ऊपर या भूसे के ऊपर न चले ॥ ११ ॥

पदा पादस्य प्रक्षालनमधिष्ठानं च वर्जयेत् ॥ १२ ॥

एकेन पादेन पादान्तरस्य प्रक्षालनं अधिष्ठानं च वर्जयेत् न कुर्यात् ॥१२॥

अनु०—एक पैर से दूसरे पैर को न धोवे और एक पैर के ऊपर दूसरा पैर न रखे १२ ॥

प्रेङ्खोलनं च पादयोः ॥ १३ ॥

प्रेङ्खोलनं दोलनमितस्ततश्चालनम् ॥ १३ ॥

अनु०—दोनो पैरों को न हिलावे ॥ १३ ॥

जानुनि चाऽत्याधानं जङ्घायाः ॥ १४ ॥

एकस्मिन् जानुनि इतरस्या जङ्घायाः अत्याधानमवस्थापनं च वर्जयेत् ॥१४॥

अनु०—एक घुटने के ऊपर दूसरी जंघा को न स्थापित करे ॥ १४ ॥

नखैश्च नखवादनः ॥ १५ ॥

स्पष्टम् ॥ १५ ॥

अनु०—नखों से नखों को न रगड़े ॥ १५ ॥

स्फोटनानि चाऽकारणात् ॥ १६ ॥

पर्वसन्धीनां स्फोटनानि वर्जयेत् अकारणात् , कारणं श्रमवातादि । वादनस्फोटनानीति समासपाठेऽप्येष एवार्थः ॥ १६ ॥

अनु०—बिना कारण के अंगुलियों से आवाज न करे ॥ १६ ॥

यच्चान्यत्परिचक्षते ॥ १७ ॥

यच्चान्यदेवं उक्तव्यतिरिक्तं तृणच्छेदनादि शिष्टाः परिचक्षते गर्हन्ते तदपि वर्जयेत् ॥ १७ ॥

अनु०—अन्य कर्मों को भी न करे जिनका निषेध किया गया है ॥ १७ ॥

योक्ता च धर्मयुक्तेषु द्रव्यपरिग्रहेषु च ॥ १८ ॥

एकश्चशब्दोऽनर्थकः । केचिन्नैव पठन्ति । धर्माविरुद्धा ये द्रव्यपरिग्रहास्तेषु च योक्ता उत्पादयिता स्यान्निरीहस्स्यात् ॥ १८ ॥

अनु०—धर्म के अनुसार द्रव्य का उपार्जन करने में संलग्न होवे ॥ १८ ॥

प्रतिपादयिता च तीर्थे ॥ १९ ॥

तीर्थं गुणवत् पात्रं, यज्ञो वा । तत्र द्रव्यस्याऽर्जितस्य प्रतिपादयिता स्यात् ॥१९

अनु०—योग्य व्यक्तियों या वस्तुओं के ऊपर धन व्यय करे ॥ १९ ॥

यन्ता चाऽतीर्थे यतो न भयं स्यात् ॥ २० ॥

यन्ता नियन्ता अप्रदाता अतीर्थे अप्रदाता च स्यात् । यतः पुरुषादप्रदानेऽपि न भयं स्यात् । भयसम्भवे तु पिशुनादिभ्यो देयम् ॥ २० ॥

अनु०—किसी अयोग्य व्यक्ति को कोई वस्तु न दे, जिससे उसे भय न हो ॥२०॥

संग्रहीता च मनुष्यान् ॥ २१ ॥

अर्थप्रदानप्रियवचनानुसरणादिभिर्मनुष्याणां सङ्ग्रहणशीलस्स्यात् ॥२१॥

अनु०—अर्थ देकर तथा प्रिय वचन से मनुष्यों से मित्रता रखे ॥ २१ ॥

भोक्ता च धर्माविप्रतिषिद्धान् भोगान् ॥ २२ ॥

धर्माविरुद्धा ये भोगाः स्रक्चन्दनस्वभार्यासेवनादयः, तेषां च भोगशीलस्स्यात् ॥ २२ ॥

अनु०—उन सुखों का भोग करे जो धर्म के द्वारा निषिद्ध नहीं हैं ॥ २२ ॥

एवमुभौ लोकावभिजयति ॥ २३ ॥

एवं महत्या पुष्ट्या युक्त उक्तप्रकारमनुतिष्ठन्नुभौ लोकावभिजयति भोगेनेमं लोकं, तीर्थे प्रतिपादनेन चाऽमुं लोकमिति ॥ २३ ॥

इत्यापस्तम्बधर्मसूत्रे द्वितीयप्रश्ने विंशी कण्डिका ॥ २० ॥

अनु०—इस प्रकार वह दोनों लोकों को प्राप्त करता है ॥ २३ ॥

इति चापस्तम्बधर्मसूत्रवृत्तौ हरदत्तमिश्रविरचितायामुज्ज्वलायां द्वितीयप्रश्नेऽष्टमः पटलः ॥ ८ ॥

अथ नवमः पटलः

'सर्वाश्रमाणां समयपदानी' त्युक्तं पुरस्तात्। के पुनस्ते आश्रमाः ? इत्यत आह—

चत्वार आश्रमा गार्हस्थ्यम्, आचार्यकुलं, मौनं, वानप्रस्थ्यमिति॥ १॥

आश्राम्यन्त्येषु श्रेयोऽर्थिनः पुरुषा इत्याश्रमाः। एषा सामान्यसंज्ञा। गृहे तिष्ठति कुटुम्बरक्षणपर इति गृहस्थः। तस्य भावो गार्हस्थ्यम्। स एक आश्रमः। आचार्यकुलं तत्र वासो लक्षणया सोऽप्येकः। 'मनु अवबोधन' मनुत इति मुनिर्ज्ञानपरः। तस्य भावो मौनम्। सोऽपरः। वनं प्रतिष्ठत इति वनप्रस्थः। स एव वानप्रस्थः। प्रज्ञादित्वादण्। तस्य भावो वानप्रस्थ्यम्। इतिशब्दः परिसमाप्त्यर्थः एतावन्त एवाऽऽश्रमा इति। चतुर्णामेवोपदेशेऽपि चत्वार इति वचनं "[1]ऐकाश्रम्यं त्वाचार्याः प्रत्यक्षविधानात् गार्हस्थ्यस्ये"ति स्मृत्यन्तरोक्तं मा ग्राहीदिति॥ १॥

अनु०—आश्रम चार हैं, गार्हस्थ्य, आचार्यकुल (अर्थात् आचार्य कुल में निवास, ब्रह्मचर्याश्रम), मौन (अर्थात् संन्यास) तथा वानप्रस्थ॥ १॥

तेषु सर्वेषु यथोपदेशमव्यग्रो वर्तमानः क्षेमं गच्छति॥ २॥

तेष्वाश्रमेषु चतुर्ष्वपि यथाशास्त्रमव्यग्रस्समाहितमना भूत्वा यो वर्तते, स क्षेममभयं पदं गच्छति। अनेनाऽऽश्रमविकल्प उक्तो वेदितव्यः निश्रेयसार्थिनाऽन्यतमस्मिन्नाश्रमे यथाशास्त्रमवहितेन वर्तितव्यमिति। तथा च गौतमः— [2]'तस्याऽऽश्रमविकल्पमेके ब्रुवत' इति॥ २॥

अनु०—इन सभी आश्रमों में शास्त्र के नियम के अनुसार, विघ्नों से विचलित न होते हुए निवास करने वाले व्यक्ति का क्षेम होता है॥ २॥

सर्वेषामुपनयनप्रभृति समान आचार्यकुले वासः॥ ३॥

उपनयनप्रभृति य आचार्यकुले वासोऽष्टाचत्वारिंशद्वर्षादीनामन्यतमस्स सर्वेषामाश्रमाणां समानः॥ ३॥

अनु०—उपनयन के समय से गुरुकुल में निवास का कर्तव्य सभी के लिए समान रूप से होता है॥ ३॥

सर्वेषामनूत्सर्गो विद्यायाः॥ ४॥

---

१. गौ. ध. ३. ३६. २. गौ. ध. ३. १.

अनूत्सर्गः छान्दसो दीर्घः। विद्याया अनूत्सर्गोऽपि सर्वेषामाश्रमाणां। समानः तस्मादाचार्यकुले वासस्समान इति॥ ४॥

अनु०—विद्या को परित्याग न करना भी सभी का कर्तव्य होता है॥ ४॥

बुध्वा कर्माणि यत्कामयते तदारभेत॥ ५॥

प्रत्याश्रमं यानि कर्माणि विहितानि तानि बुध्वा गृहस्थस्यैतानि कर्तव्यानि। एषामननुष्ठाने प्रत्यवायः। फलं चेदमेषाम्, एतानि शक्यान्यनुष्ठातुं, नैतानीत्याचार्यादुपश्रुत्य यत्कर्म फलं वा कामयेत तदारभेत तमाश्रमं प्रतिपद्येतेति॥ ५॥

अनु०—प्रत्येक आश्रम में किए जाने वाले कर्मों को जानकर जैसा करना चाहे वैसा करे। (जिस कर्मफल की इच्छा हो वैसा कर्म करे)॥ २॥

तत्र गार्हस्थ्यस्य पूर्वमेव प्रपञ्चितत्वादध्ययनानन्तरं प्रतिपित्सितस्याऽऽचार्यकुलस्य स्वरूपमाह—

यथा विद्यार्थस्य नियम एतेनैवान्तमनूपसीदत आचार्यकुले शरीरन्यासो ब्रह्मचारिणः॥ ६॥

यथा विद्यार्थस्य उपकुर्वाणस्य ब्रह्मचारिणः 'अथ ब्रह्मचर्यविधि'रित्यारभ्याऽग्नीन्धनादिनियम उक्तः, अतस्तेनैव नियमेनाऽऽन्तमाशरीरपातादनपसीदतः उपसदनमेवानूपसदनं तत्कुर्वतः आचार्यकुले शरीरन्यासः परित्यागो भवति ब्रह्मचारिणो नैष्ठिकस्य। तत्रैवाऽऽमरणात्तिष्ठेत्, नाऽऽश्रमान्तरं गच्छेत्। यदि तमेवाश्रममात्मनः क्षेमं मन्येतेति। मनुः—

[1]"आचार्ये तु खलु प्रेते गुरुपुत्रे गुणान्विते।
गुरुदारे सपिण्डे वा गुरुवद्वृत्तिमाचरेत्॥
एषु त्वविद्यमानेषु स्थानासनविहारवान्।
प्रयुञ्जानोऽग्निशुश्रूषां साधयेद्देहमात्मनः॥
एवं चरति यो विप्रो ब्रह्मचर्यमविप्लुतः।
स गच्छत्युत्तमं स्थानं न चेहाऽऽजायते पुनः॥" इति॥ ६॥

अनु०—जो विद्यार्थी के नियम बताये गये हैं उन्हीं नियमों का अन्त तक पालन करते हुए तथा पूजन विधि का पालन करते हुए नैष्ठिक ब्रह्मचारी आचार्य के कुल में शरीर छोड़े॥ ६॥

अथ परिव्राजः॥ ७॥

---

१. म० स्मृ० २४७—२४९

अथाऽनन्तरं परिव्राजो धर्म उच्यते। दृष्टादृष्टार्थान् सर्वानेवाऽऽरम्भान् परित्यज्याऽऽत्मलाभाय संन्यासाश्रमं परिव्रजतीति परिव्राट् संन्यासी ॥७॥

अनु०—अब संन्यासी के नियमों का उल्लेख किया जाता है ॥ ७ ॥

अत एव ब्रह्मचर्यवान् प्रव्रजति ॥ ८ ॥

अत एव ब्रह्मचर्याश्रमादेव ब्रह्मचर्यवानविप्लुतब्रह्मचर्यः प्रव्रजति परिव्रज्यां कुर्याद्यदि तथैव पक्वकषायो भवति। श्रूयते च [1] 'ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत् गृहाद्वा वनाद्वे'ति, 'यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेदि'ति च। अत्र केचिदाहुः—'अत एवे'ति वचनात् गृहाश्रमं प्रविष्टस्य तत्परित्यागेनाश्रमान्तरप्राप्तिराचार्यस्याऽनभिमतैवेति लक्ष्यते। तत्रायमभिप्रायः—दारपरिग्रहे सति 'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहुयादि'ति श्रुत्या विरुध्यते। स कथं प्रव्रजेदिति। तस्मात्सत्यपि वैराग्ये काम्यस्य कर्मणः परित्यागेन नित्यानि नैमित्तिकानि च कर्माणि कुर्वन् प्रतिषिद्धानि वर्जयन् गृहस्थ एव मुच्यत इति। तथाऽऽह याज्ञवल्क्यः—

[2]'न्यायार्जितधनस्तत्त्वज्ञाननिष्ठोऽतिथिप्रियः।
श्राद्धकृत्सत्यवादी च गृहस्थोऽपि विमुच्यते॥' इति।

अथ योऽनाहिताग्निस्तस्य विरक्तस्य मुन्याश्रमप्रवेशे को विरोधः? ऋणश्रुतिविरोधः—'[3] जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणवा जायते ब्रह्मचर्येणर्षिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्य' इति। मनुरपि—

[4]'ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्।
अनपाकृत्य मोक्षं तु सेवमानो व्रजत्यधः॥' इति।

मोक्षो मोक्षाश्रमः। नन्वेवं ब्रह्मचर्यादपि प्रव्रज्या नोपपद्यते। अथ तत्र [5] 'यदहरेव विरजेदि'ति श्रुत्या युक्तं प्रव्रजितुं तदा विरक्तस्य, [6]गार्हस्थ्यादपि भविष्यति। स्मर्यते च—

[7]'प्राजापत्यां निरूप्येष्टिं सर्ववेदसदक्षिणाम्।
आत्मन्यग्नीन् समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेद् गृहादि'ति॥

तथा यो गृहस्थो वृद्धो मृतभार्यः पुनर्दारक्रियायामसमर्थः, तस्यापि युज्यते प्रव्रज्या। तस्मा'द्यदहरेव विरजे'दि'त्येष एव कालः प्रव्रज्यायाः, सर्वमन्यदविरक्तस्येति युक्तम्। एवकारस्तु सूत्रे श्रुत्यनुसारेण प्रयुक्तः। यथा 'गृहाद्वा वनाद्वे'ति ब्रुवाणैव श्रुतिर्ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेदित्याह, तथेति ॥ ८ ॥

---

१. जाबालो० ४ २. या० स्मृ० ३. २०२ ३. तै० सं० ६. ३. १०
४. म० स्मृ० ६. ३५ ५. जाबालो. ४ ६. गृहस्थस्यापि इति च० पु०
७. म० स्मृ० ६. ३८ ८. 'एक एवांश' इति ङ. पु.

अनु०—ब्रह्मचर्याश्रम के नियमों का पालन करने वाला व्यक्ति ही संन्यास ग्रहण करे ॥ ८ ॥

तस्योपदिशन्ति ॥ ९ ॥

तस्य परिव्राजः कर्तव्यमुपदिशन्ति धर्मज्ञाः ॥ ९ ॥

अनु०—धर्मज्ञों ने संन्यासी के लिए निम्नलिखित नियमों का विधान किया ॥ ९ ॥

अनग्निरनिकेतस्स्यादशर्माऽशरणो मुनिः स्वाध्याय एवोत्सृजमानो वाचं ग्रामे प्राणवृत्तिं प्रतिलभ्याऽनिहोऽनमुत्रश्चरेत् ॥ १० ॥

ब्रह्मचारिणस्समिदाधानाद्यग्निकार्यं गृहस्थस्यौपासनाद्यग्निहोत्रादि वानप्रस्थस्य[1] 'श्रामणकेनाग्निमाधाये'ति विहितेऽग्नौ होमादि। तस्य तु नैवंविधं किञ्चिदग्निकार्यमस्तीत्यनग्निः। निकेतो निवासस्थानं स्वभूतं तदभावादनिकेतः। शर्म सुखं वैषयिकं तदस्य नास्तीत्यशर्मा। किञ्चिदपि शरणं न प्रतिपन्नः न वा कस्यचिच्छरणभूत इत्यशरणः। स्वाध्यायः प्रणवादिपवित्राणां जपः। अत्र बौधायनः—

'वृक्षमूलिको वेद सन्न्यासी वेदो वृक्षस्तस्य मूलं प्रणवः प्रणवात्मको वेदः प्रणवो ब्रह्मभूयाय कल्पत इति होवाच प्रजापति'रिति। तत्रैव वाचं विसृजेत। अन्यत्र मौनव्रतः स्यात्। यावता प्राणा ध्रियन्ते सा प्राणवृत्तिः। तावतीं भिक्षां ग्रामे प्रतिलभ्य। एतावानस्य ग्रामे प्रवेशः। अन्यदा बहिर्वासः। इहार्थाः कृष्यादयः परलोकार्थाश्च जपहोमादयो यस्य न सन्ति सोऽनिहोऽनमुत्र इत्युक्तः। एवंभूतश्चरेत्। नैकस्मिन् ग्रामे व्यहमपि वसेत्। अत्र गौतमः—[2] 'न द्वितीयामपर्तु रात्रिं ग्रामे वसेदि'ति [3] 'वर्षासु ध्रुवशील' इति च ॥ १० ॥

अनु०—बिना अग्नि के रहे, घर का, सुखों का तथा शरण का परित्याग करे, मौन रहे, केवल दैनिक अध्यवसाय के समय बोले, ग्राम में केवल इतने ही अन्न की भिक्षा मांगे जितने से उसकी जीविका चल सके। इस संसार की अथवा परलोक की चिन्ता किये बिना चारो ओर घूमता रहे ।१० ॥

तस्य मुक्तमाच्छादनं विहितम् ॥ ११ ॥

यत् परैर्मुक्तं परित्यक्तमयोग्यतया, तत् तस्य विहितमाच्छादनं, तद्वास आच्छादयेत्। निर्णिज्येति गौतमः ॥ ११ ॥

अनु०—दूसरों द्वारा फेंके गये वस्त्रों के पहनने का ही विधान संन्यासी के लिए किया गया है ॥ ११ ॥

---

१. गौ० ध० ३. १७ २. गौ० ध० ३. २१ ३. गौ० ३. १३

सर्वतः परिमोक्षमेके ॥ १२ ॥

सर्वैरेव वासोभिः परिमोक्षमेक उपादिशन्ति। न किञ्चिदपि वासो बिभृयात्। नग्न एव चरेदिति। अपर आह—

सर्वतो विधितो निषेधतश्चाऽस्य परिमोक्षमेके ब्रुवते। न किञ्चिदस्य कृत्यं न किञ्चिदस्य वर्ज्यमिति ॥ १२ ॥

अनु०—कुछ धर्मज्ञों का कहना है कि सभी वस्त्रों का परित्याग कर नग्न हो कर घूमे ॥ १२ ॥

एतदेवोदाहरणैः प्रपञ्चयति—

सत्यानृते सुखदुःखे वेदानिमं लोकममुं च परित्यज्याऽऽत्मानमन्विच्छेत् ॥ १३ ॥

सत्यं वक्तव्यमिति योऽयं नियमस्तं परित्यज्य तथा तत्र वक्तव्यमनृतं[1] "तद्धि सत्याद्विशिष्यत" इत्यादिके विषये अनृतं वक्तव्यमिति योऽयं नियमस्तं च परित्यज्य। सुखं मृष्टभोजनादिजन्यम्। दुःखं शीतवातादिजन्यम्। वेदान् स्वाध्यायाध्ययनम्। इमं लोकं ऐहलौकिकं काम्यं कर्म। अमुं च लोकं पारलौकिकं काम्यं कर्म। सर्वमेतत् परित्यज्य आत्मानमध्यात्मपटलो (१-२२, २३)क्तमन्विच्छेत् उपासीतेति। तदेवं ज्ञानबलावलम्बनेन हतविधिनिषेधा ये स्वैरं प्रवर्तन्ते सिद्धाः तेषां मतमुपन्यस्तम् ॥ १३ ॥

अनु०—सत्य और असत्य का, सुख और दुःख का, वेदों का तथा इस लोक और परलोक का परित्याग करके वह परमात्मा का ही चिन्तन करे ॥ १३ ॥

अथैतेषामेव स्वैरचारिणां[2] किं तत्र प्रमाणम्? तत्राह—

बुद्धे क्षेमप्रापणम् ॥ १४

आत्मनि बुद्धेऽवगते सति तदेव ज्ञानं सर्वमशुभं प्रक्षाल्य क्षेमं प्रापयति। श्रूयते हि—

[3]'न कर्मणा वर्धते नो कनीयान्। तस्यैवात्मा पदवित्तं विदित्वा। न कर्मणा लिप्यते पापकेने'ति[3] 'तद्यथेषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेत एवं हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते' इति च ॥ स्मर्यते च—

[5]'यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निस्सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥ इति ॥ १४ ॥

---

१. म० स्मृ० ८. १०४

२. किंत्राणम् इति च० मु०   ३. बृ० उ० ७. ४. २३. तै० ब्रा ३. १२. १४

४. छान्दो० ५. २४. ३   ५. श्रीमद्भ. ग. ४. ३७

अनु०—आत्मा का ज्ञान प्राप्त करने पर वह मोक्ष (परम कल्याण) प्राप्त करता है ॥ १४ ॥

तदिदं निराकरोति—

तच्छास्त्रैर्विप्रतिषिद्धम् ॥ १५ ॥

यानि यतेरेव कर्तव्यप्रतिपादनपराणि शास्त्राणि, तैरेव तद्विप्रतिषिद्धम्। तत्र मनुः—

[1] क्रुध्यन्तं न प्रतिक्रुध्येदाक्रुष्टः कुशलं वदेत्।
सप्तद्वारावकीर्णां च न वाचमनृतां वदेत् ॥
न चोत्पातनिमित्ताभ्यां न नक्षत्राङ्गविद्यया ।
नानुशासनवादाभ्यां भिक्षां लिप्सेत कर्हिचित् ॥ इति

अतो यतिमेव प्रकृत्य यानि विहितानि कर्माणि तानि कर्तव्यानि। यानि च निषिद्धानि तानि च वर्जनीयानि ॥ १५ ॥

अनु०—किन्तु यह नियम शास्त्रों के विपरीत है ॥ १५ ॥

'बुद्धे क्षेमप्रापण' मित्येतत् प्रत्यक्षविरुद्धमित्याह—

बुद्धे चेत्क्षेमप्रापणमिहैव न दुःखमुपलभेत ॥ १६ ॥

आत्मबोधमात्रेण चेत् क्षेमं प्राप्यते, तदा इहैव शरीरे दुःखं नोपलभेत ज्ञानी। न चैतदस्ति। न हि ज्ञानिनां मूर्धाभिषिक्तंमन्योऽपि क्षुधादुःखःमेव तावत् क्षणमात्रमपि सोढुं प्रभवति ॥ १६ ॥

अनु०—यदि केवल आत्म के ज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होती हो तो आत्मज्ञ को इस लोक में भी किसी दुःख का अनुभव नहीं होना चाहिए ॥ १६ ॥

एतेन परं व्याख्यातम् ॥ १७ ॥

परलोके भवमपि दुःखमेतेन व्याख्यातं—न स्वैरचारिणां निवर्तत इति। तस्मात् कर्मभिः परिपक्वकषाय एव श्रवणमननिदिध्यासनैः साक्षात्कृतात्मस्वरूपः प्रतिषिद्धेषु कटाक्षमप्यनिक्षिपन्नष्टाङ्गयोगनिरतो मुच्यत इति*। अत्र बोधायनः[2]—'एकदण्डी त्रिदण्डी वे'ति। गौतमः[3]—'मुण्डश्शिखी वे'ति ॥

अनु०—इसलिए आगे आने वाले आश्रम का विधान किया गया है ॥ १७ ॥

---

* एतच्चिह्नानन्तरं अत्र यदुदाहृतं 'ज्ञानेन सर्वं दह्यत' इति तत्र ज्ञानदशायाः प्रागार्जितानि कर्माणि प्रायश्चितेन ज्ञानेन वा दह्यन्त इत्युच्यते, न पुनर्ज्ञानदशायां स्वैरचारोऽनुज्ञायते। यस्य हि स्वशरीरेऽपि बीभत्सा स कथं पश्वादिभिरविशेषस्त्रीसङ्गमादौ प्रवर्तत''इति भागः क. पुस्तक एवास्ति अधिकपाठतया परिगणितः च.पुस्तके टिप्पण्याम्

१. म० स्मृ० ६. ४८, ५० २. बौ० ध० २. २. १०. ४० ३. गौ० ध० ३. २२

अथ वानप्रस्थः ॥ १८ ॥

अनन्तरं वानप्रस्थाश्रम उच्यते ॥ १८ ॥

अनु०—अब वानप्रस्थ के नियमों की व्याख्या की जाती है ॥ १८ ॥

अत एव ब्रह्मचर्यवान् प्रव्रजति ॥ १९ ॥

प्रव्रजति प्रकर्षेण व्रजति अपुनःप्रवेशाय वनं प्रतिष्ठित इति । तथा च गौतमः [1]—'ग्रामं च न प्रविशेदि'ति । गतमन्यत्, उत्तरं च ॥ १९ ॥

अनु०—ब्रह्मचर्य के नियमों का पालन करने वाला व्यक्ति ही वन में प्रवेश करता है । ॥ १९ ॥

तस्योपदिशन्त्येकाग्निरनिकेतस्स्यादशर्माऽशरणो मुनिःस्वाध्याय एवोत्सृजमानो वाचम् ॥ २० ॥

कः पुनरेकोऽग्निः ? न तावदौपासनः, ब्रह्मचारित्वात् । तस्माल्लौकिकेऽग्नौ यथापूर्वं सायंप्रातस्समिध आदध्यादित्यर्थो विवक्षितः ।

अपरं आह—'श्रामणकेनाग्निमाधाये' ति गौतमः । अस्यार्थः—श्रामणकं नाम वैखानससूत्रम् । तदुक्तेन प्रकारेण एकोऽग्निराधेयः । तस्मिन् सायंप्रातरग्निकार्यमिति । [2]तथा च बौधायनः—'वानप्रस्थो वैखानसशास्त्रसमुदाचारो, वैखानसो वने मूलफलाशी तपश्शीलस्सवनेषूदकमुपस्पृशन् श्रामणकेनाऽग्निमुपसमाधाये' त्यादि । अन्यद्गतम् ॥ २० ॥

इत्यापस्तम्बधर्मसूत्रवृत्तौ द्वितीयप्रश्ने एकविंशी कण्डिका ॥ २१ ॥

अनु०—वानप्रस्थ के लिए इन नियमों का विधान किया गया है । केवल एक अग्नि प्रज्वलित करे, घर में न रहे, किसी सुख का भोग न करे, किसी शरण में न रहे, मौन रहे' केवल दैनिक अध्यवसाय के समय बोले । २० ॥

तस्याऽऽरण्यमाच्छादनं विहितम् ॥ १ ॥

अरण्ये भवमारण्यमजिनवल्कलादि ॥ १ ॥

अनु०—उसके लिए वन में प्राप्य (मृगचर्म या वल्कल) वस्त्र ही विहित है ॥१॥

ततो मूलैः फलैः पर्णैस्तृणैरिति वर्तयंश्चरेत् ॥ २ ॥

ततो मूलादिभिर्वर्तयन् वृत्तिः प्राणयात्रा तां कुर्वंश्चरेच्चरणशीलः स्यात् ॥२॥

अनु०—तब मूलों, फलों, पत्तों और तिनकों आदि से जीविका निर्वाह करते हुए भ्रमण करे ।

---

१. गौ० ध०३. ३३

२. तथा च बौधायनः इत्यादिग्रन्थो नास्ति ङ-च० पुस्तकयोः । बौ.ध०२.६.१६१७

अन्ततः प्रवृत्तानि ॥ ३ ॥

मूलादिभिः स्वयंगृहीतैः कञ्चित्कालं वर्तयित्वा अन्ततः अन्ते प्रवृत्तानि स्वयमेव पतितानि अभिनिश्रयेदिति वक्ष्यमाणेन सम्बन्धः। तान्यभिनिश्रित्य तैर्वर्तयेदिति ॥ ३ ॥

अनु०—और अन्त में स्वयं गिरे हुए फलों, पत्तों आदि का ही भक्षण करके रहे ॥ ३ ॥

ततोऽपो वायुमाकाशमित्यभिनिश्रयेत् ॥ ४ ॥

ततः कियन्तञ्चित्कालमब्भक्षः ततो वायुभक्षः तत आकाशमभिनिश्रयेत् न किञ्चित् भक्षयेदिति। अभिनिश्रयणं सेवनम् ॥ ४ ॥

अनु०—तब कुछ दिन तक केवल जल पीकर जीवन धारण करे, फिर कुछ समय तक केवल वायु का सेवन करके रहे और फिर केवल आकाश का ही सेवन करे ॥ ४ ॥

तेषामुत्तर उत्तरस्संयोगः फलतो विशिष्टः ॥ ५ ॥

संयुज्यते संश्रयत इति संयोगः। तेषां मूलादीनां मध्ये उत्तरमुत्तरं समाश्रयणं फलतो विशिष्टमिति द्रष्टव्यम् ॥ ५ ॥

अनु०—इनमें से प्रत्येक उत्तरवर्ती पदार्थ का सेवन करके जीविका निर्वाह करने का अधिकाधिक पुण्यफल होता है ॥ ५ ॥

अथ वानप्रस्थस्यैवाऽऽनुपूर्व्यमेक उपदिशन्ति ॥ ६ ॥

अथेति पक्षान्तरोपन्यासे। पूर्वं ब्रह्मचर्यादेव वनप्रवेश उक्तः। एके त्वाचार्यास्तस्यैव वानप्रस्थस्याऽऽनुपूर्व्यं कर्मोपदिशन्ति ॥ ६ ॥

अनु०—कुछ आचार्यों का मत है कि केवल वानप्रस्थ के लिए अन्य आश्रमों के कर्मों को क्रमानुसार करना चाहिए ॥ ६ ॥

टि०—पहले यह विचार व्यक्त किया जा चुका है कि वानप्रस्थ ब्रह्मचर्याश्रम के बाद ही ग्रहण किया जा सकता है, किन्तु यह सूत्र एक नया मत प्रस्तुत करता है जिसके अनुसार वानप्रस्थ के लिए आश्रमों की अनुपूर्वता का उपदेश किया गया है ॥ ६ ॥

कथम्?—

विद्यां समाप्य दारं कृत्वाऽग्नीनाधाय कर्माण्यरभते सोमावराध्यानि ते यानि श्रूयन्ते ॥ ७ ॥

ब्रह्मचर्ये स्थितो विद्यां समाप्य गृहस्थश्च भूत्वाऽग्नीनाधाय कर्माणि कुर्यात्।

कानि ? सोमावराध्यानि अवरार्धं पश्चार्धं तत्र भवोऽवराध्यः सोमः अवराध्र्यो येषां तानि सोमावराध्यानि सोमान्तानि हविर्यज्ञाख्यानि चातुर्मास्यादीन् हविर्यज्ञान् सोमं चेत्यर्थः। यानि श्रूयन्ते श्रुतौ विहितानि ॥ ७ ॥

अनु०—वेद का अध्ययन समाप्त करके, विवाहोपरान्त गृहस्थ होकर तथा अग्नि का आधान कर सोमयज्ञ तक के वे सभी कर्म करे जो श्रुति में उपदिष्ट हैं ॥७॥

गृहान् कृत्वा सदारस्सप्रजस्सहाग्निभिर्बहिर्ग्रामाद्वसेत् ॥ ८ ॥

अथ ग्रामाद्बहिररण्ये गृहान् कृत्वा सकुटुम्बस्सहैव चाग्निभिर्ग्रामाद्बहिर्वसेत्। अस्मिन्पक्षे प्रागुक्तमेकाग्निरित्येतन्नाऽस्ति ॥ ८ ॥

अनु०—ग्राम से बाहर वन में एक घर बनाकर वहाँ पत्नी, पुत्र-पुत्रियों तथा अग्नि के साथ निवास करे ॥ ८ ॥

एको वा ॥ ९ ॥

अथवा पुत्रेषु भार्यां निक्षिप्य स्वयमेक एव वसेत्। अस्मिन् पक्षे 'प्राजापत्यां निरुप्येष्टि'मिति परिव्राज उक्तेन न्यायेन श्रौतानग्नीनात्मनि समारोप्य श्रामणकेनाऽग्निमाधाय एकाग्निर्भवेत् ॥ ९ ॥

अनु०—अथवा अकेले ही रहे ॥ ९ ॥

सिलोञ्छेन वर्तयेत् ॥ १० ॥

व्याख्यातः सिलोञ्छः। तेन वर्तयेत् प्राणयात्रां कुर्यात्। इदं सकुटुम्बस्य एकाकिनश्च साधारणम्। एकाकिन एवेत्यन्ये ॥ १० ॥

अनु०—खेतों में गिरे हुए अन्न बीनकर अपने जीवन का पोषण करे ॥ १० ॥

न चाऽत ऊर्ध्वं प्रतिगृह्णीयात् ॥ ११ ॥

यदा सिलोञ्छेन वृत्तिर्जाता अत ऊर्ध्वं न कुतश्चिदपि प्रतिगृह्णीयात् ॥११॥

अनु०—उस समय से किसी प्रकार का दान न ग्रहण करे ॥ ११ ॥

अभिषिक्तश्च जुहुयात् ॥ १२ ॥

यदा जुहुयात्तदा अभिषिक्तः स्नातः। अनुवादोऽयं स्नाने विशेषं विधातुम् ॥ १२ ॥

अनु०—स्नान करने के बाद हवन करे ॥ १२ ॥

शनैरपोऽभ्युपेयादभिघ्नन्नभिमुख आदित्यमुदकमुपस्पृशेत् ॥ १३ ॥

शनैरवेगेन जलाशयं प्रविशेत्। प्रविश्य चाऽभिघ्नन् हस्तेनोदकं ताडयन् उदकमुपस्पृशेत् स्नायात् आदित्याभिमुखः ॥ १३ ॥

अनु० विना वेग के शनैः जल में प्रवेश करे और जल को हाथ से पीटे बिना सूर्य की ओर मुख करके स्नान करे ॥ १३ ॥

'इति सर्वत्रोदकोपस्पर्शनविधिः ॥ १४ ॥

सर्ववर्णाश्रमसाधारणमेतत् । तथाचोत्तरत्र तस्य ग्रहणम् ॥ १४ ॥

अनु०– स्नान करने की यह विधि सभी वर्णों और आश्रमों के लिए सामान्य समझनी चाहिए ॥ १४ ॥

तस्य द्वन्दद्रव्याणामेक उपदिशन्ति पाकार्थं भोजनार्थं वासिपरशु-दात्रकाजानाम् ॥ १५ ॥

यानि पाकार्थानि ताम्रभाण्डादीनि । यानि च भोजनार्थानि कांस्या-दीनि । वासिर्दर्व्यादि । तेषां सर्वेषां वास्यादीनां चतुर्णा[२]मेकैकस्य द्वे द्वे द्रव्ये उत्पाद्ये इत्येक उपदिशन्ति । काजमपि वास्यादिवदुपकरणविशेषो दारुमयः ॥ १५ ॥

अनु०—कुछ आचार्यों का मत है कि भोजन पकाने तथा खाने के पात्रों के तथा काटने के औजार, फरसा, हँसिया तथा काज नाम के हथियारों में प्रत्येक के जोड़े बनवाये ॥ १५ ॥

द्वन्दानामेकैकमादायेतराणि दत्वाऽरण्यमवतिष्ठेत ॥ १६ ॥

तेषां पाकादिसाधनानां द्रव्याणामेकैकं द्रव्यं स्वयमादायेतराणि भार्यायै दत्वा अरण्यमवतिष्ठेत उपतिष्ठेत् आश्रयेदिति ॥ १६ ॥

अनु०—(इन पात्रों और औजारों के) जोड़ों में से एक को लेकर दूसरे को अपनी पत्नी को देकर वन को प्रस्थान करे ॥ १६ ॥

तस्याऽऽरण्येनैवाऽत ऊर्ध्वं होमो वृत्तिः प्रतीक्षाच्छादनं च ॥ १७ ॥

तस्या वानप्रस्थस्याऽतोऽरण्यप्रवेशादूर्ध्वं आरण्येनैव नीवारादिना होमः वृत्तिः प्राणयात्रा प्रतीक्षा अतिथिपूजा च आच्छादनं वल्कलादिना ॥ १७ ॥

अनु०—उसके बाद वन की वस्तुओं से ही होम कर्म करे, अपना जीवननिर्वाह करे, अतिथियों का सत्कार करे तथा शरीर का आच्छादन करे ॥ १७ ॥

येषु कर्मसु पुरोडाशाश्चरवस्तेषु कार्याः ॥ १८ ॥

येषु दर्शपूर्णमासादिषु पुरोडाशा विहिताः गृहस्थस्य, तेष्वस्य तत्स्थाने[३] चरवः कार्याः ॥ १८ ॥

अनु०—(गृहस्थाश्रम के) जिन कर्मों के लिए (मांसमिश्रित) पुरोडाश का विधान किया गया है उन कर्मों में पुरोडाश के स्थान पर (चावल से सिद्ध) चरु का प्रयोग करे ॥ १८ ॥

---

१. 'इति विधिः' इत्येव सूत्रम् छ० पु. २. एकैकस्यां विधायां इति च० पु०

३. अनवस्रावितान्तरूष्मपक्वतण्डुलप्रकृतिकश्चरुः ।

सर्वं चोपांशु सह स्वाध्यायेन ॥ १९ ॥

सर्वं च कर्मकाण्डं साङ्गं प्रधानमुपांशु भवति पारायणब्रह्मयज्ञाध्ययनेन सह । तदप्युपांशु कर्तव्यमिति ॥ १९ ॥

अनु०—सभी मन्त्रों का तथा दैनिक स्वाध्याय का पाठ इस प्रकार करे कि वह दूसरों को न सुनाई पड़े ॥ १९ ॥

नाऽऽरण्यमभ्याश्रावयेत् ॥ २० ॥

उपांशुवचनादेव सिद्धवचनमाभिमुख्यप्रतिषेधार्थम् । तेनाऽरण्यस्था यथा नाऽऽभिमुख्येन शृणुयुः तावदुपांशुवृत्ति ॥ २० ॥

अनु०—वन के निवासियों को अपने मन्त्रों का पाठ न सुनावे ॥ २० ॥

अग्न्यर्थं शरणम् ॥ २१ ॥

शरणं गृहं तदग्न्यर्थमेव ॥ २१ ॥

अनु०—केवल अग्नि की रक्षा के लिए ही एक गृह बनावे ॥ २१ ॥

आकाशे स्वयम् ॥ २२ ॥

स्वयं चाऽऽकाश एव वसेत् ॥ २२ ॥

अनु०—स्वयं खुले हुए स्थान में ही रहे ॥ २२ ॥

अनुपस्तीर्णे शय्यासने ॥ २३ ॥

शयनं चाऽऽसनं चाऽनुपस्तीर्णे देशे कुर्यात् न तु किञ्चिदुपस्तीर्य ॥ २३ ॥

अनु०—उसकी शय्या और आसन पर किसी प्रकार का आच्छादन न होवे ॥ २३ ॥

नवे सस्ये प्राप्ते पुराणमनुजानीयात् ॥ २४ ॥

नवे धान्ये श्यामाकनीवारादौ प्राप्ते जाते पुराणं पूर्वसञ्चितं सस्यमनुजानीयात् परित्यजेत् । तत्र मनुः—

"त्यजेदाश्वयुजे मासि मुन्यन्नं पूर्वसञ्चितम् ।
जीर्णानि चैव वासांसि पुष्पमूलफलानि च ॥" इति ॥ २४ ॥

इत्यापस्तम्बधर्मसूत्रवृत्तौ द्वितीयप्रश्ने द्वाविंशी कण्डिका[1] ॥ २२ ॥

अनु०—नया अन्न प्राप्त करने पर पुराने संचित अन्न का परित्याग करे ॥२४॥

---

१. म० स्मृ० ६. १५

भूयांसं वा नियममिच्छन्नन्वहमेव पात्रेण सायंप्रातरर्थमाहरेत् ।

इदमेकाकिनो वानप्रस्थस्य । भूयांसं नियममिच्छन्न सस्यं सञ्चिनुयात् । किं तर्हि ? अन्वहमे'व पात्रेण येनकेनचित् सायंप्रातश्चाऽर्थमशनीयमात्रमाहरेत् वानप्रस्थेभ्य एव ॥ १ ॥

अनु०—यदि वानप्रस्थ और अधिक कठोर नियम का पालन करना चाहे तो (अन्न का संचय न करे) प्रतिदिन सायं तथा प्रातःकाल केवल अपने भिक्षापात्र में खाने भर का भोजन एकत्र करे ॥ १ ॥

एवं कियन्तचित्कालं वर्तयित्वा—

ततो मूलैः फलैः पर्णैस्तृणैरिति वर्तयंश्चरेदन्ततः प्रवृत्तानि ततोऽपो वायुमाकाशमित्यभिनिश्रयेत् । तेषामुत्तर उत्तरस्संयोगः फलतो विशिष्टः ॥ २ ॥

सर्वं गतम् ॥ २ ॥

अनु०—उसके बाद अपने जीवन का पोषण एकत्र किए गए मूलों से, फलों से, पत्तों और तिनकों से करता हुआ भ्रमण करे । अन्त में स्वयं प्राप्त हुए मूलों, फलों, और तृणों से जीवन धारण करे, तब क्रमशः जल, वायु तथा आकाश का सेवन करे । इनमें क्रमशः बाद वाले पदार्थ का सेवन कर जीवननिर्वाह करने से उत्तरोत्तर अधिक पुण्यफल की सिद्धि होती है ॥ २ ॥

निरूपिता आश्रमाः । अथेदानीं पक्षप्रतिपक्षरूपेण तेषामेव प्राधान्यमप्राधान्यं च निरूप्यते—

अथ पुराणे श्लोकावुदाहरन्ति—

अष्टाशीतिसहस्राणि ये प्रजामीषिर ऋषयः । दक्षिणेनाऽर्यम्णः पन्थानं ते श्मशानानि भेजिरे ॥ ३ ॥

अष्टाशीतिसहस्राणि ये गृहस्था ऋषयः प्रजामीषिरे प्रजातिमभ्यनन्दन् ते अर्यम्णो यो दक्षिणेन पन्थाः दक्षिणायनमार्गः तं प्राप्य छान्दोग्योक्तेन [1]धूमादिमार्गेण गत्वा पुनरपि सम्भूय श्मशानानि भेजिरे मरणं प्रतिपेदिरे । जायस्व म्रियस्वेत्याजीवं जीवभावमापेदिर इति गृहस्थानां निन्दा ॥ ३ ॥

अनु०—इस सन्दर्भ में पुराण से भी दो श्लोक उद्धृत किये जाते हैं । वे अस्सी हजार ऋषि, जो सन्तान चाहते थे, सूर्य के दक्षिण के मार्ग से गये और श्मशान में पहुँचे ॥ ३ ॥

---

१. छा० उ० ५. १०. ३-६

अष्टाशीतिसहस्राणि ये प्रजां नेषिर ऋषयः। उत्तरेणाऽर्यम्णः पन्थानं तेऽमृतत्वं हि कल्पते ॥ ४ ॥

ये [1]तु प्रजातिं नाभ्यनन्दन् ते उत्तरायणमार्गेण [2]अर्चिरादिमार्गेण गत्वा अमृतत्वं विभक्तिव्यत्ययः, अमृतत्वाय कल्पते वचनव्यत्ययः कल्पन्ते समर्थास्सम्पद्यन्ते ॥ ४ ॥

अनु०—अस्सी हजार ऋषि जो सन्तान के इच्छुक नहीं थे, सूर्य के उत्तर के मार्ग से गये और उन्होंने अमरत्व प्राप्त किया ॥ ४ ॥

इत्यूर्ध्वरेतसां प्रशंसा ॥ ५ ॥

गृहस्थादन्ये त्रयोऽपि ऊर्ध्वरेतसः तेषामेषा प्रशंसेति ॥ ५ ॥

अनु०—इस प्रकार ऊर्ध्वरेता ब्रह्मचर्यपालन करने वालों की प्रशंसा की गयी है ॥ ५ ॥

पुनरपि तेषामेव प्रकारान्तरेण प्रशंसा—

अथाऽपि सङ्कल्पसिद्धयो भवन्ति ॥ ६ ॥

अथाऽपि अपि च सङ्कल्पादेव सिद्धयो भवन्ति तेषामूर्ध्वरेतसाम् ॥ ६ ॥

अनु०—ऊर्ध्वरेता तपस्वियों की इच्छाएँ उनके संकल्प से ही सिद्ध हो जाती हैं ॥ ६ ॥

तत्रोदाहरणम्—

यथा वर्षं प्रजा दानं दूरेदर्शनं मनोजवता यच्चाऽन्यदेवंयुक्तम् ॥७॥

यदि महत्यामनावृष्टौ [3]सत्यां 'वर्षतु देव' इति ते कामयेरन् तदा कामवर्षी पर्जन्यो भवति। यदि वा कञ्चिदपुत्रमनुगृह्णीयुः—पुत्रोऽस्य जायतामिति स पुत्रवानेव भवति। यदि वा [4]चोलेष्ववस्थितास्तदैव हिमवन्तं दिदृक्षेरन् तथैव तद्भवति। मनस इव जवो येषां ते मनोजवाः तेषां भावो मनोजवता। यदि कामयेरन् अमुं देशमियत्यामेव कालकलायां प्राप्नुयामेति, ततो यावता कालेन मनस्तं देशं प्राप्नुयुरिति। यच्चान्यदेवंयुक्तम् रोगिणामारोग्यादि तदपि सङ्कल्पादेव तथा भवति ॥ ७ ॥

अनु०—जैसे वर्षा कराने, पुत्रोत्पत्ति का अमोघ आशीर्वाद, किसी भी प्रकार की वस्तु का दान, दूर तक देखने की दृष्टि, मन के समान वेग से विचरण करने की शक्ति, तथा इसी प्रकार की दूसरी इच्छाओं की सिद्धि संकल्प से ही हो जाती है ॥७॥

---

१. प्रजां० इति० च० पु०   २. छा० उ० ५. १०. १,२

३. सत्यां इति नास्ति च० पु०   ४. 'दूरेषु' इति० छ० पु०

यस्मादेवम्—

तस्माच्छ्रुतितः प्रत्यक्षफलत्वाच्च विशिष्टानाश्रमानेतानेके ब्रुवते ।

तस्माच्छ्रुतितः 'यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेदि'त्यादिश्रुत्यनुगतत्वादुक्तेन-प्रकारेण प्रत्यक्षफलत्वाच्च एतानूर्ध्वरेतसामाश्रमान् विशिष्टान् गार्हस्थ्यादुत्कृष्टानेके ब्रुवत इति ॥ ८ ॥

अनु०—इस कारण श्रुति के वचन के अनुसार तथा प्रत्यक्ष फल उत्पन्न होने से कुछ धर्मज्ञ लोग ऊर्ध्वरेता तपस्वियों के आश्रमों को सबसे उत्कृष्ट बताते हैं ॥८॥

तदिदं गार्हस्थ्योत्कर्षप्रतिपादनेन निराकरोति—

त्रैवृद्यविद्धानां तु वेदाः प्रमाणमिति निष्ठा तत्र यानि श्रूयन्ते व्रीहियवपश्वाज्यपयःकपालपत्नीसम्बन्धान्युच्चैर्नीचैः कार्यमिति तैर्विरुद्ध आचारोऽप्रमाणमिति मन्यन्ते ॥ ९ ॥

त्र्यवयवा विद्या त्रिविद्या त्रयो वेदाः । तां ये पाठतश्चाऽर्थतश्च विदन्ति ते त्रैविद्याः । तेषु पक्वज्ञानास्त्रैविद्यवृद्धाः । तेषां[1] वेदशास्त्रविदां वेदा एव प्रमाणम् अतीन्द्रियेऽर्थ इति, निष्ठा निर्णयः । यथाह भगवान् जैमिनिः—[2]'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः, इति[3] प्रत्यक्षमनिमित्तमि'ति च । ततश्च तत्र वेदे यानि कर्माणि श्रूयन्ते, किंलक्षणानि ? व्रीहियवादिभिस्सम्बद्धानि "उच्चैः ऋचा क्रियते, उपांशु यजुषे"त्येवंप्रकाराणि तैर्विरुद्ध आचारः प्रमाणं न भवतीति मन्यन्ते । एतदुक्तं भवति—सर्वेषु वेदेषु सर्वासु च शाखासु अग्निहोत्रादीनि[4] विश्वसृजामयनपर्यन्तानि कर्माण्येव तात्पर्यतया विधीयन्ते । अतो गार्हस्थ्यमेव श्रेष्ठम् । ऊर्ध्वरेतसां त्वाश्रमास्तद्विरुद्धा नैवाऽऽश्रयणीयाः यदि वेदाः प्रमाणमिति । तथा च गौतमः—'ऐकाश्रम्यं त्वाचार्याः प्रत्यक्षविधानात् गार्हस्थ्यस्ये'ति । एवं गार्हस्थ्यं प्रशस्यते ॥ ९ ॥

अनु०—तीन प्रकार की विद्याओं के ज्ञाता विद्वानों का मत है कि वेद ही परम प्रमाण हैं, इस कारण वेदों में व्रीहि, यव, यज्ञ पशु, आज्य, दुग्ध, खप्पर से तथा पत्नी के साथ उच्च या मन्द स्वर से मन्त्रों के पाठ करते हुए जिन कर्मों के करने का विधान है उन्हें ही करना चाहिए और इस कारण उनके विपरीत आचरण का निर्देश करने वाले नियम को वे लोग प्रमाण नहीं मानते हैं ॥ ९ ॥

---

१. वेदशास्त्रार्थविदां इति क० पु० २. जै० सू १. १. २ ३. जै सू० १. १. ४

४. सहस्रवत्सरसाध्यं सत्रं विश्वसृजामयनम् । अत्र संवत्सरशब्दो दिनपर इति मीमांसकाः । पू० मी० ६. ७. १३

श्मशानानि भेजिर इति निन्दां परिहरति—

यत्तु श्मशानमुच्यते नानाकर्मणामेषोऽन्ते पुरुषसंस्कारो विधीयते ॥१०॥

यत्तु गृहस्थानां श्मशानं श्रूयते स एष नानाकर्मणामग्निहोत्रादीनामन्ते पितृमेधाख्यः पुरुषसंस्कारो विधीयते। न तु पिशाचा भूत्वा श्मशानमेव सेवन्त इति ॥ १० ॥

अनु०—ऊपर जो श्मशान शब्द का प्रयोग किया गया है उसका अभिप्राय यह है कि अनेक प्रकार के अग्निहोत्रादि कर्म करने वालों के लिए पितृमेध नाम का अन्तिम संस्कार किया जाता है (यह अर्थ नहीं है कि वे लोग पिशाच बनकर श्मशान में ही चक्कर काटते रह जाते हैं) ॥ १० ॥

कुत इत्याह—

ततः परमनन्त्यं फलं स्वर्ग्यशब्दं श्रूयते ॥ ११ ॥

ततः परं श्मशानकर्मणोऽनन्तरम्, अनन्त्यमपरिमितं स्वर्गशब्दवाच्यं फलं श्रूयते—'स एष यज्ञायुधी यजमानोऽञ्जसा स्वर्गं लोकमेती'ति। अनन्त्यं स्वर्ग्यमिति [1]यकारश्छान्दसः उपजनः अपपाठो वा ॥ ११ ॥

इत्यापस्तम्बधर्मसूत्रवृत्तौ द्वितीयप्रश्ने त्रयोविंशी कण्डिका ॥ १३ ॥

अनु०—श्रुति में कहा गया है कि उस श्मशान कर्म के बाद अनन्त स्वर्ग का फल प्राप्त होता है ॥ ११ ॥

पुनरपि गार्हस्थ्यमेव प्रकारान्तरेण स्तौति—

अथाप्यस्य प्रजातिममृतमाम्नाय आह—प्रजामनु प्रजायसे तदु ते मर्त्याऽमृतमिति ॥ १ ॥

अथाऽपि अपि च अस्य गृहस्थस्य प्रजापतिं प्रजासन्तानम् अमृतम् अमरणम् आम्नायो वेद् आह हे मर्त्य मरणधर्मन्! प्रजां जायमानामनु त्वं प्रजायसे त्वमेव प्रजारूपेण जायसे। तदेव ते मरणधर्मिणः अमृतममरणमिति। न त्वं म्रियसे, यतस्त्वं प्रजारूपेण तिष्ठसीति ॥ १ ॥

अनु०—इसके अतिरिक्त गृहस्थ की सन्तान को अमृत बताकर वेद ने कहा है: हे मरणधर्मा मनुष्यों, तुम अपनी सन्तान में पुनः उत्पन्न होते हो, अतः सन्तान ही तुम्हारे लिए अमरत्व है ॥ १ ॥

उपपन्नं चैतदित्याह—

अथाऽपि स एवाऽयं विरूढः पृथक्प्रत्यक्षेणोपलभ्यते दृश्यते चाऽपि

---

१. यकारोपजनश्छान्दसः इति भवितुं युक्तम्।

सारूप्यं देहत्वमेवाऽन्यत् ॥ २ ॥

अपि च स एवाऽयं पृथग्विरूढः प्रत्यक्षेणोपलभ्यते । स एव द्विधाभूत इव लक्ष्यते । दृश्यते हि सारूप्यं द्वयोः । देहमात्रं तु भिन्नम् । देहत्वमिति स्वार्थिकस्त्वः ॥ २ ॥

अनु०—अपरंच, यह प्रत्यक्ष देखा जा सकता है कि पिता ही दूसरा रूप धारण कर पुत्र के रूप में उत्पन्न दिखाई पड़ता है। उन दोनों में सारूप्य होता है, केवल शरीर ही भिन्न होता है ॥ २ ॥

यदि पुत्ररूपेणाऽवस्थानं, किमेतावतेत्याह—

ते शिष्टेषु कर्मसु वर्तमानाः पूर्वेषां साम्परायेण कीर्तिं स्वर्गं च वर्धयन्ति ॥ ३ ॥

ते पुत्राश्शिष्टेषु चोदितेषु कर्मसु वर्तमाना अर्वास्थिताः पूर्वेषां पितृपितामहादीनां साम्परायेण परलोकेन सम्बद्धानां कीर्तिं स्वर्गं च वर्धयन्ति—अस्याऽयं पुत्र एवं कर्मा, अस्याऽयं पौत्र इति । स्वर्गं च वर्धयन्ति । कीर्तिमतां हि स्वर्गवासश्श्रूयते ॥ ३ ॥

अनु०—जो पुत्र वेदोक्त शिष्ट कर्मों का सम्पादन करते हुए जीवन व्यतीत करते हैं वे अपने दिवंगत पूर्वजों के यश तथा स्वर्गीय सुख की अभिवृद्धि करते हैं ॥ ३ ॥

एवमवरोऽवरः परेषाम् ॥ ४ ॥

एवमनेन प्रकारेण अवरोऽवरः परेषां कीर्तिं स्वर्गं च वर्धयति ॥ ४ ॥

अनु०—इस प्रकार प्रत्येक अगली पीढ़ी अपनी पूर्ववर्ती पीढ़ी के पुरुषों के सुख और यश को बढ़ाती है ॥ ४ ॥

आभूतसम्प्लवात्ते स्वर्गजितः ॥ ५ ॥

भूतसम्प्लवो महाप्रलयः । आ तस्मात्ते पुत्रिणस्स्वर्गजितो भवन्ति ते च ॥५॥

अनु०—इस प्रकार वे पुत्रवाले दिवंगत पुरुष महाप्रलय तक स्वर्ग में निवास करते हैं और स्वर्ग के जेता होते हैं ॥ ५ ॥

पुनस्सर्गे बीजार्था भवन्तीति भविष्यत्पुराणे ॥ ६ ॥

प्रलयानन्तरं सर्गः, तत्र संसारस्य बीजार्थाः प्रजार्थाः प्रजापतयो भवन्तीति भविष्यत्पुराणे श्रूयते ॥ ६ ॥

अनु०—प्रलय के बाद वे ही पुनः संसार की उत्पत्ति के बीज (प्रजापति) होते हैं ऐसा भविष्यपुराण में कहा गया है ॥ ६ ॥

अथाऽपि प्रजापतेर्वचनम् ॥ ७ ॥

अपि च प्रजापतेरपि वाक्यमस्मिन्नर्थे भवति । गार्हस्थ्यमेव वरिष्ठमिति ॥ ७ ॥

अनु०—इस सन्दर्भ में प्रजापति का यह वचन भी उल्लेखनीय है ॥ ७ ॥

त्रयीं विद्यां ब्रह्मचर्यं प्रजातिं श्रद्धां तपो यज्ञमनुप्रदानम् । य एतानि कुर्वते तैरित्सह स्मो रजो भूत्वा ध्वंसतेऽन्यत्प्रशंसन्निति ।

त्रयीं विद्यां त्रयाणां वेदानामध्ययनम् । ब्रह्मचर्यमष्टाचत्वारिंशदादिकम् । प्रजातिं प्रजोत्पादनम् । श्रद्धामास्तिक्यम् । तप उपवासादि । यज्ञमग्निहोत्रादिकं सोमयागान्तम् । अनुप्रदानं अन्तर्वेदि बहिर्वेदि च दानम् । य एतानि कर्माणि कुर्वते, तैरित् तैरेव सह वयं स्मः त एवाऽस्माकं सहायाः । अन्यत्तु ऊर्ध्वरेतसामाश्रमादिकं प्रशंसन् पुरुषो रजः पांसुर्भूत्वा ध्वंसते नश्यति । इतिशब्दो वचनसमाप्त्यर्थः । यथैवं तर्हि शिष्टेषु वर्तमानाः पुत्राः पूर्वेषां कीर्तिं स्वर्गं च वर्धयन्ति, तथा प्रतिषिद्धेषु वर्तमाना अकीर्तिं नरकं च वर्धयेयुः ॥ ८ ॥

अनु०—जो निम्नलिखित कर्मों का सम्पादन करते हैं वे हमारे साथ निवास करते हैं, तीनों वेदों का अध्ययन, ब्रह्मचर्य, सन्तानोत्पत्ति, श्रद्धा, तप, यज्ञ, तथा दान । जो इन कर्मों से भिन्न कर्म करते हैं वे धूल में मिलकर नष्ट हो जाते हैं ॥ ८ ॥

तत्राऽऽह—

तत्र ये पापकृतस्त एव ध्वंसन्ति यथा पर्णं वनस्पतेर्न परान् हिंसन्ति ॥ ९ ॥

तत्र प्रजासन्ताने ये पापस्य कर्तारः, त एव ध्वंसन्ते न परान् पित्रादीन् हिंसन्ति । यथा यदेव पर्णं वनस्पतेः कीटादिभिर्दूषितं तदेव पतति, न वनस्पतिं शाखान्तरं वा पातयति तद्वत् ॥ ९ ॥

अनु०—जो पुत्र पापकर्म करते हैं केवल वे ही नष्ट होते हैं, उनके पिता आदि दूसरे व्यक्ति नष्ट नहीं होते, जिस प्रकार वृक्ष के पत्तों को ही कीड़े आदि नष्ट करते हैं, वृक्ष या शाखा आदि को नष्ट नहीं करते ॥ ९ ॥

एतदेवोपपादयति—

नाऽस्याऽस्मिल्लोके कर्मभिस्सम्बन्धो विद्यते तथा परस्मिन् कर्मफलैः ॥ १० ॥

अस्येति सामान्यापेक्षमेकवचनम् । अस्य पित्रादेः पूर्वपुरुषस्य अस्मिन् लोके पुत्रकृतैः कर्मभिः सम्बन्धो न विद्यते । दृष्टान्तोऽयम् । यथा पुत्रकृतेषु कर्मसु पित्रादेः कर्तृत्वं नाऽस्ति, तथा परस्मिन्नपि लोके कर्मफलैरपि सम्बन्धो नाऽस्तीत्यर्थः ॥ १० ॥

अनु०—इस लोक में पूर्वज का अपने वंश में उत्पन्न पुत्रादि द्वारा किये गये कर्मों से कोई सम्बन्ध नहीं होता और न परलोक में उनके कर्मों के फल से ही कोई सम्बन्ध होता है ॥ १० ॥

तदेतेन वेदितव्यम् ॥ ११ ॥

यदुक्तं ये पापकृतस्त एव ध्वंसन्ति न परान् हिंसन्तीति तदर्थरूपमेतेन वक्ष्यमाणेन हेतुना वेदितव्यम् ॥ ११ ॥

अनु०—इसे निम्नलिखित कारण से जाना जा सकता है ॥ ११ ॥

प्रजापतेॠषीणामिति सर्गोऽयम् ॥ १२ ॥

प्रजापतेर्हिरण्यगर्भस्य ऋषीणां च मरीच्यादीनामयं सर्गो देवादिस्तिर्यगन्तः। ते चाऽध्वस्ता एव स्वे स्वे पदे वर्तन्ते। यदि च पुत्राः पापकृतः स्वयं ध्वंसमानाः परानपि ध्वंसयेयुः, तदैतन्नोपपद्यते—पुण्यकृतः सुखेनाऽद्यापि वर्तन्ते इति ॥ १२ ॥

अनु०—यह सृष्टि प्रजापति तथा ऋषियों की है ॥ १२ ॥

अत्रोदाहरणमाह—

तत्र ये पुण्यकृतस्तेषां प्रकृतयः परा ज्वलन्त्य उपलभ्यन्ते ॥ १३ ॥

तत्र स्वर्गे ये पुण्यकृतो वसिष्ठादयस्तेषां प्रकृतयश्शरीराणि परा उत्कृष्टाः ज्वलन्त्यः दीप्यमाना उपलभ्यन्ते, दिवि यथा सप्तर्षिमण्डलम्। श्रूयते च[1] 'सुकृतां वा एतानि ज्योतींषि, यन्नक्षत्राणी'ति। इदमपि प्रमाणं न पुत्राणां ध्वंसे पूर्वेषां प्रध्वंस इति ॥ १३ ॥

अनु०—जो ऋषि अपने पुण्यकर्मों के कारण स्वर्ग में निवास करते हैं उनके शरीर आकाश में अत्यधिक प्रकाशपूर्ण दिखाई पड़ते हैं (जैसे सप्तर्षिमण्डल) ॥ १३ ॥

स्यात्तु कर्मावयवेन तपसा वा कश्चित्सशरीरोऽन्तवन्तं लोकं जयति सङ्कल्पसिद्धिश्च स्यान्न तु तज्ज्यैष्ठ्यमाश्रमाणाम् ॥ १४ ॥

कर्मावयवेन पूर्वार्जितानां कर्मणामेकदेशेन भुक्तशेषेण तपसा वा तीव्रेण कश्चिदूर्ध्वरेतास्सहशरीरेणाऽन्तवन्तं लोकं जयतीति यत्तत् स्यात् सम्भवेदपि। यच्च सङ्कल्पादेव सिद्धिस्स्यादिति, तदपि स्यात् न तु तदाश्रमाणां ज्यैष्ठ्यकारणमिति। तदेव 'भैकाश्रम्यं त्वाचार्या' इत्ययमेव पक्षः स्थापितः। अन्ये मन्यन्ते—

---

१. तै० सं० ५. ५. १

सर्वे आश्रमा दूषिता भूषिताश्च। ततस्तेषु सर्वेषु यथोपदेशमव्यग्रो वर्तमानः क्षेमं गच्छतीत्येतदेव स्थितमिति ॥ १४ ॥

इत्यापस्तम्बधर्मसूत्रवृत्तौ द्वितीयप्रश्ने चतुर्विंशी कण्डिका ॥ २४ ॥

अनु०—किन्तु यद्यपि कोई व्यक्ति पूर्वजन्मों से उत्पन्न पुण्यफलों के कारण अथवा अपनी तपस्याओं के कारण शरीर धारण करते हुए भी स्वर्ग प्राप्त कर सकता है, संकल्प से सभी इच्छाओं को सिद्ध कर सकता है, फिर भी ये फल एक आश्रम का दूसरे आश्रमों से श्रेष्ठ मानने के कारण नहीं माने जा सकते ॥ १४ ॥

इति चापस्तम्बधर्मसूत्रवृत्तौ हरदत्तमिश्रविरचितायां
उज्ज्वलायां द्वितीयप्रश्ने नवमः पटलः ॥ ९ ॥

अथ दशमः पटलः

व्याख्यातास्सर्ववर्णानां साधारणवैशेषिका धर्मा राज्ञस्तु विशेषाद्वक्ष्यामः ॥ १ ॥

उक्तवक्ष्यमाणसङ्कीर्तनं श्रोतृबुद्धिसमाधानार्थम्। अहिंसासत्यास्तेयादयः सर्ववर्णानां साधारणधर्माः। अध्ययनादयस्त्रयाणाम्। अध्यापनादयो ब्राह्मणस्य। युद्धादयः क्षत्रियस्य। कृष्यादयो वैश्यस्य। शुश्रूषा शूद्रस्य। राजाऽत्राभिषिक्तो विवक्षितः। तस्यैव हि वक्ष्यमाणं धर्मजातं सम्भवति। तस्य विशेषाद्विशेषतो यद्वक्तव्यं तद्वक्ष्यामः। विशेषानिति द्वितीयान्तपाठस्तु युक्तः ॥ १ ॥

अनु०—सभी वर्णों के साधारण तथा विशेष कर्मों की व्याख्या कर दी गयी। अब हम राजा के कर्तव्यों का विशेष रूप से विवेचन करेंगे। । १ ॥

दक्षिणाद्वारं वेश्म पुरं च मापयेत् ॥ २ ॥

वेश्म गृहं पुरं नगरं तदुभयमपि दक्षिणाद्वारं मापयेत् कारयेत् स्थपत्यादिभिः। दक्षिणपार्श्वे द्वारं यस्य तत्तथोक्तम् ॥ २ ॥

अनु०—राजा इस प्रकार का नगर तथा प्रासाद बनवाये जिसके द्वारा उत्तर दिशा की ओर हों ॥ २ ॥

अन्तरस्यां पुरि वेश्म ॥ ३ ॥

सर्वेषामेव प्रकाराणां मध्ये या पूस्तस्यामन्तरस्यां पुरि वेश्म मापयेदात्मनः ॥ ३ ॥

अनु०—प्रासाद नगर के बीच में होना चाहिए ॥ ३ ॥

तस्य पुरस्तादावसथस्तदामन्त्रणमित्याचक्षते ॥ ४ ॥

तस्य वेश्मनः पुरस्तादवसथः कारयितव्यः। एत्य वसन्त्यस्मिन्नित्यावसथः आस्थानमण्डपः। तस्यामन्त्रणमिति संज्ञा[1] ॥ ४ ॥

अनु०—उस प्रासाद को आगे एक आवसथ भवन हो और उसे आमन्त्रण नाम दिया जाय ॥ ४ ॥

दक्षिणेन पुरं सभा दक्षिणोदग्द्वारा यथोभयं सन्दृश्येत बहिरन्तरं चेति ॥ ५ ॥

दक्षिणेनेत्येनबन्तम्। पुरमिति[2] 'एनपा द्वितीये'ति द्वितीयान्तम्। पुरस्य दक्षिणतः अदूरे सभा कारयितव्या। दक्षिणोदग्द्वारा दक्षिणस्यामुत्तरस्यां च

---

१. तत्र ह्यतिथय आमन्त्र्यन्ते इत्यधिकः पाठः च. पु. २. पा. सू. १. ३. ३१

दिशि द्वारं यस्यास्सा तथोक्ता। किमर्थमुभयत्र द्वारमिति चेत्। यद्बहिर्वृत्तं यच्चाऽभ्यन्तरं तदुभयमपि यथा सन्दृश्येतेत्येवमर्थमिति। सैषा द्यूतसभा। तस्यां द्यूतार्थिनः प्रविशन्तीति तदायस्थानं राज्ञः॥ ५॥

अनु०—नगर से कुछ दूर दक्षिण की ओर सभाभवन बनवाये जिसके द्वार दक्षिण तथा उत्तर की ओर हों। तथा उसके भीतर और बाहर देखा जा सकता हो॥ ५॥

सर्वेष्वेवाऽजस्रा अग्नयस्स्युः॥ ६॥

वेश्मन्यावसथे सभायामित्येतेषु सर्वेष्वेव स्थानेषु लौकिका अग्नयोऽजस्राः स्युः। अविच्छेदेन धार्याः॥ ६॥

अनु०—इन तीनों स्थानों पर अग्नि निरन्तर प्रज्वलित रहे॥ ६॥

अग्निपूजा च नित्या यथा गृहमेधे॥ ७॥

तेषु चाग्निषु नित्यमग्निपूजा कार्या। यथा गृहमेधे औपासने सायंप्रातर्होम इत्यर्थः। मन्त्रावपि तावेव, द्रव्यमपि तदेव॥ ७॥

अनु०—इन अग्नियों में नित्य हवन किया जाना चाहिए जैसे गृहस्थ नित्य होम कर्म करता है॥ ७॥

आवसथे श्रोत्रियावरार्ध्यानतिथीन् वासयेत्॥ ८॥

आवसथाख्ये स्थाने अतिथीन् वासयेत्। ते विशेष्यन्ते श्रोत्रियावरार्ध्यानिति। अवरपर्यायोऽवरार्ध्यशब्दः। यदि सर्वान्वासयितुं न शक्नोति श्रोत्रियानपि तावद्वासयेदिति॥ ८॥

अनु०—आवसथ में अतिथियों को टिकाये और वे अतिथि कम से कम वेदों के विद्वान् अवश्य हों॥ ८॥

तेषां यथागुणमावसथाः शय्याऽन्नपानं च विदेयम्॥ ९॥

तेषामतिथीनां यथागुणं विद्यावृत्तानुगुणमावसथादि विदेयं विशेषेण देयम्। आवसथा अपवरकादयः। शय्या खट्वादयः। अन्नमोदनादि। पानं[१] तक्रादि॥ ९॥

अनु०—उन अतिथियों के गुणों के अनुसार उन्हें निवासस्थान, आसन, शय्या अन्न तथा पेय पदार्थ देना चाहिए॥ ९॥

गुरूनमात्यांश्च नातिजीवेत्॥ १०॥

गुरवः पित्रादयः। अमात्या मन्त्रिणः। तान्नाऽतिजीवेत् भक्ष्यभोज्याच्छादनादिषु तान्नाऽतिशयीत॥ १०॥

---

१. तक्रसूपादि इति च. पु. तक्रादिसूपादि इति क. पु.

अनु०—अपने गुरुओं तथा मन्त्रियों की अपेक्षा अधिक आराम का (भोजन, वस्त्र आदि की दृष्टि से उत्तम) जीवन न व्यतीत करे ॥ १० ॥

न चास्य विषये क्षुधा रोगेण हिमातपाभ्यां वाऽवसीदेदभावाद्बुद्धिपूर्वं वा कश्चित् ॥ ११ ॥

अस्य राज्ञो विषये राष्ट्रे क्षुधा आहाराभावेन बुभुक्षया रोगेण व्याधिना हिमेन नीहारेण वर्षादीनामप्युपलक्षणमेतत्। आतपः आदित्यरश्मितापः। एतैः प्रकारैरभावात् बुद्धिपूर्वं वा न कश्चिद्ब्राह्मणोऽप्यवसीदेत् अवसन्नो न स्यात्। राज्ञो ह्ययमपराधो यदाहाराद्यभावेन कश्चिदवसन्नः स्यात्। बुद्धिपूर्वं वेत्यत्रोदाहरणम्—यदा कश्चित् करमृणं वा दाप्यो भवति, तदा नाऽसौ हिमातपयोरुपनिवेशयितव्यः भोजनाद्वा निरोद्धव्यः। तथा कर्वाणं राजा दण्डयेदिति ।११॥

अनु०—उसके राज्य में अभाव के कारण अथवा जानबूझकर किसी को भूख, रोग, शीत, ताप, आदि से कष्ट नहीं पहुँचना चाहिए ॥ ११ ॥

सभाया मध्येऽधिदेवनमुद्धत्याऽवोक्ष्याऽक्षान्निवपेद्युग्मान् वैभीतकान् यथार्थान् ॥ १२ ॥

पूर्वोक्तायाः सभाया मध्ये अधिदेवनं यस्योपरि कितवा अक्षैर्दीव्यन्ति तत्स्थानमधिदेवनम्। तत् पूर्वं काष्ठादिना उद्धन्ति उद्धत्याऽवोक्षति। अवोक्ष्य तत्राऽक्षान् युग्मसङ्ख्याकान्वैभीतकान् विभीतकवृक्षस्य विकारभूतान् यथार्थान् यावद्भिर्द्यूतं निर्वर्तते, तावतो निवपति। कः ? यस्तत्र राज्ञा नियुक्तः सभिको नाम ॥१२॥

अनु०—सभाभवन के मध्य में सभाध्यक्ष एक ऊँचा स्थान बनवावे, अपने हाथ को नीचे किये हुए उस पर जल छिड़के, उसपर युग्म संख्या में बिभीतक (काष्ठ) के बने हुए अक्ष (गोटियाँ) जितनी आवश्यक हों उतनी मात्रा में रखे ॥ १२ ॥

आर्याः शुचयस्सत्यशीला दीवितारस्स्युः ॥ १३ ॥

आर्याः द्विजातयः। [1] शुचयोऽर्थशुद्धाः। सत्यशीलास्सत्यवादिनः। एवंभूता एव पुरुषास्तत्र दीवितारः स्युः। त एव तत्र दीव्येयुरित्यर्थः। तेच तत्र देवित्वा यथाभाषितं पणं सभिकाय दत्वा गच्छेयुः। स च राज्ञे तमायमहरहः प्रतिमासं प्रतिसंवत्सरं वा दद्यात्। स एव च स्थानान्तरे दीव्यतो दण्डयेत्, सभास्थाने च कलहकारान्। तत्र याज्ञवल्क्यः—

[2]"ग्लहे शतिकवृद्धेस्तु सभिकः पञ्चकं शतम्।
गृह्णीयाद्धूर्तकितवादितराद्दशकं शतम् ॥

---

१ शुचयो धर्मशुद्धाः इति च. पु.। २. या. स्मृ. २. १९९; २००

स सम्यक्पालितो दद्याद्राज्ञे भागं यथाकृतम् ।
जितमुद्ग्राहयेज्जैत्रं दद्यात्सत्यं वचः क्षमी ॥' इति ॥ १३ ॥

अनु०—द्यूत खेलने वाले आर्य अर्थात् प्रथम तीन वर्णों के होंवे पवित्र आचरण वाले तथा सत्यवादी होवें ॥ १३ ॥

आयुधग्रहणे नृत्तगीतवादित्राणीति राजाधीनेभ्योऽन्यत्र न विद्येरन् ॥ १४ ॥

आयुधग्रहणादीनी राजाधीनेभ्यो राजाश्रया ये पुरुषास्तेभ्योऽन्यत्र न विद्येरन् न भवेयुः । उत्सवादिष्वन्यत्रापि भवतीत्याचारः ॥ १४ ॥

अनु०—अस्त्रों का अभ्यास, नृत्य, गीत वाद्यवादन आदि केवल राजा के अधीनस्थ सेवकों के निवास स्थानों पर ही होंवे अन्यत्र नहीं ॥ १४ ॥

क्षेमकृद्राजा यस्य विषये ग्रामेऽरण्ये वा तस्करभयं न विद्यते ॥ १५ ॥

यस्य राज्ञो विषये ग्रामेऽरण्ये च चोरभयं नास्ति स एव राजा क्षेमकृत् क्षेमङ्करः । न त्वन्यः शतं तुभ्यं शतं तुभ्यमिति ददानोऽपि ॥ १५ ॥

अनु०— जिस राजा के राज्य में ग्राम में अथवा वन में चोरों का भय नहीं होता वही कल्याणकारी राजा होता है ॥ १५ ॥

इत्यापस्तम्बधर्मसूत्रवृत्तौ द्वितीय प्रश्ने पञ्चविंशी कण्डिका ॥ २५ ॥

भृत्यानामनुपरोधेन क्षेत्रं वित्तं च ददद्ब्राह्मणेभ्यो यथार्हमनन्ताँल्लोकानभिजयति ॥ १ ॥

भृत्यानामनुपरोधेन भृत्यवर्गस्य यथोपरोधो न भवति तथा ब्राह्मणेभ्यो यथार्हं विद्यावृत्तानुरूपं क्षेत्रं वित्तं च दद्यात् । एवं दददनन्ताँल्लोकनभिजयति॥१॥

अनु०—जो राजा अपने सेवकों को किसी प्रकार की हानि पहुँचाये विना ब्राह्मणों को उनकी विद्या तथा उनके चरित्र आदि के अनुसार धन देता है, वह अनन्त लोकों को प्राप्त करता है ॥ १ ॥

ब्राह्मणस्वान्यपजिषगीमाणो राजा यो हन्यते तमाहुरात्मयूपो यज्ञोऽनन्तदक्षिण इति ॥ २ ॥

ब्राह्मणस्वानि चौरादिभिरपहृतानि अपजिगीषमाणः ब्राह्मणेभ्यो दानायापजित्य ग्रहीतुमिच्छन् यो राजा युद्धे चोरैर्हन्यते तमात्मयूपोऽनन्तदक्षिणो यज्ञ इत्याहुर्धर्मज्ञाः । सङ्ग्रामो यज्ञः । तस्य आत्मा यूपस्थानीयः । आत्मेति शरीरमाह । अन्तरात्मा तु पशुस्थानीयः । प्रत्यानिनीषितं तु द्रव्यं दक्षिणा । सूत्रे तु 'तं यज्ञ इत्याहु' रिति गौणो वादः ॥ २ ॥

अनु०—कहा जाता है कि जो राजा किसी ब्राह्मण की चोर आदि द्वारा अपहृत सम्पत्ति को छीनकर ब्राह्मण को वापस दिलाने के प्रयत्न में मृत्यु प्राप्त करता है, वह इस प्रकार का यज्ञ करता है। जिसमें उसका शरीर ही यज्ञ का यूप होता है। तथा असीमित दक्षिणा दी जाती है ॥ २ ॥

एतेनाऽन्ये शूरा व्याख्याताः प्रयोजने युध्यमानास्तनुत्यजः ॥ ३ ॥

प्रयोजनं चोरादिभिरपहृतानां ब्राह्मणस्वानां प्रत्यानयनादि, तदर्थं युध्यमाना ये शूरास्तनुत्यजो भवन्ति तेऽप्येतेन राज्ञा व्याख्याता आत्मयूपा यज्ञा अनन्तदक्षिणा इति ॥ ३ ॥

अनु०—आगे के सूत्र में उन वीरों के पुण्यफलों का निर्देश किया गया है जो किसी श्रेष्ठ प्रयोजन से युद्ध करते हुए शरीर त्याग करते हैं ॥ ३ ॥

ग्रामेषु नगरेषु चाऽऽर्याञ्छुचीन् सत्यशीलान् प्रजागुप्तये निदध्यात् ॥ ४ ॥

आर्याञ्छुचीन् सत्यशीलानिति व्याख्यातम्। एवं भूतान् पुरुषान् ग्रामेषु नगरेषु च प्रजानां रक्षणार्थं निदध्यात् नियुञ्जीत ॥ ४ ॥

अनु०—ग्रामों तथा नगरों में प्रजा की रक्षा के लिए तीन उच्च वर्णों के, पवित्र आचरण वाले तथा सत्यवादी पुरुषों को नियुक्त करें ॥ ४ ॥

तेषां पुरुषास्तथागुणा एव स्युः ॥ ५ ॥

तेषां नियुक्तानां ये पुरुषा नियोज्याः तेऽपि तथागुणा आर्यादिगुणा एव स्युः ॥ ५ ॥

अनु०—उनके सेवकों में भी उसी प्रकार के गुण होने चाहिए ॥ ५ ॥

सर्वतो योजनं नगरं तस्करेभ्यो रक्ष्यम् ॥ ६ ॥

सर्वतः सर्वासु दिक्षु योजनमात्रं नगरं तस्करेभ्यो रक्षणीयम्। रक्ष्यन्नित्यपपाठः ॥ ६ ॥

अनु०—वे नगर की प्रत्येक दिशा में एक योजन तक नगर की चोरों आदि से रक्षा करें ॥ ६ ॥

क्रोशो ग्रामेभ्यः ॥ ७ ॥

ग्रामेभ्यस्तु सर्वासु दिक्षु क्रोशो रक्ष्यः। ग्रामेभ्यः इति[1] 'यतश्चाऽध्वकालपरिमाणं तत्र पञ्चमी वक्तव्ये'ति पञ्चमी ॥ ७ ॥

अनु०—प्रत्येक ग्राम के चारों ओर एक क्रोश तक रक्षा करें ॥ ७ ॥

तत्र यन्मुष्यते तैस्तत्प्रतिदाप्यम् ॥ ८ ॥

---

१. पा. सू. (वा) २. ४. ३१.

तत्र योजनमात्रे क्रोशमात्रे वा यन्मुष्यते चोर्यते ते नियुक्ताः स्वामिभ्यस्तत्प्रतिदद्यू राज्ञा तैस्तत् प्रतिदाप्यम् राजा तैः प्रतिदापयेदिति प्रायेण दन्त्योष्ठ्यं वकारं पठन्ति ॥ ८ ॥

अनु०—इन सीमाओं के भीतर जो भी सम्पत्ति चोरी हो उसे इन्हीं रक्षापुरुषों से चुकता करवाया जाय ॥ ८ ॥

धार्म्यं शुल्कमवहारयेत् ॥ ९ ॥

तत्र गौतमः—

[1]'विंशतिभागश्शुल्कः पण्ये' इति। यद्वणिग्भिर्विक्रीयते हिङ्ग्वादि, तस्य विंशतितमं भागं राजा गृह्णीयात्। तस्य शुल्क इति सञ्ज्ञा। एष धार्म्यः धर्म्यश्शुल्कः। तमधिकृतैरेवाऽवहारयेत् ग्राहयेदिति। मूलादिषु विशेषस्तैनेवोक्तः—[2]'मूलफलपुष्पौषधिमधुमांसतृणेन्धनानां षाष्टिक्य'मिति ॥ ९ ॥

अनु०—राजा उनसे न्यायोचित कर भी एकत्र करवाये ॥ ९ ॥

अकरः श्रोत्रियः ॥ १० ॥

श्रोत्रियः करं न दाप्यः। अन्ये दाप्याः ॥ १० ॥

अनु०—विद्वान् श्रोत्रिय ब्राह्मण कर से मुक्त होता है ॥ १० ॥

सर्ववर्णानां च स्त्रियः ॥ ११ ॥

अकराः। वर्णग्रहणात् प्रतिलोमादिस्त्रियो दाप्याः ॥ ११ ॥

अनु०—सभी वर्णों की स्त्रियाँ भी कर से मुक्त होती हैं ॥ ११ ॥

कुमाराश्च प्राक् व्यञ्जनेभ्यः ॥ १२ ॥

व्यञ्जनानि श्मश्र्वादीनि। यावत्तानि नोत्पद्यन्ते तावदकराः ॥ १२ ॥

अनु०—बालक उस समय तक कर से मुक्त होते हैं जब तक उनमें युवावस्था के चिह्न (दाढ़ी-मूँछ) प्रकट नहीं हो जाते ॥ १२ ॥

ये च विद्यार्था वसन्ति ॥ १३ ॥

विद्यामुद्दिश्य ये गुरुषु वसन्ति ते जातव्यञ्जना अप्यसमाप्तवेदा अकराः।

अनु०—जो लोग अध्ययनार्थ गुरुकुल में निवास करते हैं वे कर से मुक्त होते हैं ॥ १३ ॥

तपस्विनश्च ये धर्मपराः ॥ १४ ॥

तपस्विनः कृच्छ्रचान्द्रायणादिप्रवृत्ताः। धर्मपराः, अफलाकाङ्क्षिणः नित्यने-

---

१. गौ. ध. १०. २६. २. गौ. ध. १०. २७.

मित्तिकधर्मनिरताः। धर्मपरा इति किम्? ये अभिचारकामा मन्त्रसिद्धये तपस्तप्यन्ते ते अकरा मा भूवन्निति ॥ १४ ॥

अनु०—धर्म के आचरण में संलग्न तपस्वी भी कर से मुक्त होते हैं ॥ १४ ॥

शूद्रश्च पादावनेक्ता ॥ १५ ॥

यस्त्रैवर्णिकानां पादावनेक्ता स शूद्रोऽप्यकरः ॥ १५ ॥

अनु०—चरणों को धोकर जीविका निर्वाह करने वाला शूद्र भी अकर होता है ॥ १५ ॥

अन्धमूकबधिररोगाविष्टाश्च ॥ १६ ॥

एतेऽप्यकराः यावदान्ध्यादि ॥ १६ ॥

अन्धे, गूंगे, बहरे तथा रोगी कर से मुक्त होते हैं ॥ १६ ॥

ये व्यर्था द्रव्यपरिग्रहैः ॥ १७ ॥

ये च परिव्राजकादयः द्रव्यपरिग्रहैर्व्यर्था निष्प्रयोजनाः शास्त्रतो येषां द्रव्यपरिग्रहः प्रतिषिद्धः तेऽप्यकराः।

तथा च वसिष्ठः—

"[1]अकरः श्रोत्रियो राजा पुमाननाथः प्रव्रजितो बालवृद्धतरुणप्रशान्ता" इति ॥ १७ ॥

अनु०—जिन लोगों के लिए धन ग्रहण करना शास्त्र से निषिद्ध है वे संन्यासी-आदि) कर से मुक्त होते हैं ॥ १७ ॥

अबुद्धिपूर्वमलङ्कृतो युवा परदारमनुप्रविशन् कुमारीं वा वाचा बाध्यः ॥ १८ ॥

यत्र परदारा आसते कुमारी वा पतिंवरा, तत्र युवा अलङ्कृतः अबुद्धिपूर्वमज्ञानादनुप्रविशन् वाता बाध्यः—अत्रेयमास्ते, माऽत्र प्रविशेति ॥ १८ ॥

अनु०—आभूषणों आदि से अलंकृत जो युवक अनजान में भी किसी ऐसे स्थान पर प्रवेश करता है जहाँ एक विवाहिता स्त्री या विवाहयोग्य कन्या बैठी हो उसे डाँट कर रोकना चाहिए ॥ १८ ॥

बुद्धिपूर्वं तु दुष्टभावो दण्ड्यः ॥ १९ ॥

यस्तु जानन्नेव दुष्टभावः प्रलोभनार्थी प्रविशति स दण्ड्यो द्रव्यानुरूपमपराधानुरूपं च। दुष्टभावग्रहणमाचार्यादिप्रेषितस्य प्रवेशे दण्डो मा भूदिति।

अनु०—किन्तु यदि वह ऐसा बुरी नीयत से जानबूझकर करता है तो उसे (आर्थिक) दण्ड देना चाहिए ॥ १९ ॥

---

१. व. ध. १९. २३

सन्निपाते वृत्ते शिश्नच्छेदनं सवृषणस्य ॥ २० ॥

सन्निपातो मैथुनं, तस्मिन् वृत्ते शिश्नच्छेदनं दण्डः। सवृषणस्येत्युपसर्जनस्यापि शिश्नस्य विशेषणम्। सवृषणस्य शिश्नस्य च्छेदनमिति ॥ २० ॥

अनु०—यदि उसने वस्तुतः ऐसी स्त्री से मैथुन किया हो तो उसका शिश्न अण्डकोषों के साथ कटवा दे ॥ २० ॥

कुमार्यां तु स्वान्यादाय नाश्यः ॥ २१ ॥

कुमार्यां तु सन्निपाते वृत्ते सर्वस्वहरणं कृत्वा देशान्निर्वास्यः, न शिश्नच्छेदः ॥ २१ ॥

अनु०—यदि उसने कुमारी कन्या के साथ मैथुन किया हो तो उसकी सम्पूर्ण सम्पत्ति का अपहरण कर उसे देश से निष्कासित कर देना चाहिए ॥ २१ ॥

अथ भृत्ये राज्ञा ॥ २२ ॥

अथ सन्निपातात्प्रभृति ते परदारकुमार्यौ राज्ञा भृत्ये ग्रासाच्छादनप्रदानेन भर्तव्ये ॥ २२ ॥

अनु०—उसके बाद ऐसी परस्त्री तथा कुमारी कन्या का भरण-पोषण राजा करें ॥ २२ ॥

रक्ष्ये चाऽत ऊर्ध्वं मैथुनात् ॥ २३ ॥

अतः प्रथमात् सन्निपातात् ऊर्ध्वं मैथुनाच्च रक्ष्ये यथा पुनः मैथुनं नाचरतस्तथा कार्ये ॥ २३ ॥

अनु०—उसके बाद राजा उनकी मैथुन किये जाने से रक्षा करें ॥ २३ ॥

निर्वेषाभ्युपाये तु स्वामिभ्योऽवसृजेत् ॥ २४ ॥

यदि ते एवं निरुद्धे निर्वेषणमभ्युपेतः अभ्युपगच्छतः तदा निर्वेषाभ्युपाये तु स्वामिहस्ते अवसृजेत् दद्यात्। परदारं भर्त्रे श्वशुराय वा, कुमारीं पित्रे भ्रात्रे वा। अनभ्युपगमे तु प्रायश्चित्तस्य यावज्जीवं निरोधः ॥ २४ ॥

यदि वे विहित प्रायश्चित्त करें तो उन्हें उनके स्वामियों तथा संरक्षकों के हाथों में सौंप देना चाहिए ॥ २४ ॥

इत्यापस्तम्बधर्मसूत्रे द्वियीयप्रश्ने षट्विंशी कण्डिका ॥ २३ ॥

चरिते यथापुरं धर्मोद्धि सम्बन्धः ॥ १ ॥

चरिते तु निर्वेषे यथापुरं यथापूर्वं, धर्मात्, तृतीयार्थे पञ्चमी। धर्मेण सम्बन्धो भवति। हिशब्दो हेतौ। यस्मादेवं तस्मात् अवश्यं प्रायश्चित्तं कारयितव्ये। ततो यज्ञविवाहादौ न कश्चिद्दोष इति ॥ १ ॥

अनु०—उन (स्त्रियों या कन्याओं) को प्रायश्चित कर लेने के बाद उसी प्रकार का मानना चाहिए जैस वे पहले मानी जाती थीं, कारण स्त्री पुरुष के सम्बन्ध धर्म के अनुसार होते हैं ॥ १ ॥

परदारप्रसङ्गादुच्यते—

सगोत्रस्थानीयां न परेभ्यस्समाचक्षोत ॥ २ ॥

योऽनपत्यः आत्मनश्शक्त्यभावं निश्चित्य क्षेत्रजं पुत्रमिच्छन् भार्यां[1] परत्र नियुङ्क्ते, मृते वा तस्मिन् तत्पित्रादयस्सन्तानकाङ्क्षिणः, तद्विषयमेतत् । कुलान्तरप्रविष्टा सगोत्रस्थानीया । सा हि पूर्वं पितृगोत्रा सती[2] भर्तृगोत्रधर्मैरधिक्रियेत । अतः भर्तृपक्ष्याणां सगोत्रस्थानीया भवति । भर्ता तु साक्षात्सगोत्रः । तां सगोत्रस्थानीयां न परेभ्योऽसगोत्रेभ्यस्समाचक्षीत—इयमनपत्या, अस्यामपत्यमुत्पाद्यतामिति । सगोत्रायैव तु सामाचक्षीत, तत्रापि देवराय, तदभावे[3] सपिण्डेभ्यः ॥ २ ॥

अनु०—पति के कुल में प्रवेश करने वाली (पति के गोत्र वाली) स्त्री को (क्षेत्रज पुत्र की इच्छा से) उस गोत्र से भिन्न गोत्र वाले पुरुष से नियोग के लिए सम्बन्ध नहीं कराना चाहिए । (अर्थात् पति के गोत्र के पुरुष से ही नियोग द्वारा पुत्र उत्पन्न करने की आज्ञा देनी चाहिए, उसमें भी भरसक देवर से नियोग होना चाहिए-हरदत्त) ॥ २ ॥

कः पुनस्सगोत्रस्य विशेषः ? तमाह—

कुलाय हि स्त्री प्रदीयत इत्युपदिशन्ति ॥ ३ ॥

हि यस्मात् स्त्री कन्या प्रदीयमाना कुलायैव प्रदीयत इत्युपदिशन्ति धर्मज्ञाः । तस्मात् सगोत्रायैव समाचक्षीतेति[4] ॥ ३ ॥

अनु०—क्योंकि कहा गया है कि कन्या एक कुल को दी जाती है (पति के कुल को दी जाती है, केवल पति को ही नहीं) ॥ ३ ॥

तमिमं नियोगं दूषयति—

तदिन्द्रियदौर्बल्याद्विप्रतिपन्नम् ॥ ४ ॥

यद्यप्येवं पूर्वे कृतवन्तः, तथाऽपि तदद्यत्वे विप्रतिपन्नं विप्रतिषिद्धम् ।

---

१. परस्मै. इति. क. पु. २. भर्तृगोत्रधर्मैऽधिक्रियते ।

३. सपिण्डाय. इति. च. पु.

४. "कुलाय कन्या क्वचिद्देशेषु दीयते । गोत्रजे न केनचिदप्यनुभूयते । उक्तं च बृहस्पतिना—अभर्तृका भ्रातृभार्या ग्रहणं चातिदूषितम् । कुले कन्या प्रदानं च देशेष्वन्येषु दृश्यते इति" इत्यधिकः पाठः घ. पु.

कुतः ? इन्द्रियदौर्बल्यात्। दुर्बलेन्द्रिया ह्यद्यत्वे मनुष्याः। ततश्च शास्त्रव्याजेनापि भर्तृव्यतिक्रमेऽतिप्रसङ्गस्स्यादिति ॥ ४ ॥

अनु०—किन्तु यह नियोग का नियम अब निषिद्ध हो गया है क्योंकि पुरुषों की इन्द्रियाँ दुर्बल हो गई हैं (वे संयम नहीं करते) ॥ ४ ॥

सगोत्रविषयेऽपि यो विशेषस्सोऽपि नास्तीत्याह—

अविशिष्टं हि परत्वं पाणेः ॥ ५ ॥

येन पाणिना पूर्वमग्निसाक्षिकं पाणिगृहीतः कन्यायाः, तस्मात् पाणेरन्यो भवति सगोत्रस्याऽपि पाणिः। यस्मादेवं पाणेः परत्वमविशिष्टं समानम् ? तस्मादविशेष इति। अविशिष्टमित्यपपाठः ॥ ५ ॥

अनु०—जिस पुरुष के हाथ से विवाह के समय कन्या का ग्रहण किया जाता है उस पुरुष के हाथ को छोड़कर दूसरे व्यक्तियों के हाँथ (चाहे वे सगोत्री हों या परगोत्री) एक समान ही होते हैं ॥ ५ ॥

पाणिरन्यो भवतु, को दोषः ?

तद्व्यतिक्रमे खलु पुनरुभयोर्नरकः ॥ ६ ॥

तस्य पाणेर्व्यतिक्रमे उभयोर्दम्पत्योः नरको भवति। खलु पुनरिति प्रसिद्धिद्योतकौ निपातौ। अतः पत्याऽपि न स पाणिस्त्याज्यः यः पूर्वं गृहीतः। भार्ययाऽपि न स पाणिस्त्याज्यो येन पूर्वमात्मानः पाणिगृहीतः ॥ ६ ॥

अनु०—यदि विवाह के पाणिग्रहण के नियम का उल्लंघन होता है तो पति-पत्नी दोनों ही नरक प्राप्त करते हैं ॥ ६ ॥

नियमारम्भणो हि वर्षीयानभ्युदय एवमारम्भणादपत्यात् ॥७॥

आरभ्यतऽनेनेत्यारम्भणः योऽयं दम्पत्योः परस्परनियमः, स आरम्भणो यस्य स नियमारम्भणः। एवंभूतो योऽभ्युदयस्स एवं वर्षीयान्। वृद्धतरः। कस्मात् वर्षीयान् ? एवमुक्तप्रकारेण नियोगलक्षणेन यदपत्यमारभ्यते तस्मादेवमारम्भणादपत्याद्वर्षीयानिति। अपत्यादिति पाठः। आपत्यादिति प्रायेण पठन्ति ॥ ७॥

अनु०—इस प्रकार नियोग द्वारा प्राप्त पुत्र की अपेक्षा वैवाहिक पवित्रता के नियम के निर्वाह करने का परलोक में प्राप्य फल श्रेयस्कर होता है ॥ ७ ॥

नाश्य आर्यश्शूद्रायाम् ॥ ८ ॥

आर्यस्त्रैवर्णिकः शूद्रायां परभार्यायां प्रसक्तो राज्ञा राष्ट्रान्नाश्यः निर्वास्यः ८

अनु०—यदि प्रथम तीन उच्च वर्णों का पुरुष शूद्र वर्ण की स्त्री से मैथुन करे तो उसे देश से निकाल देना चाहिए ॥ ८ ॥

वध्यश्शूद्र आर्यायाम् ॥ ९ ॥

शूद्रस्तु त्रैवर्णिकस्त्रियां प्रसक्तो वध्यः। एतच्च योऽन्तःपुरादिष्वधि-कृतो रक्षकस्सन् स्वयं गच्छति,तस्य भवति। अन्यस्य तु पूर्वोक्तं शिश्नच्छेदनमेव। तथा च शूद्राधिकारे गौतमः [1]—'आर्यस्त्र्यभिगमने लिङ्गोद्धारः स्वहरणं च। गोप्ता चेद्वधोऽधिक'इति। याज्ञवल्क्येन प्रातिलोम्येन गमनमात्रे वध उक्तः—

"[2]सजातावुत्तमो दण्डः आनुलोम्ये तु मध्यमः।

प्रातिलोम्ये वधः [3]पुंसां स्त्रीणां नासादिकृन्तनम् ॥' इति। सोऽनुबन्धाभ्यासाद्यपेक्षो द्रष्टव्यः। तथा 'नाश्य आर्यश्शूद्रायामि'त्याचार्यवचन-मप्यभ्यासापेक्षम्, ब्राह्मणादेः क्रमविवाहे या शूद्रा, तद्विषयं वा द्रष्टव्यम् ॥९॥

अनु०—जो शूद्र वर्ण का पुरुष प्रथम तीन उच्च वर्णों की स्त्री से मैथुन करता है वह मृत्युदण्ड का भागी होता है।

टिप्पणी—हरदत्त के अनुसार यह दण्ड उस शूद्र को दिया जाता है जो उच्चवर्ण की स्त्री का रक्षक बनाकर भेजा जाय और अवसर पाकर उसके साथ मैथुन करे, अन्यथा परस्त्री संभोग के लिए प्रजनेन्द्रियों के कटवा लेने का दण्ड पहले उल्लिखित हो है ॥ ९ ॥

दारं चाऽस्य कर्शयेत् ॥ १० ॥

अस्य शूद्रस्य या दारभूता तेन भुक्ता त्रैवर्णिकस्त्री तां च कर्शयेत् व्रतनिय-मोपवासैः। या प्रजाता न भवति तद्विषयमेतत्।

'[4]ब्राह्मणक्षत्रियविशां स्त्रियः शूद्रेण सङ्गताः।

अप्रजाता विशुध्यन्ति प्रायश्चित्तेन नेतराः ॥' इति स्मरणात् ॥१०॥

अनु०—उस शूद्र से मैथुन कराने वाली उच्चवर्ण की स्त्री को व्रत, नियम उपवास द्वारा कृश बना दे। १० ॥

सवर्णायामन्यपूर्वायां सकृत्सन्निपाते पादः पततीत्युपदिशन्ति ॥ ११ ॥

अन्यः पूर्वः पतिः यस्यास्सा अन्यपूर्वा परभार्या, तस्यां सवर्णायां सकृद्गमने पादः पतति। पतितस्य द्वादशवार्षिकं प्रायश्चित्तम्। तस्य तुर्योऽशस्त्रीणि वर्षाणि प्राकृतं ब्रह्मचर्यमस्य प्रायश्चित्तम्। एतच्च श्रोत्रियभार्यायामृतुकाले कामतः प्रथम [5] दूषकस्य। तत्र गौतमः "[6]द्वे परदारे। त्रीणि श्रोत्रियस्ये'ति ॥ ११ ॥

---

१. गौ. ध. १२. २. ३ २. या. स्मृ. २. २८६

३. पुंसो नार्याः कर्णादिकर्तनम् इति विज्ञानेश्वराहतः पाठः।

४. श्लोकोऽयं मानवे एकादशाध्याये १७८ श्लोकानन्तरं प्रक्षिप्ततया पठितः।

५. दूषकस्य ब्राह्मणस्य. इति घ. च. पु. ६. गौ. ध. २२. २९, ३०

अनु०—धर्मज्ञों ने उपदेश दिया कि जो ब्राह्मण अपने ही वर्ण की पर स्त्री से मैथुन करता है वह पतित व्यक्ति के लिए विहित प्रायश्चित्त का चतुर्थांश प्रायश्चित्त करे (अर्थात् पतित के लिए बारह वर्ष की प्रायश्चित्त की अवधि है, ऐसे ब्राह्मण को तीन वर्ष तक प्रायश्चित्त करना होता है ।। ११ ।।

एवमभ्यासे पादः पादः ।। १२ ।।

एवमभ्यासे प्रत्यभ्यासं पादः पादः पतति ।। १२ ।।

अनु०—इसी प्रकार इस अपराध के पुनः-पुनः करने पर पतित के लिए विहित प्रायश्चित्त का चतुर्थांश प्रायश्चित्त और करे ।। १२ ।।

चतुर्थे सर्वम् ।। १३ ।।

अतः– चतुर्थे सन्निपाते सर्वमेव पतति । ततश्च पूर्णद्वादशवार्षिकं कर्तव्य- तृतीय नव वर्षाणि । द्वितीये षड्वर्षाणि । एतच्च प्रतियोगं स्त्रीभेदेन प्रथमदू । कषस्य । एकस्यामेव त्वभ्यासे कल्प्यम् । तत्र—

[1]"यत् पुंसः परदारेषु तच्चैनां चारयेद्व्रतम् ,

इति स्मरणात् स्त्रिया अपि प्रतिप्रयोगं पादः पादः पतति । तदनुरोधेन कल्प्यम् ।। १३ ।।

अनु०—यदि यह अपराध चौथी बार करे तो पतित के लिए विहित सम्पूर्ण बारह वर्षों का प्रायश्चित्त करे ।। १३ ।।

जिह्वाच्छेदनं शूद्रस्याऽऽर्यं धार्मिकमाक्रोशतः ।। १४ ।।

शूद्रो द्विजातीनामन्यतमं धार्मिके[2]स्वकर्मस्थं यद्याक्रोशति निन्दति गर्हते, तदा तस्य जिह्वा छेत्तव्येति । मनुस्तु सामान्येनाह-

[3]"येनाङ्गेनावरो वर्णो ब्राह्मणस्याऽपराध्नुयात् ।
तदङ्गं तस्य छेत्तव्यं तन्मनोरनुशासनम् इति ।।

गौतमस्तु—[4]"शूद्रो द्विजातीनतिसन्धायाऽभिहत्य च वाग्दण्डपारुष्याभ्यामङ्गं मोच्यो येनोपहन्या' दिति ।। १४ ।।

अनु०—प्रथम तीन वर्णों के गुणवान् व्यक्ति की निन्दा करने या उसको अपशब्द कहने पर शूद्र की जीभ काट लेनी चाहिए ।। १४ ।।

वाचि पथि शय्यायामासन इति समोभवतो दण्डताडनम् ।। १५ ।।

यस्तु शूद्रो वागादिष्वार्यैस्समोभवति, न तु न्यग्भूतः, तस्य दण्डेन ताडनं कर्तव्यम् । स दण्डेन ताडयितव्यः । अयमस्य दण्डः ।। १५ ।।

---

१. म. स्मृ ११. १७७ २. स्वधर्मस्थं इति च. पु.
३. म. स्मृ. ८. १७९ ४. गौ. १२. २

अनु०—जो शूद्र प्रथम तीन वर्णों के पुरुषों के साथ वार्तालाप में, मार्ग में चलने में, शय्या पर, बैठने के आसन पर तथा अन्य कर्मों में समानता का व्यवहार करे उसे डण्डे से पीटने का दण्ड दिया जाना चाहिए ॥ १५ ॥

पुरुषवधे स्तेये भूम्यादान इति स्वान्यादाय वध्यः ॥ १६ ॥

भूम्यादानं परक्षेत्रस्य बलात्स्वीकारः, पुरुषवधादिषु निमित्तेषु शद्रस्सर्वस्वहरणं कृत्वा पश्चाद्वध्यः मारयितव्यः ॥ १६ ॥

अनु०—किसी पुरुष का वध करने पर, चोरी करने, भूमि पर बलपूर्वक कब्जा करने पर शूद्र की सम्पूर्ण सम्पत्ति का अपहरण कर लेना चाहिए तथा उसका बध कर देना चाहिए ॥ १६ ॥

चक्षुनिरोधस्त्वेतेषु ब्राह्मणस्य ॥ १७ ॥

ब्राह्मणस्य त्वेतेषु निमित्तेषु चक्षुषो निरोधः कर्तव्यः। पट्टबन्धादिना चक्षुषी निरोद्धव्ये' यथा यावज्जीवं न पश्यति। न तूत्पाटयितव्ये।

"न शारीरो ब्राह्मणदण्डः। अक्षतो ब्राह्मणो व्रजे'दिति स्मरणात्। 'चक्षुनिरोध' इति रेफलोपश्छान्दसः ॥ १७ ॥

अनु०—किन्तु यदि एक ब्राह्मण ये सब अपराध करे तो उसकी आखों को पट्ट-बन्ध आदि से इस प्रकार बन्द करा देना चाहिए कि वह जीवन भर देख न सके ॥ १७ ॥

नियमातिक्रमिणमन्यं वा रहसि बन्धयेत् ॥ १८ ॥

यो वर्णाश्रमप्रयुक्तान्नियमानतिक्रामति तं नियमातिक्रमिणमन्यं वा प्रतिषिद्धानां कर्तारं रहसि निगलितं निरुन्ध्यात् ॥ १८ ॥

अनु०—नियमों का उल्लंघन करने वाले अथवा किसी अन्य प्रकार के अपराधी को एकान्त में बन्धन में रखे ॥ १८ ॥

आसमापत्तेः ॥ १९ ॥

यावदसौ नियमान् प्रतिपत्स्ये प्रतिषिद्धेभ्यो निवर्तिष्य इति ब्रूयात् ॥१९ ॥

अनु०—जब तक वह अपराधी यह प्रतिज्ञा न करे कि मैं नियम का पालन करूंगा तथा निषिद्ध कर्मों से दूर रहूँगा तब तक उसे बन्धन में रखे ॥ १९ ॥

असमापत्तौ नाश्यः ॥ २० ॥

यद्यसौ दीर्घकालं निरुद्धोऽपि न समापद्येत, ततो नाश्यः निर्वास्यः ॥२०॥

अनु०—यदि वह इस प्रकार की प्रतिज्ञा नहीं करता तो उसे देश से निकाल देना चाहिए ॥ २० ॥

---

१. गौ. ध. १२. ४६

आचार्य ऋत्विक्स्नातको राजेति त्राणं स्युरन्यत्र वध्यात् ॥ २१ ॥

यदि दण्डे प्रवृत्तं राजानमाचार्यो ब्रूयात्—अहमेनमतः परं वारयिष्यामि मुच्यतामयमिति। अतोऽङ्गदण्डे प्राप्तेऽर्थदण्डम्, अर्थदण्डे प्राप्ते ताडनम्, ताडने प्राप्ते धिग्दण्डमिति कृत्वा तद्वशे विसृजेत्। एवमृत्विजि। ऋत्विगाचार्यौ राज्ञस्स्वभूतौ न दण्ड्यस्य। स्नातको विद्याव्रताभ्याम्। राजा अनन्तरादिः। सर्वं, एते राज्ञस्सम्मान्याः। अतस्ते दण्ड्यस्य त्राणं स्युः। उक्तेन प्रकारेण रक्षका भवेयुः। नान्यः कश्चित्। तेऽप्यन्यत्र वध्यात् यस्य वधानुगुणोऽपराधः न तस्याऽऽचार्यादयोऽपि त्राणम्, हन्तव्य एव स इति ॥ २१ ॥

इत्यापस्तम्बधर्मसूत्रवृत्तौ द्वितीयप्रश्ने सप्तविंशो कण्डिका ॥ २७ ॥

अनु०—आचार्य, ऋत्विक्, स्नातक और राजा किसी अपराधी को जिसे मृत्यु-दण्ड को छोड़कर कोई अन्य दण्ड मिला हो रक्षा कर सकते हैं (छुड़ा सकते हैं) ॥ २१ ॥

इति चाऽऽपस्तम्बधर्मसूत्रवृत्तौ हरदत्तमिश्रविरचितायामुज्ज्वलायां द्वितीयप्रश्ने दशमः पटलः ॥ १० ॥

अथैकादशः पटलः

क्षेत्रं परिगृह्योत्थानाभावात्फलाभावे यस्समृद्धस्स भावि तदपहार्यः ॥ १ ॥

वैश्यो वैश्यवृत्तिर्वा परस्य क्षेत्रं कृष्यर्थं परिगृह्य यदि उत्थानं कृषिविषयं यत्नं न कुर्यात्, तदभावाच्च फलं न स्यात्, तत एतस्मिन्निमित्ते स कर्षकस्समृद्धश्चेत्तस्मिन् भोगे यद्भावि फलं तदपहार्यः अपहारयितव्यः। राज्ञा क्षेत्रस्वामिने दाप्यः ॥ १ ॥

अनु०—यदि कोई व्यक्ति दूसरे का खेत खेती करने के लिए लेकर उसमें खेती करने का यत्न नहीं करता, जिसके कारण उस खेत में फल नहीं उत्पन्न होता, वो यदि वह पुरुष धनी हो तो उससे संभावित फसल का मूल्य खेत के स्वामी को दिलाया जाय ॥ १ ॥

अवशिनः कीनाशस्य कर्मन्यासे दण्डताडनम् ॥ २ ॥

कीनाशः कर्षकः। तस्याऽवशिनः अस्वतन्त्रस्य निर्धनस्य कर्मन्यासे स चेत् कृषिकर्म न्यसेत् विच्छिन्द्यात् तस्य दण्डेन ताडनं कर्त्तव्यं स दण्डेन ताडयितव्यः। अर्थाभावान्नाऽर्थदण्डः।

अपर आह—अवशी अवश्यः अविधेयः यः क्षेत्रं परिगृह्याऽवशिनः कीनाशस्य कृषिकर्म न्यसेत् न स्वयं कुर्यात्, तदा स परिग्राहको दण्डेन ताडयितव्य इति। यदि वा अवशिन इति बहुव्रीहिः। यस्य कीनाशस्य वशी स्वतन्त्रः क्षेत्रवान्नास्ति, स यदि पूर्वकृष्टस्य क्षेत्रस्य कृषिकर्म न्यसेत् न कुर्यात्, तस्य दण्डताडनं दण्ड इति राजपुरुषस्योपदेशः ॥ २ ॥

अनु०—कृषि कर्म में जमीदार के वश में न रहकर बीच में काम छोड़ने वाले मजदूर को पीटना चाहिए।

टि०—इस सूत्र की दूसरी व्याख्या भी है कि जो मजदूर जमीदार की जमीन लेकर कृषि कर्म नहीं करता है और खेत बेकार पड़ा रहता है उस मजदूर को यदि उसके पास फसल का मूल्य देने के लिए धन न हो तो पीटना चाहिए ॥ २ ॥

तथा पशुपस्य ॥ ३ ॥

पशुपो गोपालः तस्याऽपि कर्मन्यासे पालनस्याऽकरणे दण्डेन ताडनं दण्डः ॥ ३ ॥

अनु०—इसी प्रकार का दण्ड गौ के उस चरवाहे को मिलना चाहिए जो कार्य छोड़ देता है ॥ ३ ॥

अवरोधनं चाऽस्य पशूनाम् ॥ ४ ॥

ये चाऽस्य पशवो रक्षणाय समर्पितास्तेषां चाऽवेराधनमपहरणं कर्तव्यमन्यस्य गोपस्य समर्पणीया इति ॥ ४ ॥

अनु०—अथवा उसे रक्षार्थ जो पशु दिये गये हों उनका उपहरण करके उन्हें दूसरे गोप को देना चाहिए ॥ ४ ॥

हित्वा व्रजमादिनः कर्शयेत्पशून ॥ ५ ॥

ये पशवो व्रजे गोष्ठे निरुद्धास्तं व्रजं हित्वा आदिनस्सस्यादेर्भक्षयितारो भवन्ति; तान् कर्शयेत् बन्धनादिना कृशान् कुर्यात् । कः ? यत् भक्षितं तद्वान्, राजपुरुषो वा ॥ ५ ॥

अनु०—गोशाले में बंधे हुए पशु यदि तुड़ाकर या गोशाले से निकलकर किसी को फसल आदि खा लें तो (फसल का स्वामी अथवा राजा के पुरुष) उन पशुओं को घेरकर उन्हें कृश बना दें ॥ ५ ॥

नाऽतिपातयेत् ॥ ६ ॥

नाऽतिनिरोधं कुर्यात् न ताडयेद्वेति ॥ ६ ॥

अनु०—किन्तु उन्हें अत्यधिक कष्ट नहीं देना चाहिए ॥ ६ ॥

अवरुध्य (१) पशून्मारणे नाशने वा स्वामिभ्योऽवसृजेत् ॥ ७ ॥

यदि पशुपः पशूनवरुध्य पालयितुं गृहीत्वा सभयस्थाने विसृज्योपेक्षया मारयेत् नाशयेद्वा । नाशनं चोरादिभिरपहरणम् । स स्वामिभ्यः पशूनवसृजेत् प्रत्यर्पयेत् पश्वभावे मूल्यम् ॥ ७ ॥

अनु०—यदि पशुओं का रखवाला पशुओं को निगरानी करके लिए लेकर उन्हें मर जाने दे या चोरों आदि से अपहृत हो जाने दे, तो वह उनका मूल्य स्वामी को चुकता करे ॥ ७ ॥

प्रमादादरण्ये पशूनुत्सृष्टान् दृष्ट्वा ग्राममानीय स्वामिभ्योऽवसृजेत् ॥८॥

यदि स्वामिनः प्रमादादरण्ये पशूनुत्सृजेयुः विना पालकेन ततस्तान् दृष्ट्वा ग्राममानीय स्वामिभ्यः अर्पयेत् । कः ? यस्तत्र रक्षकत्वेन राज्ञा नियुक्तः ॥८॥

अनु०—यदि राजा का पुरुष पशुओं के स्वामी द्वारा असावधानी से, विना रखवाले के वन में छोड़ गये पशुओं को देखे तो उन्हें ग्राम में लाकर स्वामी को सौंप दे ॥ ८ ॥

पुनः प्रमादे सकृदवरुध्य ॥ ९ ॥

---

१. 'पशून्मारयेन्नाशयेद्वा' इति छ. पु.

पुनः प्रमादादुत्सृष्टेषु सकृदवरुध्य स्वामिभ्योऽवसृजेत् ॥ ९ ॥

अनु०--यदि पशुओं का स्वामी इसी प्रकार की असावधानी दुबारा करे तो पशुओं को कुछ दिन घेर कर रखे और फिर वापस कर दे ॥ ९ ॥

तत ऊर्ध्वं न सूर्क्षेत् ॥ १० ॥

ततो द्वितीयात् प्रयोगादूर्ध्वं 'ग्राममानीये' त्यादि यदुक्तं तन्न सूर्क्षेत् नाद्रियेत तस्मिन् विषये उपेक्षेत ॥ १० ॥

अनु०--उसके बाद असावधानी करनेपर उन पशुओं पर ध्यान न दे ॥ १० ॥

परपरिग्रहमविद्वानाददान एधोदके मूले पुष्पे फले गन्धे ग्रासे शाक इति वाचा बाध्यः ॥ ११ ॥

एधाश्चोदकं च एधोदकम्। ग्रासो गवाद्यर्थो यवसादिः। सर्वत्र विषयसप्तमी। यः परपरिग्रहोऽयमित्यविद्वानजानन् एधादिकमादत्ते गृह्णाति, स तस्मिन्विषये तत्र नियुक्तेन राजपुरुषेण निष्ठुरया वाचा बाध्यः निवार्यः ॥११॥

अनु०--जो व्यक्ति इंधन, जल, मूल, फूल, फल गन्ध, घास, शाक आदि बिना यह जाने हुए कि वे किसी अन्य व्यक्ति के हैं ग्रहण करले उसे राजपुरुष वाणी से डाटकर रोके ॥ ११ ॥

विदुषो वाससः[1] परिमोषणम् ॥ १२ ॥

यस्तु विद्वानेवाऽऽदत्ते तस्य वाससोऽपहारः कर्तव्यः ॥ १२ ॥

अनु०--जो व्यक्ति जानबूझ कर ग्रहण कर लेता है उसके वस्त्र का अपहरण कर लेना चाहिए ॥ १२ ॥

अदण्ड्यः कामकृते तथा प्राणसंशये भोजनमाददानः ॥ १३ ॥

तथाशब्दस्य भोजनमित्यनेन सम्बन्धः। प्राणसंशयदशायामेधोदकादेरादाने कामकृतेऽप्यदण्ड्यः। तथा भोजनमप्याददानः प्राणसंशये न दण्ड्य इति॥१३॥

अनु०--किन्तु जो व्यक्ति प्राणोंका संकट होनेपर जानबूझकर दूसरेका भोजन ग्रहण कर लेता है, उसे दण्ड नहीं देना चाहिए॥ १३ ॥

प्राप्तनिमित्ते दण्डाकर्मणि राजानमेनस्स्पृशति ॥ १४ ॥

प्राप्तं दण्डनिमित्तं यस्य तस्मिन् पुरुषे दण्डाकर्मणि दण्डस्याऽक्रियायां यदि दययाऽर्थलोभेन वा प्राप्तदण्डं न कुर्यात् तदा तदेनो राजानमेव स्पृशति ॥१४॥

इत्यापस्तम्बधर्मसूत्रवृत्तौ द्वितीयप्रश्नेऽष्टाविंशी कण्डिका ॥ २८ ॥

अनु०--यदि राजा किसी दण्ड्य अपराधीको दण्ड नहीं देता तो वह पाप उसीको मिलता है ॥ १४ ॥

---

१. परिमोक्षणम्, इति, क, पु.

ननु[1] शास्त्रफलं प्रयोक्तरि, तत्कथमन्यकृतमेनोऽन्यं स्पृशतीति,बहुविध त्वात् कर्तृभेदस्येत्याह—

प्रयोजयिता मन्ता कर्तेति स्वर्गनरकफलेषु कर्मसु भागिनः ॥ १ ॥

धर्ममधर्मं वा प्रकुर्वाणं यः प्रयुंक्ते—इदमित्थं कुर्विति, स प्रयोजयिता । स चाऽनेकप्रकारः—आज्ञापकोऽभ्यर्थयिता अनुग्राहक इति । भृत्यादे-र्निकृष्टस्य प्रवर्तना आज्ञा । गुर्वादेराराध्यस्य प्रवर्तनाऽभ्यर्थना । अनुग्रहो द्विविधः—उपदेशस्तत्सधर्माचरणं चेति । तत्र य इत्थमर्थमुपदिशति त्वं शत्रुमित्थं व्यापादय, धर्मार्जनेऽयं तेऽभ्युपाय इति स उपदेष्टा । यः पुनः केनचिज्जिघांसितं पलायमानं वा निरुणद्धि निरुद्धश्च हन्यते स निरोद्धाऽनुग्राहकः । मन्ता अनुमन्ता यस्याऽनुमतिमन्तरेणाऽर्थो न निवर्तते स राजादिको धर्माधर्मयोरनुमन्ता । कर्त्ता साक्षात्क्रियाया निर्वर्तकः । एते त्रयोऽपि स्वर्गफलेषु नरकफलेषु च कर्मसु धर्मेष्वधर्मेषु च भागिनः फलस्यांशभागिनःअंशभाजः । सर्वेषां च यथाकथंचित् कर्तृत्वम् ॥ १ ॥

अनु०—जो कर्म करनेके लिए उत्तेजित करता है, जो कर्म करनेमें सहायक होता है तथा जो कर्म करता है वे तीनों ही उसके फलोंके स्वर्ग या नरकमें समान रूपसे भागी होते हैं ॥ १ ॥

यो भूय आरभते तस्मिन् फलविशेषः ॥ २ ॥

तेषु प्रयोजकादिषु यो भूय आरभते यस्य व्यापारोऽर्थनिवृत्तावधिकमुपयुज्यत तस्मिन् फलविशेषो भवति ॥२॥

अनु०—जो कर्मके सम्पादनमें सबसे अधिक योगदान देता है वह विशेष (अच्छे या बुरे) फलका भागी होता है ॥ २ ॥

यद्यप्येवम्—

कुटुम्बिनौ धनस्येशाते ॥ ३ ॥

कुटुम्बिनौ दम्पती । तौ धनस्य परिग्रहे विनियोगे च ईशाते । यद्यप्येवं, तथापि भर्तुरनुज्ञया विना स्त्री न विनियोक्तुं प्रभवति । भर्ता तु प्रभवति । तदेतेन वेदितव्यं 'नहिभर्तुर्विप्रवासे नैमित्तिके दाने स्तेयमुपदिशन्ती'ति (२.१४.२०) ।

अनु०—पति और पत्नी दोनोंका परिवारकी सम्पत्ति पर समान अधिकार होता है ।

तयोरनुमतेऽन्येऽपि तद्धितेषु वर्तेरन् ॥ ४ ॥

तयोर्दम्पत्योरनुमतेऽनुमतौ सत्यामन्येऽपि पुत्रादयः तयोरैहिकेष्वामुष्मिकेषु च हितेषु वर्तेरन् द्रव्यविनियोगेनाऽपि ॥ ४ ॥

---

१. पूर्वमीमांसासूत्रस्या (जै. सू ३. ७. १८) नुवादोऽयम् ।

अनु०—उनकी आज्ञाके अनुसार परिवारके दूसरे सदस्यों को भी उन्हीं के कर्मों में संलग्न होना चाहिए ॥ ४ ॥

विवादे विद्याभिजनसम्पन्ना वृद्धा मेधाविनो धर्मेष्वविनिपातिनः ॥५॥

अर्थिप्रत्यर्थिनोर्विप्रतिषिद्धो वादो विवादः । तत्र विद्यादिगुणसंयुक्ता निर्णेतारस्स्युतिरि वाक्यशेषः । विद्या अध्ययनसम्पत्, अध्ययनसहितं शास्त्रज्ञानं वा । अभिजनः कुलशुद्धिः । वृद्धाः परिणतवयसः, मेधाविनः ऊहापोहकुशलाः । धर्मेषु वर्णाश्रमप्रयुक्तेषु अविनिपातिनः, विनिपातः प्रमादः तद्रहिताः ।

अनु०—अर्थी, प्रत्यर्थी के विवादमें विद्यासे सम्पन्न, कुलीन, वृद्ध, बुद्धिमान तथा धर्म पालनमें सावधान पुरुष ही निर्णायक होवें ॥ ५ ॥

सन्देहे लिङ्गतो दैवेनेति विचित्य ॥ ६ ॥

ते च निर्णयन्तस्सन्देहस्थलेषु लिङ्गतोऽनुमानेन दैवेन तप्तमाषादिना इति-शब्दः प्रकारे । यच्चान्यदेवं युक्त वचनव्याघातादि तेन च विचित्यार्थस्थितिमन्विष्य निर्णेतारस्स्युरित्यध्याहृतेन वाक्यपरिसमाप्तिः ॥ ६ ॥

अनु०—जो विषय सन्देहापन्न हों उन विषयोंमें उन्हें अनुमान, दैव परीक्षण आदि साधनोंसे तथ्यका निर्धारण करना चाहिए ॥ ६ ॥

अथ साक्ष्यविधिः—

पुण्याहे प्रातरग्नाविद्धेऽपामन्ते राजवत्युभयतस्समाख्याप्य सर्वानुमते मुख्यस्सत्यं प्रश्नं ब्रूयात् ॥ ७ ॥

पुण्याहो देवनक्षत्रम्, प्रातर्मध्याह्नादिषु अग्नाविद्धे अग्निमिध्वा तत्समीपे अपामन्ते उदकमुपनिधाय तत्समीपे राजवति राजाधिष्ठिते सदसि। राजग्रहणं प्राड्विवाकादेरुपलक्षणम् उभयतः उभयोरर्थिप्रत्यर्थिनोस्समाख्याप्य किमहं युवयोः प्रमाणभूतः साक्षीत्यात्मानं ख्यापयित्वा । यदि वा उभयतः उभयोरपि पक्षयोस्सत्यवचने च असत्यवचने च साक्षिणो यद्भावि फलं तत्,

सत्यं ब्रूह्यनृतं त्यक्त्वा सत्येन स्वर्गमेष्यसि ।
'अनृतेन महाघोरं नरकं प्रतिपत्स्यसे ॥

इत्यादिना प्रकारेण समाख्याप्य प्राड्विवाकादिभिः पृष्ट इति शेषः। सर्वानुमते अर्थिप्रत्यर्थिनोस्सभ्यानां चाऽनुमतौ सत्यां सभ्यो मुख्यः साक्षिगुणैरुपेतो दोषैश्च वर्जितस्साक्षी प्रश्नं पृष्टमर्थं सत्यं यथाऽऽत्मना ज्ञातं तथा ब्रूयात् ॥७॥

अनु०—किसी शुभ दिन को, प्रातःकाल, जलती हुई अग्नि के समक्ष, जल से भरे हुए कलश के निकट, राजा की उपस्थिति में, दोनों पक्षों की सहमति से उत्तमगुणों से सम्पन्न साक्षी को बुलाकर उससे निर्णायक सत्यभाषण की प्रतिज्ञा कराकर प्रश्न पूछे ।

---

१. उक्त्वाऽनृतं इति. ख पु.

अनृते राजा दण्डं प्रणयेत ॥ ८ ॥

साक्षिणाऽनृतमुक्तमिति प्रतिपन्ने राजा [1]दण्डं प्रणयेत् ।

अत्र मनुः—

"[2]यस्य दृश्येत सप्ताहा[3]दुक्तसाक्ष्यस्य साक्षिणः ।
रोगोऽग्निर्ज्ञातिमरणं [4]दाप्यो दण्डं च तत्समम् ॥' इति ॥ ८ ॥

न केवलमसत्यवचने राजदण्डः, किं तर्हि ?

अनु०—यदि साक्षीका असत्यभाषण करना सिद्ध हो तो राजा उसे दण्ड दे ॥ ८ ॥

नरकश्चाऽत्राधिकः साम्पराये ॥ ९ ॥

साम्परायः परलोकः, तत्र नरकश्च भवति, न तु,

"[5]राजभिर्धृतदण्डास्तु कृत्वा पापानि मानवाः ।
निर्मलास्स्वर्गमायान्ति सन्तस्सुकृतिनो यथा ॥

इत्यस्यायं विषय इति ॥ ९ ॥

इसके अतिरिक्त यदि साक्षी असत्य भाषण करता है तो उसे मृत्युके बाद नरक मिलता है ॥ ९ ॥

सत्ये स्वर्गस्सर्वभूतप्रशंसा च ॥ १० ॥

सत्य उक्ते स्वर्गो भवति । सर्वाणि च भूतान्येन प्रशंसन्ति अपि देवाः ।

अनु०—सत्यभाषण करने पर साक्षीको स्वर्गकी प्राप्ति होती है और सभी लोग (देवता भी) उसकी प्रशंसा करते हैं ॥ १०

सा निष्ठा या विद्या स्त्रीषु शूद्रेषु च ॥ ११ ॥

स्त्रीषु शूद्रेषु च या विद्या सा निष्ठा समाप्तिस्तस्यामप्यधिगतायां विद्याकर्म परितिष्ठतीति ॥ ११ ॥

अनु०—जो विद्या स्त्रियों और शूद्रों में होती है वही विद्या की अन्तिम सीमा है। उसका ज्ञान प्राप्त करने परही सभी विद्याओं का ज्ञान पूरा होता है ॥ ११ ॥

आथर्वणस्य वेदस्य शेष इत्युपदिशन्ति ॥ १२ ॥

अथर्वणा प्रोक्तमधीयते ये ते आथर्वणिकाः । वसन्तादिभ्यष्ठक् । तेषां समाम्नायः । "आथर्वणिकस्येकलोपश्च" आथर्वणः । तस्य वेदस्य शेष इत्युपदिशन्ति धर्मज्ञाः—या विद्या स्त्रीषु शूद्रेषु चेति ॥ १२ ॥

अनु०—धर्मज्ञों का कथन है कि स्त्रियों और शूद्रों की विद्याएँ अथर्ववेदको ज्ञान का परिशिष्ट अंश होती है ॥ १२ ॥

---

१. तं दण्डयेत् इति क. पु. २. म. स्मृ. ८. १०८. ३. उक्तावाक्यस्य इति च. पु.
४. ऋणं दाप्यो दमं च सः इति. च. पु. मुद्रितपुस्तकेषु च । ५. म. स्मृ. ८. ३१८.

कृच्छ्रा धर्मसमाप्तिस्समाम्नानेन लक्षणकर्मणा तु समाप्यते ॥ १३ ॥

समाम्नानं प्रतिपदपाठः। तेन धर्मसमाप्तिः कृच्छ्रा न शक्या कर्तुम्। किं तु लक्षणकर्मणा समाप्यते येन सामान्येन भिन्नानामप्यधिगमो भवति तल्लक्षणं, तस्य कर्मणा करणेन समाप्यते। कर्मणात्त्विति द्वितकारपाठोऽयमार्षः। आदिति वा निपातस्य प्रश्लेषः। स च सद्य इत्यस्यार्थे द्रष्टव्यः ॥ १३ ॥

अनु०—वेदके अक्षरोंका ज्ञान प्राप्त कर लेने भरसे धर्मका बोध करना कठिन है, किन्तु उसके द्वारा लक्षित कर्मों के आचरणसे धर्मका पालन सरलतासे होता है।

तत्र लक्षणम् ॥ १४ ॥

सर्वजनपदेष्वेकान्तसमाहितमार्याणां वृत्तं सम्यग्विनीतानां वृद्धानामात्मवतामलोलुपानामदाम्भिकानां वृत्तसादृश्यं भजेत एवमुभौ लोकावभिजयति ॥ १५ ॥

पूर्वेण गतम् ॥ १५ ॥

अनु०—इन सन्देहास्पद विषयों के लक्षण इस प्रकार हैः ॥ १४ ॥

अनु०—सभी जनपदों में अपने आचार्योंके प्रति सम्यक् विनीत रहने वाले वृद्ध, इन्द्रियोंका संयम करने वाले, लोभ तथा पाखण्डसे दूर रहने वाले तीन उच्चवर्णोंके आर्यों द्वारा जो आचरण सबकी सहमतिसे मान्य हो उसीके अनुसार आचरण करना चाहिए। इस प्रकार कर्म करने वाला इस लोक तथा परलोक-दोनोंका फल प्राप्त करता है ॥ १५ ॥

स्त्रीभ्यस्सर्ववर्णेभ्यश्च धर्मशेषान्प्रतीयादित्येक इत्येके ॥ १६ ॥

उक्तव्यतिरिक्ता ये धर्मास्ते धर्मशेषास्तान् स्त्र्यादीनामपि सकाशात् प्रतीयादित्येके मन्यन्ते। ते च प्रतिजनपदं प्रतिकुलं च भिन्नास्तथैव प्रतिपत्तव्याः। तत्र द्राविडाः कन्यामेषस्थे सवितर्यादित्यपूजामाचरन्ति भूमौ मण्डलमालिख्य, इत्यादीन्युदाहरणानि। द्विरुक्तिरध्यायपरिसमाप्त्यर्था ॥ १६ ॥

अनु०—कुछ धर्मज्ञों का मत है कि जिन अवशिष्ट नियमों का विधान नहीं किया गया है उन कर्मों का ज्ञान स्त्रियोंसे तथा सभी वर्णके पुरुषोंसे प्राप्त करना चाहिए।

इत्यापस्तम्बधर्मसूत्रवृत्तौ द्वितीयप्रश्ने एकोनत्रिंशी कण्डिका ॥ २९ ॥

इति चाऽऽपस्तम्बधर्मसूत्रवृत्तौ श्रीहरदत्तमिश्रविरचितायामुज्ज्वलायां द्वितीयप्रश्ने एकादशः पटलः ॥ ११ ॥

समाप्तमिदमुज्वलोज्वलितमापस्तम्बधर्मसूत्रम् ॥

सूत्र में आये हुए नामों एवं विषयों की

अनुक्रमणिका